डॉ० अभय मित्र

संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक



आशु प्रकाशन
इलाहाबाद

उत्तर प्रदेश सरकार से अनुदान प्राप्त

संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक

The Antagonist in Sanskrit Drama

डॉ॰ अभय मित्र

आशु प्रकाशन
इलाहाबाद—२

उत्तर प्रदेश सरकार से अनुदान प्राप्त

संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक

The Antagonist in Sanskrit Drama

डॉ॰ अभय मित्र

आशु प्रकाशन
इलाहाबाद—२

प्रकाशक :
आशु प्रकाशन
११४३/३१ पुराना कटरा
इलाहाबाद–२११००२

प्रथमावृत्ति–१९८१

मूल्य : पैंसठ रुपये

रेखाङ्कन : श्रीकान्त मण्डल

मुद्रक :
रामायण प्रेस
७३९, कटरा
इलाहाबाद

स्वर्गीय

पूज्य माता-पिता

की

पुण्य स्मृति

में

सादर-सविनय

सम्मतियाँ

डॉ० अभयमित्र का 'संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक' शीर्षक शोध प्रबन्ध संस्कृत नाट्यसाहित्य की अर्वाचीन समीक्षा के इतिहास में एक नये अध्याय का महत्त्व रखता है। इस प्रबन्ध में संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक की कल्पना का क्रमिक विकास, संस्कृत नाट्यशास्त्र में प्रतिनायक का स्वरूप, संस्कृत नाट्यसंरचना के मुख्य तत्त्वों की दृष्टि से प्रतिनायक का स्थान और महत्त्व, नाटकों में रस-भाव की अभिव्यञ्जना में प्रतिनायक की उपयोगिता, रामायण, और महाभारत के कथानकों पर आधृत संस्कृत नाटकों(रूपकों) में विशिष्ट व्यक्तित्व वाले प्रतिनायकों की चरित योजना और ऐतिहासिक किंवा उत्पाद्य कथानकों वाले संस्कृत रूपकों में प्रतिनायक के परिवर्तित रूप आदि सभी प्रासङ्गिक विषयों का सुन्दर विवेचन है। साथ ही साथ यहाँ पाश्चात्य नाटकसाहित्य में नायक विरोधियों किंवा खलनायकों और संस्कृत नाटकों के प्रतिनायकों से उनकी तुलना करते हुए दोनों चरित्रों के मध्य भिन्नता के कारणों का युक्तियुक्त आकलन भी किया गया है। जिससे नाटक के विषय में पौरस्त और पाश्चात्य मान्यताओं के समीकरण पर प्रकाश पड़ता है। मुझे विश्वास है,नाट्य-समीक्षा और अर्वाचीन समालोचना की दृष्टि से इस ग्रन्थ का स्वागत होगा, जिससे नयी उद्भावना प्रकाश में आयेगी।

प्रो० डॉ० सत्यव्रत सिंह

भू० पू० कुलपति,

संस्कृत-विश्व विद्यालय, वाराणसी

आठ अध्यायों में विभक्त डॉ० अभयमित्र के 'संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक' विषयक ग्रन्थ में साहित्यशास्त्रीय आचार्यों के प्रतिनायक सम्बन्धी विचारों का ऐतिहासिक तथा शास्त्रीय मूल्याङ्कन करते हुए नाट्य तत्त्वों के सन्दर्भ में भी प्रतिनायक के अस्तित्व को खोजा गया है। नाट्यरस तथा वस्तु-विषय को ध्यान में रखते हुए कुछ विशिष्ट रूपक भेदों में उनके लक्षणों की परीक्षा करते हुए उनमें प्रतिनायक की योजना की अनिवार्यता पर भी डॉ० मित्र के विचार उनकी शोध प्रतिभा के परिचायक हैं। इन्द्रादि देवों और उनके विरोधियों के चरित्रों में इस प्रबन्ध के लिए नायक-प्रतिनायक की खोज उपयोगी और रोचक है। उत्तरार्द्ध में नायक के लिए प्रतिनायक की उपयोगिता और तदर्थ नाटककारों की प्रतिभा का पुनः मूल्याङ्कन भी सारगर्भित तथा प्रामाणिक है। अन्तिम परिच्छेद में पाश्चात्य तथा भारतीय नाट्य तत्त्वों की तुलनात्मक समीक्षा के साथ ही खलनायक से प्रतिनायक की तुलना का विषय भी पर्याप्त नवीन है। अपने इस समालोचनात्मक ग्रन्थ के लिए डॉ० अभयमित्र बधाई के पात्र हैं।

डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी

रीडर

गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,

इलाहाबाद

सम्मतियाँ

डॉ० अभयमित्र जी द्वारा रचित "संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक" शीर्षक गवेषणापूर्ण एवं वैदुष्यमय ग्रन्थ का मैने सहर्ष पर्यालोचन किया है। डॉ० अभयमित्र जी का यह ग्रन्थ संस्कृत साहित्य में एक अब तक अछूते विषय को लेकर लिखा गया है और ऐसे अनेक पक्षों का अनुशीलन करता है जो अभी तक विद्वानों द्वारा प्रायः उपेक्षित रहे हैं। संस्कृत विद्वानों की यह सामान्य धारणा रही है कि संस्कृत साहित्य केवल नायक का ही वर्णन करता है, नायक के विरोध में जो व्यक्ति खड़ा होता है और जिसके कार्य-कलापों से संघर्ष की उत्पत्ति होती है एवं नाटक की कथावस्तु आगे बढ़ती है, ऐसे नायक विरोधी चरित्र का अधिक महत्त्व नहीं है। अतः इस चरित्र के ऊपर उन आचार्यों का ध्यान नहीं गया। अभयमित्र जी ने व्यापक रूप से प्रथम बार अपने इस शोध-प्रबन्ध के माध्यम से संस्कृत-साहित्य में प्रतिनायक की इस महत्त्वपूर्ण भूमिका का सम्पूर्णतया विश्लेषण किया है एवं उसके शास्त्रीय स्वरूप तथा महत्त्व पर प्रकाश डाला है। उन्होंने प्रतिनायक के विवेचन के प्रसंग में तत्सम्बन्धी धारणा के उद्गम और विकास पर जो मान्यताएँ व्यक्त की हैं वे भी शोध की दृष्टि से अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण एवं समीचीन है। अपना ध्यान उन्होंने केवल संस्कृत साहित्य तक ही सीमित नहीं रखा है अपितु उसके आयाम को अधिक विस्तृत करते हुए वे उसे अँग्रेजी साहित्यत क ले गये हैं और शेक्सपियर के कुछ प्रसिद्ध प्रतिनायकों-खलनायकों के साथ उन्होंने संस्कृत नाट्य-साहित्य के प्रतिनायकों की तुलनात्मक समीक्षा भी प्रस्तुत की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ इस विषय से सम्बन्धित सर्वप्रथम ग्रन्थ है और बहुत सी नवीन एवं अछूती सामग्री को पाठकों के सामने उपस्थापित करता है। इस दृष्टि से यह एक श्लाघनीय एवं स्तुत्य प्रयास है और संस्कृत साहित्य में रुचि रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह ग्रन्थ पठनीय और सङ्ग्रहणीय है।

गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
इलाहाबाद

डॉ० गया चरण त्रिपाठी
प्राचार्य

'संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक का चरित्र : एक अध्ययन' विषयक शोध-प्रबन्ध को मैंने आद्योपान्त पढ़ा है। अब 'संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक' शीर्षक से ग्रन्थरूप में उसे प्रकाशित देखकर मुझे प्रसन्नता है। इस ग्रन्थ में डॉ० अभयमित्र ने बड़े अध्यवसाय और मनोयोग के साथ नायक विरोधी 'प्रतिनायक' की भूमिका का मूल्याङ्कन किया है।

ग्रन्थ में, रस तथा अर्थप्रकृतियों और सन्धियों जैसे नाट्यतत्त्वों के सन्दर्भ में प्रतिनायक के मूल्याङ्कन के लिए नाट्यशास्त्र सम्बन्धी अधिकांश ग्रन्थों के प्रमाणों को एकत्र किया गया है और तत्सम्बन्धी सिद्धान्तों को स्थिर करते समय उन्हें समर्थन में प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक की भूमिका का अध्ययन करते समय पाश्चात्त्य त्रासदियों की मुख्य भूमिका 'खलनायक' की अपेक्षा नहीं की जा सकती। डॉ० अभयमित्र ने पाश्चात्त्य तथा भारतीय दार्शनिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों को ध्यान में रखते हुए इन दोनों चरित्रों का तुलनात्मक अध्ययन किया है। इस महत्त्वपूर्ण विषय पर उनका अध्ययन अद्यतन समालोचना की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी है।

प्रबन्ध की भाषा में प्रवाह है, क्लिष्टता का अभाव है और अभिव्यक्ति की सुस्पष्टता है। शैली गम्भीर और गवेषणापूर्ण है। संस्कृत नाटकों के प्रतिनायक के चरित्र का यह अध्ययन स्वतः में पूर्ण है। अत: आशा है इसका स्वागत होगा।

संस्कृत-विभाग — प्रो० डॉ० शिवशेखर मिश्र
लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ — अध्यक्ष,

प्रकाशकीय

यह प्रबन्ध दिसम्बर १९७८ में इलाहाबाद विश्वविद्यालय में 'संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक का चरित्र—एक अध्ययन' शीर्षक से डी० फिल्० उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था। पाठकों और शोधकर्मियों के लिए उसकी उपयोगिता को ध्यान में रखकर लेखक ने उसमें आवश्यक संशोधन, परिवर्तन और परिवर्धन किये हैं। सम्भव है, यत्र-तत्र मुद्रण तथा साज-सज्जा की दृष्टि से कहीं कुछ शेष रह गया हो अतः जिज्ञासु शोधकर्मियों, विद्वान् पाठकों और समीक्षकों से क्षमायाचना के साथ, यह ग्रन्थ उनके हाथों में समर्पित करते हुए हमें प्रसन्नता है। आशु प्रकाशन का यह प्रथम प्रसून, आशा है, उन्हें उपयोगी प्रतीत होगा।

इस प्रबन्ध के प्रकाशन के लिए उत्तर प्रदेश सरकार ने जो आंशिक अनुदान स्वीकार किया है उसके लिए लेखक के साथ ही यह प्रकाशन प्रतिष्ठान भी अपना आभार व्यक्त करता है।

कृतज्ञता-ज्ञापन

'आपत्लोदयकर्म' की भावना के साथ इस शोध प्रबन्ध के कार्यारम्भ से नियताप्ति तक जिन गुरुजनों ने मुझे प्रेरणा दी उनमें श्रद्धेय गुरुवर प्रो० डॉ० आद्याप्रसाद मिश्र महोदय का मैं सर्वप्रथम आभारी हूँ जिन्होंने मेरे प्रयत्न को—कार्य को सराहा और अपना सम्बल देते हुए मुझे गुरुवर डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय (रीडर, संस्कृत विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय) जैसे विद्वान्, सहृदय, सुयोग्य और सत्यसन्ध आचार्य के निदेशन में अपने यत्न को फलप्राप्ति की स्थिति तक पहुँचाने का अवसर दिया। परम श्रद्धेय डॉ० पाण्डेय द्वारा प्रदत्त निदेशनों और आशीर्वचनों के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करने के लिए मेरे समीप शब्दों का अकाल है।

इसी क्रम में परम श्रद्धेय प्रो०डॉ० सत्यव्रतसिंह महोदय, डॉ० अतुल चन्द्र बनर्जी महोदय, डॉ० विश्वनाथ भट्टाचार्य जी, डॉ० शिवशेखर मिश्र, डॉ० अमरनाथ पाण्डेय, डॉ० गयाचरण त्रिपाठी, डॉ० जे० पी० सिन्हा, डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी प्रभृति गुरुजनों और डॉ० गोपराजू रामा तथा डॉ० अशोक कुमार कालिया प्रभृति विद्वानों और शुभेच्छु मित्रों का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने पग-पग पर मेरे प्रयत्नों में परमौत्सुक्य दिखाया तथा प्राप्त्याशा की अवस्था में आने वाले बाधक तत्त्वों को साधन बना कर मुझे नियताप्ति की अवस्था तक पहुँचाया।

प्रबन्ध रचना एवं प्रकाशन रूप इस कार्य की पूर्णता, अर्थात् फलागम के लिए मैं उत्तर प्रदेश सरकार के शिक्षा मन्त्रालय का अभारी हूँ जिसने प्रकाशन हेतु आंशिक अनुदान द्वारा मेरे श्रम को सार्थकता दी और आशु प्रकाशन इलाहाबाद को पूर्णाहुति के लिए प्रोत्साहित किया। इस कार्य की पूर्णता के लिए मुझे अन्तर्मुखी बन पाने में और पाण्डुलिपि के पुनः सम्पादन, संशोधन प्रभृति नैत्यिक कार्यों में सतत सहयोगिनी रागिनी का भी मैं आभारी हूँ।

इस कार्य के लिए गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ इलाहाबाद, केन्द्रीय पुस्तकालय, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ तथा टैगोर पुस्तकालय, लखनऊ विश्वविद्यालय से मैंने जो सहयोग प्राप्त किया है, उसके लिए मैं इन संस्थाओं और उनके कार्य-कर्ताओं का भी आभार व्यक्त करता हूं।

विषयानुक्रमणिका

उपोद्घात

'संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक' शीर्षक ग्रन्थ में नाट्य साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी और बहुचर्चित किन्तु 'आलोचना और अध्ययन की दृष्टि से अब तक उपेक्षित' प्रतिनायक चरित्र का जो अध्ययन किया गया है वह मौलिक और प्रामाणिक है।

प्रतिनायक सम्बन्धी प्रमाणों और सिद्धान्तों की खोज तथा नये सिद्धान्तों की स्थापना की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। प्रथम परिच्छेद में इन्द्र के चरित्र में नायकत्व के साथ किन्हीं किन्हीं प्रसङ्गों में प्रतिनायक के गुणों और कर्मों के सङ्केत ग्रहण करते हुए डॉ० अभयमित्र ने प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय परिच्छेद में संस्कृत नाट्यशास्त्र के लगभग सभी प्राचीन आचार्यों के मतों का मन्थन किया है। ग्रन्थ के तृतीय परिच्छेद में उन्होंने कार्यावस्था, अर्थप्रकृति तथा सन्धि-सन्ध्यङ्ग प्रभृति नाट्य-तत्त्वों की विवेचना करते हुए अर्थप्रकृति को इतिवृत्त से तथा कार्यावस्थाओं को नायक के कार्यों से सम्बद्ध मानने का जो मत स्थिर करना चाहा है वह विवादास्पद भले ही हो चिन्त्य अवश्य है और आगे इस दिशा में कार्य की प्रेरणा दे सकता है। इसके अतिरिक्त षड्दीप्त रसों के सन्दर्भ में प्रतिनायक की उपस्थिति; 'प्रतिमा' में भरत का नायकत्व, 'अभिषेकनाटकम्' में उपप्रतिनायक बालि के चरित्र में नवीनता की खोज; 'महावीर-चरितम्' में रावण की अपेक्षा माल्यवान् को मुख्य प्रतिनायक मानना; 'दूतवाक्यम्' तथा 'दूतघटोत्कचम्' में नाटककार की मौलिक उद्भावनाओं को रेखाङ्कित और मूल्याङ्कित करते हुए भीम, द्रोणाचार्य, घटोत्कच और श्रीकृष्ण के नायकत्व पर प्रश्नचिह्न लगाना; 'ऊरुभङ्गम्' तथा 'कर्णभारम्' में क्रमशः दुर्योधन और कर्ण को नायक, तथा भीम और इन्द्र को प्रतिनायक के रूप में चित्रित मान कर सभी प्रतिनायकों में प्रायश्चित्त की भावना को खोजते हुए, तथ्यों और तर्कों के आधार पर उन्हें प्रमाणित करना निश्चय ही विचारोत्तेजक है।

पाश्चात्य त्रासदियों के खलनायक से संस्कृत नाटकों के प्रतिनायक की तुलना; त्रासदी के मूल उद्देश्य के सन्दर्भ में अरस्तू के विरेचन सिद्धान्त, तथा पाश्चात्य अन्वितित्रय (थ्री यूनिटीज) का मूल्याङ्कन तथा इआगो, ब्रूटस, कैशस, मैकबेथ, रोमियो, सीजर, एण्टोनी तथा मैकडफ प्रभृति भूमिकाओं से शकार, राक्षस, मलयकेतु और चाणक्य प्रभृति संस्कृत नाटकों के प्रतिनायकों और नायकों से उनकी तुलना भी पर्याप्त रोचक रही है। इस ग्रन्थ में संस्कृत, अंग्रेजी के जिन तेईस रूपकों का अध्ययन किया गया है वे सभी सुप्रसिद्ध हैं। अतः आशा है, यह ग्रन्थ संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी के विद्यार्थियों तथा शोधकर्त्ताओं के लिए समानरूपेण उपयोगी सिद्ध होगा।

डॉ० सुरेश चन्द्र पाण्डेय
रीडर, संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

प्रस्तावना

संस्कृत वाङ्मय में, प्रतिनायक—नायक के विरोध का विग्रह रूप है। उसका यह स्वरूप विभिन्न आयामों में पुष्पित और पल्लवित होता देखा जा सकता है। वैदिक साहित्य से लेकर पुराणों और उपजीव्य–महाकाव्यों के युग तक उसके जो रूप हैं उनमें सर्वत्र उसके विरोध में तीक्ष्णता है। किन्तु कहीं भी प्रतिनायक अथवा रिपु प्रतिष्ठित नायक को पराजित कर पाया हो ऐसा नहीं है। इसके मूल में भारतीय संस्कृति का वह दार्शनिक दृष्टिकोण प्रतिम्बित होता है जो सत् की जय और असत् की पराजय का सन्देश समेटे हमारी सांस्कृतिक धारा को जीवन और गति देता रहता है। संस्कृत नाटकों में विद्यमान इस पात्र पर विस्तृत अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव बहुत काल से होता रहा है।

डॉ॰ अभयमित्र का प्रस्तुत ग्रन्थ 'संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक' इस अभाव की पूर्ति करता है जो उनके डा॰ फिल्॰ शोध-प्रबन्ध "संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक का चरित्र--एक अध्ययन" का संशोधित–मुद्रित रूप है। इसमें डॉ॰अभयमित्र ने संस्कृत साहित्य की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और दार्शनिक पृष्ठ भूमि को ध्यान में रखते हुए प्रतिनायक के स्वरूप के अध्ययन के माध्यम से संस्कृत नाट्य-शास्त्र के अनेक विवादास्पद सिद्धान्तों का भी तलस्पर्शी अध्ययन प्रस्तुत किया है। नाटक की पञ्च अर्थप्रकृतियों, पञ्च कार्यावस्थाओं एवं पञ्च सन्धियों के गूढ़—अनुन्मीलित पारस्परिक सम्बन्धों एवं स्वरूपों का अच्छा–ठीक विवेचन इस ग्रन्थ में मिलता है। यहाँ 'सन्धियाँ नाट्य-रस से विशेषतः सम्बद्ध हैं' इसे अभिनवभारती एवं नाट्यदर्पण के आधार पर प्रामाणित रूप से प्रतिष्ठापित किया गया है। इन सब गुणों एवं वैशिष्ट्य के कारण ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध एक महती उपलब्धि है।

इस ग्रन्थ का उत्तरार्द्ध प्रतिनायक के नाट्यसाहित्यान्तर्गत चित्रित स्वरूप का अत्यन्त मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी ढंग से उन्मीलन करता है। एतदर्थ गृहीत रूपक मनमाने नहीं अपितु सुनियोजित ऐतिहासिक ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं। ये रूपक प्रतिनायक के स्वरूप के विभिन्न पार्श्वों का रहस्योद्घाटन करने की दृष्टि से गृहीत हुए हैं। चार प्रमुख पार्श्वों के

के उद्घाटनार्थ चार प्रकार के प्रतिनिधि-भूत प्रमुख रूपक समीक्षा एवं विवेचन के विषय बनाये गये हैं एवं उस-उस कोटि के कुछ अन्य रूपक भी प्रमुख कृति के साथ ही विवेचित हुए हैं। इतना ही नहीं प्रबन्ध में प्रतिनायक को नायक, उपनायक एवं उपप्रतिनायक के सम्बन्ध से भी देखा गया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ की एक महती विशेषता है—इसका अन्तिम (आठवाँ) परिच्छेद जिसमें पाश्चात्त्य त्रासदी में चित्रित खलनायक के स्वरूप का प्रकाशन करके उसके सम्बन्ध से संस्कृत-नाटकों के प्रतिनायक के सदृशस्वरूप की तुलना की गई है और दोनों के सूक्ष्म भेद को सुस्पष्ट किया गया है। इस प्रकार इस समूचे अध्ययन को साङ्गोपाङ्ग बनाने का सफल प्रयास किया गया है।

सचमुच, प्रस्तुत ग्रन्थ विद्वान् लेखक की सूक्ष्म एवं सारग्राहिणी समीक्षात्मक दृष्टि का सबल प्रमाण है। यह नाट्यशास्त्रीय अध्ययन के क्षेत्र में संस्कृत जगत् की महती उपलब्धि है, ऐसा हमारा दृढ़ मत है। इससे विवित्सुओं एवं विद्वानों, दोनों के लिये यह ग्रन्थ-रत्न संङ्ग्रहणीय है। ऐसी उत्तम कृति के लिये डॉ० मिश्र हमारे साधुवाद के सत्पात्र हैं।

(प्रो० डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र)
भू० पू० कुलपति
इलाहाबाद, विश्वविद्यालय

प्राक्कथन

संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक : इस विषय से तात्पर्य उन-उन रूपक प्रबन्धों में प्रतिनायक भूमिका के स्वरूपाख्यान और उसके मूल्याङ्कन से है जहाँ नायक की फल-प्राप्ति के मार्ग में आने वाले बाधक तत्वों को मूर्त रूप देकर प्रतिनायक भूमिका के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से प्रबन्ध को पूर्वार्ध और उत्तरार्ध के रूप में भी विभक्त करके देखा जा सकता है। पूर्वार्ध में, प्रतिनायक चरित्र के मूल तथा शास्त्रीय स्वरूप की विवेचना करते हुए पञ्चावस्थाओं, पञ्चार्थप्रकृतियों और पञ्च-सन्धियों के सन्दर्भ में उसका मूल्याङ्कन किया गया है। इसी प्रसंग में, नायक से प्रति-नायक के सम्बन्ध को तथा शास्त्रीय दृष्टि से नायक के लिए प्रतिनायक की उपयोगिता को और रस के सन्दर्भ में उसकी सार्थकता-निरर्थकता को मूल्याङ्कित करते हुए षडदोत्त-रसों की दृष्टि से नायक विरोध की अनिवार्य सी स्थिति के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। तदनन्तर उत्तरार्ध में विभिन्न नाटकों (रूपकों) में प्रतिनायक-भूमिका के प्रयोग-पक्ष का, उसकी व्यवहारिक उपयोगिता का, मूल्याङ्कन करने के लिए रामकथा, महा-भारतकथा तथा ऐतिहासिक, लोककथामूलक और प्रतीक नाटकों के रूप में संस्कृत के रूपकों को तीन भागों में विभक्त कर लिया गया है। सबसे अन्त में पाश्चात्य त्रासदी नाटकों की संरचना प्रक्रिया की शल्यक्रिया और तुलनात्मक समीक्षा करते हुए खलनायक और प्रतिनायक चरित्र की समानताओं-असमानताओं को रेखाङ्कित किया गया है।

अस्तु, आलोचना और अध्ययन की दृष्टि से उपेक्षित किन्तु प्रयोग की दृष्टि से बहुश्रुत प्रतिनायक की भूमिका पर विचार करते हुए हमारा ध्यान प्रतिनायक चरित्र के मूल में निहित ईर्ष्या-द्वेष-प्रतिस्पर्धा और संघर्ष जैसे भावों और मनोविकारों पर तो केन्द्रित होता ही है, किन्तु उसका साहित्यगत मूल खोजते हुए हमारा मन सर्वप्रथम ऋग्वेद की उपत्यका में जाकर रम जाता है, जहाँ इन्द्र का नायकत्व किसी महाकाव्य के नायक से कदापि न्यून नहीं है। ऋषियों ने इन्द्र की स्तुति में; उसकी महानता के उल्लेखों में, किञ्चिद् भी कृपणता नहीं दिखायी है। उसके शारीरिक सौन्दर्य से उसके महान् पराक्रम तक; उसके आध्यात्मिक वैशिष्ट्य से उसके सांस्कृतिक प्रभाव तक तथा उसके अद्वितीय शौर्य से मानवीय मूल्यों के प्रति उसकी परमनिष्ठा तक, ऐसा कुछ भी नहीं है जो उसके चरित्र में न हो। किन्तु ऐसे नायक की महानता के मूल में उसका औदात्य नहीं है; उसका मङ्गलकारी रूप भी नहीं है; अपितु यज्ञों में आने वाली बाधाओं के कारण उत्पन्न दैन्य, पीड़ा, वेदना और करुणा है; उसका विरोध है, और है— उसका पराक्रमी रूप; अपने प्रतिद्वन्द्वियों को, उनके पुरों और दुर्गों को ध्वस्त करने की उसकी क्षमता। अतः ऋग्वेद में नायक और प्रतिनायक दोनों के ही सुतरां दर्शन हो जाते हैं।

इन्द्र के विरोधियों में असुर-राक्षस और अनार्य भी हैं, वरुण और मरुत्, कुत्स और सूर्य जैसे देवता तथा उषा जैसी देवी भी है। साहित्यशास्त्रियों द्वारा निर्धारित गुणों की दृष्टि से भी देखें तो वरुण में धीरोदात्तनायक के सभी गुण मिल जाते हैं, वह नायक भी है और इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता में उसमें तथा इन्द्र में नायक-प्रतिनायक का विपर्यय भी लक्षित किया जा सकता है। इन्द्र धीरोद्धत स्वभाव का नायक है इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। उसकी चञ्चल प्रकृति (अहल्या, अपाला, उपमा, दीर्घजिह्वी आदि से उसके सम्बन्धों के परिप्रेक्ष्य में) उसे कभी प्रतिनायक बना देती है, तो कभी धीरललित नायक। अग्नि, अङ्गिरस जैसे देवों में धीरप्रशान्त नायक के गुणों को तो किसी खुली हुई पुस्तक के पृष्ठों की भाँति पढ़ा जा सकता है। अतः प्रतिद्वन्द्विता के इस स्वरूप ने और वृत्र, अहि, वल, अर्बुद, शुष्ण, शम्बर, धुनि, चुमुरि, नमुचि, पणिगण जैसे देवविरोधी चरित्रों ने कालान्तर में प्रतिनायक के चरित्र को प्रभावित किया है—इसे स्वीकारना कठिन नहीं है, जहाँ अतिथिग्व दिवोदास और सुदास के साथ द्रुह्यु, यदु, तुर्वश प्रभृति आर्य जनों की प्रतिद्वन्द्विता भी संक्षिप्त किन्तु यथार्थ की भित्ति पर स्थित प्रतीत होती है।

संस्कृत के नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों का अवलोकन करते समय यत्र-तत्र ऐसा भी आभास हुआ कि उनके समक्ष ऐसे रूपक अवश्य थे जहाँ प्रतिनायक में 'सभी कुछ'—लोभ, पाप, व्यसन और वास्तविक रिपुभाव आदि को समाहित कर लेने का प्रयास किया गया था। किन्तु कालान्तर में उसे—उसकी 'अति' को, त्याज्य घोषित कर दिया गया, उसे मर्यादा की, आदर्शों की, श्रृङ्खला में जकड़ दिया गया। ऐसा उचित था अथवा अनुचित इसका निर्णय तो पाठकों और सुधियों को करना होगा, किन्तु भरत-मुनि और उनके अनुयायियों की नाट्यवर्जनाओं को देखकर इस तथ्य के अस्तित्व का अनुमान अवश्य किया जा सकता है। ऐसा क्यों हुआ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है। जिसका उत्तर कर्मानुसार भोग के सिद्धान्त से जुड़ा है। प्रत्येक साहित्य अपनी परम्पराओं और दार्शनिक मान्यताओं को ही प्रतिबिम्बित करता है। अतः जहाँ कृतकर्मों के भोग के लिए पुनर्जन्म तक ग्रहण करने का सिद्धान्त सुस्थिर किया गया हो वहाँ 'काव्येषु नाटकं रम्यम्' जैसी शीघ्र संवेदन की क्षमता वाली साहित्यिक विधा द्वारा ऐसा प्रदर्शन और सम्प्रेषण कैसे किया जा सकता था, जिससे यह सिद्ध होने लगे कि एक न्यायप्रिय, सत्यनिष्ठ, वीर और देशभक्त (ओथेलो सदृश) नायक (इआगो जैसे) किसी दुश्चरित्र द्वारा पराभव और पतन का असह्य दुःख और आत्यन्तिक पीड़ा का साक्षात्कार करने को बाध्य हो जाता है। साहित्य को कान्तासम्मित उपदेश और शिवेतरक्षति का साधन मान लेने से ऐसे प्रदर्शनों पर प्रतिबन्ध और ऐसी रचनाओं का अभाव स्वाभाविक था। क्योंकि समाज में सज्जन (ओथेलो) का पतन और दुर्जन (इआगो) का स्वच्छन्द विचरण किसी असाधारण व्यक्ति को ही सज्जन बनने की प्रेरणा दे सकता है।

अतः आदर्शों की स्थापना और नैतिक मूल्यों की प्राणप्रतिष्ठा के सिद्धान्त ने भी उन नाटकों के उदय और अस्तित्व को प्रभावित किया है, जिनमें आदर्श नायक का विरोध उस चरमविन्दु का स्पर्श करे जहाँ से नायक अपने विरोधी की तुलना में बौना लगने लगे। यही कारण है कि पौराणिक आख्यानों और उपजीव्यकाव्यों में नायक का विरोध जितना दुर्धर्ष है, नाटकों (रूपकों) में वह उतना उग्र नहीं है। क्योंकि काव्यों के पाठकों की अपेक्षा रूपकों के दर्शकों का क्षेत्र व्यापक होता है और उसका प्रभाव भी उपेक्षाकृत अधिक संवेदन युक्त होता है।

संस्कृत के नाटककारों ने इसी कारण नायकों के साथ ही प्रतिनायकों को भी कहीं-कहीं इतना आदर्श स्वरूप प्रदान कर दिया है कि उनके मध्य नायक-प्रतिनायक का निर्धारण ही कठिन हो जाता है। इतना ही नहीं कभी-कभी तो अपने गुणों के परिप्रेक्ष्य में दोनों ही अनुकरणीय चरित प्रतीत होते हैं और कहीं-कहीं तो स्थिति यह है कि नायक की अपेक्षा प्रतिनायक अधिक आदर्श प्रतीत होता है। अतः खलनायक की भूमिका का संस्कृत नाटकों में कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ तो नायक भी आदर्श-वादी है और प्रतिनायक भी। अतः प्रतिनायक में लोभ, उद्दण्डता, पाप, व्यसन तथा औद्धत्य के होने पर भी उसमें नायक बनने की क्षमता रहती है इसी कारण कर्ण से कवच कुण्डल माँगते हुए इन्द्र प्रतिनायकत्व ग्रहण कर लेता है और ऊरुभङ्ग में प्रसिद्ध प्रति-नायक दुर्योधन नायक होकर आता है। नायक होते हुए भी चाणक्य अपने प्रतिद्वन्द्वी (प्रतिनायक) राक्षस से अधिक क्रूर और नृशंस है। अतः, आदर्श वह कसौटी है जिस पर चरित्र की शुद्धता की परीक्षा होती है। इसी कारण उद्देश्यों की पवित्रता, इस चारि-त्रिक वैशिष्ट्य की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। उद्देश्यों की यह पवित्रता, उन दोनों ही आदर्श चरितों के मध्य ऐसा रेखाङ्कन कर देती है जिससे राम तो अनुकरणीय हो जाते हैं और रावण तिरस्कार का पात्र। 'रामादिवत् वर्तिव्यं न रावणादिवत्' इस कान्तासम्मित उपदेश की यही व्याख्या है। संस्कृत रूपकों में जामदग्नि (परशुराम), बालि, माल्यवान्, महासेन तथा भरतरोहक, राक्षस, शकार और नन्दन में प्रायश्चित्त और पाश्चात्ताप की भावना का दर्शन कहीं न कहीं और किसी न किसी रूप में हो जाता है। किन्तु रावण के साथ इसका जो प्रत्यक्ष अभाव है वह चिन्त्य है। माल्यवान् (रावण के मन्त्री) का स्वरूप उसके सोचने का ढंग, विभीषण तथा मन्दोदरी की मन्त्रणा और रावण द्वारा अपहृत सीता के साथ बलात्कार न करना और उस दिशा में उसके 'सोच' का नितान्त अभाव तथा विभिन्न षड्यन्त्रों द्वारा सीता के मन को ही जीतने के उसके नाना प्रयासों में उसके चारित्रिक आदर्श के दर्शन किए जा सकते हैं, अन्यथा वह भी (डेसडेमोना के सन्दर्भ में) इआगो जैसे चरित्रों की भाँति नैतिक पतन का पर्याय बन जाता। इसका अभाव ही उसे 'खल' होने से बचाता है ऐसा मानाजा सकता है। आदर्श और उद्देश्यों की पवित्रता इन दोनों गुणों को इस प्रसंग में भूलना चाहिए।

अस्तु, प्रतिनायक के शास्त्रीय स्वरूप पर विचार करते हुए हम पाते हैं कि नाट्यशास्त्रियों के भी दो मुख्य वर्ग है, कुछ आचार्यों ने तो प्रतिनायक के चरित्र का लक्षण ही नहीं किया; जिसके अनेक कारण हो सकते हैं। किन्तु इस उपेक्षा के मूल में कहीं आदर्श और नैतिकता की स्थापना के अतिरिक्त उद्देश्यों की अपवित्रता का भय भी हो सकता है। इन आचार्यों में पहले तो भरतमुनि ही हैं और उनका ही अनुकरण करने वाले हैं—आचार्य सागरनन्दी, जो नायक को हन्तव्य मानकर 'हन्तव्यश्च नायक एव' के रूप में भरत के समान, और अपने अन्य पूर्ववर्ती आचार्यों की भाँति, प्रतिनायक को भी नायक ही मानते हैं, ऐसा प्रतीत होता है। प्रतिनायक को भी नायक की ही कोटि में रखना लगभग सभी आचार्यों को प्रिय रहा है। अस्तु, दूसरे वर्ग में वे आचार्य हैं जो प्रतिनायक का लक्षण भी करते हैं और उसकी योजना का विधान भी करते हैं। इन आचार्यों में धनञ्जय-धनिक, भोजराज, हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, विश्वनाथ और नरसिंह कवि के नाम उल्लेखनीय हैं। किन्तु जिन आचार्यों ने प्रतिनायक का लक्षण नहीं किया है उनके विचारों का अवगाहन करने के लिए उनके नाट्यलक्षणों की विवेचना पर्याप्त महत्त्वपूर्ण रही है। एक तीसरा वर्ग भी है ओर इस वर्ग में वे आचार्य हैं जिन्होंने नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन तो नहीं किया है किन्तु भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या करते समय अथवा साहित्यशास्त्र की किसी विधा पर व्याख्यान के प्रसंग में, काव्य अथवा रस के प्रसंग में, ऐसे उल्लेख किए हैं जिनके आधार पर प्रतिनायक के सम्बन्ध में उनकी धारणा का ज्ञान हो जाता है। आचार्य दण्डी, मम्मट, आनन्दवर्धन और अभिनवगुप्त ऐसे ही आचार्य हैं। रस और नाट्यसंरचना के सन्दर्भ में प्रतिनायक चरित्र की उपयोगिता पर इनके विचार बहुमूल्य हैं।

प्रतिनायक : जिसे दशरूपककार ने रिपु माना है उस पर आचार्य भामह तथा दण्डी का स्पष्ट प्रभाव है जिनके अनुसार 'नायकोत्कर्ष के चित्रणके लिए नायक के रिपुके उत्कर्ष की अनिवार्यता' को रचनाकार का महान् गुण माना गया है। इसी प्रकार अन्य परवर्ती आचार्यों पर भी अपने पूर्ववर्ती आचार्यों का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। किन्तु परवर्ती सभी आचार्यों पर दशरूपककार का प्रभाव देखकर आश्चर्य नहीं होना चाहिए। तथापि शृङ्गारप्रकाशकार भोज में मौलिक चिन्तन का वैशिष्ट्य है, जो प्रतिनायक को भी नायक के समान धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त गुणों के आधार पर चार प्रकार का मानते हैं। अभिनवगुप्त ने किन्हीं आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए 'नायक-प्रतिनायकौ तत्सहायौ च' के आधार पर प्रतिनायक और उसके सहायक के रूप में उपप्रतिनायक की मान्यता का समर्थन किया है। शृङ्गारप्रकाशकार की एक मौलिकता यह भी रही है कि उन्होंने नायकविरोधी प्रतिनायक की भाँति नायका-विरोधी प्रतिनायिका के भी अस्तित्व को स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, 'धैर्यमासामबिवक्षितम्' के आधार पर उदात्ता, उद्धता, ललिता तथा प्रशान्ता

नायिका के रूप में उसके चार अन्य भेद भी शृङ्गारप्रकाशकार ने स्वीकार किए हैं। आचार्य विश्वनाथ ने भी विभावों के सन्दर्भ में प्रतिनायिका का उल्लेख किया है। कालान्तर में नरसिंह कवि ने शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक प्रभृति रसों के अनुकूल नायकों के रूप में शृङ्गारनायक और शृङ्गार-प्रतिनायक, रौद्र और वीरनायक की भाँति रौद्र और वीर-प्रतिनायक जैसे भेदों को स्वीकार किया है।

तात्पर्य यह कि इस विषय के अध्ययन के लिए जहाँ उन आचार्यों ने, जिन्होंने प्रतिनायक का उल्लेख ही नहीं किया मुझे प्रेरणा दी वहीं इन दूसरे और तीसरे वर्ग के आचार्यों ने मुझे प्रतिनायक के अस्तित्व का बोध कराया है। इन विभाजनों को ध्यान में रखते हुए भी औद्धत्य एवं आदर्श के आधार पर चार प्रकार के प्रतिनायकों को लक्ष्य रूपक प्रबन्धों में सरलतापूर्वक देखा जा सकता है—धीरोद्धत प्रतिनायक पूर्णोद्धत-प्रतिनायक, अर्धोद्धत-प्रतिनायक तथा औद्धत्य एवं आदर्शहीन प्रतिनायक। इस दृष्टि से राक्षस की भूमिका धीरोद्धत प्रतिनायक का प्रतिनिधित्व करती है। उधर बाली का स्वरूप भी प्रायः ऐसा ही है, किन्तु शृङ्गारप्रकाशकार के विभाजन के आधार पर ये दोनों ही धीरोदात्त प्रतिनायक के अधिक समीप हैं। कुछ रूपकों में जामदग्नि, दुर्योधन और दुःशासन की भूमिकाएँ पूर्णोद्धत कोटि में रखी जा सकती हैं। इसके विपरीत रावण का चरित्र प्रायः अर्धोद्धत ही मिला। जिसे नितान्त आदर्शहीन नहीं माना जा सकता। शकार जो औद्धत्य एवं आदर्श दोनों ही दृष्टि से लगभग हीन है; सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरित्र है जो पाश्चात्य खलनायक के पर्याप्त निकट है।

नायक विरोध का एक स्वरूप और भी है; वह है नायक-नायिका के संयोग में आने वाली बाधाएँ। प्रतिनायिकाओं का अस्तित्व यहीं मुखर होता है। वैसे विप्रलम्भ शृङ्गार की दृष्टि से प्राकृतिक बाधाएँ भी स्वतः में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इस दृष्टि से राजमहिषी और नायक की अर्धाङ्गिनी की भूमिका भी आयोजित की जाती रही है। शृङ्गारप्रकाशकार ने सत्यभामा और रुक्मिणी को इस रूप में उद्धृत भी किया है। काव्यप्रकाशकार ने विप्रलम्भ के सन्दर्भ में अभिलाषा, विरह, ईर्ष्या, प्रवास तथा शाप के रूप में जो कारण हैं, वे प्रतिनायक की मुख्य भूमिका के मूल में निहित आदर्शों और उद्देश्य की पवित्रता जैसे सिद्धान्तों की स्थापना जैसे कारणों से दूर जा पड़ते हैं। अतः यहाँ ऐसे अप्रत्यक्ष कारणों पर सङ्केतमात्र किया गया है, प्रतिनायक के रूप में स्वीकार कर उन्हें मूल्याङ्कित नहीं किया गया है।

प्रतिनायक के मूल, उसके शास्त्रीय स्वरूप और नाट्य संरचना तथा रस के सन्दर्भ में उसकी उपयोगिता का आकलन करते हुए हम पाते हैं कि उसकी योजना का मुख्य उद्देश्य, नायक के चरित्र का उत्कर्ष प्रदर्शित करने अथवा अङ्गी रस को परमानन्द की कोटि तक पहुँचाने में समर्पित रहा है। अतः रामकथा, महाभारतकथा तथा

अन्य ऐतिहासिक एवं लोककथामूलक रूपक प्रबन्धों की विवेचना करते हुए, उत्तरार्ध में यह रेखाङ्कित किया गया है कि कौन-कौन से नाटककार इस दृष्टि से प्रतिनायक की भूमिका का उपयोग कर सके हैं। प्रबोधचन्द्रोदय जैसे प्रतीक नाटक, दार्शनिक विचार-धारा को नाटकीय माध्यम से प्रस्तुत करने की प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन्हें भी सत्, असत् के सतत संघर्ष में पर्यवसित पाया गया है, जिनके माध्यम से पुनः नैतिक मूल्यों की स्थापना में प्रतिनायक के बलिदान की कथा का समर्थन पाया गया है। इस प्रकार प्रबन्ध में संस्कृत के सत्रह रूपक प्रबन्धों की कथावस्तु और नायक-प्रतिनायक के स्वरूप की मुख्य रूप से विवेचना करते हुए मालतीमाधव तथा नागानन्द को मात्र सङ्केतित किया गया है। इनमें से भी भास के रूपक प्रबन्धों को आरम्भिक रूपकों के रूप में अत्यन्त उपादेय माना गया है और उनके परवर्ती प्रभाव को भी ध्यान में रखा गया है।

पाश्चात्य त्रासदी विधा के सन्दर्भ में, नायक की महान् त्रुटि, मन:शान्ति के उद्देश्य एवं तदर्थ विरेचन सिद्धान्त की सार्थकता-निरर्थकता और पाश्चात्य एवं संस्कृत नाट्यरचना प्रक्रिया सम्बन्धी अनेक समानताओं-असमानताओं पर विहङ्गम दृष्टि डालते हुए शेक्सपियर के चार त्रासदी नाटकों में, खलनायक से प्रतिनायक की तुलना के प्रसंग में पग-पग पर ऐसा आभास होता रहा कि दोनों ही चरित्र अपनी-अपनी संस्कृतियों और दार्शनिक विचारधारा के प्रभाव के कारण भिन्न-भिन्न भावभूमि पर निर्मित हुए हैं, तथापि किसी सीमा तक उनमें चारित्रिक साम्य है। इनमें जो साम्य है वह सार्वकालिक और सार्वदेशिक है और जो असमानता है वह दोष नहीं है, अभाव नहीं है; वह अपनी-अपनी विशेषता है, अपनी-अपनी सांस्कृतिक, दार्शनिक और साहित्यिक चिन्तन प्रक्रिया की मौलिकता है।

संस्कृत के पौराणिक आख्यानों और उपजीव्य काव्यों में ऐसे चरित्र विद्यमान हैं, जो खण्ड-खण्ड होकर टूट जाते हैं पर मुड़ते नहीं हैं। हिरण्यकश्यपु, महिषासुर, भस्मासुर और रावण, यहाँ तक कि शिशुपाल, कंस और जरासंध में मौलिक रूप से ऐसे गुण विद्यमान रहे हैं। किन्तु इनके दुर्धर्ष रूप की उपेक्षा की गयी और रूपकों को दृश्य होने से, भावसम्प्रेषण की दृष्टि से अतिसंवेदनशील मानकर उनमें ऐसा प्रत्यक्ष चित्रण नहीं किया गया। दुर्योधन और कर्ण को लेकर भास ने ऐसे प्रयोग किए थे किन्तु उन्हें कितनी मान्यता मिली इसे लक्षण ग्रन्थों में उदाहरणों के अभाव से समझा जा सकता है। और इस अभाव से ही यह भी सुस्पष्ट हो जाता है कि ऐसे प्रयोगों से रससिद्धि हो भी जाए (जैसी कि ऊरुभङ्ग में होती है) तो भी स्थागित कर्म और भोग के सिद्धान्त के ध्वस्त होने का भय तो है ही। यही कारण है कि राम द्वारा किए गए राक्षसों के संहार से उत्पन्न विपक्ष की वेदना जैसे प्रसंगों को रूपायित करने की अनुमति थी

(देखें, ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत) उसे रसानुकूल भी माना गया था किन्तु किसी भी नाटककार ने उस पर प्रयोग नहीं किया क्योंकि उससे नैतिक परितोष नहीं मिलता और सम्भव है उससे राम के धर्मस्थापक रूप की भी क्षति होती।

अतः हम पाते हैं कि नाट्यशास्त्रियों ने नाट्यरस के प्रति अपने पूर्वाग्रह के कारण तथा स्थापित आदर्शों और नैतिक सिद्धान्तों के कारण, संस्कृत नाटकों को तथा-कथित यथार्थ जीवन से किञ्चिद् परे रखा। मृच्छकटिक तथा मुद्राराक्षस जैसे अन्य रूपकों का अभाव इस धारणा को पुष्ट करता है। इसी कारण, नायक को पराजित करने वाला, उसके पतन का मार्ग प्रशस्त करने वाला, खलनायक संस्कृत रूपक प्रबन्धों में दृष्टिगत नहीं होता। चारुदत्त की प्रतिद्वन्द्विता में यदि शकार द्वारा ऐसी मनःस्थिति उत्पन्न की जाती है तो वह अन्त में सामान्य होती देखी जाती है। अतएव मैकबेथ जैसी भूमिकाओं के लिए भी संस्कृत नाट्य भूमि कभी भी उर्वर नहीं रही, उस जैसी भूमिकाओं के नायकत्व का तो यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं पैदा होता। हाँ किसी सीमा तक प्रतिनायकों में उसके अवगुणों के दर्शन हो जाते हैं। इस दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता रहा कि ऐसी भूमिकाओं की प्रस्तुति, उसका प्रत्यक्ष प्रदर्शन और उससे साक्षात्कार संस्कृत नाट्याचार्यों और नाटककारों को कदापि उपयोगी नहीं लगा। यहाँ तक कि आत्महत्या से ही अपने कष्टों से, अपनी हताशा और निराशा से मुक्ति का भ्रम संजोये रोमियो, जुलियट और ओथेलो भी यहाँ अपने मूल रूप में उत्पन्न नहीं हो सके। ब्रूटस, कैशस और इआगो किसी सीमा तक यहाँ अवश्य उत्पन्न होते रहे किन्तु पौर्व और पाश्चात्य इन चरित्रों में अन्तर यही रहा है कि यहाँ उनकी महत्त्वाकांक्षा को; क्रूरता और नृशंसता का, अशिष्टता और कदाचार का, नग्न नृत्य करने की छूट नहीं मिली। ब्रूटस और अमात्य राक्षस में पर्याप्त समानता है; आदर्शों की परिधि में, वे पर्याप्त निकट हैं किन्तु ब्रूटस तो सीजर पर प्राणघातक प्रहार कर एक हत्यारा बन जाता है किन्तु राक्षस ऐसे प्रयास करके भी सफल नहीं होने पाता। यही मौलिक भेद है खलनायक और प्रतिनायक के मध्य। किन्तु मैकडफ में किसी धीरोदात्त नायक के गुणों का अस्तित्व अप्रत्याशित है। अप्रत्याशित तो ब्रूटस का आत्मसमर्पण और प्राय-श्चित्त भी है। किन्तु इआगो और शकार के चरित्र में, उनकी वृत्ति और स्वभाव, क्रूरता और षड्यन्त्र में, जो साम्य है, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शकार में कामुकता है किन्तु प्रतिशोध की भावना उतनी तीव्र नहीं है जितनी इआगो में है। इसके अतिरिक्त इन समान तत्वों में भी कोटि और स्तर का अन्तर स्पष्ट देखा जा सकता है। अपने फँस जाने के भय से दोनों ही भाग खड़े होते हैं, दोनों ही पकड़े जाते हैं, किन्तु शकार आत्मसमर्पण कर देता है और इआगो को किञ्चिद् भी पाश्चात्ताप नहीं होता है।

इस प्रकार संस्कृत साहित्य में विशेषकर नाट्य साहित्य में प्रतिनायक की भूमिका के मूल से लेकर पाश्चात्य नाट्यसाहित्य में उपलब्ध तत्सदृश भूमिका के परिचयात्मक अध्ययन तक उसे विभिन्न दृष्टियों से देख कर यह कहा जा सकता है कि इस विषय पर अभी बहुत कुछ शेष है जिस पर नयी दृष्टि से,नये सिरे से विचार किया जा सकता है । क्योंकि संस्कृत के रूपकों की प्रत्येक विधा पर, प्रत्येक विषय पर, उसकी मञ्चसज्जा पर, मञ्चविधान पर, विभिन्न भूमिकाओं, नायक-नायिका यहाँ तक कि विदूषक जैसी भूमिका पर तथा अनेक नाटककारों और उनके महत्त्वपूर्ण रूपक प्रबन्धों पर पर्याप्त कार्य हुआ है । किन्तु प्रतिनायक जैसी नायक-विरोधी भूमिका पर कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य अब तक प्रकाश में नहीं आया है । आलोचना के क्षेत्र में भी पौर्व एवं पाश्चात्य सभी नाट्यशास्त्रीय आचार्यों के अनेक ग्रन्थों से यह स्पष्ट परिलक्षित हो जाता है कि उनमें अनेक आचार्यों, आलोचकों ने नायकविरोधी भूमिका की नितान्त उपेक्षा की है । यहाँ तक कि भरतमुनि जैसे नाट्यशास्त्रियों ने भी प्रतिनायक का कोई लक्षण नहीं दिया है और अरस्तू ने भी नायक के पतन के मूल में स्थित उस खलनायक की उपेक्षा की है जो नायक की महती त्रुटि का लाभ उठाकर नायक के पतन की अनिवार्यता को साकार करता है ।

इन आचार्यों के इस अभावात्मक पक्ष ने ही मुझे उनके ग्रन्थों में ऐसे तत्त्वों की खोज के लिए बाध्य कर दिया जिसके आधार पर यह प्रबन्ध प्रस्तुत किय जा सका । इस कार्य में, भरतमुनि, आचार्य दण्डी, आनन्दवर्धनाचार्य, अभिनवगुप्त, धनञ्जय-धनिक, सागरनन्दी, भोजराज, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, विश्वनाथ, शारदातनय, विश्वानाथ, शिङ्गभूपाल तथा नरसिंहकवि जैसे प्राचीन आचार्यों, आलोचकों के अतिरिक्त पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों में आचार्य अरस्तू, मैक्समूलर, विन्टरनित्स, मैकडानल, ए. बी. कीथ, शेल्डान चेनी, हैनरी वेल्स, डॉ० सूर्यकान्त, डॉ० रामकुमार राय, आचार्य बलदेव उपाध्याय, पी. वी. काणे, एस. के. डे., डॉ० के. सी. पाण्डेय, डॉ० वी. राघवन्, डॉ० नगेन्द्र, आचार्य विश्वेश्वर, डॉ० सत्यव्रत सिंह, डॉ० विक्रमादित्य राय, वाचस्पति गैरोला, डॉ० रांगेय राघव, एम. आर. काले, डॉ० देवस्थली, डॉ० जी. के. भाट, डॉ० चौधरी एवं गुप्त प्रभृति विद्वानों के ग्रन्थों में विभिन्न उल्लेखों के आधार पर मैंने अपनी धारणा को पुष्ट होते हुए पाया है । अतः निश्चय ही मैं इन सभी आचार्यों और उन सभी विद्वानों का आभारी हूँ जिन्होंने मुझे किञ्चित् भी प्रेरणा दी है । 'तितीषुः दुस्तरं मोहात्' की भावना के साथ अब यह सब पाठकों और समालोचकों को उनकी समीक्षा के लिए समर्पित है ।

मातृनवमी
२२ सितम्बर १९८१

अभयमित्र

संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक

प्रथम परिच्छेद

प्रतिनायक सम्बन्धी धारणा : मूल एवं विकास*

"त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्"

भरतमुनि की इस स्थापना का तात्पर्य है, मानव-मन में निरन्तर बने रहने वाले भावों का अनुकीर्तन अर्थात् अनुकरण ही नाट्य है। उन मनोभावों को आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक एवं आहार्य अभिनय के माध्यम से रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करना ही वास्तविक 'भावानुकीर्तन' है[१]। अरस्तू के 'समस्त कला अनुकरण मात्र है' इस कथन का भी तात्पर्य लगभग यही है।

भिन्न-भिन्न संस्कृतियों, संस्कारों और परम्पराओं के अनुसार विभिन्न भावों की संयोजना में, उनकी अभिव्यक्ति में, अन्तर अथवा न्यूनाधिक्य की सम्भावना को अस्वीकार नहीं किया जा सकता किन्तु उनका स्थायित्व अथवा नैरन्तर्य अनिवार्य है। अतएव प्रेम की जो भावना रति स्थायीभाव के रूप में स्थित रहती है, भले ही कभी नाट्य में अभिव्यक्त न हो पाये किन्तु संघर्ष की भावना, वह चाहे आन्तरिक हो अन्तर्द्वन्द्व के रूप में अथवा बाह्य हो बहिर्द्वन्द्व के रूप में, कभी भी छूटने नहीं पाती।

प्रतिद्वन्द्विता का मूल

काव्य की नाट्यविधा और प्रतिनायक के मूल को एक में मिलाकर देखना उचित न होगा क्योंकि प्रतिनायक अथवा उसकी प्रवृत्ति के मूल में विद्यमान भावों को जबकि हम सृष्टि की उत्पत्ति अथवा मानव सभ्यता के विकास के साथ जोड़ सकते हैं, नाट्यविधा को इतना पुरातन सिद्ध कर पाने के प्रमाण नहीं पाते[२]। नाटक के किसी भी

---

१. (क) किं नाट्यम् ? नाट्यमनुकरणम्। –नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० २८
(ख) लोकवृत्तानुकरणं नाट्यम्। भरत १.१०९

२. डॉ० के. सी. पाण्डेय, स्वतन्त्र कलाशास्त्र, पृ० ४०

*इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्॥
—ऋग्वेद

रूप को चाहे वह लोकधर्मी हो अथवा नाट्यधर्मी उसे ऋग्वेदकालीन सिद्ध नहीं किया जा सकता। ऋग्वेद में नाटक (रूपक) के मूलतत्त्वों का संकेत मात्र मिलता है जबकि प्रतिनायक के पूर्ण विकसित चरित्र का दर्शन हमें उसमें सुलभ है।

इसके पूर्व कि हम वेदों में प्राप्त प्रतिनायकीय तथ्यों की विवेचना करें हम आधुनिक इतिहास के आधार पर यह सोचने को बाध्य हो जाते हैं कि पूर्व-ऐतिहासिक काल के लोगों में भी सगोत्रीय जनों के प्रति प्रेम एवं अन्य गोत्रीय लोगों के प्रति उपेक्षा और प्रतिस्पर्धा की भावना अवश्य विद्यमान रही होगी। सभ्यता का वह युग जब पशु-धन की प्रधानता थी तब भी चारागाहों के लिए अथवा पशुओं पर अधिकार के लिए होने वाले संघर्ष का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। सम्भव है वसिष्ठ एवं विश्वामित्र के मध्य होने वाले संघर्ष के मूल में भी वसिष्ठ का पशुधन से सम्पन्न होना ही रहा हो। धन अथवा सम्पत्ति ही नहीं प्रतिष्ठा एवं अकारण वैर एवं प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या एवं द्वेष की भावनाएँ भी मानव-मन को आलोडित कर देती हैं। अथर्ववेद के एक मन्त्र में स्पष्ट रूप से 'ज्वर' का पश्चिम दिशा में भाग जाने को कहा गया है। यह अथर्ववेद के उस मन्त्रद्रष्टा ऋषि की अन्य आर्यों से विद्वेषभावना का परिचायक है[१]। अतः नाना स्थलों पर उत्खनन में प्राप्त शस्त्रास्त्रों का उपयोग केवल मृगया के निमित्त होता था ऐसा मान लेना भी संकुचित दृष्टि का परिचायक होगा।

प्रत्येक संस्कृति अथवा धर्म को सृष्टि सम्बन्धी पौराणिक कथाओं में भी स्वार्थ-परक प्रतिस्पर्धा एवं छल-कपट के विकसित-अविकसित रूप देखने में आते हैं। इनकी चरमपरिणति, एक के द्वारा दूसरे को समाप्त कर देने की भावना और प्रयास में देखी जाती है। ईसाई और इस्लाम धर्म की कथाओं में आदम और शैतान की स्थिति हो अथवा वैदिक पुराकथाओं एवं तन्निस्यूत पौराणिक साहित्य में देवासुर-संग्राम, इन सभी में न्यस्त स्वार्थों का संघर्ष है, सम्पन्नता के लिए प्रतिद्वन्द्विता है, अपनी उन्नति के लिए दूसरे को मार्ग से हटाने का प्रयास है। अतएव प्रत्येक संस्कृति एवं धर्म ने अपनी परम्पराओं और परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में, सार्वकालिक-सार्वभौम आदर्शों और मान्यताओं की अपनी-अपनी व्याख्याएँ कर ली हैं। किन्तु यहाँ इसकी विवेचना न करके इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सत् एवं असत् की स्थिति ही जगत् का जीवन है। जिस प्रकार विद्युत् धारा तब तक प्रकाश नहीं दे सकती जब तक पॉजिटिव और निगेटिव धाराएँ कहीं मिलती नहीं। उसी प्रकार सत् एवं असत् के एक साथ विद्यमान न रहने पर संसार की गतिमत्ता में सन्देह हो सकता है। वस्तुतः आदम और शैतान, देव और

१. अथर्व० ५.२२.५

दानव, सुर और असुर, इन्द्र और वृत्र, राम और रावण अथवा चारुदत्त और शकार, ऐसी ही भावनाओं और आदर्शों के प्रतीक हैं। यही कारण है कि एक के उदासीन होने पर भी उनका संघर्ष चलता रहता है और दोनों के ही क्रियाशील हो उठने पर जो स्थिति होती रही है उसे हम अगले अध्यायों में देखेंगे।

तत्वतः यह भावों और सिद्धान्तों का संघर्ष ही प्रतिस्पर्धा को जन्म देता है जो कभी सैद्धान्तिक संघर्ष के रूप में तो कभी युद्ध नियुद्ध के रूप में विस्तार पाती है। अतः इस संघर्ष को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है जिन्हें भाव संघर्ष अथवा अन्तर्द्वन्द्व एवं युद्धनियुद्ध अथवा बहिर्द्वन्द्व के रूप में देखा जा सकता है। हम सामाजिक जीवन में पाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति सुख-दुःख का समान रूपेण अनुभव करता है। सभी के मन में किसी के प्रति प्रेम तो किसी के प्रति विरोध की भावना होती है, कभी-कभी विरोध की यह भावना जब प्रत्यक्षतः युद्धादि के रूप में प्रकट नहीं हो पाती तब वह भावसंघर्ष के रूप में ही अन्तर्मन को मथ डालती है।

संस्कृत के रूपकों में इस भाव संघर्ष को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।[१] भरतमुनि ने भी इन भावों और उनसे अनुप्राणित अवस्थाओं के महत्त्व को स्वीकार करते हुए ही कहा है—नाटक (रूपक) वही है जिसमें विभिन्न मनोभावों और विभिन्न अवस्थाओं को लौकिक जीवन में अवतरित होते हुए प्रदर्शित किया जाय[२]। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जगुप्सा, आश्चर्य, निर्वेद आदि स्थायी भावों के अतिरिक्त विभिन्न व्यभिचारिभाव भी परिस्थितियों के अनुकूल विभिन्न अवस्थाओं को जन्म देते हैं। कभी कोई शृङ्गारिक चेष्टाओं द्वारा उन्हें प्रकट करता है तो कोई रुदन द्वारा, कोई क्रोध द्वारा तो कोई चिन्ता द्वारा; यही नाना अवस्थाएं हैं।

दशरूपककार ने इन्हीं अवस्थाओं को नाट्य-शास्त्रीय धीरोदात्तादि चार प्रकार के नायकों की अवस्थाओं के रूप में स्वीकार किया है। लौकिक जीवन में सभी लोग इन भावों से अविभूत देखे जाते हैं किन्तु नाट्य जीवन में औदात्त्य, औद्धत्य, शान्त अथवा लालित्य इन गुणों के आधार पर ही नायकों का वर्गीकरण स्वतः इनके महत्त्व को स्पष्ट करता है। अन्य अनेक आचार्यों ने इन अवस्थाओं का तात्पर्य देशकाल आदि

---

१ व्यभिचारिभावों में अधिकांश भाव ऐसे ही संघर्षों को जन्म देते पाये जाते हैं।

२. (क) नानाभावोपसम्पन्नं नानाऽवस्थान्तरात्मकम्। भरत १.१०८
(ख) लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मयाकृतम्।
उत्तमाधममध्यानां नराणां कर्मसंश्रयम्॥ भरत १.१०९

से प्रभावित दुःख-सुखात्मक अनुभूतियों, अवस्थाओं से ग्रहण किया है[1]। जिससे भरतमुनि के उपर्युक्त कथन की सार्थकता अधिक बढ़ जाती है, विशेषकर आधुनिक नाट्यशास्त्रीय आलोचना के परिप्रेक्ष्य में निश्चितरूप से यह महत्त्वपूर्ण।

आधुनिक युग में नाटकों के, जीवन अथवा सामाजिक जीवन से नैकट्य का अर्थ, वस्तुतः समस्याप्रधान नाटकों की रचना से ग्रहण किया जाता है। यह विषय विवादास्पद हो सकता है। वस्तुतः सामाजिक अवस्थाओं में परिवर्तन होते रहते हैं अतः कालान्तर में ऐसी कृतियों का प्राचीन पड़जाना अथवा अयथार्थ हो जाना स्वाभाविक है। जीवन से नैकट्य का वास्तविक तात्पर्य है जीवन के निर्धारित आदर्शों की स्थापना। हम स्वीकार भले ही न करें नाटक, काव्य चाहे वे भारतीय हों अथवा किसी अन्य भाषा और देश के, अमरता उन्हें ही प्राप्त होती है जो आदर्शों से अनुप्राणित होते हैं। समयस्याओं की विभीषिका सामाजिक,दर्शक के मनोबल को तब निश्चितरूप से गिरा देगी जब वह देखेगा कि उसका नायक उन समस्याओं से जूझता हुआ परास्त हो जाता है। अतः समस्याओं और बाधकतत्त्वों का प्रदर्शन अनुचित नहीं है, यह तो संस्कृत-रूपकों में भी है, किन्तु उनसे समझौता कर लेना, उसके समक्ष घुटने टेक देना न तो आदर्श है न ही उपयुक्त। इसके विपरीत संस्कृत रूपकों के नायक ऐसी समस्याओं का समाधान खोजते हैं, उनका अतिक्रमण करते हैं और आगे बढ़ते हैं। दोनों ही संस्कृतियों में समस्याएँ हैं, बाधाएँ हैं, सुख-दुःख की अवस्थाएँ हैं, दोनों के ही चरित्र लौकिक हैं, दोनों का 'आदर्श एक है किन्तु एक का नायक भाग्य के हाथों मारा जाता है, दूसरा कर्म करता है और फल भोगता है। एक मर जाता है, दूसरा जीवित रहता है।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण, मुद्राराक्षस, मृच्छकटिक एवं वेणीसंहार जैसे नाटकों में होने वाले संघर्ष महत्त्वपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त अभिज्ञानशाकुन्तल, उत्तररामचरित, महावीरचरित, मालविकाग्निमित्र, रत्नावली, नागानन्द प्रभृति नाटकों में ग्रथित भाव एवं कार्यकलाप भी कहीं असामान्य होकर नहीं उभरते। अभिज्ञानशाकुन्तल का नायक दुष्यन्त सुरुचि सम्पन्न शासक एवं निष्ठावान् सुसंस्कृत नायक है। इसके साथ ही वह रूप लोलुप है। पर सामाजिक प्रतिष्ठा के गिर जाने से भयभीत है। वह विलासी और

१. (क) अभिनवभारती, भाग १, पृ० ३८

(ख) अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा।
तस्यास्त्वभिनयः प्राज्ञैर्नाट्यमित्यभिधीयते ॥

—नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० २८

काम सम्बन्धी क्रियाओं में अत्यन्त चतुर है। रूप-लिप्सा और कामुकता के आवेग में वह अपने सर्वाधिक विश्वासी मित्र एवं राजमाताओं से झूठ भी बोल जाता है। राष्ट्रिय तथा उसके सहायकों का मछुये के साथ व्यवहार आधुनिक पुलिस व्यवहार से बहुत परे नहीं है। परिणीता सीता के लिए राम का विलाप और सीता का सात्विक प्रेम कृत्रिम नहीं लगता। इस रूप में शकुन्तला और दुष्यन्त के बीच अथवा पृथक्-पृथक् जो भावसंघर्ष है और राम के मन में सीता को लेकर जो भाव उठते हैं, राम-लक्ष्मण और परशुराम के सम्वादों में जो सविनय-अवज्ञा, ढिठाई और आत्मश्लाघा अथवा घमंड है वह किसी से छिपा नहीं है। अतएव यह पूर्णतः स्पष्ट है कि संस्कृत के नाटक भी सामान्य जीवन से विमुख नहीं हैं, पलायनवादी नहीं है। उनमें भाव-संघर्ष तथा बाह्य-संघर्ष दोनों को स्थान तो मिलता ही है[१]। उनमें नानाभावोपसम्पन्नता भी है, नाना अवस्थाओं का चित्रण भी है और लोकवृत्त; लोकचरित्र का अनुकरण भी है।

वैदिक वाङ्मय : प्रतिनिधि नायक, प्रतिनायक

संस्कृत साहित्य में जिस संस्कृति एवं परम्परा का चित्रण किया गया हैं तथा जिन सिद्धान्तों अथवा मान्यताओं की पुष्टि की गई है उनका प्रमुख स्रोत वेदों एवं तन्निस्यूत पौराणिक साहित्य में है। संस्कृत साहित्य का कोई भी विषय हो, दर्शन हो अथवा नीतिशास्त्र, नाटक हो अथवा काव्य, सभी पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में ब्राह्मण ग्रन्थों, सूत्रसाहित्य और उपनिषदों का प्रभाव परिलक्षित होता है[२]। वैदिक कर्मकाण्ड और दर्शन के प्रबल विरोधी बौद्ध एवं जैन धर्म और साहित्य भी उनसे अछूते नहीं हैं। इतना ही नहीं संस्कृत के अनेक कवियों ने अपनी रचनाओं के लिए सीधे वेदों से अनेक विषयों का चयन किया। पुरूरवा–उर्वशी[३], वशिष्ठ एवं विश्वामित्र की कथाओं का मूल वेदों में है[४]। पुराणों में उपबृंहित देवासुर–संग्राम ऋग्वेद में आर्यों द्वारा इन्द्रादि देवों के नेतृत्व में अनार्यों किंवा असुरों, दैत्य-दानवों और राक्षसों से किये जाने वाले संघर्ष की महापरिणति है, जिसमें दशराजज्ञ युद्ध का भी प्रतिबिम्ब है।

---

१. कीथ—संस्कृत नाटक, पृ० ३० (डा० उदयभानु सिंह कृत, कीथ के 'सस्कृत ड्रामा' का अनुवाद)

२. कीथ—वै० ध० द०, अध्याय १, पृ० ७

३. ऋ० १०.९५

४. कीथ—संस्कृत नाटक, पृ० ६

कालान्तर में लिखे जाने वाले साहित्य की प्रेरणा भूमि अथवा उपजीव्य साहित्य के रूप में महाभारत, रामायण एवं पुराणों का महत्त्व भी स्पष्ट ही है। किन्तु उन्हें भी अपनी आदर्श मान्यताओं की प्रेरणा जिस स्थल से मिली वह भूमि इतनी मनोहारी और उर्वर है कि सम्भवतः विश्व का अन्य कोई प्राचीन साहित्य उसकी तुलना नहीं कर सकता। पुरुरवा-उर्वशी सम्वाद, यमयमी सम्वाद,[१] इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि[२] एवं अगस्त्य-लोपामुद्रा और पुत्र के मध्य वार्तालापों में[३] जहाँ नाटकीय तत्त्वों का संकेत मिलता है[४] वहीं उषा सम्बन्धी सूक्तों एवं अन्य मुक्त ऋचाओं में[५] काव्य के कमनीय तत्त्व कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

वेदों में प्राप्त तथ्यों के आधार पर नाटक की सत्ता के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। प्रकृत स्थल पर ऐसी खोज अभीष्ट भी नहीं हैं क्योंकि नाट्य सम्बन्धी संकेतों की प्राचीनता प्रकृत संदर्भ में उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी कि उन प्राचीनतम अवशेषों में विद्यमान संघर्ष सम्बन्धी तत्त्वों की खोज। तथापि नाट्यशास्त्र और नाटकों में विद्यमान संघर्ष की प्राचीनता को खोजते हुए. नाट्यशास्त्र की ऋग्वेद से पाठ्यतत्त्व, यजुर्वेद से अभिनयतत्त्व, सामवेद से गीततत्त्व तथा अथर्ववेद से रसतत्त्व ग्रहण करके नाट्यरूपी नये पञ्चम वेद के निर्माण की मान्यता[६] अवश्य विचारणीय है। ऋग्वेद से ग्रहीत पाठ्यतत्त्व जो उसके सम्वादात्मक पक्ष की ओर संकेत करता है, नाट्यरचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। पूर्ण पद्यात्मक रूप में अब नाटक तो उपलब्ध नहीं हैं किन्तु अभिनय की दृष्टि से पद्य प्रयोग का ह्रास, नाट्य के विकास की ओर अवश्य संकेत करता है[७]। ऋग्वेद से पाठ्यतत्त्व के ग्रहण करने का तात्पर्य परवर्ती साहित्य में उपलब्ध अनेक कथानकों से स्वतः स्पष्ट हो जाता है। ऋग्वेद के उक्त सम्वादों में जो विरोध एवं प्रतिद्वन्द्विता, संघर्ष और विवाद है, उसके माध्यम से तात्कालिक सामाजिक वातावरण, राजनीतिक व्यवस्था और धार्मिक चिन्तन प्रक्रिया

१. ऋ० १०.१०
२. ऋ० १०.८६
३. ऋ० १.१७९
४. कीथ द्वारा उद्धृत डा० हर्टल का मत, सं० ना०, पृ० ५
५. ऋ० १.११३, १.११५.२, ३.६१, ५.७९, ७.७५–८१
६. भरत १.१७
७. तुलना करें—शेल्डानचेनी कृत 'रङ्गमञ्च' पृ० ६८ (श्रीकृष्णदास कृत हिन्दी रूपान्तर)

का ज्ञान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है जिसके आधार पर आर्यों के पूर्ण सभ्य होने के प्रमाण तो प्राप्त होते ही हैं उनके उस शत्रु वर्ग का स्पष्ट उल्लेख भी उपलब्ध हो जाता है जिनके साथ उनकी प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष अत्यन्त सजीव हैं। इस संघर्ष के कई रूप हैं। कहीं आर्यों का आर्येतर वर्ग के आदिम जातीय (अनास) लोगों से संघर्ष है तो कहीं आर्यों का आर्यों अथवा भ्रष्ट आर्यों से संघर्ष है[1]। कहीं आर्यों द्वारा इन्द्र आदि देवों के नेतृत्व में दानवों से संघर्ष है तो कहीं प्राकृतिक बाधाओं का मानवीय अथवा दानवीय स्वरूप उपस्थित करके इन्द्र आदि देवों के साथ उनका संघर्ष प्रदर्शित किया गया है।

इस प्रकार ऋग्वेदीय संघर्ष को सरलता की दृष्टि से चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—

१—आर्यों का इन्द्र आदि देवों के नेतृत्व में, अहि, वृत्र, अर्बुद, पणिगण, बल, शुष्ण प्रभृति प्रतिद्वन्द्वियों से संघर्ष : जिनमें दानवीय, अर्धमानवीय और प्राकृतिक शक्तियों के प्रतिनिधि प्रतिद्वन्द्वी भी आ जाते हैं। इस संघर्षकथा में इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति, अङ्गिरस, मरुत् तथा कुत्स प्रभृति देवों का स्वरूप नायकों जैसा है, वे संयुक्त रूप से अथवा पृथक्-पृथक् इन प्रतिद्वन्द्वियों से युद्ध करते हैं। जिनमें इन्द्र प्रायः सभी को सहायता करता है।

२—इन्द्र आदि देवों का परस्पर संघर्ष : वरुण, मरुत्, कुत्स एवं रुद्रादि देवों के साथ इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता एव सूर्य तथा उषा से उसकी ईर्ष्या को इसी रूप में देखा जा सकता है।

३—आर्यों का आर्यों से संघर्ष : तृत्सुवंशी अतिथिग्वदिवोदास एव पैजवन सुदास के साथ यदु, तुर्वश, मत्स्य, पक्थ एवं यक्षु, द्रुह्यु तथा पुरु प्रभृति आर्यों अथवा 'आर्यगणों' की प्रतिद्वन्द्विता को इसी वर्ग में रखा जा सकता है। दशराजज्ञ-युद्ध एवं वसिष्ठ-विश्वामित्र को प्रतिद्वन्द्विता को भी इसी दृष्टि से देखता उचित होगा।

४—आर्यों का अनार्यों से संघर्ष : आर्य शासकों के साथ भलानस, अलिन, विषाणिन् प्रभृति अनार्यों या आदिम-जातीय जनों के संवर्ष को इसी वर्ग में रखा जा सकता है जो अतिथिग्वदिवोदास एवं सुदास के साथ हुए उपर्युक्त युद्धों में उनके आर्य-शत्रुओं का साथ देते हैं। आर्येतर अनास, कृष्ण, शिश्नदेवों अथवा लिंगोपासकों की प्रतिद्वन्द्विता भी इसी वर्ग में आएगी। अन्तिम दोनों वर्ग के संघर्षों के मूल में साम्राज्य विस्तार की महत्त्वाकांक्षा को देखना अनुचित न होगा।

---

१. वै० ध० द० अध्याय ७, पृ० १११

इस दृष्टि से भौतिक शक्ति-सम्पन्न-अनार्यों से आर्यों का अथवा राज्य-सीमा, सम्पन्नता अथवा अन्य स्वार्थों के कारण आर्यों का परस्पर संघर्ष समझ में आने वाली बात है। किन्तु इन्द्र, कुत्स, बृहस्पति, विष्णु, रुद्र, सोम, मरुत्, वरुण प्रभृति देवों का युद्ध-भूमि में अवतरित होंना ऋग्वैदिक ऋषियों की युद्ध-भीरुता का पारिचायक है। देवों की कोटि में इन्द्र और भौतिक प्राणियों के क्षेत्र में दिवोदास, सुदास तथा ऐसे ही कुछ अन्य आर्यशासक (अथवा जातियाँ) महत्त्वपूर्ण हैं जिनकी गणना नायक के रूप में की जा सकती है। वैसे विष्णु, रुद्र, कुत्स, बृहस्पति तथा अग्नि भी ऐसे देव हैं जो संघर्ष करते हैं पर अधिकांश इन्द्र पर आश्रित हैं। कहीं-कहीं तो ये इन्द्र को लड़ता छोड़कर भाग जाते हैं। इनका पलायन, जहाँ प्रतिद्वन्द्वियों की शक्ति सम्पन्नता की ओर संकेत करता है वहीं इन्द्र के साहस की सराहना भी। सच तो यह है कि इन्द्र ही आर्यों का वह अप्रतिहत सेनानी है जो सबको सहायता के लिए सदा सन्नद्ध रहता है।

इन्द्र के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी हैं—वृत्र, अहि, बल, अर्बुद, विश्वरूप, पिप्रु, नमुचि, वर्चिन और धुनि। इनमें भी, इन्द्र को 'वृत्रहा' के रूप में ख्याति, वृत्र को उसका प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध करती है। यहाँ ऋग्वेद की कथाओं को किसी व्यवस्थित ढंग से उपस्थित करने की अथवा उसके क्रमिक विकास का विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं है किन्तु इन कथाओं में निरूपित इन्द्र का नायकत्व और प्रतिनायकत्व अवश्य दृष्टि सापेक्ष है।

किसी भी कथा में अन्तिम फल का उपभोक्ता नायक होता है। उसके मार्ग में उसकी फलप्राप्ति में, बाधक तत्त्वों का उपस्थापक प्रतिनायक होता है। यह नायक एवं प्रतिनायक का एक स्थूल लक्षण कहा जा सकता है। नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से नायकों के चार भेद हैं : धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत एवं धीरप्रशान्त। भरतमुनि ने गुण, कर्म एवं स्वभाव के अनुसार देवों को धीरोद्धत, राजाओं को धीरललित, अमात्य एवं सेनापति को धीरोदात्त एवं ब्राह्मण तथा वणिक् नायकों को धीर-प्रशान्त माना है[1]। 'देवाः धीरोद्धताः ज्ञेयाः, भरत की इस मान्यता के आधार पर नायक की भूमिका में आने वाले देवों का स्वरूप धीरोद्धत होता है। अर्थात् दर्प, मात्सर्य, माया, छद्म, अहंकार, चित्तवृत्ति की चंचलता, प्रचण्डता एवं विकत्थना जैसे गुण धीरोद्धत नायक में ऐकान्तिक रूप से मिलते हैं। इन्द्र जैसे धीरोद्धत नायक की प्रतिद्वन्द्विता में आने वाले प्रतिनायकों का चरित्र भी कम उद्धत नहीं है। दशरूपककार के अनुसार प्रतिनायक वस्तुतः नायक

---

१. भरत २४.२-५

का 'रिपु' है। जो लोभी, स्तब्ध (हठी), पापी, व्यसनी एवं धीरोद्धतनायक[1] के गुणों से युक्त होता है[2]। अर्थात वह नायक का विरोधी है अतः ईर्ष्यालु भी होता है[3]। स्वाभाविक रूप से अपने लक्षणपरिवेश में प्रतिनायक को किसी धीरोद्धत नायक से भी बढ़कर उद्धत और उग्र होना चाहिए। प्रयोग में प्रतिनायक कितना खरा उतरता है यह तो हम आगे देखेंगे किन्तु इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वियों में ऐसे अधिकांश तत्त्व मिल जाते हैं जिनसे इन्द्र का चरित्र, उसका शौर्य सार्थक तथा द्विगुणित हो उठता है।

इन्द्र का नायकत्व (धीरोद्धत)

ऋग्वेद में इन्द्र एक महान् देवता है। उसके महनीय कार्य हैं, वृत्रादि दानवों का दलन, पर्वतों का पक्ष-कर्तन करके धरा के कष्टों का उपशमन,[4] गौवों की मुक्ति, आर्यों की सम्पत्ति की रक्षा, भूमिदान,[5] नदी खोदना तथा जलप्लावन से रक्षा हेतु नदियों को समुद्र की दिशा में प्रवाहित करना[6] आदि। उसके कार्यों का एकत्र उल्लेख करते हुए ऋषि विश्वामित्र कहते हैं—

जघान वृत्रं स्वधतिर्वनेव रुरोज पुरो अरदन्न सिन्धून् ।
बिभेद गिरिं नवमिन्न कुम्भमा गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः ॥
ऋ० १०.८९.७

इतना ही नहीं, वह युद्ध आदि में आर्यों की ही नहीं, देवताओं की भी सहायता करता है। अग्नि, मित्र, बृहस्पति, अर्यमा, वरुण एवं मरुत् प्रभृति सभी देवता उसके ऋणी हैं। शत्रुओं से अकेले लोहा लेने में वही सक्षम है, अतः युद्ध का नेतृत्व वही करता है[7]। शत्रु के प्राणघातक प्रहारों से संत्रस्त देवता इन्द्र को अकेला छोड़कर भाग जाते हैं

१. दर्पमात्सर्यभुयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः।—दशरूपक २.५.६

२. द० रू० २.९

३. 'व्यसनीपापकृत् द्वेष्यः नेता स्यात् प्रतिनायकः'—नञ्जराजयशोभूषण, विलास—६

४. यः पृथिवीं व्यथमानामदृङ्हत यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात् ।
ऋ० २.१२.२ एवं २.१७.५
त्वं तमिन्द्र पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन् पर्वशश्चकर्त्तिथ। ऋ० १.५७.६

५. अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय। ऋ० ४.२६.२
दाता राधः स्तुवते काम्यं वसुः। ऋ० २.२२.३

६. समाहिन इन्द्रो अर्णो अपां प्रैरयदहिहाच्छा समुद्रम्।
ऋ० २.१९.३ एवं ३३.६,९

७. इन्द्रं वृत्राय हन्तवे देवासो दधिरे पुरः। ऋ० ८.१२.२२ एवं ६.१७.८

उसके मित्र मरुद्गण कुछ पल साथ देते हैं, अन्त में वे भी भाग खड़े होते हैं[१]। किन्तु इन्द्र अन्त तक लड़ता है और वृत्र को पराजित करता है। इस रूप में इन्द्र एक सशक्त धीरोद्धत नायक है। वह कुलीन भी है और सर्वगुणसम्पन्न भी।

इन्द्र की कुलीनता

इन्द्र, जो कि 'दस्यु-वृत्रों' के नाश के लिए उत्पन्न अथवा नियुक्त किया गया है,[२] एक कुलीन देवता है। वह चाहे सृष्टि के जन्मदाता पुरुष के मुख से उत्पन्न हुआ हो,[३] सोम से उत्पन्न हुआ हो,[४] अथवा पिता की हत्या के कारण अपनी माता को विधवा बनाने वाला हो, सभी पुराकथाओं के अनुसार वह श्रेष्ठकुल (सद्वंश) से सम्बद्ध है[५]। उसका उठना बैठना भी श्रेष्ठ लोगों के मध्य है। अग्नि और पूषन् उसके भाई हैं[६]। उसकी कल्याणी जाया का भी उल्लेख है जिन्हें 'इन्द्राणी' यह संज्ञा प्राप्त है[७]। उसके भतीजों के सम्बन्ध में भी ऋग्वेद में उल्लेख है[८]। स्वाभाविक है यदि वह कुलीन एवं श्रेष्ठ न होता तो उत्पन्न होते ही सभी पर अपना प्रभाव कैसे जमा लेता[९]। उसकी मां का नाम अदिति, गृष्टि अथवा निष्टग्री है[१०]। उसके पिता के रूप में द्यौस, अग्नि एवं पृथ्वी का भी उल्लेख आता है। उत्तरकालीन साहित्य में कुत्स को, जो कि इन्द्र का समरूप है, इन्द्र का पुत्र कहा गया है।[११] तात्पर्य यह कि इन्द्र की कुलीनता पर सन्देह नहीं किया जा सकता।

---

१. (क) वृत्रस्य त्वा श्वसथादीषमाणा विश्वे देवा अजहुर्ये सखायः।
मरुद्भिरिन्द्र संख्यं ते अस्त्वथेमा विश्वाः पृतना जयासि। ऋ० ८.९६.७
(ख) क्व स्या वो मरुतः स्वधासीद्यन्मामेकं समधत्ताहि हत्ये। ऋ० १.१६५.६
एवं ८.७.३१

२. घनं वृत्राणां जनयन्त देवाः। ऋ० ३.४९.१, दस्यु हत्याय जज्ञिषे। १.५१.६

३. मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च, ऋ० १०.९०.१३

४. ऋ० ९.९६.५

५. शत० ११.१.६.१४, तै० ब्रा० २.२.१०.१

६. ऋ० ६.५५.५

७. इहैन्द्राणीमुपह्वये, ऋ० १.२२.१२ तथा १.१०६.६

८. भ्रातुः पुत्रान् मघवन् तित्विषाणः। ऋ० १२.५५.१

९. जातं यत्त्वा परि देवा अभूषन्। ऋ० ३.५१.८

१०. ऋ० १०.१०१.१२ एवं ४.१८.१०

११. जैमिनी० ३.१९९

इन्द्र की उदारता

इन्द्र का चरित्र धीरोद्धत नायकों जैसा है। अतः उसमें धीरता के साथ उदारता का भी महान् गुण विद्यमान है। वह सदा देवों और मानवों की सहायता के निमित्त उद्यत रहता है। दध्यञ्च को मधुविद्या का दान,[१] पुत्राभिलाषिणी वध्रिमती को पुत्रदान,[२] आर्यों को पृथिवी दान, इतना ही नहीं अपने उपासकों को वह द्रविण-दान भी करता है। अनेक ऐतिहासिक पुरुषों यथा, यदु और तुर्वश जाति के शासकों को सरित् संतरण कराने की कथा भी उसकी उदारमना प्रवृत्ति की ओर संकेत करती है। ऋषियों, आर्य-शासकों एवं अन्य उपासकों के लिए उसके मन में असीम दया है, वह इन सभी का सहायक एवं आश्रयदाता है। इस सन्दर्भ में अभिज्ञानशाकुन्तल के उदारमना दुष्यन्त का स्मरण हो आना स्वाभाविक है जो घोषणा करता है—

'येन येन वियुज्यन्ते प्रजा स्निग्धेन बन्धुना।
स स पापादृते, तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ।। शाकु० ६.२३

इसी महान् गुण के परिप्रेक्ष्य में ऋषियों ने उसे 'मघवन्' उपाधि से अङ्कृत किया। कीथ महोदय भी उसके 'मघवन्' उपाधि में ऐसी ही उदारता के दर्शन करते हुए कहते हैं, 'इन्द्र अपने उपासकों के साथ मित्र, भाई, पिता, माता जैसे निकट सम्बन्ध में आते हैं। उनके 'कौशिक' विशेषण से ज्ञात होता है कि वे कुशिक-कुल के कुल-देवता थे। वे उदारता में अनुपम हैं। अतः मघवन् की उपाधि तो उनका अभिधान ही बन गयी है। उनकी उदारता पत्नियाँ एवं अपत्य दिलाने तक पहुँची हुई है[३]।' किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि उसकी उदारता एवं सहजता के कारण ही देवता और मानव सभी में एक प्रकार की निष्कर्मण्यता व्याप्त हो गयी थी, अन्यथा एक गर्त में गिरा हुआ कुत्स उससे गर्त से निकालने की प्रार्थना क्यों करता[४]।

इन्द्र का अहङ्कार एवं दर्प

उसके स्वगत भाषणों में उसकी शक्ति का दर्प अत्यन्त प्रखर है। इसमें सन्देह नहीं कि वह वीर है किन्तु उसका बखान उसके अहंभाव की अभिव्यक्ति है। उसने आर्यों को भूमि दी या दिलायी, उसने जल दिया, प्राणियों को उसने धन दिया, इसका समर्थन

---

१. ऋ० १.८४.१३, १४ एवं १.११६.१२ पर सायणभाष्य तथा ऋग्वेद कथा, पृ० ३-९

२. ऋ० १.११६.१३

३. वै० ध० द० भाग २, पृ० १६३

४. इन्द्रं कुत्सो वृत्रहणं शचीपतिं काटे निवाळ्ह ऋषिरह्वदूतये। ऋ० १.१०६.६

ऋषिगण भी अपनी ऋचाओं में करते हैं, किन्तु इन्द्र के कथन की विधा बड़ी रोचक है—

> अहं भूमिमददामार्यायाहं वृष्टिं दाशुषे मर्त्याय ।
> अहमपो अनयं वावशाना मम देवासो अनु केतमायन् ॥
> अहं पुरो मन्दसानो व्यैरं नव साकं नवतीः शम्बरस्य ।
> शततमं वेश्यं सर्वताता दिवदासमतिथिग्वं यदावम् ॥ ऋ० ४.२६.२,३

इन्द्र ने शम्बर को मारा, उसके दुर्ग जीतकर अतिथिग्व को दिये, यदि इसका उद्घोष वह स्वयं न करता तो भी यह सभी को ज्ञात होजाता किन्तु तब उसकी शक्ति का गर्व, उसका दर्प,[1] अज्ञात रहता, उसका औद्धत्य अपूर्ण ही रह जाता। वह वरुण से अपने अधिकार के सम्बन्ध में यहाँ तक कहता है कि—

> मां नरः स्वश्वा वाजयन्तो मां वृताः समरणे हवन्ते ।
> कृणोम्याजिं मघवाहमिन्द्र इयर्मि रेणुमभिभूत्योजाः ॥ ऋ० ४.४२.५

अर्थात् 'संग्राम के लिए सन्नद्ध योद्धा हमारा अनुगमन करते हैं, वे मेरा ही आह्वान करते हैं, हम महान् शक्ति सम्पन्न हैं और युद्ध-भूमि में हम धूल उड़ाकर रख देते हैं।'

इन्द्र में शक्ति के, शारीरिक शक्ति के उन्माद को अपेक्षा बुद्धि, विद्या अथवा धन के सम्बन्ध में अहंभावना की अभिव्यक्ति न्यून है। इसके दो कारण हैं, एक तो यह कि वह युद्ध का देवता है, दूसरे वह स्वयं अपने सम्बन्ध में कुछ कहे, ऐसे स्थल बहुत कम हैं। इस कारण ऋषियों की प्रशस्तियों में ही यत्र-तत्र उसके दोनों प्रकार के अहंभाव के प्रमाण मिलते हैं। सत्य तो यह है कि ऐसे अधिकांश कथन जिन्हें हम यदि इन्द्र के मुख से सुनते और उसके दर्प अथवा अहंकार रूप में ग्रहण करते, ऋषियों द्वारा उक्त होने के कारण 'अतिशयोक्ति' के रूप में गिने जाते हैं। फिर भी इन्द्र के चरित्र में दर्प, दम्भ एवं विकत्थना आदि सभी गुण विद्यमान् हैं।

उसे दूसरों द्वारा न किये जा सकने योग्य कार्य करने हैं अतः वह अपनी उत्पत्ति के निमित्त किसी नव्यमार्ग की खोज करता है, किन्तु अपने पराक्रम और शक्ति को भूल कर दुर्गम मार्ग से भयभीत है। नव्यमार्ग की खोज तथा अकरणोय कार्यों के करने के दम्भ में मां की पीड़ा एवं प्राणों की उसे चिन्ता से नहीं है—

---

१. दर्पः शौर्यादिमदः—नाट्यदर्पण १.८ का वृत्तिभाग

नाहमतो निरया दुर्गहेतत्तिरश्चता पार्श्वान्निर्गमाणि ।
बहूनि मे अकृता कर्त्वानि युध्यै त्वेन सं त्वेन पृच्छै ॥
परायतीं मातरमन्वचष्ट न नानु गान्यनु नू गमानि ॥ ऋ० ४.१८.२,३

एक स्थल पर जिसे अनेक विद्वानों ने, इन्द्र एवं वरुण के मध्य, वाग्युद्ध के रूप में देखा है,[1] हम पाते हैं कि इन्द्र को अपनी शक्ति का ही नहीं विद्या और बुद्धि का भी अहंकार है, वह कहता है—

अहमिन्द्रो वरुणस्ते महित्वोर्वी गभीरे रजसी सुमेके ।
त्वष्टेव विश्वा भुवनानि विद्वान्त्समैरयं रोदसी धारयं च ॥ ऋ० ४.४२.३

अर्थात् 'इस महान् गम्भीर एवं दुर्गम द्यावा पृथिवी पर इन्द्र[2] मैं ही हूँ। वास्तविक वरुण[3] (तुम नहीं) मैं ही हूँ। त्वष्टा की भाँति सम्पूर्ण विश्व के प्राणियों को प्रेरित करने वाला मैं ही हूँ। विद्वान् मैं ही हूँ और इस चराचर जगत् को धारण करने वाला भी मैं ही हूँ।'

इसी मनःस्थिति में एक बार हम इन्द्र को पुनः पाते हैं। सोम के उन्माद में वह अपने दान एवं ऐसे ही शारीरिक शक्ति के अतिरिक्त अन्य शक्तियों द्वारा सम्पन्न कर्मों की चर्चा करता है। वह कहता है कि द्यावापृथिवी दोनों मिलाकर भी उसके समान नहीं हैं। इसे ही वह बार-बार कहता है[4]—

नहि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति । कुवित्सोमस्यापामिति ॥
अहमस्मि महामहोऽभिनम्यमुदीषितः । कुवित्सोमस्यापामिति ॥
ऋ० १०.११९.७,१२

---

१. कीथ–वै०ध०द०, पृ० १११ (भाग १) एवं मैकडानल–वै० देवशास्त्र, पृ० १५७
२. "य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः। इदि परमैश्वर्ये इस धातु से 'रन्' प्रत्यय करने से इन्द्र शब्द सिद्ध होता है" स्वामिदयानन्दकृतसत्यार्थ-प्रकाश, समुल्लास १, पृ० ११ (आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली–७)
३. 'वृञ् वरेण, वर ईप्सायाम्' इन धातुओं से उणादि 'उनन्' प्रत्यय होने से 'वरुण' शब्द सिद्ध होता है। यः सर्वान् शिष्टान् मुमुक्षून्धर्मात्मनो वृणोत्यथवा यः शिष्टैर्मुमुक्षुभिर्धर्मात्मभि व्रियते वर्य्यते वास वरुणः परमेश्वरः। अथवा वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः। देखें सत्यार्थ० पृ० १०, ११
४. ऋ० १०.११९ वां सूक्त (यहाँ इन्द्र के चरित्र में आत्मश्लाघा के साथ शक्ति का दर्प एवं बौद्धिक अहंकार, तीनों के एक साथ दर्शन होते हैं। देखें—वैदिकदेव-शास्त्र-मैकडानल (डा०सूर्यकान्त कृत अनुवाद) पृ० १५८

इन्द्र की विकत्थना

ऋग्वेद में ऐसे अनेक सूक्त एवं ऋचाएं हैं जहाँ हमें इन्द्र की विकत्थना; आत्मश्लाघा के दर्शन हाते हैं। किन्तु उसके दम्भ, दर्प एवं आत्मश्लाघा के मध्य अन्तर कर पाना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि इन्द्र के सम्बन्ध में ऋषियों ने जो कुछ कहा है वह कहीं-कहीं परस्पर विरोधो है, पुनरुक्त हैं एवं यत्र-तत्र उनमें अतिशयोक्ति है, किन्तु ऐसे हो तथ्य इन्द्र स्वयं भी कहता है—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा ॥ ऋ० ४.२६.१

'मैं हो मनु हूँ, मैं हो सूर्य हूँ, कक्षीवान् ऋषि मैं हो हूँ। कवि उशना एवं अर्जुनी पुत्र कुत्स मैं हो हूँ। अतः हे ऋषियों! तुम सब मुझे ही देखो।' उसकी ऐसी आत्मश्लाघा को तुलना में संस्कृत नाटकों में प्रस्तुत किसी भो नायक, प्रतिनायक को आत्मश्लाघा को नहीं रखा जा सकता। परशुराम, रावण, दुर्योधन, भोम, घटोत्कच, चाणक्य, राक्षस कोई भी उससे अधिक विकत्थन नहीं है। वह कहता है—

अहं ह्युग्रस्तविषस्तुविष्मान्विश्वस्य शत्रोरनमं वधस्नैः ॥ ऋ० १.१६५.६

जगत्सृष्टि, द्यावापृथिवी का धारण एवं ऐसे ही अन्य कर्मों के सम्बन्ध में उसके कथन उसकी विकत्थना के ज्वलन्त प्रमाण हैं[1]। सोमपान के पश्चात् उसके स्वगत कथनों वाले सूक्तों में उसकी ऐसी भावनाओं को सफल अभिव्यक्ति हुई है। इसी प्रकार वरुण एवं इन्द्र के विवाद के प्रसंग में, वरुण तथा अन्य देवों द्वारा सम्पादित कर्मों को इन्द्र, अपने साथ जोड़ लेता है[2]।

इन्द्र की असहिष्णुता

इन्द्र को असहिष्णुता अत्यन्त प्रबल है। देवता वे चाहे सूर्य हों, वरुण, हों अथवा मरुत्, इन्द्र किसी को भी अपने से श्रेष्ठ मानने का अभ्यस्त नहीं है। पणियों से उसके संघर्ष के पोछे भी उसकी असहिष्णुता ही है। धनधान्य से भरपूर होते हुए भो पणिजन यज्ञ नहीं करते फिर भी देवत्व प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं[3]। इन्द्र को शुनी सरमा, पणियों के समीप उसका सन्देश लेकर जाती है। पणिगण इन्द्र के बारे में अपनी अज्ञता प्रकट कर उसका अपमान करते हैं। इतना हो नहीं वे सरमा को

---

१. ऋ० १.१६५.८, १० तथा ऋ० १०.४८वाँ तथा ४९वाँ सूक्त

२. ऋ० ४.४२.१–६

३. ऋ० १.१५१.९

प्रलोभन देकर अपने वश में करना चाहते हैं[1]। अतः वह युद्ध में उनका संहार करता है[2]। एक उत्तरकालीन कथानक के अनुसार[3] एक बार कुत्स इन्द्राणी के समक्ष अपने को इन्द्र के समान मानने का दुःसाहस कर बैठता है, जिससे इन्द्र क्षुब्ध हो उठता है और कुत्स को, जो उत्तर वैदिक कथाओं के अनुसार उसका पुत्र भी है; प्रकारान्तर से दण्डित करता है। वह कुत्स को यज्ञ-फल की प्राप्ति नहीं होने देता और उसके पुरोहित सुश्रवा के पुत्र की हत्या कर डालता है। इसी प्रकार अपने को देव मान बैठने वाले शम्बर को वह उचित दण्ड देकर[4] अपनी असहिष्णुता का ज्ञापन करता है। उसकी वीरता के परिप्रेक्ष्य में यह उसका एक अनिवार्य गुण है, जिसके उल्लेख ऋग्वेद में सर्वत्र बिखरे पड़े हैं[5]।

इन्द्र की माया एवं छद्मपरायणता

छल-छद्म,नीति के ही अङ्ग हैं और उपयुक्त स्थल पर उनका प्रयोग भी अनैतिक नहीं है; विशेषकर उस अवस्था में जबकि प्रतिद्वन्द्वी ने छल-कपट को अपनी रणनीति का अङ्ग बना रखा हो। कीथ महोदय ने माया को छल अथवा गूढ़ शक्ति का पर्याय माना है। सायण भी इसे कहीं शक्ति तो कहीं छलकपट का पर्याय मानते हैं[6]। ऐसे मायावियों से लोहा लेते समय इन्द्र को अनेक बार छलकपट का आश्रय लेना पड़ता है[7]। जयद्रथ वध के लिए जिस प्रकार कृष्ण ने अपनी माया से सूर्य के चक्र को रोक दिया था उसी प्रकार इन्द्र ने कुत्स को शुष्ण से होने वाले युद्ध में विजय दिलाने के लिए सूर्य के चक्र को तोड़ डाला[8]। इन्द्र का प्रतिद्वन्द्वी नमुचि भी महान् मायावी है[9]। इन्द्र उसके वध के लिए समुद्रफेन को अपना अस्त्र बनाता है[10]। एक परवर्ती आख्यान के

---

१. कीदृङ् ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात्।
   आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाथा गवाँ गोपतिर्नो भवाति॥ ऋ० १०.१०८.३

२. ऋ० ६.३६.२

३. जैमिनी० ३.१९९, इन्द्र कुत्स की समरूपता के लिए देखें—ऋ० १०.१०८.३

४. ऋ० ७.१८.२०

५. ऋ० ४.२३.७, १.५७.६, ८.७६.१

६. वै०ध०द०, पृ० २८७ एवं ऋ० ५.३०.६ तथा ऋ० १.५१.५, २.१७.५ पर सायण भाष्य

७. वै०ध०द०, पृ० ३०९

८. ऋ० १.१७५.४ एवं ६.३१.३

९. नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निर्बहयो नमुचिं नाम मायिनम्। ऋ० १.५३.७

१०. अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तय। ऋ० ८.१४.१३

अनुसार इन्द्र एवं नमुचि के मध्य एक संविदा थी जिसके अनुसार इन्द्र नमुचि को दिन अथवा रात्रि में किसी भी अस्त्र से नहीं मार सकता था। अतः इन्द्र उसे गोधूलिबेला में समुद्र फेन से मारता है[१]। एक बार नमुचि ने इन्द्र को सुन्दरियों के जाल में फँसाने का उपक्रम किया किन्तु इन्द्र ने सुन्दरियों को वश में करके, उसे परास्त किया[२]। इन्द्र का अनन्यतम प्रतिद्वन्द्वी वृत्र भी महान् मायावी है। जिसे इन्द्र अपनी माया से मारता है[३]।

यहाँ तक कि धुनि एवं चुमुरि जैसे उसके छोटे-छोटे प्रतिद्वन्द्वी भी मायावी हैं, जिन्हें इन्द्र दभीति के लिए एक साथ निद्रामग्न करके मारता है[४]। इस रूप में हम पाते हैं कि इन्द्र जितना उदार है उतना ही मायावी। वह 'शठे शाठ्यं' की नीति जानता है और यथेच्छ रूप धारण कर सकता है[५]।

इन्द्र की चञ्चल चित्तवृत्ति एवं व्यसन

अपने धीरोद्धत रूप में इन्द्र एक चञ्चल चित्तवृत्ति वाला नायक है। सोम से भरे चषक देखकर वह अपने मन को रोक नहीं पाता। वह उत्पन्न होते ही सोमपान करता है[६]। चोरी तो वह पणियों की भी करता है[७] किन्तु सोम के लिए उसका चौर-कर्म जग विख्यात है[८] इसी के लिए वह पिता का वध करता है और देवों से वैर लेता है।

---

१. वैदिक धर्म एवं दर्शन, पृ० १६१ एवं टिप्पणी

२. स्त्रियो हि दास आयुधानि चक्रे। ऋ० ५.३०.९

३. नि मायिनो दानवस्य माया अपादयत् पपिवान्त्सुतस्य। ऋ० २.११.१० तथा १०.१४७.२

प्रमायाभिर्मायिनं सक्षदिन्द्रः। ऋ० ५.३०.६

तुलना करें—व्रजन्ति ते मुढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।

—किरातार्जुनीयम्।

उसकी माया के लिए अन्यत्र देखें : ऋ० १.८०.७, २.११.५, ९,

४. स्वप्नेनाभ्युप्या चुमुरिं धुनिं च जघन्थ दस्युं प्रदभीतिमावः। ऋ० २.१५.९

५. उग्रस्तुराषाडभिभूत्योजा यथावशं तन्वं चक्र एषः। ऋ० ३.१४८.४

रूपंरूपं मघवा बोभवीति—ऋ० ३.५३.८

रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव—ऋ० ६.४७.१८

६. त्वं सद्यो अपिबो जात इन्द्र मदाय सोमं परमे व्योमन्। ऋ० ३.३२.१०

७. ऋ० ५.१४.७

८. ऋ० ८.४.४

सोमपान एवं प्रशंसा के गीत उसके धैर्य को हिला देते हैं। इसके व्याज से उससे सभी कार्य सम्पन्न करा लेना सरल है। वह स्वयं भी इस तथ्य को स्वीकारता है कि सोम पीने के बाद वह श्रोताओं की स्तुतियों पर वैसे ही दौड़ता है जैसे गायें बछड़ों के पीछे दौड़ती हैं :—

उप मा मतिरिस्थित वाश्रा पुत्रमिव प्रियम् । कुवित्सोमस्यापामिति ॥

—ऋ० १०.११९.४

वस्तुतः सोमपान, जहाँ तक उसके धार्मिक उन्माद का कारण है, प्रशंस्य है किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसके उन्माद में इन्द्र यदाकदा अनुचित कर्म भी कर डालता है।

इन्द्र के सम्बन्ध में उत्तरवैदिक काल में प्रचलित गौतमपत्नि अहल्या की कथा अथवा उसी तरह की अन्य प्रेम-गाथाओं के लिए वेदों एवं ब्राह्मणों में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हो जाती हैं[1]। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के ९१वें सूक्त में अपाला इन्द्र को सोम का लोभ देकर अपनी मनोकामनाएँ पूर्ण करा लेती है। यद्यपि वहाँ इन्द्र के आचरण को सन्देह की दृष्टि से देखने में अनेक दोष एवं विवाद हो सकते हैं किन्तु सोमपायी इन्द्र के सम्बन्ध में, जो वरुण की भाँति नैतिकता का ठेकेदार भी नहीं है और जिसके लिए अथर्ववेद एवं अन्य परवर्ती साहित्य में ऐसे उल्लेख मिल ही जाते हैं, अत्रिपुत्री अपाला के साथ सम्भोग की सम्भावना को अस्वीकारा भी नहीं जा सकता। सम्भव है यह उल्लेख अथवा आख्यान इन्द्र एवं अपाला के ऐसे सम्बन्धों का शिष्ट प्रस्तुतीकरण हो। किन्तु सायण ने इसमें इन्द्र की चञ्चल चित्तवृत्ति के ही दर्शन किए हैं[2]। कीथ महोदय भी इस आख्यान में अस्पष्टरूप से ऐसे ही संकेत पाते हैं[3]। बृहद्देवता में तो इस आख्यान को और भी स्पष्ट किया गया है :—

अपालात्रिसुता त्वासीत् कन्या त्वग्दोषिणी पुरा ।
तामिन्द्रश्चकमे दृष्ट्वा विजने पितुराश्रमे ॥ ६.९९

यहाँ ऋग्वेद के उल्लेख के विपरीत स्वयं इन्द्र की रति-याचना का उल्लेख है। जिसके फलस्वरूप वह तीन वरों का प्रतिदान पाती है[4]।

इसी प्रकार बृहद्देवता व्यंस नामक दानव की ज्येष्ठ स्वसा के साथ इन्द्र के ऐसे ही सम्बन्धों की ओर एक स्पष्ट उल्लेख करता है[5]। उधर जैमिनीयब्राह्मण इन्द्र को

---

१. अहल्याया ह मैत्रेय्याः (इन्द्रः) जार आस ।
—शत० १.१, एवं ३.३.४.१८ जैमिनी २.७९
२. ऋ० ८.९१.४ पर सायण भाष्य-—'संगम शब्देनेन्द्रोऽपालामचकमतेति'
३. वै०ध०द०, पृ० १९४ (प्रथम भाग)
४. द्रष्टव्यः बृहद्देवता, अध्याय ६.९९–१०८
५. बृहद्देवता अध्याय ६.७६–७७

'अहल्या जार'[१] एवं दीर्घजिह्वी के प्रेमी[२] के रूप में पुकारता है। जहाँ वह अपना रूप छिपाकर क्रमशः गौतम एवं सुमित्र का रूप धारण कर अहल्या एवं दीर्घजिह्वी के साथ अभिगमन करता है। जैमिनीयब्राह्मण में ही क्षत्रपत्नि उपमा के समक्ष इन्द्र के प्रकट होने की कथा में भी विद्वानों ने ऐसे ही संकेत देखे हैं[३]। अथर्ववेद में भी इन्द्र के ऐसे चरित्र के सम्बन्ध में एक कथा मिलती है जहाँ एक आसुरी द्वारा इन्द्र को देव-स्थान से च्युत करने का उल्लेख है[४] :—

येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवभ्यस्परि ।
तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेसानि सुप्रिया ॥ अथर्व० ७.३८.२

इस रूप में हम पाते हैं कि इन्द्र का चरित्र उसकी चञ्चल चित्तवृत्तियों से घिरा नितान्त मानवीय है और नाटकीय दृष्टि से धीरोद्धत नायक के अति निकट है, किन्तु इन्द्र के जिन गुणों की चर्चा हमने पिछली पंक्तियों में की वे उसके चरित्र की गौण विशेषताएं अथवा गुण हैं। जब कि प्रचण्डता किंवा प्रतापवत्ता अथवा वीरता उसके रग-रग में भरी है। अतः वही उसका प्रधान गुण है।

इन्द्र का प्रचण्ड तथा उद्धत स्वरूप

जिस प्रकार धीरोदात्त नायकों में चरित्र की उदारता, धीरललित में लालित्य की प्रधानता और धीरशान्त में शम की प्रचुरता रहती है इसी प्रकार धीरोद्धत नायक में औद्धत्य का प्राधान्य रहता है। यह औद्धत्य मात्र विध्वंसकारी भी हो सकता है एवं सर्जनात्मक भी। शब्दान्तर से इसे ही औद्धत्य-आदर्शोन्मुख और औद्धत्य-आदर्श-प्रतिमुख भी कहा जा सकता है। विश्वामित्र (त्रिशंकु के प्रसंग में), परशुराम, रावण, बालि, दुर्योधन, शकुनि जैसे धीरोद्धत चरित्र दूसरी कोटि में रखे जा सकते हैं जो अन्त में अपेक्षित आदर्श की ओर उन्मुख होते हैं। जबकि अर्जुन, भीम, लक्ष्मण एवं घटोत्कच, चाणक्य एवं राक्षस जैसे अनेक चरित्र हमारे कथाओं, काव्यों एवं नाटकों में प्रारम्भ से अन्त तक आदर्शोन्मुख धीरोद्धत नायकों के रूप में दृष्टिगत होते हैं।

इन्द्र के चरित्र में जो औद्धत्य दृष्टिगत होता है वह आदर्श है और विशेषकर सोमपान के पश्चात् दृष्टिगत उन्माद अधिकतर धार्मिक उन्माद है। वह सोमपान के

---

१. जैमिनीः २.७९, पृ० १९१
२. जैमिनीः १.१६१–१६३, पृ० ६७–६८
३. जैमिनीः ३.२४६ देखें—वं०ध०द०, पृ० १५५ पर टिप्पणी सं० ६
४. काठकसंहिता के अनुसार विलिस्तेंगा नामक किसी दानवी के चक्कर में फँसकर इन्द्र असुरों के बीच रहने लगे थे और वहाँ वे अपनी माया का पूरा उपयोग कर स्त्रियों में स्त्री रूप से तथा पुरुषों में पुरुष रूप धारण कर विचरते थे।
—वै०दे०शा०, पृ० १३६

पश्चात् क्या नहीं कर सकता ? इस तथ्य से सभी देव एवं ऋषिगण परिचित हैं। वैसे उसकी प्रचण्डता के लिए सम्पूर्ण ऋग्वेद साक्षी है। उसकी स्तुतियों में, उसकी उदारता के साथ-साथ उसकी प्रचण्डता और वीरता के गीत उत्कीर्ण हैं। सुपुष्ट एवं आजानु बाहुओं वाले,[१] विशालकाय अतएव विशाल उदर,[२] स्वर्ण वर्ण[३] एवं लम्बा-भूरी दाढ़ी एवं मूछों से सुशोभित[४] इन्द्र का वर्णन किसी महाकाव्य के नायक के समान प्रभावशाली है[५]। उसके अस्त्र के रूप में उसके तीक्ष्ण वज्र का उल्लेख बार-बार हुआ है। इसी कारण उसे वज्री; वज्रबाहु[६] भी कहा गया है। ऋग्वेद में इन्द्र के धनुर्धर रूप के भी दर्शन होते हैं[७] जिसके बाण अत्यन्त तीक्ष्ण, स्वर्णाभ एवं सहस्रों पंखों वाले हैं। उसके हाथों में अंकुश के भी दर्शन होते हैं जिससे वह प्रमुख रूप से धन दान करता है एवं शत्रुविनाश का कार्य लेता है[८]। धीरोद्धत नायक के निर्धारित गुणों में चण्ड या प्रचण्ड इस गुण का तात्पर्य उसके क्रोध अथवा रौद्र स्वभाव से है। इन्द्र का क्रोध अत्यन्त भयानक है। प्रतिद्वन्द्वियों से युद्ध के प्रसंग में उसके क्रोध की अभिव्यक्ति सुतरां हुई है। और उन प्रसंगों में उसका प्रचण्ड रूप देखने योग्य है।

इस महान् देवता के चरित्र में संस्कृत काव्यों अथवा नाटकों के धीरोद्धत नायक के समान औद्धत्य की प्रधानता है। 'देवाः धीरोद्धताः' की मान्यता यद्यपि इन्द्र के अतिरिक्त मरुत्, अग्नि एवं बृहस्पति के चरित्र पर भी घटित होती है किन्तु इन्द्र के चरित्र पर वह जितनी सटीक है उतनी किसी अन्य पर नहीं। ऋग्वेद में इन्द्र का चरित्र कहीं-कहीं इतना उद्धत हो उठा है कि वह किसी प्रतिनायक के समान प्रतीत होने लगता है। संस्कृत काव्यों एवं नाटकों में जहाँ कहीं प्रतिनायक का चरित्र उभरा है, नायक प्रायः धीरोद्धत है। और उनके चरित्र में औद्धत्य का पक्ष कहीं-कहीं इतना सबल हो उठता है कि नायक कौन है और प्रतिनायक कौन है[९] ?

---

१. ऋ० ६.१९.३
२. ऋ० ३.३६.८
३. ऋ० १.७.२
४. ऋ० १०.२३.४
५. तुलना करें, वाल्मीकि: १.८–१९
६. ऋ० १०.४४.३
७. ऋ० १०.४८.४
८. ऋ० ८.१७.१० एवं १०.४४.९
९. द्रष्टव्य: मुद्राराक्षस (राक्षस अथवा चाणक्य), वेणीसंहार (भीम अथवा सुयोधन) दूतवाक्य (कृष्ण अथवा दुर्योधन), दूतघटोत्कच (सुयोधन अथवा घटोत्कच), मध्यमव्यायोग (घटोत्कच अथवा भीम)।

ऋग्वेद में इन्द्र सोमपान के बाद जितने कृत्य करता है उनमें कुछ महनीय कार्यों के अतिरिक्त ऐसे भी हैं जिनमें मृच्छकटिक के 'शकार' के चरित्र का आभास होने लगता है[१]। सोमपान के बाद निश्चय ही उसकी शक्ति में अभिवृद्धि होती है[२] फिर भी उसका चौरकर्म[३] श्लाघ्य नहीं हो सकता। इसी प्रकार इन्द्र द्वारा उत्पन्न होने के निमित्त किसी अस्वाभाविक मार्ग की खोज[४] उसकी उद्दण्डता का परिचायक है। इन्द्र की उद्दण्डता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि वह अपने पिता को पैरों से उठाकर पटक देता है और उनका वध कर देता है[५]। ऐसे इन्द्र को हम मानवीय रूप में देखें तो कोई अनौचित्य न होगा[६]। वैसे संस्कृत नाट्यपरम्परा में विवेक, मोह जैसे भावों का मानवीयकरण अपारम्परिक नहीं है और न ही देवों की रङ्गमञ्च पर उपस्थिति कोई आश्चर्यजनक घटना है फिर भी तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर देवों की मण्डली में इन्द्र ही (ऋग्वैदिक) ऐसे गुणों से युक्त है जिसमें नाटकीयता का सन्निवेश अपने उच्चतम शिखर पर है।

यज्ञों के लिये नियमित वृष्टि, शस्यसम्पदा की अविरल उत्पत्ति, गौओं का दुग्ध ये कुछ ऐसी वस्तुएँ हैं जो जीवन के लिए नितान्त आवश्यक हैं। स्वार्थवश इन्द्र आदि देव, ऋषियों को यह वस्तुएँ सदा सुलभ कराते रहते हैं। इन्द्रादि देवों के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी इन वस्तुओं की प्राप्ति में बाधा उत्पन्न करते हैं। जिससे कि देवों को उनका यथेष्ट भाग नहीं मिल पाता। वस्तुतः यज्ञबाधा के कारण असुरों की सीधी प्रतिद्वन्द्विता ऋषियों से है जैसा कि हम कालान्तर में रामायण, महाभारत एवं पुराणों के युग में देखते हैं, किन्तु अपनी प्रतिद्वन्द्विता को निरीह ऋषियों ने अपने रक्षकों पर थोपा है। रामायण में ऋषि विश्वामित्र यज्ञों की रक्षा के लिए राम की याचना करते हैं[७]। यह ऋषि विश्वामित्र का पलायन नहीं है। वस्तुतः विश्वामित्र क्षत्रिय होते हुए भी युद्ध से बचना चाहते हैं क्योंकि वे ऋषि कर्म को ही उपयुक्त समझते हैं। अतः चाहे कल्पना हो अथवा सत्य, देवताओं का युद्धभूमि में अवतरण ऋषियों की कर्म सम्बन्धी आस्था का प्रतीक है। देवता भी कर्म करते हैं; अपने फल के उपभोग के लिए, यह एक गढ़ार्थ है; इन संघर्षों के पीछे।

१. ऋ० ४.२६.१
२. ऋ० १.१०.११
३. आमुष्या सोमपिबश्चमू सुतं ज्येष्ठं तद्दधिषे सहः। ऋ० ८.४.४, ३.४८.४
४. ऋ० ४.१८.२ पर देखें सायण भाष्य
५. कस्ते मातरं विधवामचक्रच्छयुं कस्त्वामजिघांसच्चरन्तम्।
कस्ते देवो अधि मार्डीक आसीद् यत्प्राक्षिणाः पितरं पादगृह्य। ऋ० ४.१८.१२
६. मैकडानल—वैदिक देवशास्त्र—पृ० १५८
७. वाल्मीकि : बालकाण्ड १९.८ एवं रघुवंश—११.१

इन्द्र का प्रचण्ड तथा पराक्रमी स्वरूप वृत्रविजय एवं अहिमर्दन के अवसर पर देखने को मिलता है। वज्र उनका अमोघ अस्त्र है जिसके प्रहार से द्युलोक एवं पृथिवी लोक में हड़कम्प मच जाता है[१]। युद्ध एवं संघर्ष से सम्बन्धित ऋचाओं में; बड़ी प्रभावपूर्ण-भाषा में, ऋषियों ने इन्द्र के पराक्रम का उल्लेख किया है। ऋग्वेद के प्रतिनायक वे चाहें क्षणभर के लिए ही वर्ण्य हों ऋषि उनकी भी शक्ति को कम करके आँकने के अभ्यस्त नहीं हैं; जैसा कि हम परवर्ती काव्यों एवं नाटकों में पाते हैं। इसी कारण इन्द्र के उद्धत चरित्र, उसके पराक्रम और वीररूप को उभारने में कठिनाई नहीं हुई है। अतः इन्द्र के ये प्रतिद्वन्द्वी ही उसकी महानता के कारण हैं।

इन्द्र का क्रोध काल के समान सब पर अपनी छाया छोड़ता है, अतएव ऋषिगण भी उसके क्रोध से भयभीत रहते हैं। इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता देवों से भी है। वरुण, मरुत्, उषा एवं सूर्य के अतिरिक्त त्वष्टा[२] भी उसके क्रोध से काँप उठते हैं। अर्बुद को वह बड़ी नृशंसता पूर्वक अपने पैरों से मसल डालता है[३]। वह सुदास के निमित्त तो छियासठ हजार छः सौ विरोधियों को मारता है[४]। अपने प्रतिद्वन्द्वियों के नाश के लिए इन्द्र उचित अनुचित सभी प्रकार के काम करता है। वह कुत्स के लिए शुष्ण के गुप्त स्थलों पर प्रहार करता है[५]। शम्बर को ऊँचे पर्वत से नीचे गिरा देता है[६] और दास नमुचि के शिर को मथ डालता है[७]। इन्द्र इतना शक्तिशाली एवं पराक्रमी है कि वर्चिन के एक लाख योद्धाओं को अकेले ही मार गिराता है। और शम्बर के सौ किलों को ध्वस्त कर डालता है[८]। एक अन्य स्थल पर इन्द्र द्वारा अपनी माया से तीस हजार दासों को मारने[९] तथा रज्जु (माया) के बिना ही एक हजार दस्युओं को नष्ट करने का उल्लेख है[१०] ये दोनों ही कार्य वह दभीति के लिए करता है। उसके पराक्रम की प्रशस्तियों से

१. इन्द्रो महां सिन्धुमाशयानं मायाविनं वृत्रमस्फुरन्निः।
अरेजेतां रोदसी भियाने कनिक्रदतो वृष्णो अस्य वज्रात्॥ ऋ० २.११.९

२. ऋ० १.८०.१४

३. महान्तं चिदर्बुदं नि क्रमीः पदा सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे। ऋ० १.५१.६

४. ऋ० ७.१८.१४

५. उतो नु चिद्य ओजसा शुष्णस्याण्डानि भेदति जेषत्स्वर्वतीरपो नभन्तामन्यके समे॥
ऋ० ८.४०.१० एवं ११

६. ऋ० १.१३०.७

७. युजं हि मामकृथा आदिदिन्द्र शिरो दासस्य नमुचेर्मथायन्। ऋ० ५.३०.८

८. ऋ० २.१४.६

९. ऋ० ४.३०.२१

१०. ऋ० २.१३.९

सूक्त के सूक्त भरे पड़े हैं[१]। इसी कारण सूर्य एवं वरुण भी उसकी महानता को स्वीकार करते हैं[२]। इस प्रकार इन्द्र उन सभी गुणों से सम्पन्न है जो किसी धीरोद्धत नायक के लिए अपेक्षित हैं। वह धीर, उदार और अकातर है। बौद्धिक एवं शारीरिक अहङ्कार से युक्त है, मायावी एवं कुटिल है। वह प्रचण्ड, पराक्रमी, चतुर, आत्मश्लाघी एवं चञ्चल चित्तवृत्तियों वाला नायक है। वह अपने इस परिवेश में जहाँ भरत के 'देवाः धीरोद्धताः' का आदर्श प्रस्तुत करता है वहीं अपने इन्हीं गुणों के परिवेश में एक मानव प्रतिनिधि भी प्रतीत होता है।

इस महान् नायक के चरित्र से यदि उसके प्रतिद्वन्द्वियों को हटा दिया जाये तो वह सम्भवतः ऋग्वेद का सबसे निस्तेज नायक प्रतीत होने लगेगा। ऋग्वेद के प्रमुख देवताओं में अग्नि का स्थान सम्भवतः द्वितीय है—ऋचाओं की दृष्टि से। इसी प्रकार वरुण, जो ऋत के नियन्ता हैं, देवत्व की दृष्टि से उनका महत्त्व कम नहीं है, किन्तु नायक की दृष्टि से ये दोनों पीतवर्णा लगते हैं। जिसका एक प्रमुख कारण यह भी है कि वरुण अथवा अग्नि युद्ध-प्रिय-देव नहीं हैं। अग्नि तो यत्र-तत्र अकेले अथवा इन्द्र के साथ समरभूमि में उतरते भी हैं किन्तु वरुण तुलसी के राम की भाँति शील, सदाचार एवं अन्य महनीय गुणों के अधिष्ठाता के रूप में मानवीय स्तर से बहुत ऊपर उठ गये हैं। दूसरी ओर इन्द्र कुछ अपवाद स्थलों को छोड़कर देवों के ऐसे आदर्शों को लादने का अभ्यस्त नहीं है। वह अवसर आने पर छलकपट, हत्या और बलात्कार भी करता है। वह मानववत् प्रेम सम्बन्ध स्थापित करने एवं पितृवध जैसे जघन्य कृत्य कर डालने में संकोच नहीं करता। अतः वह सरलता से अपने इस स्वरूप में पाठकों एवं दर्शकों में (रंगमंचीय स्तर पर) 'साधरणीकरण' की स्थिति तक पहुँच सकता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वी उसके धीरोद्धत चरित्र के प्राण हैं, अतः अन्य नायकों प्रतिनायकों की चारित्रिक मीमांसा के पूर्व इन्द्र के प्रमुख प्रतिद्वन्द्वियों की भूमिकाओं की परीक्षा अधिक संगत होगी।

इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वी

इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वियों के सन्दर्भ में यह तथ्य दृष्टिसापेक्ष है कि वे कई प्रकार से उसकी प्रतिद्वन्द्विता में आते हैं। दृष्टि भेद से इन्द्र की सीधी प्रतिद्वन्द्विता किसी से नहीं है। युयुत्सा से फड़फड़ाती उसकी भुजाओं ने सारे ऋषियों, मुनियों, शासकों एवं उपासकों के प्रतिद्वन्द्वियों किंवा शत्रुओं का वैर अपने कन्धों पर ओढ़ लिया है। अर्थात् ऋषियों-मुनियों अथवा अपने मित्र-शासकों के आह्वान पर वह तुरन्त विचारों से भी

---

१. ऋ० १.५१ से ५७ सूक्त

२. यस्य व्रते वरुणो यस्य सूर्यः। ऋ० १.१०३.३, २.३८.९

तीव्रगति-अश्वों वाले रथ पर आरूढ़ होकर उनकी सहायता के निमित्त पहुँच जाता है[१]। अतिथिग्व दिवोदास, सुदास प्रभृति की सहायता के लिए उनके पुरोहितों के आह्वान पर वह तुरन्त आता है। मरुत्, अग्नि, बृहस्पति, अङ्गिरसों, वेदथिन-ऋजिश्वा एवं कुत्स प्रभृति देवों एवं देवेतर जन की सहायता के लिए भी वह स्वयं युद्ध में कूदता है। इन्हीं कारणों से इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वियों की संख्या अतिविशाल है। अतएव ऐसे स्थलों पर उसके नायकत्व-निर्धारण में कठिनाई भी उपस्थित हो जाती है और कहीं वह उपनायक तो कहीं प्रतिनायक सा प्रतीत होने लगता है, विशेषकर पणियों के प्रसंग में कभी-कभी उसकी भूमिका प्रतिनायक जैसी लगने लगती है। यह स्वरूप देखने एवं सुनने में जितना अटपटा लगता है, पौराणिक कथाओं के नायकों को भास के रूपकों में प्रतिनायक अथवा प्रतिनायकों को नायक के कटघरे में खड़ा देखने के पश्चात् उतना ही पारम्परिक प्रतीत होता है। यद्यपि संस्कृतनाट्य–परम्परा में ऐसे रूपकों की संख्या नगण्य है और उनमें नायकत्व प्रतिनायकत्व का निर्धारण भी विवादास्पद हो सकता है किन्तु ऐसे चरित्र निश्चय ही उन नाटककारों की क्रान्तिदृष्टि के ही परिचायक हैं।

इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वियों में; वृत्र, अहि, बल, अर्बुद, शम्बर, पिप्रु, धुनि, चुमुरि, दृभीक, ईलीबिश, सृबिन्द, प्रभृति असुर, राक्षस, दानव, अनार्य एवं दास आते हैं। इनके अतिरिक्त इसी वर्ग के कुछ अन्य विरोधी भी हैं। कहीं-कहीं इन्द्र के विरोध में देव एवं मानव भी आये हैं। कीथ महोदय ने इन्द्र के विरोधियों को देव शत्रु एवं मानव शत्रु के रूप में दो भागों में विभक्त किया है[२]। किन्तु प्रबन्ध की दृष्टि से यह विभाजन उपयुक्त नहीं है क्योंकि इस रूप में इन्द्र के वे विरोधी छूट जाते हैं जो न तो देवों के शत्रु हैं और न मानवों के। अतः प्रकृत सन्दर्भ में हम इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वियों को चार भागों में विभक्त करके देखेंगे :

(क) प्रतिद्वन्द्वी दानव, असुर, राक्षस (ख) दास, अथवा अनार्य प्रतिद्वन्द्वी (ग) प्रतिद्वन्द्वी देव एवं (घ) प्रतिद्वन्द्वी आर्य-शासकगण।

प्रतिद्वन्द्वी दानव, असुर अथवा राक्षस

यहाँ प्रथम वर्ग के कुछ प्रतिनिधि प्रतिनायकों की ही विवेचना अभीष्ट है उनमें भी वृत्र की भूमिका सबसे महत्त्वपूर्ण है।

---

१. वैदिकदेवशास्त्र—पृ० ४०५ तथा पृ० १५५–१५६। द्रष्टव्यः 'पुरानी वैदिक धारणा के अनुसार एक देवता का एक ही राक्षस के साथ युद्ध होना उचित था जैसे कि इन्द्र और वृत्र का। किन्तु बाद में यह धारणा देव सामान्य और असुर सामान्य के पारस्परिक युद्ध में परिवर्तित हो गयी और इसने देवों और असुरों को दो प्रतिद्वन्द्वी दलों में एक दूसरे के प्रतिकूल खड़ा कर दिया।'

२. वैदिक धर्म एवं दर्शन, अध्याय १५, पृ० २८६–३०२

वस्तुत: वृत्र, इन्द्र के चरित्र का उन्नायक प्रतिद्वन्द्वी है, जो दानव है, क्योंकि इन्द्र का जन्म इस दानव के वध के लिए ही होता है। पुराकथाशास्त्र में हम पाते हैं कि महान् नायकों, देवों देवताओं के जन्म सोद्देश्य एवं पूर्व निर्धारित कार्य के लिए ही होते हैं, अत: इन्द्र के कार्यों का भी निर्धारण उसके जन्म से पूर्व ही हो चुका था। भस्मासुर हो अथवा हिरण्यकश्यपु, रावण हो अथवा कंस अथवा शिशुपाल, सभी के विनाश के लिए पुराकथाएँ एक सुव्यवस्थित योजना की दिशा में संकेत करती हैं और तदनुसार समय-समय पर विभिन्न अवतारों को अवधारणा की गयी है। निश्चय ही इस परम्परा का बीज वेदों में निहित है जहाँ ऋषि कहता है :

यज्जायथा अपूर्व्य मघवन् वृत्रहत्याय।
तत्पृथवीमप्रथयस्तदस्तभ्ना उत द्याम् ॥ ऋ० ८.८९.५

अर्थात् इन्द्र उत्पन्न तो हुआ है वृत्र-वध जैसे महान् कार्य के लिए किन्तु उसने पृथिवी को भी स्थिर किया। यह उसका गौण कर्म है तथपि यह उसके कीर्तिस्तम्भ के रूप में ही स्थित है। वृत्र, पणि, बल, अर्बुद तथा शम्बर प्रभृति शत्रुओं से लोहा लेने के कारण इन्द्र का चरित्र, उसका यश नित्यप्रति बढ़ता जाता है। अत: ये प्रतिद्वन्द्वी अपनी भूमिकाओं द्वारा नायक इन्द्र के चरित्र का निर्माण करते हैं, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

पुराकथाओं में तो हम पाते हैं कि नायक के कार्यों के निर्धारण के साथ ही, प्रतिनायक को अपने प्रतिद्वन्द्वी नायक का ज्ञान हो जाता है; कंस को अपने प्रतिद्वन्द्वी वसुदेव के आठवें पुत्र के बारे में पहले से ही ज्ञान था। किन्तु ऋग्वेद के किसी भी प्रसंग में ऐसी पूर्व सूचना प्रतिद्वन्द्वियों को नहीं रहती। इसी कारण यह संघर्ष कृत्रिम प्रतीत नहीं होता। दूती सरमा द्वारा पणियों को इन्द्र का जो ज्ञान होता है वह युद्ध की नैतिक परम्परा का ही अंश है।

वृत्र का प्रतिनायकत्व

'यज्जायथा' जैसी ऋचाओं से स्पष्ट है कि इन्द्र का जन्म वृत्रवधार्थ होता है। अत: वृत्र इन्द्र का प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी है और शास्त्रीय शब्दावली में एक सशक्त प्रतिनायक है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, नायक फल का उपभोक्ता है और प्रतिनायक उस फल प्राप्ति में बाधक तत्त्व। नायक को प्राप्त होने वाला फल साम्राज्य, यश, स्त्रीरत्न अथवा अन्य धनधान्य के रूप में कुछ भी हो सकता है। इन्द्र, जो कि ऋषियों एवं अन्य उपासकों से प्रशंसा के गीत सुनने का अभ्यस्त है, सोम के नाम पर जिसका हृदय नाच उठता है, हविष्य की सुगन्धि पा जिसके नथुने फड़फड़ाने लगते हैं, वह इन सारी वस्तुओं की प्राप्ति में बाधक वृत्र की सत्ता को कैसे स्वीकार करता? प्रसंशा के गीत, सोम की आहुति, मधुमिश्रित पुराडाश के ग्रास इन्द्र को तभी मिल सकते हैं जब चतुर्दिक्

शान्ति हो, गोधन उन्मुक्त हो विचरें एवं ऋषियों को यथेष्ट हव्य-गव्य प्राप्त हो, और वृष्टि एवं अनावृष्टि से ऋषि एवं अन्य उपासक संत्रस्त न हों और यह तभी सम्भव था जब सृष्टि पर से वृत्र जेसे महान् मायावो का अखण्ड साम्राज्य समाप्त हो जाये। पर वृत्र पृथिवी के सर्वोच्च स्थल पर्वत पर अजगर की भाँति पड़ा रहता था और अपनी सुख सुविधा के निमित्त अथवा अपने दुष्ट स्वभाववश अपनी माया से सारी नदियों के जल को यथेष्ट समय तक रोककर मुनियों एवं अन्य देवप्रिय लोगों को संत्रस्त किए रहता था। जल पर अपने प्रभाव से कभी अनावृष्टि तो कभी अकालवृष्टि द्वारा वह ऋषियों के धन-धान्य को क्षति पहुँचाया करता था। यही कारण है कि ऋषियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से अनेक बार वृत्र के इन दुष्कर्मों की चुगली इन्द्रादि देवों से की। जिस पर सर्वाधिक उत्तेजित होने वाला देवता इन्द्र था। वैसे 'वृत्रहन्' का प्रयोग अग्नि एवं सोम के लिए भी हुआ है किन्तु मुख्य रूप से यह कार्य इन्द्र ही करता है। मरुत् (ऋ० १.२३.९; ८.७.२३), अग्नि (ऋ० १.५९.६, ६.१६..१४), एवं बृहस्पति (ऋ० ६.७३.२) प्रभृति देवों पर यह मात्र आरोपित तथ्य है क्योंकि वे यत्र-तत्र इन्द्र की सहायता मात्र करते हैं। वृत्र की प्रतिद्वन्द्विता इतनी सशक्त है कि उसकी चर्चा पर्याप्त समय बाद तक होती रही। इसी कारण देवी भागवत तथा अन्य पौराणिक ग्रन्थों में भी इस आख्यान को महत्त्वपूर्ण स्थान मिला है।

किसी को उत्पीड़ित करना, लोगों पर अत्याचार करना, व्यक्तिगत सुख के लिए समाज के अधिकांश जन को दुःखी करना, ये ऐसी वृत्तियां है जो मानवीय मूल्यों के विपरीत हैं, किन्तु सार्वकालिक एवं सार्वभौम हैं और पाप की पर्याय हैं। शतपथ-ब्राह्मण इसी कारण इन प्रवृत्तियों वाले वृत्र को 'पाप्मा वै वृत्रः (११. १. ५. ७)' कहकर उसे साक्षात् पाप का पर्याय मानता है। प्रतिनायक के लक्षण में भी यही संकेत मिलता है :

'लुब्धः धीरोद्धतस्तब्धः पापकृद् व्यसनी-रिपुः'—दशरूपक २.९

यह कहना अनुचित न होगा कि ऐसी दुष्प्रवृत्तियों के पीछे बुद्धि में उत्पन्न प्रबल अहङ्कार की भावना मुख्य होती है। इसे दर्प कहना अधिक संगत होगा। जिससे आत्मा विमूढ़ हो जाती है और मनुष्य कार्य-अकार्य, धर्म-अधर्म के मध्य अन्तर करना भूल जाता है। श्रीकृष्ण कहते हैं :

प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि भूरिसः।
अहङ्कार विमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते॥ गीता ३. २७

अतएव रावण हो या कंस, दुर्योधन अथवा दुःशासन, केवल निर्धारित मर्यादा एवं आदर्शों से च्युत होने पर ही पापी असुर अथवा राक्षस माने जाने लगे। वृत्र भी ऐसा ही दानव है जो अपनी शक्ति के उन्माद में अपने को मनुष्य नहीं मानता :

अरोरवीद्वृष्णो अस्य वज्रोऽमानुषं तन्मानुषो निजूर्वात् ।
नि मायिनो दानवस्य माया अपादयत्पपिवान्सुतस्य ॥ ऋ० २.११.१०

यहाँ सायण 'अमानुषं' की व्याख्या 'मानुषोऽहं न भवामि इत्येवं मन्यमानं' के रूप में करते हैं जिससे वृत्र के सम्बन्ध में उपर्युक्त धारण का समर्थन होता है। हम देखते हैं कि वृत्र का चरित्र आरम्भ से अन्त तक उत्पीडन कर्म से पूर्ण है। वह दानव है, क्योंकि उसकी माँ का नाम 'दानु' है[1]। जिसका समर्थन ऋग्वेद भी करता है, जहाँ कहा गया है कि वह इन्द्र के प्रहारों से वृत्र की रक्षा उसी प्रकार करती है जिस प्रकार गौ अपने बछड़े की रक्षा करती है[2]।

यद्यपि वृत्र का चरित्र अधिक स्पष्ट नहीं है तथापि उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध हो जाता है कि जल, पर्वत, आकाश, प्रकाश, सूर्य, एवम् अन्धकार पर वृत्र का अधिकार है। उषा और नदियाँ, शरद् ऋतु तथा सिन्धु भी (सागर अथवा नदी) उसके अधीन हैं[3]। पुराकथाओं में हम पाते हैं कि रावण प्रभृति अन्य उत्तरकालिक प्रतिनायक भी ऐसी शक्ति से सम्पन्न हैं ओर सूर्य, चन्द्र, वायु, कुबेर प्रभृति देव तथा षड्ऋतुएं एवम् अन्य प्राकृतिक शक्तियाँ उनके अधीन हैं। वस्तुतः इन पौराणिक आख्यानों के बीज उद्धृत प्रमाणों में ही विद्यमान हैं। वृत्र से उन सभी को मुक्त कराने का श्रेय इन्द्र को है इसी कारण उसे इनका जनक माना गया है[4]।

अस्पष्ट शब्दों में वृत्र के शासक होने का उल्लेख भी हमें ऋग्वेद में मिलता है। गृत्समद ऋषि इन्द्र की महानता के सन्दर्भ में इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन करते हुए कहते हैं :

---

१. ऋ० ३.३०.८ पर सायण भाष्य
२. ऋ० १.३२.९
३. ऋ० १. ४.१० (पर्वत, नदी, एवं अन्धकार पर अधिकार : देखें, सायणभाष्य
ऋ० १.५१.४ (पर्वत पर निवास एवं वृत्र के अधिकार से सूर्य की मुक्ति का उल्लेख)
ऋ० १.३२.१० (जल पर अधिकार के सम्बन्ध में अनेक उल्लेख हैं)
ऋ० १.५२.६ (अन्तरिक्ष पर अधिकार)
ऋ० ४.१७.१ (सिन्धु पर अधिकार)
ऋ० ४.१९.८ (सिन्धु, नदी, उषा, शरत् पर अधिकार)
ऋ० २.३०.३ (वृत्रवध, अन्तरिक्ष, एवं जल पर अधिकार)
ऋ० ८.१२.२६, ४.१६. ७, २.१४.२ (जल तथा नदियों पर अधिकार)
४. ऋ० १.३२. ४, ६. ३०. ५, ३. ४९. ४, २. १२. ७, २. २१. ४ तथा ३. ३२.८, ३. ३१. १५

इन्द्रो महां सिन्धुमाशयानं मायाविनं वृत्रमस्फुरन्निः । ऋ० २.११.९.

अर्थात् महान् सिन्धु पर भी वृत्र का साम्राज्य था । वस्तुतः इद्र पर (ऋग्वेद में) वर्षा अथवा अप्रत्यक्षरूपेण जल का देवता होने का आरोप जल के किसी शासक को जीतने के कारण ही हुआ है और वह शासक वृत्र ही है । वृत्र, शासक के अपेक्षित गुणों से भी युक्त है । अपने अधिकार क्षेत्र को सीमित कर लेने का वह अभ्यस्त नहीं है । अतः अपने वश में कर रखे जल को न तो वह सरलता से मुक्त करता है और न तो बिना युद्ध के गौओं को ही समर्पित करता है । वह अपने प्रतिद्वन्द्वी इन्द्र को युद्ध के लिए भी ललकारता है :

> अयोद्धेव दुर्मद आहि जुह्वे महावीरं तुविबाधमृजीषम् ।
> नातारीदस्य समृतिं वधानां सं रुजानाः पिपिष इन्द्रशत्रुः ।। ऋ० १. ३२. ६

इतना ही नहीं वृत्र के चरित्र में हम ऐसे प्रतिद्वन्द्वी का स्वरूप पाते हैं जो वास्तविक योद्धा है और कभी भी युद्ध से भागता नहीं । यहाँ तक कि क्षत-विक्षत हो जाने पर भी वह युद्धरत रहता है । इन्द्र उस पर पूरी शक्ति से वज्र प्रहार करता है और उसके स्कन्ध को इस तरह छिन्न-भिन्न कर डालता है, जैसे कोई किसी वृक्ष पर कुल्हाड़ी से प्रहार कर उसके स्कन्ध को नृशंसतापूर्वक काट डालता है[1] । फिर भी वृत्र अपनी युद्ध लिप्सा नही छोड़ता और प्रकारान्तर से इन्द्र को पुनः युद्ध के लिए ललकारता है । इन्द्र पुनः उसके स्कन्ध प्रदेश पर निर्ममतापूर्वक प्रहार करता है और अन्त में वह मारा जाता है[2] । शासक के न रह जाने पर जिस प्रकार अधीनस्थ जन उसका उल्लंघन करने लग जाते हैं उसी प्रकार प्रतिबन्धित जल एवम् नदियाँ वृत्र के मृत शरीर के ऊपर से बहने लगती हैं[3] ।

वृत्र ही एक ऐसा अकेला प्रतिद्वन्दी है जो इन्द्र से लोहा ले पाने में समर्थ है उसके ९९ पुरों का उल्लेख मिलता है[4] । वह पुरों में एवम् पर्वतों पर रहता है[5] ।। चरित्र चित्रण की दृष्टि से वृत्र के सम्बन्ध में ऋग्वेद में कुछ भी नहीं कहा गया है । फिर भी जो उल्लेख हैं उनसे उसकी शारीरिक एवम् मायावी शक्ति, मुख्यतया इन्द्र से उसकी शत्रुता, उसकी वीरता, भयंकरता आदि तथ्यों की पुष्टि हो जाती है ।

---

१. ऋ० १.३२.५
२. ऋ० १.३२.७ पर सायण भाष्य
३. ऋ० १.३२.८, ११
४. ऋ० १.५४.१०, १.३२.१०, ७.१९.५
५. ऋ० १.३३.१३

निश्चय ही एक शासक के लिए अपेक्षित सभी गुण उसमें उपलब्ध हो जाते हैं। गृत्समद ऋषि के अनुसार वृत्र महान् बलशाली प्रतिद्वन्द्वी है जिसके बल को इन्द्र ने अपने बल से प्रभावहीन कर डाला, ऋषि के शब्दों में देखें—

महत्तदस्य पौस्यं वृत्रं जघन्वां असृजदर्चन्नन्नु स्वराज्यम् ।। ऋ० १.८०.१०

यहाँ अन्तिम पद 'असृजदर्चन्ननु स्वराज्यम्' से उसके अपने राज्य के प्रमाण मिलते हैं और 'अस्य महत् पौस्यं' तथा 'तविषी'—(बल-सायण) पद वृत्र की शक्ति सम्पन्नता की दिशा में संकेत करते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है वृत्र का राज्य अन्तरिक्ष तक विस्तृत है[1] और श्रुतियाँ तो 'स इमान् लोकान् आवृणोत्'[2] के रूप में भी उसकी सार्वभौम सत्ता को स्वीकार करती हैं।

वृत्र, इन्द्र का भयंकर प्रतिद्वन्द्वी है। इस तथ्य का उल्लेख अनेक बार ऋषियों ने किया है[3]। उसकी भयंकरता का इससे बड़ा प्रमाण क्या हो सकता है कि उसकी हुङ्कार से सारे देवता भयभीत होकर भाग जाते हैं[4]।

वृत्र अत्यन्त मायावी प्रतिद्वन्द्वी है[5] जो केवल हुङ्कार से ही नहीं अपितु अपने प्रतिद्वन्द्वियों को भांति-भांति से भयभीत करने की कला में प्रवीण है[6]। इन्द्र एवम् वृत्र के आमने-सामने होकर युद्ध के संकेतों से भी उसके पराक्रम एवम् वीरता के अनेक प्रमाण मिलतेहैं[7]। यद्यपि इन्द्र एवम् वृत्र का युद्ध अकेले ही होता है किन्तु इन्द्र के पीछे उसकी सेना है एवम् देवता भी हैं। ऋषिगण उत्साहित करने को भी सदा सन्नद्ध हैं। उधर वृत्र अकेला ही है और उसका पराक्रम ही है जो उसे उत्साहित करता है[8]।

---

१. ऋ० १.५२.६
२. ऋ० १.५२.६ पर सायण भाष्य
३. ऋ० ३.३०.८ में गृहीत 'पियासं = हिस्र' विशेषण
४. वृत्रस्य त्वा स्वसथादीषमाणा विश्वेदेवा। अजहुर्ये सखायः ऋ० ८.९६.७
५. ऋ० २.११.९, १०.५
६. न वेपसा न तन्यतेन्द्रं वृत्रो वि बीभयत्।
अभ्येन वज्र आयसः सहस्रभृष्टिरायतार्चन्ननु स्वराज्यम्। ऋ० १.८०.१२ तथा ८.६.६
७. यद्वृत्रं तव चाशनिं वज्रेण समयोधयः। ऋ० १.८०.१३
एवम्—द्यौश्चिदस्यामवाँ अहेः स्वनादयोयवीद्भियसा वज्र इन्द्र ते।
वृत्रस्य यद्बधानस्य रादेसो मदे सुतस्य शवसाभिनच्छिरः ॥
ऋ० १.५२.१० एवम् ऋ० ७.२१,६
८. ऋ० १.१६५.८, ७.२१.६, १०.१३८.६, १०.११.६

इस रूप में हम पाते हैं, वृत्र इन्द्र का जन्मजात शत्रु है और शक्ति-सन्तुलन में इन्द्र के समकक्ष है फिर भी अपने दुष्कर्मों को अति के कारण उचित फल भोगता हैं। उसका भी अन्त वैसा ही होता है जैसा कि अन्य प्रतिनायकों का होता है। अर्थात् इस सत् और असत् के युद्ध में सत् के ठेकेदार और देवताओं के प्रतिनिधि,[1] इन्द्र के हाथों वह बड़ी नृशंसकतापूर्वक मारा जाता है। इन्द्र अपने वज्र से उसका मुख कुचल डालता है[2]। उसके पृष्ठ भाग पर वह भीषण आघात करता है[3], उसे अपाद और हस्तहीन करके उसका सिर काट डालता है[4]। और इस प्रकार इन्द्र के एक ऐसे महान् प्रतिद्वन्द्वी का विनाश हो जाता है जो अपने दर्प, शक्ति, शौर्य और प्रचण्ड स्वभाव, अतः उद्धत रूप में अपनी माया, छल, कपट, कूटनीति[5] द्वारा इन्द्र को चैन से नहीं रहने देता है। फिर भी वृत्र के चरित में कहीं भी वासना का स्थान नहीं है। वह कामुक नहीं है उसका यह स्वरूप प्रतिनायक चरित के विकास पर प्रकाश डालता है; जिसके गुणों में कालान्तर में 'व्यसन' एवम् 'चञ्चल चित्तवृत्ति' का समावेश कर कर लिया गया है।

अहि एवं वृत्र की अभिन्नता

अहि एवम् वृत्र के चरित में इतनी समता है कि ऋग्वैदिक आलोचक उन दोनों का पृथक् अस्तित्व नहीं स्वीकार कर पाते। कीथ एवम् मैकडानल महोदय सम्भवतः इसी कारण अहि का पृथक् उल्लख नहीं करते। यहाँ तक कि ऋग्वैदिक कवि भी अपनी उक्तियों द्वारा दोनों का पृथक् चरित-दर्शन नहीं कर पाये हैं। जहाँ हम वृत्र को 'कुण्डली मारे हुए' रूप में पाते हैं वहाँ वस्तुतः उस पर अहि (सर्प) का आरोप ही है। अन्यथा 'अहिवध' का आख्यान प्रस्तुत करता हुआ ऋषि वृत्र-विजय को इतनी प्रमुखता न देता और 'वृत्रवध' की कथा का श्रीगणेश करता हुआ ऋषि वृत्र के स्वभाव की कुटिलता को ध्यान में रख कर उस पर अहि का आरोप न कर लेता[6]। अहि के सम्बन्ध में वाजसनेयी संहिता का कथन-- **'सोऽग्नीषोमावभिसंबभूव सर्वां विद्यां सर्वं यशः सर्वमन्नाद्यं सर्वांश्रियं स यत्सर्वमेतत्सम-भवत्तस्मादहि,** तथा तैत्तरीयसंहिता में वृत्र की व्युत्पत्ति—**यदिमान् लोकानावृणोत्तद् वृत्रस्य वृत्रत्वम्**[7] (तैत्ति० २.४.१२.१) यह दोनों कथन इतने समान हैं कि भाषण भाष्यवत्

१. ऋ० ८.१२.२१
२. ऋ० १.५२.६, १.५२.१५
३. ऋ० १.३२.५, १.८०.५ (सायण ने 'सानु' का भी अर्थ 'स्कन्ध' किया है)
४. ऋ० १.५२.१०, ८.६.६, ८.७६.२
५. ऋ० ३.३४.३ ('शर्धनीति' पर सायण की व्याख्या देखें)
६. द्रष्टव्य : वै०ध०द०पृ० २४०
७. ऋ० १.५१.४ पर सायण भाष्य

प्रतीत होते हैं। अङ्गिरा ऋषि, 'अहिवध को इन्द्र का महानतम कर्म बताते हैं'[1], यद्यपि वह वृत्रवध के लिए ही उत्पन्न होता है[2]। यहाँ अहिवध को यदि इन्द्र का आनुषङ्गिक कर्म मानेंगे तो वृत्रवधार्थ इन्द्र-जन्म को कैसे प्रमाणिक माना जा सकता है। इस शङ्का का समाधान वस्तुतः अहि वृत्र की एकरूपता में ही निहित है।

मैकडानल महोदय के अनुसार, 'अहिर्बुध्न्य' जिसे अन्तरिक्ष-स्थानीय देवताओं के रूप में देखा गया है; वृत्र अथवा अहि के शुभपक्षों के प्रतीत[3] हैं। अर्थात् ऋषियों द्वारा अहि-वृत्र के शुभकर्मों को उद्‌घाटित करने की दृष्टि से उसे 'अहिर्बुध्न्य' यह संज्ञा दी गयी है और उसकी देववत् पूजा की गयी है। अतएव ऋषिगण कहीं-कहीं उसकी-हिंसात्मक प्रवृत्ति का उल्लेख करते हुए उसे ऐसी प्रवृत्ति से परे रहने की प्रार्थना भी करते हैं[4]। अहि एवं वृत्र का यह स्वरूप निश्चित रूप से प्रतिनायक के उस स्वरूप की ओर संकेत करता है जिसे कर्मानुसारिणी व्यवस्था के अनुरूप होना था। संस्कृत के नाटकों में प्रतिनायकों का चरित्र ऐसा ही है जहाँ रावण भी महान् है और बालि भी, राक्षस तो चाणक्य की भी स्पृहा का पात्र है और दुर्योधन तथा कर्ण तो भास के रूपकों में नायक भी हैं। यही वह उत्स है जहाँ से प्रतिनायक तो उत्पन्न होता है किन्तु खल-नायक उत्पन्न होते ही मर जाता है।

प्रतिद्वन्द्वी पणिगण

वृत्र के उपरान्त पणि अथवा पणिगण ही इन्द्र के सर्वाधिक शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी हैं। इसमें सन्देह नहीं कि पणिगण सामूहिक रूप से इन्द्र का विरोध करते हैं। किन्तु पणियों का चरित्र इतना मानवीय है कि उनके दिव्य, अलौकिक अथवा काल्पनिक होने की सम्भावना नहीं है।

पणियों का प्रतिनायकत्व

ऋषियों ने यद्यपि पणियों को, सोम, अग्नि, पूषा, अश्विनौ तथा सरस्वती[5] आदि की प्रतिद्वन्द्विता में उतारा है किन्तु उनकी मुख्य प्रतिद्वन्द्विता इन्द्र से ही है। क्योंकि इन्द्र ही वह नायक है जो सरमा के माध्यम से पणियों को युद्ध का सन्देश प्रेषित करता है। सरमा जो कि एक कुतिया है, उसके द्वारा सन्देश भेजना ही

१. ऋ० १.३२.१
२. ऋ० ८.८९.५
३. द्रष्टव्यः वैदिक देवशास्त्र, पृ० १७६ एवं २९६
४. ऋ० ५.४१.१६, ७.३४.१७
५. द्रष्टव्यः ऋ० ६.५१.१४, ९.२२.७ (सोम), ऋ० ६.१३.३ ८.७५.७ (अग्नि) ऋ० ६.५३.३, ५.६ एवं ७ (पूषन), ऋ० ८.२६.१० (अश्वनौ) तथा ऋ० ६.६१.१ (सरस्वती)

अपमानजनक है, उस पर भी पणियों को भला-बुरा कहते हुए उन्हें युद्ध का सन्देश देना, उनकी सम्पन्नता है, शक्ति एवं शिष्टाचार के विरुद्ध है। अतएव पणिगण भी निःसंकोच रूप से इन्द्र का अपमान करते हैं। वस्तुतः पणिगण इन्द्र के सशक्त प्रतिद्वन्द्वी हैं। उनकी अपनी सेना है[1]। सरमा के साथ उनके संवादों में उनका चातुर्य, धनधान्य से उनकी सपन्नता एवं एक निश्चित क्षेत्र में उनकी राज्यसत्ता के प्रमाण मिलते हैं[2]। वे वाक्पटु एवम् युद्धनीति के ज्ञाता हैं। वे सरमा को अपनी भगिनी बनाकर अर्थ साधना चाहते हैं[3] और उसके साथ कोई दुर्व्यवहार भी नहीं करते हैं। एक ओर तो वे अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाए रखना चाहते हैं दूसरी ओर अपनी सम्पत्ति बढ़ाने तथा विजित सम्पत्ति पर अपना आधिपत्य बनाए रखना चाहते हैं[4]। इस सम्पत्ति को छीनने वाले इन्द्र का वे डटकर विरोध करते हैं[5]।

सायण प्रभृति आचार्यों ने 'पणि' का अर्थ प्रायः, दान न देने वाले, यज्ञ न करने वाले कंजूस व्यापारियों से किया है जिसकी स्पष्ट व्यंजना अपने धन की यथा-सम्भव सुरक्षा में है। ऋग्वेद में, पणियों के अधिकांश विशेषणों द्वारा निश्चय ही दान, यज्ञ आदि में श्रद्धा न रखने वाले लोगों की ओर संकेत किया गया है[6]। जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि इन्द्र हो अथवा उससे चुगली करने वाले ऋषिगण सभी पणियों से, उनकी सम्पन्नता और उनकी मितव्ययिता के कारण असन्तुष्ट हैं।

आरम्भ में ही संकेत किया जा चुका है कि अधिकांश संघर्षों के पीछे, दूसरों की सम्पन्नता, सुख-सुविधा और तज्जन्य ईर्ष्या-द्वेष की भावना ही होती है; पणियों के प्रति इन्द्र की कोप-दृष्टि का कारण भी यही है। पणियों के चरित्र में ऐसी कोई अमानवीय अथवा आसुरी प्रवृत्ति दृष्टिगत नहीं होती जो उन्हें नर-संहारक, देव-संहारक, या किसी को पीड़ित करने वाला सिद्ध कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक आलोचकों ने पणियों को 'बल' नामक असुर का अनुचर मानकर उनकी नृशंसता की ओर संकेत करने का प्रयास किया है[7] किन्तु एक दो अवसरों पर 'बल' एवम् पणि का

१. ऋ० ६.२०.४
२. ऋ० १०.१०८ (सम्पूर्ण सूक्त)
३. ऋ० १०.१०८.९
४. ऋ० १०.६०.६
५. ऋ० १०.१०८.६
६. ऋ० १.१२४.७, ४.५१.३, ८.६४.२, १०.६०.६, ७.६.३, तथा ८.६६.१०
७. ऋ० १०.६७.६ पर सायण भाष्य एवम् १०.१०८वें सूक्त की भूमिका में सायण का कथन।

एकत्र उल्लेख[१], जो सम्भवतः ऐसी धारणा का मूल हो सकता है; अधिक युक्तियुक्त नहीं माना जा सकता। जहाँ तक पणियों द्वारा गौओं को चुराने की घटना का सम्बन्ध हैं, वह उनकी विजिगीषा अथवा प्रतिद्वन्द्वियों को छेड़कर उनसे शक्ति-परीक्षण करने अथवा निजी सम्पत्ति को बढ़ाने के कर्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है जैसाकि महाभारत में दुर्योधन प्रभृति प्रतिनायक, विराट-नगर में पाण्डवों की शक्ति परीक्षा के निमित्त करते हैं[२]।

पणियों की सम्पत्ति मुख्यतया गोधन है। जिसे सोम भलीभाँति जानते हैं तथा उससे छीनने का प्रयत्न करते हैं[३]। उनका दुग्ध, घृत आदि भी पणियों की सम्पत्ति के भाग हैं जो स्मृतिसम्मत वैश्यों के कर्म के अनुरूप है। इन्द्र स्वयं भी पणियों की सम्पत्ति चुराकर ऋषियों को देते हैं। इन्द्र की यह चोरी; पणियों की बढ़ती हुई शक्ति से, इन्द्र आदि के भयभीत होने की दिशा में संकेत करती है। ऐसा स्वाभाविक भी है, क्योंकि पणिगण अपनी वाक्पटुता, नीति निपुणता और सम्पन्नता में इन्द्र से बढ़कर हैं ही। वे अपने अस्त्र-शस्त्रों की ओर संकेत करते हुए अपने को इन्द्र से अधिक शक्तिशाली सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं[४]। लोभी, कंजूस, और उद्धत होने के साथ ही उन पर दान न देने, कटुभाषी होने तथा यज्ञयागादि से विरत होने के अनेक आरोप हैं[५]। ऋषियों की गौवें छीनना भी एक अपराध ही है। उनके ऐसे ही अपराधों से क्रुद्ध ऋषियों ने उन्हें ऐसे विशेषणों से अलंकृत किया है कि वे ऋषियों के ही प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत होने लगते हैं :

> न्यक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणींरश्रद्धाँ अवृधाँ अयज्ञान्।
> पप्र तान्दस्यूँरग्निर्विवाय पूर्वश्चकारापराँ अयज्यून्॥ ऋ० ७.६.३
> कदू महीरधृष्टा अस्य तविषीः कदु वृत्रघ्नो अस्तृतम्।
> इन्द्रो विश्वान् बेकनाटाँ अहर्दृश उत क्रत्वा पणींरभि॥ऋ०८.६६.१०

उपर्युक्त ऋचाओं में पणियों को पूर्वोक्त अनेक दुर्गुणों से युक्त कहने के साथ ही उन्हें ग्रथी[६]--(कुटिल स्वभाव) मृध्रवाक् (मारपीट की भाषा बोलने वाले या हिंसक

१. ऋ० १०.६७.६ तथा ऋ० ६.४४.२२ में सायण द्वारा पणि को बल का पर्याय मानना, ८.१४.८ में सायण ने बल के सारे कर्म पणियों के हाथों कराकर उसे अनुचर सिद्ध किया है।
२. द्रष्टव्यः भास कृत पञ्चरात्र
३. ऋ० ९.१११.२
४. ऋ० १०.१०८.५
५. ऋ० १.११०.२४, ८.६४.२ तथा १०.६०.६
६. 'परमतखण्डनपूर्वकं स्वमत-स्थापनम्'—जटाधरोगौतमश्च। देखें : शब्दकल्पद्रुम

स्वभाव) अहृद्दशः एवम् बेकनाटान् के रूप में सूदखोर तथा नास्तिक कहा गया है[१] जिससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि धनोपार्जन के लिए वे कोई भी कार्य करने में संकोच नहीं करते। यहाँ तक कि वे तदर्थ युद्ध की स्थिति का भी साक्षात् करने को तत्पर रहने वाले जन हैं। पणियों को दस्यु, दास, असुर, अनार्य मानने वाले विभिन्न मतों को यदि ध्यान में रखकर देखें तो पणिगण उस जाति या कबीले के लोग प्रतीत होते हैं जो लुटेरे भी रहे हों तो सन्देह नहीं।

पणियों की हिंसक, कंजूस एवम् यज्ञयागादि में श्रद्धा न रखने की प्रवृत्ति के कारण ही पूषा से प्रार्थना की गयी है कि वे पणियों के मन को दान देने के लिए प्रेरित करें तथा उनके मन से कठोरता हटाकर मृदुता का संचार करें :[२]—

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन्दानाय चोदय। पणेश्चिद्वि म्रदा मनः ।। तथा
वि पूषन्नारया तुद पणेरिच्छ हृदि प्रियम्। ऋ० ६.५३.३ एवम् ६

ऋषियों ने अग्नि से भी ऐसी प्रार्थनाएँ की हैं[३]। इस प्रकार के चरित्र वाले पणियों द्वारा देवत्व प्राप्ति के प्रयत्न निश्चय ही ऋषियों की ईर्ष्या के कारण रहे होंगे; उनकी अतुल सम्पत्ति तो ईर्ष्या का कारण थी ही :—

न वां द्यावोऽहभिर्नोत सिन्धवो न देवत्वं पणयो नानशुर्मघम् ।।
ऋ० १.१५१.९

इस रूप में हम पाते हैं कि पणियों के इन्द्र प्रभृति देवों के साथ भीषण युद्ध के उल्लेख सीमित हैं और इसी कारण पणियों के पराक्रम, उनके प्रचण्ड स्वभाव तथा तदनुरूप पूर्ण उद्धतस्वरूप के दर्शन नहीं हो पाते हैं। तथापि उनकी भूमिका को प्रतिनायक चरित्र के विकास की उस श्रृङ्खला के रूप में देखा जा सकता है जो पूर्वोद्धृत वृत्र एवम् संस्कृत रूपकों में रावण प्रभृति उन प्रतिनायकों के मध्य की है जिनका औद्धत्य रङ्गञ्च पर युद्ध नियुद्ध की वर्जनाओं के कारण अविकसित ही रह गया है। इस सन्दर्भ में यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि पणियों का मुख्यरूप से उल्लेख ऋग्वेद के परवर्ती सूक्तों (मण्डल ५ से १०) में हुआ है विशेष कर जिनमें दशम् मण्डल का १०८वाँ सूक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। पणियों के स्वरूप को देख कर कभी-कभी ऐसे नायकों का भी स्मरण हो आता है जो अपने स्वभाव से प्रतिनायक न होते हुए भी केवल इसलिए प्रतिनायक हैं क्योंकि उन्होंने किसी पौराणिक नायक का विरोध किया है।

---

१. ऋ० ८.६६.१० पर सायण भाष्य

२. ऋ० ६.५३.५ एवम् ७ भी देखें।

३. ऋ० १०.१५६.३

प्रतिद्वन्द्वी अर्बुद

इन्द्र के प्रथम वर्गीय प्रतिनायकों में अहि अथवा वृत्र एवं पणियों के बाद हम अर्बुद को एक सशक्त प्रतिद्वन्द्वी के रूप में पाते हैं। यद्यपि उसका उल्लेख केवल ५, ६ बार ही होता है किन्तु वह विश्वरूप, स्वर्भानु एवं वर्चिन की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। वर्चिन की शक्ति; विशेषतः सैन्य-शक्ति, कम नहीं है, किन्तु वह सदा शम्बर के साथ है अतः वह शम्बर का सहायक अथवा सहकर्मी प्रतिनायक है[१]। इसके विपरीत अर्बुद स्वतन्त्र सत्तात्मक प्रतिद्वन्द्वी है और उसका उल्लेख केवल इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता में हुआ है। वह महान् मायावी है। उसका आचरण पशुवत् है, यही कारण है उसको मृगय एवं मायी कहा गया है[२]। अर्बुद को मारने के लिए इन्द्र उस पर हिम-प्रहार करते हैं[३]। वह मायावी होने के साथ सम्भवतः विशाल क्षेत्र का अधिपति भी है[४]। वह इन्द्र के समान महान् है किन्तु युद्ध क्षेत्र में दोनों की महानता एवं शक्ति का जब परीक्षण होता है इन्द्र अधिक शक्तिशाली सिद्ध होता है। इन्द्र उसे युद्ध भूमि में औंधे मुँह गिरा देता है[५] और अपने पैरों से रौंद कर उसकी सत्ता समाप्त कर डालता है[६]।

प्रतिद्वन्द्वी दस्यु, दास किंवा अनार्य शत्रु

जैसा कि कहा जा चुका है, ऋग्वेद में दासों, दस्युओं अथवा असुरों, दानवों एवं राक्षसों के मध्य कोई स्पष्ट रेखाङ्कन नहीं हो सका है। यही कारण है ऋग्वेद एक ओर वर्चिन, शम्बर और पिप्रु को दास या दस्यु कहता है[७] दूसरी ओर उन्हें ही असुर कह कर पुकारता है[८]। मैकडानल महोदय भी इस सम्बन्ध में कोई निर्णय नहीं कर सके हैं[९]। वे नमुचि एवं शुष्ण को दासों में गिनते हैं किन्तु कीथ महोदय उसे दानव

---

१. इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्।
शतं वर्चिनः सहस्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान्॥ ऋ० ७.९९.५
अहन्दासा वृषभो वस्नयन्तोदव्रजे वर्चिनं शम्बरं च॥ ऋ० ६.४७.२१, तथा
२.१४.६, ४.३०.१५

२. निरर्बुदस्य मृगयस्य मायिनो निः पर्वतस्य गा आजः। ऋ० ८.३.१९

३. ऋ० ८.३२.२६

४. ऋ० ८.३२.३

५. ऋ० २.१४.४

६. ऋ० १.५१.६, २.११.२०

७. दास, शम्बर, वर्चिन ऋ० ६.४७.२१, दास-पिप्रु ८.३२.२, दास-पिप्रु १.५१.५

८. असुर–शम्बर, वर्चिन ऋ० ७.९९.५ तथा असुर-पिप्रु १०.१३८.३

९. वै० दे० ० ४२३पृ

हो मानते हैं[१]। जो भी हो शुष्ण, शम्बर, नमुचि, चुमुरि, पिप्रु, धुनि, दृभीक, रुधिक्रा, इलीबिश, सृबिन्द, अनर्शनि, वृषशिप्र, प्रभृति को अनार्य अथवा दास प्रतिनिधि मानना अधिक उचित है। इनमें भी दृभीक (ऋ०२.१४.३), रुधिक्रा (२.१४.५ रुधिक्राम्), इलोविल (१.३३.१२ इलीबिशस्य), सृबिन्द (८.३२.२), अनर्शनि (८.३२.२) का उल्लेख अत्यन्त संक्षिप्त है। किन्तु इतना तो इनके नामों से स्पष्ट हो जाता है कि ये आर्य संज्ञाएँ नहीं हैं। अनास, दास, दस्यु एवं कृष्णयोनि; विशेषण सम्भवतः इन्हीं लोगों के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

प्रतिद्वन्द्वी नमुचि

जहाँ तक नमुचि, धुनि एवं चुमुरि का प्रश्न है वे भी अनार्य ही प्रतीत होते हैं और उनमें भी अधिक शक्तिशाली एवं मायावी प्रतिद्वन्द्वी है : नमुचि। उसे कहीं असुर कहीं दास तो कहीं दस्यु कहा गया है[२]। जो सम्भवतः उसकी प्राणवत्ता एवं शक्तिमत्ता की दिशा में संकेत है। ऋग्वेद में नमुचि की गणना उन देव विरोधियों में की गयी है जिन्हें मार कर इन्द्र एक महान् एवं विजयी नायक के रूप में उभरता है[३]। इसी कारण उसकी गणना वृत्र एवं शम्बर जैसे शक्ति सामन्तों के साथ होती है[४] और अश्विनों से प्रार्थना की जाती है कि वे नमुचि से युद्ध की बेला में इन्द्र की रक्षा करें[५]। नमुचि यज्ञों में बाधा डालता है, ऋषियों को अन्नादि तथा अन्य यजनीय सामग्री प्राप्त नहीं होने देता[६]। अतएव ऋषि कठोर शब्दों में इन्द्र से पुनः प्रार्थना करते हैं कि वे दास नमुचि के सिर को काट डालें, मथ डालें और चूर्ण कर डालें[७]। फलतः इन्द्र मायावी नमुचि के सिर को फेन द्वारा मथ डालते हैं। नमुचि का उल्लेख अन्य श्रुतियों में भी हुआ है। जहां नमुचि के शिर को जल-फेन द्वारा नष्ट करने का उल्लेख है[८]।

प्रतिद्वन्द्वी धुनि एवं चुमुरि

धुनि तथा चुमुरि का उल्लेख दभीति की प्रतिद्वन्द्विता में हुआ है किन्तु नायक के रूप में राजर्षि दभीति का उल्लेख ऋग्वेद में लगभग ९, १० बार ही हुआ है और

१. तुलना करें वै० दे० पृ० ४१८, ४२१ एवं ४२४ तथा वै० ध० द० अध्याय १५, पृ० २९३
२. दास-ऋ० ५.३०.७, ८ दस्यु-ऋ० ७.१९.४, असुर-ऋ० १०.१३१.४
३. ऋ० २.१४.५
४. ऋ० ७.१९.५
५. ऋ० १०.१३१.४
६. ऋ० १०.७३.७
७. ऋ० ५.३०.७, ८ तथा ६.२०.६
८. वै० दे० पृ० ४२०

सदा इस सन्दर्भ में कि इन्द्र ने उसके प्रतिद्वन्द्वी धुनि तथा चुमुरि को सदा-सदा के लिए सुला दिया। इस दृष्टि से धुनि तथा चुमुरि का संघर्ष दभीति से न होकर इन्द्र से होता है। केवल एक स्थल पर धुनि एवं चुमुरि द्वारा प्रत्यक्षतः दभीति के घर को घेर कर उस पर आक्रमण करने एवं उसे बाँध ले जाने का उल्लेख मिलता है।

इस रूप में इधर दभीति स्वयं धुनि एवं चुमुरि की प्रतिद्वन्द्विता में बड़े-छोटे लगते हैं। किन्तु उधर इन्द्र की महनीय शक्ति के समक्ष धुनि एवं चुमुरि दोनों बौने लगते हैं। दोनों अत्यन्त शक्तिशाली एवं सुसंगठित योद्धा हैं। वे युद्ध में पहल भी करते हैं। किन्तु इन्द्र के पराक्रम के समक्ष वे तुच्छ हैं। एक बार दभीति के शत्रुओं को (जो सम्भवतः धुनि एवं चुमुरि ही हो सकते हैं) मारने के निमित्त इन्द्र अपनी अद्भुत माया का भी प्रयोग करते हैं[1]। एक अन्य स्थल पर इन्द्र के पराक्रम के ही सन्दर्भ में इन्द्र द्वारा दभीति के अज्ञात शत्रुओं को बिना रस्सी के फाँसी पर चढ़ा देने का उल्लेख मिलता है[2]। वैसे यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि धुनि एवं चुमुरि, दभीति के हितैषी इन्द्र से लोहा लेने के लिए युद्ध-भूमि में उतरते हैं किन्तु ऋग्वेद की लाक्षणिका शैली में इन्द्र उन्हें निद्रामग्न कर नष्ट करते हैं। निद्रामग्न करने एवं दभीति के शत्रुओं के विरुद्ध मायाप्रयोग एवं बिना रस्सी के फांसी लगा देने के आख्यान के परिप्रेक्ष्य में धुनि एवं चुमुरि की शक्ति का अनुमान सरलता से लगाया जा सकता है। फिर भी (दभीति द्वारा प्रदत्त) सोम के उन्माद एवं पुष्टहवि के लोभ में इन्द्र दभीति को बाँध ले जाने वाले धुनि एवं चुमुरि को चिरनिद्रामग्न कर देते हैं[3]।

अनार्य-शत्रु

अनार्यों, अनासों अथवा कृष्णवर्णी शत्रुओं की चर्चा के प्रसंग में यह स्पष्ट कर देना अनुचित न होगा कि वे आर्य-शासकों और अन्य वैदिक ऋषियों के विरोधी थे। ऋग्वेदीय ऋचाओं में अभिव्यक्त घृणा, भय एवं विद्वेष की भावना से इन आर्य-विरोधियों की शक्ति सम्पन्नता का अनुमान सरलता से हो सकता है और यह भी कहा जा सकता है कि आर्यजन अपने इन प्रतिद्वन्द्वियों से किसी प्रकार का समझौता नहीं करना चाहते थे, कम से कम यह स्थिति ऋग्वैदिक युग तक जीवित थी[4]। तात्पर्य यह है कि ऋग्वैदिक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर पाना कठिन नहीं है कि आर्यों से आर्येतर दस्युओं, दासों, अनासों और कृष्णवर्णियों के इस पार्थक्य के कारण तथा उस पार्थक्य को जीवित रखने की उत्कट भावना के कारण, घृणा एवं विद्वेष और उसके कारण, उनके

१. ऋ० ४.३०.२१
२. ऋ० २.१३.९
३. ऋ० २.१५.९
४. द्रष्टव्य : कीथ वै० ध० द० अध्याय १, पृ० ११

मध्य संघर्ष की स्थिति प्रायः आ उपस्थिति होती रही होगी[१]। इस रूप में, आ इतर जातीय जनों से घृणा के अतिरिक्त धार्मिक विभेद बनाए रखने की भावना भी प्रबल थी। इसी कारण हमें वहाँ अनासों एवं लिंगोपासकों से विद्वेष की भावना भी दृष्टिगत हो जाती है।

इन अनार्यों से इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता के सन्दर्भ में इतना ही ज्ञात होता है कि वे लोग अनास (चिपटी नाक वाले) कृष्णवर्णी एवं शिश्नदेव अर्थात् लिंगोपासक थे। शिश्नदेव का तात्पर्य निरुक्तकार, सायण एवं वेंकटमाधव ने अब्रह्मचर्य से लिया है किन्तु यह ठीक प्रतीत नहीं होता[२]। वस्तुतः इसका तात्पर्य उन लोगों से लेना अधिक उचित प्रतीत होता है जिनसे आर्यों ने कालान्तर में लिंगोपासना की परम्परा ग्रहण की। ऋग्वेद में इन लिंगोपासकों का दो बार उल्लेख है[३] और दोनों बार इनका उल्लेख आर्यों अथवा ऋग्वेदिक ऋषियों के विरोधियों के रूप में हुआ है। इन्द्र से कहा गया है कि सुरक्षित शत द्वारों वाले शिश्नदेवों के पुरों को तोड़कर उनके रक्षक लिंगोपासकों को मार कर धन प्राप्त करें। स्पष्ट है कि वे भी पणियों की भाँति धन-सम्पन्न जन थे जो पुरों में रहते थे। सम्भव है कृष्ण एवं अनास भी वही रहे हों। अनासों[४] शिश्न-देवों एवं कृष्ण-वर्णियों के कर्मों की समानता उन्हें एकत्र खड़ा कर देती है। अनासों के विशेषण रूप में 'मृध्रवाचः' (हिंसितवचन बोलने वाले या मृदु वचन बोलने वाले)[५] का प्रयोग हुआ है। यह प्रयोग अन्यत्र पणियों के निमित्त भी हुआ है[६] और सम्भवतः एक बार प्रतिद्वन्द्वी आर्यों के प्रति भी[७]। जो भी हो प्रतिद्वन्द्वियों के भाषण एवं भाषा की निन्दा स्वाभाविक है। यह तथ्य आर्यों और अनासों के भाषागत वैभिन्य का भी परि-चायक है और आर्यों के दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व में विस्तार की ओर भी संकेत करता है।

ये देवशत्रु चाहे मृदुवाक् (शतपथ० ३.२.१ एवं २.३.२४.) होने से पराजित हुए हों अथवा कठोर भाषी होने से अथवा आर्यों की शक्ति-सम्पन्नता के कारण, वे आर्य नहीं थे। ऐसे ही एक अन्य शत्रु को जिसे सम्भवतः कृष्णवर्णी होने के कारण ही कृष्ण

---

१. कीथ वै० ध० द० अध्याय १, पृ० १३
२. ऋ० ७.२१.५, १०.९९.३ पर सायण भाष्य
३. ऋ० ७.२१.५, १०.९९.३ पर सायण भाष्य
४. 'आस्य रहितान्। आस्य शब्देन शब्दो लक्ष्यते। अशब्दान् मूकान् दस्यून्' ऋ० ५.२९.२ पर सायण भाष्य
५. ऋ० ५.२९.१० पर सायण एवं निरुक्त १.१३ एवं ६.३१ की तुलना करें। वेंकटमाधव भी यही अर्थ (परुषवाचः हिंसकवाचः) मानते हैं देखें— ऋ० ५.२९.१०, ७.६.३ एवं ७.१८.१३ पर वेंकटमाधव का भाष्य।
६. ऋ० ७.६.३
७. ऋ० ७.१८.१३ तथा ऋ० ऐति० पृ० २२८ पर टिप्पणी

कहा गया है, इन्द्र मार डालता है। इन्द्र उसकी पत्नी एवं पुत्रों को भी मारता है[१]। अंशुमती के तट पर किसी गुह्य स्थान पर वह अपने दस हजार सहायकों के साथ निर्द्वन्द्व होकर रहता है[२]। ऋग्वेद में कृष्णयोनि-सेना को दबाने तथा बहुवचन में कृष्णों को नष्ट करने की प्रार्थना की गयी है। इसके अतिरिक्त एक अन्य स्थल पर पाँच सौ एवं एक हजार कृष्णवर्णियों का उल्लेख पिप्रु के साथ हुआ है जिन्हें इन्द्र मारते हैं[३]। वस्तुतः कठोर भाषी (भाषा वाले) नासिका हीन (चिपटी नाक वाले) लिंगोपासक एवं कृष्ण-वर्णी ये विशेषण उस जाति-विशेष के लोगों की ओर संकेत करते हैं जो प्रायः यज्ञों में विघ्न विधान करते थे, ऋषियों मुनियों को पीड़ित करते थे और उससे भी अधिक आर्यों की संस्कृति एवं धर्म पर विश्वास अथवा श्रद्धा नहीं रखते थे। वे चाहे भारत के मूल निवासी हों अथवा आक्रान्ता अथवा मूलतः आर्य किन्तु वर्णसङ्करता एवं व्यभिचार के कारण आर्यत्व-हीन-जन, ये इन्द्र के शत्रु हैं[४]।

प्रतिद्वन्द्वी देवता

देवासुर संग्राम के परिप्रेक्ष्य में हम पाते हैं कि संग्राम में भाग लेने वाले देवता एवं असुर एक ही धर्म एवं संस्कृति के लोग थे। वस्तुतः उनके गुण, स्वभाव एवं कर्म के कारण ही उन्हें 'असुर' कहा गया है। इस निर्णायक युद्ध के पश्चात् ही दो भिन्न संस्कृतियों के विकास का मार्ग प्रशस्त हो सका। इसे इन्द्र एवं वरुण के मध्य सत्तासम्बन्धी विवाद के रूप में भी देखा जा सकता है[५]। ऋग्वेद में बिना प्रयास के ही ऐसे स्थल ढूँढे जा सकते हैं जहाँ इन्द्र एवं अन्य अनेक प्रतिनिधि देवताओं के मध्य संघर्ष के प्रमाण हैं। कहीं-कहीं संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होती है और किसी प्रकार टल जाती है। किन्तु ध्यान देने की बात तो यह है कि ऐसी स्थिति प्रायः तब उपस्थित होती है जब इन्द्र सोम के उन्माद में अपने समक्ष किसी को नहीं गिनता। विस्तार से देखा जाए तो इन्द्र एवं देवों के संघर्ष का अपना ऐतिहासिक महत्त्व है जो परवर्ती साहित्य में इन्द्र की प्रतिष्ठा के गिरने, अन्य अनेक आर्य सम्प्रदायों के विकसित होने एवं देवासुर संग्राम के रूप में उनके फलीभूत होने तथा आर्यों के प्राव्रजन की ऐतिहासिक गुत्थी को सुलझाने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है[६]।

---

१. ऋ० १.१०१.१ पर सायण भाष्य

२. ऋ० ८.९६.१३

३. ऋ० ४।१६।१३

४. ऋ० ८।२०।७

५. विश्वनाथ रेऊ—ऋ० ऐति० पृ० २२०-२२६

६. वही पृ० २२०-२२६

प्रतिद्वन्द्वी वरुण (धीरोदात्त)

कहना न होगा कि इन्द्र-वरुण की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता, इन्द्र से अन्य देवताओं की प्रतिद्वन्द्विता की तुलना में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि ऋग्वेदिक ऋषियों (कवियों) की पक्षपातपूर्ण भाषा में वरुण का स्थान इन्द्र से छोटा है किन्तु उन्हें भी एकक्षत्र सम्राट् कहा गया है। स्वराट् शब्द का प्रयोग सर्वाधिक बार वरुण के साम्राज्य के सन्दर्भ में ही होता है। वैसे इसका प्रयोग इन्द्र एवं अग्नि के लिए भी हुआ है पर इन्द्र के विशेषण के रूप में इसका प्रयोग वरुण की तुलना में आधा ही है[1]। इस सम्बन्ध में जितनी सशक्त स्तुतियां वरुण से सम्बन्धित हैं उतनी इन्द्र से नहीं। ऋषि उसे इस विश्व का, विश्व के सारे प्राणियों का, एकमात्र नियन्ता कहता है। :—

त्वं विश्वेषां वरुणासि राजा ये च देवा असुर ये च मर्ताः।
शतं नो रास्व शरदो विचक्षेऽश्यामायूंषि सुधितानि पूर्वा ॥

ऋ० २।२७।१०

ऋषि उससे प्रार्थना करता है कि वह उसे सौ वर्ष तक जीवित रहने का सौभाग्य प्रदान करे। वरुण ऋत का नियन्ता और नैतिकता का सशक्त प्रहरी है। उसकी शक्ति महान् है, जिसे कोई नहीं पा सकता, ऊँचे उड़ने वाले पक्षी, शाश्वत प्रवाहित सरिताएं और स्वयं आकाश भी उसके साम्राज्य का उल्लंघन नहीं कर सकता। वह सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, भूत, भविष्य एवं वर्तमान का ज्ञाता है[2]। परवर्ती काव्यों, महाकाव्यों एवं अन्य रूपकप्रबन्धों के धीरोदात्त नायकों[3] का मूल ऐसे ही वरुण के चरित्र में खोजा जा सकता है।

वरुण का धीरोदात्त स्वरूप

वस्तुतः यह संक्षिप्त विशेषताएँ वरुण के नायकत्व की स्थापना करती हैं किन्तु इन्द्र के पक्षपाती ऋषियों की वाणी वरुण को इन्द्र से ऊँचा नहीं उठने देती। इसका कारण यह है कि किसी न किसी रूप में यह सारे गुण इन्द्र के चरित्र में भी गिना डाले गए हैं। पहले ही कहा जा चुका है कि नैतिकता की दृष्टि से वरुण को कोई भी देवता छू नहीं सकता किन्तु इन्द्र ही ऐसा देवता है जो उसे इस क्षेत्र में भी ललकारने का

---

१. द्रष्टव्य, वैदिक-देवशास्त्र, पृ० ४६
२. ऋ० १।२४।६, १।२५।७,९, ११, १।१५१।६, २।२८।१, ५।२८।१, ५।८५।३ ७.८७।६
३. महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः।।
दश० २।४-५

दम्भ भरता है[१] । वह यहाँ तक कह डालता है कि 'वरुण कोई और नहीं मैं ही हूँ[२] । वरुण सभी लोकों के स्थापक हैं किन्तु इन्द्र इस कर्म को भी अपना बताते हुए कहता है, मैंने ही द्यु लोक को धारण किया है[३] । 'इतना ही नहीं 'मैंने ही तो यह विश्व रचा है[४] । वस्तुतः वरुण एवं इन्द्र के इस विवाद में दो तथ्य उभरते हैं, एक तो यह कि इन्द्र एक-एक करके वरुण के सारे कर्मों को अपना बताता है और वरुण को चिढ़ाने का प्रयास करता है। दूसरे इससे वरुण का वह वास्तविक स्वरूप उभरता है जिससे इन्द्र को द्वेष है और जो इन्द्र के अहं को चोट पहुँचाता है । नाटकीय दृष्टि से देखें तो इन्द्र की यह झल्लाहट और तज्जन्य आक्रोश और वरुण का प्रकृति के अनुकूल मौन, एक दूसरा चित्र उपस्थित कर देता है और वहां इन्द्र तो प्रतिनायकवत् किन्तु वरुण धीरोदात्तनायकवत् प्रतीत होते है जैसे राम के सन्मुख परशुराम अथवा वसिष्ठ के सन्मुख विश्वामित्र खड़े हों ।

नायक प्रतिनायक का निर्णय परिस्थितियों के आधार पर ही किया जाना चाहिए और इस कारण एक ही व्यक्ति जब दो भिन्न परिस्थितियों में दो भिन्न प्रकार के कार्य करता है तो उसे सदा नायक अथवा सदा प्रतिनायक कहना उचित नहीं है । उदाहरणार्थ, मृत्यु शैय्या पर स्थित दुर्योधन जहाँ अपने पुत्र से आग्रहपूर्वक कहता है कि "पुत्र । पाण्डवों की सेवा वैसे ही करना जैसे मेरी करते हो, माता कुन्ती की आज्ञा का पालन करना, अभिमन्यु की माँ सुभद्रा एवं द्रोपदी को माँ मनाना तथा पाण्डवों के साथ मुझे निवापांजलि देना मत भूलना [५]", वहां दर्शक उसे नायक मनाने को बाध्य हो जाता है । दूसरी ओर वही दर्शक. युद्ध-नियमों के विरुद्ध आचरण करते हुए, दुर्योधन की जाँघों पर प्रहार करने की सलाह देने वाले और उन पर प्रहार करने वाले कृष्ण एवं भीम को धिक्कारता भी है जिन्हें ऐसे स्थल पर प्रतिनायक न मानने का कोई उचित कारण दिखाई नहीं पड़ता ।

---

१. ऋ० ४।४२।३
२. अहं राजा वरुणो, ऋ० ४।४२।२
३. अहमपो अपिवन्मुक्षमाणा धारयं दिवं सदन ऋतस्य । ऋ० ४।४२।४
४. अहं ता विश्वा चकरम्, ऋ० ४।४२।६
५. 'अहमिव पाण्डवाः शुश्रूषयितव्याः तत्र भवत्याश्चाम्बायाः कुन्त्याः निदेशो वर्तयितव्यः । अभिमन्योर्जननी द्रोपदी चोभे मातृवत् पूजयितव्ये । पश्य पुत्र !

श्लाघ्यश्रीरभिमानदीप्तहृदयो दुर्योधनो मे पिता
तुल्याभिमुखं रणे हत इति त्वं शोकमेवं त्यज ।
स्पृष्ट्वा चैव युधिष्ठिरस्य विपुलं क्षौमापसव्यं भुजं
देयं पाण्डुसुतैस्त्वया मम समं नामावसाने जलम् ।। ऊरूभङ्ग ५३

तात्पर्य यह कि इन्द्र चाहे जितना पराक्रमी हो, वरुण के औदात्य के समक्ष एक उद्धत प्रतिनायक ही प्रतीत होता है । इन दोनों के मध्य संघर्ष का कोई प्रमाण नहीं है किन्तु उनके विवाद से वरुण की महानता ही प्रमाणित होती है, जो निश्चित रूप से एक ओर धीरोदात्त नायक के विकास की दिशा में संकेत करती है तो दूसरी ओर उससे किसी प्रसिद्ध नायक को प्रतियायक के कटघरे में भी खड़ा करने की अनुमति मिल जाती है ।

इन्द्र-मरुत् प्रतिद्वन्द्विता

ऋग्वेद में मरुतों का चरित्र भी नायकों जैसा है । वे प्रतिष्ठित कुल के हैं । वे प्रश्निमातरः, रुद्रियाः, के रूप में लब्धप्रतिष्ठ देवों तथा पूज्य लोगों से सम्बद्ध हैं[१] । इतना ही नहीं इन्द्राणी, सरस्वती एवं रोदसी से भी उनका घनिष्ट सम्बन्ध है ।[२] वे शक्तिशाली हैं, वे भाला धारण करते हैं जो उनका प्रमुख अस्त्र है, वैसे हिरण्यमयी वाशी (सम्भवतः बसुली) एवं धनुष-बाण भी उनके अस्त्रों के रूप में यत्र-तत्र उल्लिखित हैं । वे व्योम व्यापी तथा अपरिमेय गरिमान्वित, द्यावा-पृथिवी को अतिक्रान्त करने वाले ऐसे वीर हैं जिनका कोई पार नहीं पा सकता[३] । मरुत् अपनी भयानकता, धृष्णुता, उग्रता एवं भीमता के कारण उद्धत नायक प्रतीत होते हैं [४] । इतना ही नहीं वे भयंकर स्वरूप में लोहे के समान दाँतों वाले वराह एवं किसी सिंह के रूप में ऋषियों की कल्पना में उभरते हैं[५] । इन्द्र के पश्चात् सम्भवतः मरुत ही सर्वाधिक उद्धत नायक हैं जिनके पदार्पण करते ही द्युलोक भय से चीत्कार कर उठता है । उनके कार्य तो और भयंकर हैं । ऋषि के ही शब्दों में :—

महिषासो मायिनश्चित्रभानवो गिरियो न स्व तवसो रघुष्यदः ।
मृगा इव हस्तिनः खादथा वना यदारुणीषु तविषीरयुग्ध्वम् ।।

ऋ० १।६४।७

अर्थात् वे मायावी प्रज्ञावान् किंवा बुद्धि चातुर्य से सम्पन्न हैं, शक्तिशाली हैं । वे अपनी शक्ति से पर्वतों को विदीर्ण कर डालते हैं तथा हाँथियों के समान पेड़ों को खा जाते हैं । उनकी इसी शक्ति के कारण बड़े-बड़े वृक्ष उनके सामने सिर झुका लेते हैं

१. ऋ० १।३८।४,७, २।३४।२,१०
२. अथर्व० १०।६।३ पर सायण भाष्य
३. ऋ० ५।५ ६।८
४. ऋ० १।१६४।४, ५।५६।२, ७।५८।२
५. ऋ० १।८८।५, १।६४।८

और पर्वत तथा पृथिवी उनके भय से काँप उठती है[1]। मरुतों का यह संहारक रूप केवल प्रकृति पर ही नहीं मनुष्यों पर भी कहर ढाता है। मरुतों से प्रार्थना की गयी है कि वे मनुष्यों एवं गौवों को मारने वाले अपने वज्र को दूर ही रखें।[2] इस रूप में मरुत् चाहे झंझाओं के मानवीयकरण हों अथवा प्रेतात्माओं के,[3] उनका चित्रण एक शक्ति सम्पन्न धीरोद्धत नायक के रूप में हुआ है। ऐसे मरुत् गण की शक्ति को सह पाना इन्द्र जैसे असहिष्णु नायक के लिए अस्वाभाविक ही है और इसी कारण हम कहीं-कहीं इन्द्र को मरुत् के साथ विवाद करते हुए पाते हैं। विद्वानों ने प्रथम मण्डल के सूक्त १६५ से १७० तक अपितु १७१ वें सूक्त में भी इन्द्र एवं मरुत् के मध्य विवाद के संकेत पाये हैं। इन संवादों में नाटकीयता के दर्शन तो होते ही हैं, इन्द्र द्वारा मरुत् को नीचा दिखाने के प्रयत्न भी स्पष्ट हैं,[4] जहाँ युद्ध में अकेला छोड़ जाने वाले मरुत् की निन्दा करते हुए इन्द्र अपनी शक्ति की सराहना करता है। किन्तु मरुत् की स्तुति-परक एक अन्य ऋचा में इस आरोप को नितान्त भ्रामक कहा गया है :—

कद्ध नूनं कधप्रियो यदिन्द्रमजहातन। को वः सखित्व ओहते॥

ऋ० ८।७।३१

अर्थात् हे मरुत् युद्ध करते हुए इन्द्र को भला तुमने कब अकेला छोड़ा है? अर्थात् कभी नहीं।[5] ऐतरेय ब्राह्मण भी इस शंका को निर्मूल करता है—

मरुतो हैनं नाजहुः प्रहरभगवो जहि वीरयस्व। —ऋ० ऐ० ब्रा० ३.२०

कधप्रिय-स्तुतिप्रिय मरुतों पर लगाये गये आरोप एवं उसके खण्डन के परिप्रेक्ष्य में जो शंका उसके चरित्र के सम्बन्ध में उठती है उसे कीथ महोदय ने इन्द्र की प्रतिशोध एवं खीज की भावना के रूप में माना है,[6] जिसके प्रमाण ऋग्वेद में तो मिल ही जाते हैं, तैत्तिरीय ब्राह्मण भी उसका समर्थन करता है।[7] इसके अतिरिक्त इन्द्राणी से मरुत् के घनिष्ट सम्बन्ध (जिसे वह गर्व के साथ स्वीकार करती है[8]) तथा

१. वना चिदुग्रा जिहते नि वो भिया पृथिवी चिद्रेजते पर्वतश्चित्। ऋ० ५।६०।२, एवं १।१६६।४
२. ऋ० ७।५६।७
३. देखें : वै० दे० पृ० २०३,४
४. कीथ-वै० ध० द० पृ० ३-४
५. द्रष्टव्यः सायण भाष्य तथा देखें ऋ० १।१६५।१
६. कीथ-वै० ध० द० अध्याय ६, पृ० १८८
७. तै०ब्रा० २।७।११।१
८. अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वारिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥
ऋ० १०।८६।९

रोदसी एवं सरस्वती से उनकी मैत्री को भी मरुत् से इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता के मूल में देखा जा सकता है। क्योंकि इन्द्राणी एवं कुत्स की मैत्री तथा उषा-सूर्य के प्रेम के कारण हम असहिष्णु एवं शंकालु इन्द्र को कुत्स एवं सूर्य से प्रतिशोध लेते हुए पाते हैं। इस रूप में मरुतों से इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता के पीछे मरुतों की शक्ति-सम्पन्नता (जिसे इन्द्र बार-बार ललकारता है[१].) मरुतों के प्रति ऋषियों की अनन्य श्रद्धा (जिसे इन्द्र, अगस्त्य द्वारा कृत अपमान के रूप में ग्रहण करता है[२]) उनकी अनेक नारियों की स्नेह-भाजनता, मित्र होने पर भी इन्द्र द्वारा विश्वासघात, आदि कई कारणों को देखस कते हैं।

मरुत् के इन सभी कार्यों में इन्द्र का क्रोध बाधक तत्त्व के रूप में आता है अतः इस सन्दर्भ में इन्द्र की भूमिका में प्रतिनायकतत्त्व सरलता से मिल जाता है। फिर भी जिस प्रकार चाणक्य एवं राक्षस के मध्य नायक प्रतिनायक का निर्णय कठिन है उसी प्रकार इन दोनों के मध्य भी कुछ स्थलों पर यह निर्णय कठिन है। चाणक्य अपनी कूटनीति के माध्यम से राक्षस पर अनेक झूठे आरोप लगाने में समर्थ होकर भी राक्षस की तुलना में सामाजिक की सम्पूर्ण सद्भावना नहीं प्राप्त कर पाता, उसी प्रकार इन्द्र भी है। अन्त में राक्षस के समान ही मरुत् भी इन्द्र के समक्ष आत्मसमर्पण करके अपनी भूमिका को सार्थक करते हैं। दोनों ही स्थलों पर हम पाते हैं, नायक के क्रोध-भाजन होने के कारण ही उन पर प्रतिनायक का आरोप है। इतना प्रबल विरोध होने पर भी इन्द्र को मरुतों का ज्येष्ठ कहा गया है[३] और दोनों एक दूसरे के उपकार से लदे हैं[४]। जिससे उनके विरोध का प्रभाव नष्ट हो जाता है। इस विरोध को विषहीन करने के निमित्त ही मरुतों को कहीं इन्द्र का पुत्र[५] तो कहीं उनका भाई[६] कहा गया है। प्रतिनायक द्वारा अन्त में आत्मसमर्पण की यह भावना निश्चय ही संस्कृत रूपकों में चिरस्थायी विरोध की भावना को नष्ट करती है और इसी कारण पाश्चात्य त्रासदी जैसी नाट्यविधा के अंकुरित, पुष्पित और पल्लवित होने के सारे अवसर भी नष्ट हो जाते हैं।

सूर्य एवं उषा

सोम का मद हो अथवा सत्ता का मद, शक्ति—सम्पन्नता हो अथवा असहन-शीलता, कारण जो भी हो पर इन्द्र का विरोध अन्य देवों के साथ भी उभरा है। सूर्य भी इन्द्र विरोधी देव के रूप में आये हैं। 'उषा' जो सूर्य की प्रेयसी है उससे भी इन्द्र

१. ऋ० १।१६५।६,८,१०
२. ऋ० १।१७०।८,३
३. इन्द्रज्येष्ठाः मरुद्गणाः ऋ० १।२३।८
४. ऋ० १।१६९।१-२
५. ऋ० १।१००।७
६. ऋ० १।१७०।२

का विरोध है। यह विरोध चाहे सूर्य विरोध के कारण हो अथवा अन्य किसी कारण से किन्तु उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर हम इन दोनों देवताओं की इन्द्र से प्रतिद्वन्द्विता के सूत्र पा जाते हैं।

इस रूप में यहाँ केवल यह कहना ही पर्याप्त होगा कि नायक होने पर भी इन्द्र में प्रतिनायकीय गुण हैं तथा वरुण, मरुत्, सूर्य, उषा प्रभृति इन्द्र-विरोधी देव प्रतिनायक होने पर भी नायक के गुणों से सम्पन्न हैं। वरुण जैसा धीरोदात्त नायक भी इसी कारण इन्द्र के नायकत्व का उल्लंघन नहीं कर पाता। मरुत् तो आत्मसमपर्ण करके, कहीं प्रतिनायक तो कहीं उपनायकवत् प्रतीत होता ही है, ऐसे भी स्थल हैं जहाँ इन्द्र का स्वरूप भी नितान्त प्रतिनायकों जैसा है। ऋषियों द्वारा निर्मित यह चारित्रिक वैचित्र्य ही वह उत्स है जहाँ से संस्कृत नाटककारों एवं महाकवियों को राम और बालि, कृष्ण और दुर्योधन, चाणक्य और राक्षस जैसे चरित्रों के निर्माण की प्रेरणा मिली है।

प्रतिद्वन्द्वी आर्य

कुत्स के लिए सूर्यचक्र को खण्डित करने वाले, शुष्ण एवं कुवय को मारने वाले तथा अतिथिग्वदिवोदास[१] के समक्ष शम्बर को नतमस्तक करने वाले इन्द्र को कभी-कभी कुत्स, आयु एवं अतिथिग्वदिवोदास के विरोध का भी साक्षात्कार करना पड़ता है[२]। प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि इन्द्र को स्वयं किन्हीं कारणों से आर्यों की भी शक्ति का प्रतिरोध करना पड़ता है। इसी प्रकार तुर्वश व यदु को इन्द्र द्वारा कभी अभिषिक्त किये जाने का उल्लेख मिलता है[३], किन्तु दाशराजज्ञ युद्ध में सुदास के निमित्त युद्ध के लिए सन्नद्ध इन्द्र का वे प्रतिरोध नहीं कर पाते और भाग खड़े होते हैं[४]। जिससे हम यह निष्कर्ष सरलता से निकाल सकते हैं कि सुदास विरोधी होने के कारण पहले यदु एवं तुर्वश या तुर्वणजन इन्द्र के विरोधी थे किन्तु दशराजज्ञयुद्ध में इन्द्र की शक्ति के

---

१. अतिथिग्व, दिवोदास एक ही हैं देखें : वै० दे० पृ० १५६ एवं वैदिककोश पृ० १०।

२. (क) त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणाम्।
त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे यूने अरन्धनायः॥
ऋ० १.५३.१०

(ख) अन्यत्र एक साथ उल्लेख के लिए देखें : ऋ० २.१४.७, ६.१८.१३, ८.५३.२।

३. ऋ० ४.३०.१६

४. वैदिक कोश–यदु, पृ० ४२६ एवं तुर्वश, पृ० १७५–७६

समक्ष उन्हें नतमस्तक होना पड़ा। इसी कारण बाद में वे इन्द्र से मैत्री करके उपकृत होते रहे[1]। ऋग्वेद में उपलब्ध कुछ अन्य प्रमाणों से सुदास के पिता या पितामह अतिथिग्वदिवोदास के ऊपर तुर्वश एवं यदु के आक्रमण का भी पता चलता है। उस समय तुर्वश एवं यदु के साथ शम्बर भी था जिन्हें इन्द्र ने पराजित किया :—

पुरः सद्य इत्थाधिये दिवोदासाय शम्बरम् ।
अध त्यं तुर्वशं यदुम् ।। ऋ० ९.६१.२

एक अन्य परवर्ती उल्लेख में जो इन्द्र के स्वगत भाषण के रूप में है, इन्द्र स्वयं भी यदु तथा तुर्वश को जीतने और वश में करने की बात कहते हैं :—

अहं सप्तहा नहुषो नहुष्टरः प्राश्रावयं शवसा तुर्वशं यदुम् ।
अहं न्यन्यं सहसा सहस्करं नव व्राधतो नवतिं च वक्षयम् ।। ऋ० १०.४९.८

इसी प्रकार दाशराजयज्ञयुद्ध में, जिसे राजा सुदास ने तृत्सुओं सम्भवतः भरतों के साथ लड़ा था, इन्द्र एक प्रमुख सहायक के रूप में आते हैं। इस युद्ध में पैजवन सुदास नायक हैं और इन्द्र उपनायक हैं फिर भी अपनी शक्ति की प्रखरता एवं सुदास की भीरुता के कारण इन्द्र, सुदास के नायकत्व को तिरस्कृत करते प्रतीत होते हैं। जो भी हो इसमें सन्देह नहीं कि इस युद्ध में भी इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में अनेक शासकों, गणों अथवा जनों का चरित्र उभरता है। वे सुदास के प्रतिद्वन्द्वी तो हैं ही, इन्द्र के भी विरोधी हैं। इनके नाम—शिम्यु, तुर्वश, द्रुह्यु, कवष, पुरु, अनु, भेद, शम्बर, दोनों वैकर्ण एवं यदु[2] हैं। इनमें से अनेक नामों का उल्लेख सुदास के पिता या पितामह अतिथिग्वदिवदास के विरोधियों के रूप में भी हुआ है[3]। इन विरोधियों के अन्य सहायकों में मत्स्य, पक्थ, भलानस, विषाणिन्, शिव, अज, शिग्रु, यक्षु लोगों का भी उल्लेख है[4]। ये सभी जन आर्य थे अथवा इनमें से कुछ अनार्य भी थे इस विषय में विवाद हो सकता है, किन्तु इनमें प्रायः सभी संज्ञाएं जातिवाचक प्रतीत होती हैं। यादवों या यदुवंशियों, पौरवों और मत्स्यों की उत्तरवैदिक एवं पौराणिक व्याख्याएं इसका समर्थन करती हैं। सम्भव है सुदास की बढ़ती हुई शक्ति ने आर्यों को विषाणिन्, अलिन, भलानस जैसे अनार्यों के साथ भी संगठित होने का अवसर दिया हो[5]। जो भी हो यह तो स्पष्ट ही है कि पूर्वोक्त वृत्र, प्रभृति प्रतिद्वन्द्वियों की भांति इन पर

---

१. ऋ० १.५४.६, ५.३१.८, ६.२०.१२, ८.४५.२७
२. वैदिक कोश, पृ० १७७ एवं ऋ०७.१८.५, ६, १२, १३, १४, १८, १९
३. वैदिक देवशास्त्र, पृ० १५७ एवं ऋ० ७.१९.८, ९.६१.२
४. ऋ० ७.१८.६ (यक्षु एवं मत्स्य), ७.१८.७ (विषाणिन्, पक्थ, भलानस, शिव, अलिन) ७.१८.१९ (अज, शिग्रु एव यक्षु) के उल्लेख देखें
५. वैदिक कोश, पृ० ५१८ पर शिम्यु (त्सिमर का मत)

प्राकृतिक शक्तियों के मानवीयकरण का आरोप नहीं लगाया जा सकता। ये निश्चय ही इन्द्र एवं प्रकारान्तर से सुदास और अतिथिग्व–दिवोदास के मानव प्रतिद्वन्द्वी हैं। सुदास की अपेक्षा इनका अधिक संगठित एवं शक्तिशाली होना इन्द्र के साथ ही सुदास के नायकत्व को भी गरिमा प्रदान करता है, क्योंकि इन्द्र इन्हें परास्त करके सुदास को विजयी बनाते हैं।

इस प्रकार ऋग्वेद में इन्द्र एवं उसके प्रतिद्वन्द्वी चरित्र नाट्यशास्त्रीय कसौटी पर पूरी तरह खरे भले ही न उतरते हों किन्तु इसमें दो राय नहीं कि उनके चरित्रों में नाटकीयता है और चरित्र-चित्रण का पर्याप्त सीमा तक निर्वाह है। कम से कम इन्द्र तो नायकीय सीमा में सरलता से बाँधा जा सकता है। प्रतिनायकों में भी वृत्र एवं पणि तथा कुछ अन्य बौने प्रतिनायक जहाँ इन्द्र के नायकत्व को उभारने में सफल हुए हैं वहीं उनका स्वयं का चरित्र भी प्रतिनायकीय संदर्भ में दृष्टि सापेक्ष है।

अन्य नायक एवं उनके प्रतिद्वन्द्वी

इन्द्र के अतिरिक्त भी अनेक नायक ऋग्वेद में इस दृष्टि से महान् हैं। उनमें हम मरुत् की चर्चा कर चुके हैं जो अपने उद्धत स्वभाव के कारण ही यत्र-तत्र इन्द्र के विरोधी होकर भी उभरे हैं। उनके अतिरिक्त कुछ अन्य नायक भी हैं जो वीरता एवं औद्धत्य के कारण तो नहीं किन्तु अपने प्रतिद्वन्द्वियों के कारण हमारा ध्यान अवश्य आकृष्ट करते हैं। इनमें अग्नि, बृहस्पति, अङ्गिरस, सोम, कुत्स, दभीति, अतिथिग्वदवोदास, सुदास, वैदथिनऋजिष्वा, वसिष्ठ, विश्वामित्र जैसे नायकों तथा बल, शुष्ण, शम्बर तथा तुर्वश और यदु, प्रभृति (जिन्होंने दशराजज्ञ युद्ध में भाग लिया था) प्रतिनायकों का उल्लेख किया जा सकता है। प्रकृत स्थल पर इनमें से कुछ बहुचर्चित नायकों और उनके विरोधियों पर ही संक्षेप में विचार अभीष्ट है।

अग्नि, बृहस्पति तथा अङ्गिरस

ऋग्वेद के अनेक देवों के चरित्र एवं स्वरूप में कहीं-कहीं इतनी अधिक समानता है कि प्रबन्ध की दृष्टि से उन्हें पृथक्-पृथक् देखना उचित प्रतीत नहीं होता है। अग्नि, बृहस्पति एवं अङ्गिरस ऐसे ही नायक हैं जिनमें 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति' की भावना के दर्शन किए जा सकते हैं। वस्तुतः अग्नि, बृहस्पति एवं अङ्गिरस के चरित्र एवं स्वरूप में निहित समानता अपाद एवं अशीर्ष[१] अग्नि के स्वरूप से उठकर बृहस्पति के किंचित मूर्ति एवं विकसित स्वरूप के बाद अङ्गिरस के रूप में पूर्णतः मूर्त होकर मानवीय धरातल पर उतरने लगती है। इसी कारण अङ्गिरस में ऋषियों ने अग्नि एवं बृहस्पति के एक साथ दर्शन किए हैं। जिस प्रकार इन्द्र से अग्नि एवं बृहस्पति का सम्बन्ध है उसी प्रकार अङ्गिरस का भी सम्बन्ध इन्द्र से अत्यन्त घनिष्ट है

१. ऋ० १.३१.१ एवं ६.७३.१

एकाधिकबार अग्नि एवं बृहस्पति को अङ्गिरस कहकर पुकारा गया है। इतना होने पर भी उनमें, अग्नि एवं बृहस्पति का मानवीयरूप (मानवीयकरण) देखना उचित नहीं है। यज्ञीय अनुष्ठानों में उनकी आत्यन्तिक वृत्ति ही इस भावना के मूल में है। मैकडानल महोदय उन्हें अग्निज्वालाओं का मानवीय रूप मानते हैं[१]। जो भी हो प्रकृत स्थल पर अग्नि एवं बृहस्पति की एकरूपता एवं अङ्गिरस के स्वरूप में उसके संक्रमण को स्वीकार करते हुए ही यहां बृहस्पति एवं अङ्गिरस के नायकत्व पर विचार किया जा रहा है।

अङ्गिरस को ऋग्वेद में किसी देवता के समान सभी गुणों एवं कर्मों से संयुक्त बताया गया है। उन्हें सोम[२] दिया जाता है। इन्होंने ऋत अथात् अमृतत्व को पाया है[३], और अन्य देवों की भाँति अनेक देवों से वे सम्बन्धित भी हैं[४]। इसके साथ ही उनका सम्बन्ध कुछ अन्य पार्थिव नायकों, उदाहरणतः भृगुओं एवं अथर्वों के साथ भी है[५]। अङ्गिरसों का चरित्र, विशेषतः उनके प्रतिद्वन्द्वी पणियों एवं बल के दर्प को चूर्ण करने के सन्दर्भ में उभरा है। बल से उनकी प्रतिद्वन्द्विता में एक सहायक के रूप में, इन्द्र एवं बृहस्पति का उल्लेख हुआ है। पणियों से युद्ध में हम इन्द्र, अग्नि, सोम, बृहस्पति, मरुत् प्रभृति देवों के साथ अङ्गिरसों को भी देखते हैं। जहाँ सोम, इन्द्र एवं मरुतों की उपस्थिति उतनी कुतूहलजनक नहीं जितनी कि अग्नि एवं बृहस्पति के अतिरिक्त अङ्गिरसों की उपस्थिति कुतूहलजनक है। इस युद्ध में अग्नि का स्वल्प उल्लेख, बृहस्पति का कुछ अधिक और इन सबसे अधिक अङ्गिरसों का उल्लेख, एक क्रमिक विकास की ओर संकेत करता है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह युद्ध मुख्य रूप से इन्द्र ने लड़ा था किन्तु अङ्गिरसों ने भी उसके कन्धे से कन्धा लगाया था, कहीं-कहीं तो पणियों से इनकी सीधी प्रतिद्वन्द्विता का उल्लेख हुआ है[६]। ऐसा ही उल्लेख बल के साथ भी हुआ है[७]। ऋग्वेद के जितने स्थलों पर पणियों एवं बल के साथ उनके संघर्ष की बात कही गयी है, उसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि अङ्गिरसों की प्रशंसा में, कवियों ने पणि एवं बल के साथ इन्द्र, अग्नि एवं बृहस्पति द्वारा किये गये संघर्षों को भी उनसे जोड़ दिया है। फिर भी इस संघर्ष को अङ्गिरसों

१. वै० दे०, पृ० ३७२
२. ऋ० ९.६२.९
३. ऋ०१०.६७.२
४. ऋ० १०.१४.३, ४,५; ७.४४.४
५. ऋ० १०.१४.६
६. द्रष्टव्यः ऋ० १०।१०८।८,१०,१।८३।४
७. ऋ० १०।६२।२

के सन्दर्भ में जितना सुन्दर एवं मूर्तरूप मिला है उतना अग्नि एवं बृहस्पति के सन्दर्भ में नहीं, कम-से-कम अग्नि के सन्दर्भ में यह नहीं के बराबर है।

इसी प्रकार बृहस्पति अपने प्रतिद्वन्द्वी बल को बड़ी निर्ममतापूर्वक मारते हैं, उसके निवास स्थान को छिन्न-भिन्न कर डालते हैं, पर्वतों को तोड़ डालते हैं[1]। वे एक अतुलनीय देव हैं जिन्हें कोई भी पराजित नहीं कर सकता। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है अङ्गिरस एवं बृहस्पति कभी-कभी पृथक्-पृथक् रूप में भी पणियों एवं बल से युद्ध करते हुए देखे जाते हैं। किन्तु दोनों को ही उनका हन्ता माना गया हैं। किन्हीं-किन्हीं आचार्यों ने पणियों को बल का अनुचर तो किसी-किसी ने सहायक माना है और इस परिप्रेक्ष्य में अङ्गिरस एवं बृहस्पति की एकरूपता को तो बल मिलता ही है, बल एवं पणियों की शक्ति सम्पन्नता का भी आभास मिलता है।

इस रूप में अङ्गिरस हों अथवा बृहस्पति उनके चरित्र में जहाँ भी औद्धत्य प्रकट होता है वहां उनके प्रतिद्वन्द्वी उनके समक्ष हैं। ऋषियों की भाँति अङ्गिरस प्रायः धार्मिक वृत्ति वाले उदात्त नायक के रूप में भी दिखायी पड़ते हैं। किन्तु सरमा एवं पणियों के मध्य बातचीत में एक बार सरमा पणियों को भयभीत करने के निमित्त अङ्गिरसों का नामोल्लेख करती है। वह कहती है कि वह व्यर्थ नहीं आयी है, क्योंकि उसके आने की सार्थकता तब सिद्ध हो जायगी जब सोम से उन्मत्त अङ्गिरस वहाँ पहुँच जाएंगे :—

एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः ।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद्वचः पणयो वमन्नित् ॥

ऋ० १०।१०८।८

इससे स्पष्ट होता है कि पणिगण अङ्गिरस के नाम के भय का अनुभव किया करते थे। इतना समझाने पर भी जब पणिगण उसे फुसलाना चाहते हैं तो वह स्पष्ट रूप से इन्द्र के साथ भयंकर स्वभाव वाले अङ्गिरसों की दुहाई की देती है :—

नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः ।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीवः ॥

ऋ० १०।१०८।१०

अङ्गिरसों के साथ ही वह बृहस्पति की भी दुहाई देती है[2]। इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर इन विप्रों (अङ्गिरसों) के साथ रहकर इन्द्र पणियों का नाश करते देखे जाते हैं[3]।

---

१. द्रष्टव्यः ऋ० १० वां सूक्त, १०।१०३।४
२. ऋ० १०।१०८।११, एवं १०।१०८।६
३. ऋ० ६।३३।२

बल के साथ भी अङ्गिरसों तथा बृहस्पति का संघर्ष कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कम-से-कम बल से युद्ध के समय वे अत्यन्त जागरूक प्रतीत होते हैं। उनका घोरोद्धत रूप भले ही बृहस्पति से अधिक न उभर पाया हो, किन्तु बल का भेदन करते समय अङ्गिरस एक संघर्षशील योद्धा के रूप में उभरते हैं। अङ्गिरसों का यह संघर्ष इतना लोकप्रिय था कि उनके सहायक इन्द्र को अङ्गिरस्तम[1] तथा बृहस्पति को अङ्गिरस[2] कहा जाने लगा था। अनेक बार अग्नि को भी अङ्गिरस तथा अङ्गिरस्तम (अङ्गिरसों के प्रमुख) के रूप में स्मरण किया गया है[3]। वस्तुतः अन्य देवों को अङ्गिरसों से सम्बद्ध करके स्मरण करने का कारण बल-युद्ध में उनको यश प्राप्ति ही है। बल के साथ होने वाले संघर्ष में इन्द्र के नेतृत्व को भी कभी-कभी चुनौती मिली ऐसा प्रतीत होता है। बल का कार्य गौओं और अश्वों को घेर रखना है, जिससे मुक्ति दिलाने के कर्म में इन्द्र यदाकदा मात्र सहायक रूप में दिखायी देते हैं और प्रमुख भूमिका अङ्गिरस ही निभाते हैं[4]। फिर भी इस संघर्ष में इन्द्र अङ्गिरसों की ही नहीं बृहस्पति की भी सहायता करते हैं। सत्य यह है कि बल जैसे मायावी प्रतिद्वन्द्वियों का सामना करना इन्द्र के ही सामर्थ्य की बात है। अतएव अन्ततोगत्वा अङ्गिरसों एवं प्रतापी बृहस्पति को भी इन्द्र की सहायता लेनी पड़ती है। सम्भवतः बल से लोहा लेने के समय ही इन्द्र तथा बृहस्पति को एकत्र सोमपान का अवसर सुलभ होता है, यहीं एक अकेला सूक्त है जहां इन्द्र एवं बृहस्पति को युगम के रूप में स्मरण किया गया है।[5] सम्भवतः इस संघर्ष के कारण ही वे इन्द्र के साथ इतने घनिष्ठ हो गए हैं कि उन्हें वज्रिन् एवं असुर-हन्ता के रूप में भी स्मरण किया जाने लगा[6]। सम्भवतः इस मैत्री के कारण ही उन पर शम्बर के दुर्गों को ध्वस्त करने का भी आरोप कर लिया गया है।

प्रतिद्वन्द्वी बल

बल के भेद के निमित्त इन्द्र से की गयी प्रार्थनाएँ इस दिशा में संकेत करती है कि बल प्रायः ऋषियों की गौवें, अश्व तथा अन्य धनधान्य चुराकर उन्हें पीड़ित किया

---

१. ऋ० १.१३०.३, १.१००.४
२. ऋ० २.२३.१८
३. त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः ऋ० १.३१.१ एवं १.७५.२
४. द्रष्टव्यः वै० दे० पृ० ३७० एवं ४.३.११, १०.६२.२,७, २.१५,८
५. ऋ० ४.४६ वां सूक्त
६. ऋ० १.४०.८

करता था[१]। यह कर्म प्रतिद्वन्द्वी पणि एवं वृत्र भी करते हुए देखे जा चुके हैं। बल के ऐसे ही कर्म की ओर संकेत करते हुए अङ्गिरस ऋषि कहते हैं :—

इन्द्रो बलं रक्षितारं दुधानां करेणेव वि चकर्त्ता रवेण ।
स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानो रोदयत्पणिमा गा अमुष्णात् ॥

ऋ० १०.६७.६

अर्थात् बल, चुराकर लाये गये इस गोधन की सुरक्षा के प्रति सदा सजग रहता था। इन्द्र अथवा इन्द्र के समान महान् देव बृहस्पति ने घनघोर शब्द करते हुए इसे मारा था। एक अन्य स्थल पर उसकी इस प्रवृत्ति का स्पष्ट उल्लेख उपमामुखेन उपलब्ध होता है :—

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः ।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ॥

ऋ० १०.६८.१०

अर्थात् जिस प्रकार हिम द्वारा (सघन हिमपात होने पर) वन उपवन की लताएँ, औषधियां अथवा वृक्षों के पत्र पुष्प छुपा दिये जाते हैं (ढंग जाते हैं) उसी प्रकार किसी समय बल ने (ऋषियों के) गो आदि धन को चुराकर कहीं छुपा दिया था, बृहस्पति ने उसे वापस करने के लिए बल को विवश कर दिया। बल का यह कर्म लोकविश्रुत है। वह प्रायः ऐसी सम्पत्ति को गुहाओं अथवा अन्य गुप्त स्थलों में छुपा कर रखता था[२]। यह स्थल इतने गुप्त थे कि बृहस्पति को भी क्षण भर सोचना पड़ता था कि उसने धन को कहाँ छुपा रखा है[३]।

बल एक महान् पराक्रमी प्रतिद्वन्द्वी है इसी कारण बृहस्पति एवं अङ्गिरसों की वीरता का पक्ष सर्वाधिक बल की प्रतिद्वन्द्विता में ही उभरा है। बल का उल्लेख एक सशक्त शासक के रूप में भी हुआ है। ऋग्वेद में उसके नगर एवं दुर्गों का भी उल्लेख मिलता है। वहीं उसकी हिंसात्मक-प्रतिहिंसात्मक प्रवृत्ति का विशेषण रूप में प्रयोग हुआ है तथा बृहस्पति द्वारा अङ्गिरसों की सहायता से उसके आयुधों को नष्ट करने का उल्लेख है[४]।

आयुधारी बल के शक्तिशाली दुर्गों को तोड़ना एवं नगरों को नष्ट कर पाना न तो एकाकी बृहस्पति के लिये सम्भव है न अङ्गिरसों के लिए। अतएव उसके निमित्त वे इन्द्र की सहायता लेते हैं :—

१. ऋ. १.६२.४
२. ऋ० ८.१४.८, २.१५.८, २.२४.२
३. ऋ० १०.६८.५
४. ऋ० ६.१८. ५, १०.६८.६

तन्नः प्रत्नं सख्यमस्तु युष्मे इत्था वदद्भिर्वलमङ्गिरोभिः ।
हन्नच्युतच्युद्दस्मेषयन्तमृणोः पुरो वि दुरो अस्य विश्वाः ॥

ऋ० ६.१८.५

अर्थात् अपनी पुरातन मैत्री की दुहाई देने वाले अङ्गिरसों के साथ दृढ़तम प्रतिद्विन्द्वियों, उनके पुरों एवं दुर्गों को भी नष्ट करने वाले हे इन्द्र ! (इषयन्तं आयुधानि प्रेरयन्तं—सायण) युद्ध के निमित्त अपने शस्त्रास्त्रों पर शान करते हुए, बल को तुमने नष्ट किया है । तुम्हीं ने उसके नगरों को ध्वस्त किया एवं उन दुर्गों के द्वारों को नष्ट किया है[1] ।

वस्तुतः बल के गुप्त दुर्गों, पुरों एवं गुहाओं का ज्ञान अङ्गिरसों को भी है किन्तु इन्द्र उनके साथ ही इनका आविष्कर्त्ता है[2] और तत्पश्चात् बल को वे पतनोन्मुख करते हैं । स्वाभाविक है जब नायक को अपने प्रतिद्वन्द्वी का गोपनीय रहस्य ज्ञात हो जाए तो वह शीघ्र ही पराजित किया जा सकता है । बल इस लूट के माल को जहाँ रखता था वे स्थल गुप्त हैं, दृढ़ हैं, दुर्जेय हैं । इतना ही नहीं ऐसा भी प्रतीत होता है कि ये दुर्ग प्राकृतिक नहीं अपितु मानव निर्मित हैं :—

भिनद्वलमङ्गिगरोभिर्गृणानो वि पर्वतस्य दृंहितान्यैरत् ।
रिणग्रोधांसि कृत्रिमाण्येषां सोमस्य ता मद इन्द्रश्चकार ॥

ऋ० २.१५.८

अर्थात् इन्द्र ने इन कृत्रिम (निर्मित) दुर्गों को नष्ट किया था । इन शक्तिशाली दुर्गों एवं पुरों का स्वामी स्वयं भी कम शक्तिशाली नहीं है । उसकी शक्ति की प्रचण्डता का प्रताप था जो सूर्य के चक्र को रोके रखता था, अथवा यह भी कहा जा सकता है कि सूर्य उसके भय से अपने चक्र नहीं घुमा पाता था[3] । बल का यह कर्म जहाँ उसके प्रताप का परिचायक है वहीं सदा दिन ही दिन अथवा रात्रि ही रात्रि की माया फैलाने वाली, ऋषियों एवं अन्य सामान्य जन की दिन-चर्या में बाधा पहुँचाने वाली, उसकी आसुरी प्रवृत्ति का भी परिचायक है । इस प्रकार बल को हम इन्द्र, अङ्गिरस, बृहस्पति प्रभृति अपने प्रतिद्वन्द्वियों से शक्ति परीक्षण के निमित्त सदा तत्पर तथा बृहस्पति प्रभृति को उसके आयुओं को खण्डित करते हुए पाते हैं । इस आधार पर बल चाहे एक काल्पनिक चरित्र हो अथवा ऐतिहासिक इसमें सन्देह नहीं कि वह एक सशक्त एवं सजीव प्रतिनायक चरित्र है ।

---

१. अन्यत्र देखें :—रुजदरुग्णं वि वलस्य सानुं पणीर्वचोभिरभि योधदिन्द्रः ॥
ऋ० ६.३९.२

२. उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन्गुहा सतीः । अर्वाञ्चनुनुदे वलम् ॥
ऋ० ८.१५.८

३. अवर्तयत् सूर्यो न चक्रं भिनद्वलमिन्द्रो अङ्गिरस्वान् । ऋ० २.११.२०

नायक कुत्स एवं उसके प्रतिद्वन्द्वी

कुत्स भी ऋग्वेद के यशस्वी नायकों में हैं। सायण आदि ने एक गोत्र-प्रवर्तक[१] पूर्वज के रूप में उनका स्मरण किया है। ब्राह्मणों में भी इसके उल्लेख मिल जाते हैं[२]। ब्राह्मणग्रन्थ उसे इन्द्रपुत्र के रूप में भी स्मरण करते हैं। जैमनीय-ब्राह्मण में उन्हें इन्द्र की जंघा से उत्पन्न एवं इन्द्र का शतप्रतिशत रूप भी बताया गया है[३]। वे ओजस्वी एवं तेजस्वी नवयुवक योद्धा हैं[४]। उनके वीरोचित कर्म ही सम्भवतः इन्द्र के आकर्षण के केन्द्र हैं जिनके कारण कुत्स को इन्द्र के साथ ही रथ पर बैठने का सुअवसर मिल पाता है और वे इतने विश्वासपात्र हो जाते हैं कि यदाकदा इन्द्र के सारथि का भी कर्म करते हुए देखे जाते हैं[५]। एक स्थल पर देवताद्वन्द्व के रूप में भी इनका आह्वान हुआ है[६]। इन्द्र अपने इस परम मित्र से इतने प्रसन्न होते हैं कि अपना रथ भी उसे दे देते हैं। इन्द्र स्वयं को अर्जुनेयकुत्स कहते हैं[७], जिससे उनके रूप-साम्य के साथ-साथ नायक कुत्स की ख्याति एवं उसके प्रति सभी की श्रद्धा का अनुमान किया जा सकता है। वैसे अनेक स्थलों पर कुत्स को आर्जुनेय विशेषण के साथ स्मरण किया गया है जो उनके पिता का वास्तविक नाम प्रतीत होता है। वाजसनेयी-संहिता भी इसे इन्द्र का गुह्य नाम बताती है[८]।

कुत्स के सन्दर्भ में ऋग्वेद में किसी प्रकार के अनैतिक गुणों की चर्चा नहीं आयी है तथापि उनका चरित्र ऋग्वेद अथवा उत्तरवैदिक साहित्य में किसी पूर्ण नायक के रूप में नहीं उभर पाया है। अतएव वे प्रायः एक अपूर्ण नायक अथवा उपनायक से लगते हैं। एक कूप में गिरने पर उससे निकलने के लिए इन्द्र का आह्वान उनके नायक, तेजस्वी, दिव्य और वीर पुरुष होने के सम्बन्ध में प्रश्नचिह्न लगा देता है[९]। वैसे शुष्ण के विरोध के कारण उनके चरित्र का यह कलंक धुल जाता है। बहुत

---

१. ऋ० १.३३.१४ पर सायण भाष्य एवं वैदिक इण्डेक्स (मैक० एवं कीथ)
२. ताण्ड्य० १४.६.८ एवं ऋ० १०.१०५.११
३. जै० ब्रा० ३.१९९ एवं ऋ० ४ १६.१० पर सायण भाष्य
४. ऋ० १.६३.३
५. ऋ० ४.१६. ११,८.१.११, १०.४०.६ पर सायण भाष्य तथा ऋ० ५,२९.९ ६.२०.५
६. ऋ० ५.३१.८,९
७. ऋ० ४.२६.१
८. ऋ० १.११२.२३ पर सायणभाष्य (एतद्वा इन्द्रस्य गुह्यं नाम यदुर्जुनः वाज०)
९. ऋ० १.१०६.६

सम्भव है यह कूप पतन उनके चारित्रिक पतन, नास्तिक हो जाने अथवा इन्द्र के प्रति कभी उनके श्रद्धाहीन हो जाने का लाक्षणिक रूप हो और इन्द्र का आह्वान सन्मार्ग की प्राप्ति का एक रूप हो। वैसे कुत्स इन्द्र के परम मित्र हैं, चाहे शुष्ण से युद्ध हो अथवा कूप-पतन, कुवय से संघर्ष हो अथवा तुग्र एवं स्मदिभ से विरोध, इन्द्र सदा उसकी सहायता के लिए तत्पर रहते हैं[1]। इन्द्र से कहा गया है कि वे शुष्ण-वध के निमित्त कुत्स को लेकर आएँ अथवा उन्हें तदर्थ प्रेरित करें :—

वह शुष्णाय वधं कुत्सं वातस्याश्वैः ॥ ऋ० १.१७५.४

जिससे शुष्ण के सन्दर्भ में उनका नायकत्व किञ्चिद् स्पष्ट होता है, सम्भवतः इसी कारण सायरा ने इन्द्र को कुत्स का सहायक ही माना है[2]। स्वयं इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता में उभरने वाला कुत्स का चरित्र भी उनके पराक्रम, साहस एवं वीरता का प्रमाण माना जा सकता है। अतिथिग्व के साथ उसका उल्लेख भी सम्भवतः इसी दिशा में संकेत करता है। वैसे भी उनका एकल एवं इन्द्र के साथ बहु विध आह्वान उनकी महानता का परिचायक है।

प्रतिद्वन्द्वी शुष्ण

कुत्स के नायकत्व का मुख्य बिन्दु 'अशुष' इस विशेषण वाला शुष्ण है। उसकी शक्ति का परिचय तो अकेले कुत्स से उसके पराजित न होने से ही स्पष्ट है। कुत्स की रक्षा के लिए इन्द्र का पुनः पुनः आना, शुष्ण के शौर्य एवं पराक्रम का परिचायक है। नायक कुत्स की अपेक्षा प्रतिनायक शुष्ण के सम्बन्ध में ऋग्वेद पर्याप्त मुखर है। वह मायावी है, उसकी माया को सायण ने नानाविध-कपट का पर्याय माना है। उसे पराजित करने के लिए इन्द्र को भी माया का प्रयोग करना पड़ता है। :—

मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः ॥ ऋ० १.११.७

उससे संघर्ष के पूर्व इन्द्र द्वारा सोमपान शुष्ण की दुर्धर्षशक्ति का परिचायक है[3] और उस संग्राम की भयंकरता की ओर भी संकेत करता है जहाँ कुत्स अकेले लड़ने से घबराते हैं। इस संग्राम में शुष्ण को पराजित कर इन्द्र उसे कारागार में डाल देते हैं। उसकी माया वास्तव, में असाधारण, निर्बाध तथा अतिविकट है जिसे नष्ट कर पाना केवल इन्द्र के सामर्थ्य की बात है[4]। वस्तुतः इन्द्र ही पुनः पुनः जायमान शुष्ण की इस माया के मर्म को तथा उसके गुप्त स्थानों को जानते हैं[5]।

---

१. ऋ० १.६३.३, १.१०६.६, २.१९.६, ४.१६.१२, ६.३१.३, १०.४९.४
२. ऋ० १.६३.६ पर सायण-भाष्य
३. ऋ० १.५६.३
४. ऋ० ५.३१.७, १०.२२.१४
५. ऋ० १०.६१.१३ पर सायण-भाष्य

शुष्ण स्वभाव से द्रोही है। यह द्रोह सम्भवतः ऋषियों, देवों एवं मनुष्यों की धन सम्पत्ति एवं समृद्धि के प्रति ईर्ष्या ही है। किन्तु इन्द्र उससे अधिक ईर्ष्यालु हैं, क्रूर हैं– अपने प्रतिद्वन्द्वियों के प्रति; अतएव वे 'शुष्ण', इस पापमूलक भावना को उसके बध द्वारा नष्ट कर डालते हैं। इस अवसर पर नायक कुत्स इन्द्र के साथ हैं[1]। शुष्ण की माया, उसका फुत्कार, उसका शृङ्गीरूप, उसके पुरों का उल्लेख तथा उसके सन्दर्भ में जलमुक्ति एवं गौमुक्ति के आख्यान[2] वृत्र आदि से उसकी शक्ति की तुलना के लिए पर्याप्त हैं। सम्भवतः इसी कारण उसे दानवों के क्रोध से उत्पन्न कहा गया है[3] जिससे उसके ऐतिहासिक स्वरूप पर सन्देह हो सकता है, किन्तु उसकी क्रूरता, युद्धलिप्सा एवं उसकी परपीडकता[4] स्वतः सिद्ध हो जाती है। वृत्र के समान वह भी एक शासक के रूप में उभरता है, जिसके अपने सुदृढ़ दुर्ग एवं नगर हैं[5]। वह स्वयं भी अप्रतिमेय तथा अनुपमेय शक्ति से सम्पन्न है।

ऋग्वैदिक ऋषिगण, शुष्ण का उल्लेख इलीबिश तथा अर्बुद, कुवय, पिप्रु, वृत्र, अश्न, व्यंस, नमुचि, रुधिक्रा, चुमुरि, धुनि, पणिगण प्रभृति प्रतिनायकों को मारने वाले इन्द्र के सामर्थ्य की चर्चा के साथ करते हैं[6]। प्रकारान्तर से ऋषियों ने कहीं इन्द्र को उपर्युक्त प्रतिनायकों को मारने वाला कह कर उसे शुष्ण के हन्ता के रूप में पुकारा है तो कहीं इन्द्र को, उन्हें मारने में समर्थ कह कर, उनसे शुष्ण को भी मारने की प्रार्थना की है। जिससे स्थूलतः इन्द्र एवं प्रतिद्वन्द्वी शुष्ण की शक्ति की तुलना का पक्ष उभरता है। जो भी हो इसमें सन्देह नहीं कि शुष्ण एक शक्ति-सम्पन्न दानव है जिसका वैर केवल द्युलोकवासियों से ही नहीं, मनुष्यों से भी है[7]।

अशुष-शुष्ण के साथ कुत्स की प्रतिद्वन्द्विता में कुवय नामक एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी का उल्लेख पुनः पुनः हुआ है। सम्भव है कुवय शुष्ण का सहायक (अतः उपप्रतिनायक) रहा हो! हम पाते हैं कि वृत्रघ्न इन्द्र प्रायः शुष्ण के साथ ही कुवय का भी वध करते हैं :—

स रन्धयत्सदिवः सारथये शुष्णमशुषं कुवयं कुत्साय।
दिवोदासाय नवतिं च नवेन्द्रः पुरो व्यैरच्छम्बरस्य॥ ऋ० २.१९.६

१. ऋ० ६.२०.५
२. ऋ० १.५४.५ (श्वसन-फुत्कार), १.३३.१२ (शृङ्गी शुष्ण),
ऋ० १.५१.११ (जल रोकना एवं पुर), ८.९६.१७ (गौओं की मुक्ति)
३. ऋ० ५.३२.४ पर सायण भाष्य
४. ऋ० ८.५१.८
५. ऋ० ८.१.२८, ४.३०.१३,
६. ऋ० १.३३.१२, १.१०३.८, २.१४.५, ६.१८.८
७. शुष्णो दानवः प्रत्यङ्पतित्वा मनुष्याणामक्षीणि प्रविवेश। श० ब्रा० ३.१.३.११

कुवय के सहायक होने से शुष्ण के चरित्र पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह तो इन्द्र से एक वीर-योद्धा की भाँति आमने-सामने होकर लड़ता है। अपने प्रतिद्वन्द्वी की शक्ति छीनने में समर्थ शुष्ण, युद्ध में हुंकार भरता है[1]। आयुधधारी[2] शुष्ण से, (तृजने) वीरों का मरना जहाँ स्वाभाविक है और (पृक्षे) जहाँ वीर लोग स्वयं आकृष्ट होकर पहुँच जाते हैं, ऐसे (आणौ) संग्राम में, (द्युमते) ओजस्वी एवं (यूने) युवा कुत्स के लिए, इन्द्र का युद्ध अत्यन्त लोमहर्षक है[3]। इस युद्ध में इन्द्र की शक्ति की तुलना में दुर्बल पड़कर ही शुष्ण अन्धकार में छुप जाता है[4]। इन्द्र उसको खोज निकालता है, उसके आयुधों को छिन्न-भिन्न कर डालता है, उसके गुप्त स्थलों पर प्रहार करता है[5], उसके धन [वेदन = धन (सायण), प्रज्ञा (वेंकट] तथा नगरों को छीन लेता है[6] और अन्त में अपने वज्र से उसके शिर पर प्रहार कर उसे मार डालता है[7]।

वस्तुतः शुष्ण की तुलना में नायक कुत्स बहुत बौना है। फिर भी शुष्ण की प्रतिद्वन्द्विता ने ही उसके चरित्र को इतना महत्त्व प्रदान किया कि वह इन्द्र के साथ उसके रथ पर बैठने योग्य समझा गया। शुष्ण के साथ भीषण संघर्ष करने से नायक इन्द्र को भी पर्याप्त यश मिला है जिससे स्पष्ट है कि शुष्ण के साथ इन्द्र एवं कुत्स दोनों का युद्ध अन्त तक चलता है।

नायक कुत्स का प्रतिनायकत्व

कुत्स, जिसे अभी हमने नायक के रूप में देखा है, कभी-कभी इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता में भी आता है। यदु, तुर्वश, अतिथिग्व-दिवोदास के अतिरिक्त कुत्स भी उन ऐतिहासिक व्यक्तियों में हैं जिन्हें इन्द्र की सहायता एवं मैत्री भी मिलती है और प्रतिद्वन्द्विता का प्रतिफल भी। वस्तुतः ऐसा चरित्र, नायक-प्रतिनायक के विकास की वह शृंखला है जिसके अनेक प्रमाण उत्तरवैदिक साहित्य में भी मिल जाते हैं जहाँ ऋग्वेद के अनेक प्रसिद्ध नायकों को यदा-कदा प्रतिनायक बनाकर खड़ा किया गया है।

---

१. ऋ० १.५४.५ पर स्कन्दस्वामी का भाष्य
२. ऋ० १.१२१.१०
३. ऋ० १.६३.३ तथा उस पर सायण भाष्य
४. ऋ० ५.३२.४ एवं मैकडानल वै० दे०, पृ० ४१६
५. ऋ० ६.२०.४, ८.४०.१०,११, ६.२०.४
६. ऋ० ४.३०.१३
७. ऋ० १.५४.५ ८.६.१४, ८.६८.१७

जैमनीयब्राह्मण में कुत्स एवं इन्द्र की ऐसी ही प्रतिद्वन्द्विता का एक आख्यान मिलता है इसका मूल ऋग्वेद के उस आख्यान में खोजा सकता है जहाँ एक बार इन्द्र द्वारा कुत्स को अपने घर ले जाने का उल्लेख मिलता है[१]। चूँकि इन्द्र एवं कुत्स में रूपसाम्य के भी प्रमाण ऋग्वेद में उपलब्ध हैं और इन्द्राणी-कुत्स के सम्बन्धों पर भी कहीं-कहीं सन्देह व्यक्त किया गया है अतः जैमनीयब्राह्मण के अनुसार एक बार इन्द्राणी के समक्ष कुत्स अपने को इन्द्र के समकक्ष मान बैठता है जिससे असहिष्णु इन्द्र क्रुद्ध हो उठता है[२]। फलस्वरूप क्रुद्ध इन्द्र, कुत्स को यज्ञफल नहीं प्राप्त होने देता इन्द्र द्वारा कुत्स के पुरोहित सुश्रवा के पुत्र का वध एवं सुश्रवा की स्तुति पर इन्द्र द्वारा उसे जीवित कर देने के आख्यान[३] को भी इसी सन्दर्भ में देखा गया है। ताण्ड्य एवं जैमनीय ब्राह्मण तथा बृहद्देवता के एक अन्य आख्यान के अनुसार एक बार कुत्स एवं लुश ने एक साथ यज्ञ में इन्द्र का आह्वान किया किन्तु इन्द्र (मैत्री के कारण) कुत्स के समीप ही गए। कुत्स ने वहाँ इन्द्र को रस्सियों में बाँध दिया। जिस पर लुश ने इन्द्र को बहुत बार ताने मारे[४]। इस कथा में एक ओर तो कुत्स एवं लुश की परस्पर प्रतिद्वन्द्विता के भी दर्शन होते हैं, दूसरी ओर इन्द्र से भी उसके विरोध के प्रमाण संकेतित होते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों के इन आख्यानों को छोड़ भी दें तो ऋग्वेद में ही अनेक स्थलों पर इन्द्र को अतिथिग्व एवं आयु के साथ कुत्स को दण्डित करने वाला तथा पीड़ित करने वाला,कहा गया है :—

त्वमाविथ सुश्रवसं तवोतिभिस्तव त्रामभिरिन्द्र तूर्वयाणाम्।
त्वमस्मै कुत्समतिथिग्वमायुं महे राज्ञे युने अरन्धनायः॥
ऋ० १.५३.१०

अर्थात् हे इन्द्र तुमने युवक एवं महान् आयु, अतिथिग्व एवं कुत्स राजाओं को वश में किया। इस कथन से स्पष्ट है यह तीनों कहीं उच्छृङ्खल भी थे। इसी प्रकार अन्य स्थलों पर भी तीनों का इसी रूप में उल्लेख है[५], जिसके आधार पर इन्द्र से इनकी प्रतिद्वन्द्विता स्वतः स्पष्ट है। जहाँ तक कुत्स का सम्बन्ध है; इन्द्राणी के समक्ष उसकी अहमन्यता हो अथवा इन्द्र की असहनशीलता उस आख्यान द्वारा इन दोनों के मध्य प्रतिद्वन्द्विता को प्रमाणित किया जा सकता है।

---

१. ऋ० ४.१६.१०
२. जै० ब्रा० ३.१९९ एवं आगे
३. द्रष्टव्य—वै० ध० द०, पृ० १५४-५५ पर टिप्पणी
४. ताण्ड्य० ९.२.२२, जैमि० १.२२८, बृहद्देवता—२.१२९ तथा ३.५५
५. ऋ० २.१४.७, ६.१८.१३, ८.५३.२

अतिथिग्वादिवोदास का नायकत्व

अतिथिग्व, आयु एवं कुत्स को इन्द्र द्वारा हराने या वश में करने का उल्लेख किया जा चुका है। इन्द्र किसी तूर्वयाण नामक राजा के निमित्त ऐसा करते हैं। इस रूप में एक ओर ये शासक या राजर्षि, इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वी हैं तो दूसरी ओर तूर्वयाण के विरोधी। तुर्वश एवं यदु भी अतिथिग्व के प्रतिद्वन्दी हैं। इन्द्र से भी यदु-तुर्वंश की प्रतिद्वन्द्विता के प्रमाण हैं जो कालान्तर में इन्द्र के कृपापात्र भी बन जाते हैं। इन आख्यानों को विप्रतिपत्तियों के परिप्रेक्ष्य में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कुत्स और आयु तथा अतिथिग्व समकालीन थे। अतिथिग्व का वंश तृत्सु जो भरतों से सम्बद्ध था अत्यन्त प्राचीन था। आरम्भ में ये लोग इन्द्र को महत्त्व नहीं देते थे क्यों कि उनकी शक्ति पर्याप्त बढ़ी चढ़ी थी। किन्तु शम्बर एवं शुष्ण रूपी आपत्ति के आने पर इन्होंने इन्द्र की स्तुति की और फिर इन्द्र के कृपापात्र बन गये। आरम्भ में अतिथिग्व से यदुओं, तुर्वशों का युद्ध होता है, किन्तु इन्द्र द्वारा वे पराजित होते हैं। उनका वंशानुगत विरोध, सुदास के साथ दाशराज्ञ युद्ध में भी उभरता है और पुनः इन्द्र उन्हें पराजित करते हैं। यह पराजय इतनी भयंकर होती है कि यदु और तुर्वश अपने अन्य साथियों को युद्ध भूमि में मृत छोड़कर भागते हैं। किन्तु अपने समक्ष भयंकर नदी को देखकर सारा साहस खो बैठते हैं। न जाने क्यों इन्द्र दयाभिभूत हो वहाँ उन्हें पार तक पहुँचाते हैं। यह सहायता[1] ही सम्भवतः उन्हें इन्द्र के प्रति श्रद्धा से नत कर देती है।

अतिथिग्व दिवोदास का चरित्र कुत्स की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। वह एक पूर्ण नायक है, जिसे शम्बर, करञ्ज, पर्णय यदु, तुर्वश एवं तूर्वयाण जैसे प्रतिद्वन्द्वियों तथा इन्द्र जैसे महान् शक्तिशाली नायक से युद्ध का अवसर मिलता है।

कुछ विद्वानों ने अतिथिग्व को दिवोदास से पृथक् माना है[3], किन्तु यह एक भ्रमपूर्ण मान्यता है। वस्तुतः शम्बर के हन्ता के रूप में इन दोनों नामों की एकता खिल उठती है[4]। जो भी हो ऋग्वेदीय प्रमाणों के आधार पर वे एक ऐतिहासिक नायक हैं।

---

१. ऋ० ५.३१.८, १.१७४.९, ४.३०.१७ एवं ८.४.७

२. ऋ० १.५३.८

३. द्रष्टव्य—वै० को० पृ० १० पर 'अतिथिग्व' के सन्दर्भ में उद्धृत राथ आदि विद्वानों के मत।

४. वै० को० वही पृ० १०

जैसा कि कहा जा चुका है, अतिथिग्व दिवोदास एक कुलीन नायक हैं। वे भरतों के तृत्सु वंश में उत्पन्न हुए इसका प्रमाण यह है कि उनके पुत्र या पौत्र सुदास को इसी वंश से सम्बद्ध माना गया है। एक स्थल पर कुत्स तथा आयु के साथ उन्हें भी महान्, युवक एवं शासक के विशेषणों से अभिहित किया गया है[1]। वे निश्चित रूप से महान् हैं किन्तु ऋषियों की भाँति भीरु भी हैं और शम्बर के भय से जल समाधि को उत्सुक प्रतीत होते हैं। ऐसे समय इन्द्र उनकी सहायता करते हैं[2]।

दानशील[3] एवं यज्ञनिष्ठ[4] अतिथिग्व-दिवोदास के ऋषिकल्प रूप की चकाचौंध में उनका सैनिक या वीर रूप कुछ धुँधला अवश्य पड़ गया है। किन्तु इन्द्र द्वारा उनके लिये, किये गये संघर्ष के परिप्रेक्ष्य में उन्हें निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता। अतिथिग्व दिवोदास के लिए इन्द्र द्वारा दी गई सम्पति का स्थान-स्थान पर उल्लेख है[5]। इन्द्र कम से कम १९९ पुरों को जीतते हैं जिसमें ९९ पुरों को वे नष्ट कर डालते हैं तथा १०० पुरों को प्रवेश योग्य बना कर अतिथिग्व दिवोदास को दे देते हैं[6]। जिससे यह निष्कर्ष सरलता से निकाला जा सकता है कि अतिथिग्व दिवोदास प्रभूत-सम्पत्ति के साथ-साथ प्रभूत सेना के भी स्वामी थे। स्वाभाविक है इन्द्र इतनी सम्पत्ति ऐसे व्यक्ति को नहीं देंगे जो उसकी रक्षा भी न कर सके। कालान्तर में सुदास तक फूलते-फलते इस वंश की सत्ता भी इसी दिशा में संकेत करती है। शम्बर के प्रतिनायकत्व के कारण, जो वस्तुतः इतना शक्तिशाली है कि उसे पराजित करने के निमित्त इन्द्र को सोम का मद करना पड़ता है, अतिथिग्वदिवोदास का नायकत्व खिल उठता है।

प्रतिद्वन्द्वी शम्बर

शम्बर चाहे अर्ध-ऐतिहासिक हो, ऐतिहासिक अथवा मात्र गाथेय या काल्पनिक चरित्र, इसमें सन्देह नहीं कि उसका वीर रूप जो संक्षिप्त किन्तु सशक्त है, इन्द्र एवं प्रतिद्वन्द्वी अतिथिग्व-दिवोदास के यश का कारण है। अतिथिग्वदिवोदास के प्रतिद्वन्द्वियों में, यदु, तुर्वश, पर्णय करञ्ज एवं इन्द्र की भी गणना की जा सकती है किन्तु इन सारे प्रतिद्वन्द्वियों का उल्लेख तथा उनकी प्रतिद्वन्द्विता अत्यन्त संक्षिप्त है। निःसन्देह इनमें शम्बर ही ऐसा प्रतिद्वन्द्वी है जो इस प्रसंग में द्रष्टव्य है।

---

१. ऋ० १.५३.१०

२. ऋ० १.११२.१४

३. ऋ० ६.४७.२२एवं २३पर सायण

४. ऋ० ६.१६.१९

५. ऋ० १.१३०.७, ६.३१.७

६. ऋ० ४.२६.३, ४.३०.२०

अतिथिग्वदिवोदास और इन्द्र के अतिरिक्त सोम, अश्विनौ तथा अग्नि को शम्बर के हन्ता के रूप में स्मरण किया गया है। किन्तु शम्बर से लोहा लेने का साहस केवल इन्द्र में है, जो अतिथिग्व को रक्षा का पूरा-पूरा भार अपने ऊपर उठाये रहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि शम्बर, इन्द्र की शक्ति के समक्ष बहुत छोटा है पर इतना छोटा भी नहीं कि इन्द्र उसे पतंगे की भाँति मसल कर फेंक दें। यह शम्बर की शक्तिसम्पन्नता, रणचातुर्य तथा उसकी उत्साह-शक्ति का ही प्रतिफल है कि इन्द्र उससे जूझने के पूर्व सोमपान से अपने को उन्मत्त बना लेते हैं। सोम का पुनः पान कराने के पूर्व ऋषि (भारद्वाज) बड़ी प्रसन्नता से कहते हैं :—

यस्य त्यच्छम्बरं मदे दिवोदासाय रन्धयः ।
अयं स सोम इन्द्र ते सुतः पिब ॥ ऋ० ६.४३.१

अतिथिग्व दिवोदास इन्द्र को शम्बर वध के लिए प्रोत्साहित करने के निमित्त स्वयं भी सोमाभिषव करते हैं, इतना ही नहीं ऋषि (भरद्वाज सुहोत्र) उसे इसी निमित्त 'सुतक्र' (सोम से खरीदे हुए) के सम्बोधन के साथ आह्वान करता है[1]।

शम्बर की सैन्य शक्ति प्रबल है, अतिथिग्व दिवोदास के निमित्त इन्द्र उसके सहस्रों सैनिकों का वध करते हैं[2]। शम्बर के चरित्र में माया (दैवी माया) का दर्शन नहीं होता वह निश्चित रूप से एक ऐतिहासिक प्रतिद्वन्द्वी प्रतीत होता है, जो आर्यों के प्रतिद्वन्द्वी दासों का मुखिया एवं दास कुलितर का यशस्वी पुत्र है[3]। उसका उल्लेख अन्यत्र चुमुरि, धुनि, पिप्रु एवं वर्चिन् प्रभृति अनेक दासों के साथ होता है[4]। डॉ० सूर्यकान्त उसे किसी पार्वत्य जाति का मुखिया मानते हैं[5]। उनकी धारणा का आधार सम्भवतः उसके पर्वत निवास में है।

वह पर्वतीय जाति का मुखिया हो अथवा नहीं इसमें सन्देह नहीं कि वह पर्वतीय लड़ाकों की भाँति युद्ध-प्रिय है। अपने प्रतिद्वन्द्वी को भयभीत करने एवं छकाने में वह सिद्धहस्त है। उसके भय से अतिथिग्व दिवोदास को जल-समाधि की उत्सुकता का उल्लेख किया गया है, वह इन्द्र के हाथ न पड़ सके और इन्द्र का युद्धोन्माद कम हो जाए इस उद्देश्य से लगातार ४० वर्षों तक उसका गुप्तवास[6] उसकी रणनीति कुशलता का परिचायक है।

---

१. ऋ ६.३१.४ इसी सन्दर्भ में देखें—६.४७.२;९.६१.२ (देवता सोम)
२. ऋ० ६.२६.५
३. उत दासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि । अवाहन्निन्द्र शम्बरम् । ऋ० ४.३०.१४
४. ऋ० ६.१८.८, ६.४७.२१
५. वै० को० पृ० १९९ 'दिवोदास'
६. ऋ० २.१२.११

स्वाभाविक है अपनी सैन्य शक्ति एवं सुरक्षित दुर्गों एवं पुरों में रहते हुए उसे किसी का भय न हो। ऋग्वेदीय उल्लेखों के अनुसार उसके पुरों की संख्या सम्भवतः १९९ थी, इन्द्र प्रायः उसके ९० या ९९ पुरों को नष्ट करने वाले बताये गए हैं। एक स्थल पर उन्हें स्पष्टतः शम्बर के प्रस्तर निर्मित १०० पुरों को अतिथिग्व दिवोदास के लिए दान करते हुए बताया गया है। इन्द्र द्वारा नष्ट किये जाने वाले पर्वतों की संख्या कहीं-कहीं १०० भी बतायी गई है, पुरों की संख्या चाहे १९९ रही हो या २०० या कुछ अधिक अथवा न्यून, वे सभी सुदृढ़ प्रस्तरों से बने थे[१] और उनमें सरलता से प्रवेश पासकना सम्भव नहीं था[२]।

रणनीति कुशल होने के साथ ही शम्बर विकट योद्धा भी था। एक बार इन्द्र के आक्रमण के समय पुर-भेद में वह आहत हो जाता है फिर भी युद्ध से पराङ्मुख नहीं होता और लड़ता ही रहता है। किन्तु इन्द्र युद्धोन्माद में इतना उन्मत्त है कि उस अवस्था में भी वह उसे उच्चशिखर से नीचे खींच कर मार डालता है[३]।

वृत्र के समान ही शम्बर-वध के कार्य से इन्द्र को बहुत ख्याति मिली, किन्तु जैसा कि हम आरम्भ से ही देखते रहे हैं; इन्द्र जिसके लिए युद्ध करते हैं, उस चरित्र का विकास नहीं हो पाता। अतिथिग्व के चरित्र के साथ भी यही हुआ है। सम्भव है अतिथिग्व का नायकत्व, इन्द्र के अभाव में और अधिक उभरता। किन्तु इन्द्र की उपस्थिति से उपलब्ध आख्यानों में हमें पुनः बृहस्पति, अङ्गिरस एवं कुत्स प्रभृति की भाँति ही, अतिथिग्व-दिवोदास का चरित्र अपने प्रतिद्वन्द्वी शम्बर के समक्ष, बौना ही लगता है।

इस विवेचना की पृष्ठभूमि में, हम पाते हैं कि वृत्र अथवा अहि, शुष्ण और बल प्रभृति प्रतिद्वन्द्वी अपने स्वरूप में चाहे प्राकृतिक व्याधियों, बाधाओं का प्रतिनिधित्व करते हों अथवा वैदिक ऋषियों के यज्ञ-विनाशक अनार्यों, दासों, दस्युओं और आदिम जातियों का प्रतिनिधित्व, वे विरोधी हैं और यदि इन्द्र, मरुत, कुत्स, प्रभृति को नायक माना जाता है तो ये उनके विरोधी होने से निश्चय ही प्रतिनायक की कोटि में आ जाते हैं। इन देव शत्रुओं के अतिरिक्त पणि, शुष्ण, यदु, तुर्वश, करञ्ज, पर्णय, धुनि, चुमुरि प्रभृति अनेक ऐसे भी चरित्र हैं जो मानवों को; अतिथिग्व, कुत्स, सुदास प्रभृति आर्यों से, प्रतिद्वन्द्विता अथवा विरोध करते हुए देखे जाते हैं।

विकास की दृष्टि से प्राकृतिक बाधाओं और आधिदैविक बाधाओं से विकसित होती हुई विरोध की यह भावना, आधिभौतिक बाधाओं का रूप धारण करती हुई

१. ऋ० ६.२६.३ ; ७.९९.५ ; ४.३०.२० ; २.१४.३ ; २.१४.६, १.१३०.७
२. ऋ० ६.२१.४ 'अप्रतीनि-केनाप्यप्रतिगताः पुरीः'-सायण
३. ऋ० १.१३०.७, ४.३०.१४

प्रतीत होती है। तभी वह दैवी से मानवीय हो उठती है। किन्तु जैसा कि आरम्भ में ही कहा जा चुका हैं, बाधा अथवा विरोध कोई सद्य:उत्पन्न तत्व नहीं है, वह काल-कालान्तर से मानवमन में; दुग्ध में विद्यमान जीवनदायिनी-शक्ति के समान घुली मिली भावना है। उसका न कोई आदि है और न अन्त।

काव्यों अथवा रूपक प्रबन्धों में प्रस्तुत प्रतिनायक की भूमिका उसी भावना का प्रतिनिधत्व करती है। जिन नायकों की चर्चा प्रकृत अध्याय में की गयी, उनमें से यदि इन्द्र को ही देखें तो हम पायेंगे कि अपने प्रतिद्वन्द्वियों के अभाव में, उसका अस्तित्व शून्य है। उसकी महानता, वीरता, उसकी दानशीलता, उसकी धर्मपरायणता और उसकी उदारता सभी तो अपने प्रतिस्पर्धियों के परिप्रेक्ष्य में ही प्रकट होती है।

संस्कृत के काव्यों एवं रूपकों में प्रतिनायक का जो स्वरूप हमें देखने को मिलता है उसके परिप्रेक्ष्य में, ऋग्वेद के नायकों-प्रतिनायकों को देखते समय, हम पाते हैं कि यहाँ उनके मध्य स्वाभाविकता अधिक प्रखर है और कृत्रिमता का अभाव है। ऋषि 'इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचम्' कह कर भी उसके दुर्गुणों को, व्यसनों को, उसकी धृष्टता और उदण्डता को, उसके चारित्रिक दोषों को, पाप भावना या वासना को, और उसके उन्माद अथवा उसकी असहिष्णुता को, छुपाता नहीं है। इन सभी से युक्त जो स्वरूप है वही इन्द्र है। ये दुर्गुण इन्द्र के पर्याय हैं। फिर भी इन्द्र देवता है, सभी लोकों को धारण करता है, सभी का पालक है, धर्म का अधिष्ठाता और 'देवानां देव:' है। उसकी उपस्थिति के बिना न तो सोमाभिषव पूर्ण होता है न ही यज्ञ-कर्म। यह तो नायक की स्थिति है। उसके प्रतिद्वन्द्वी भी किसी दृष्टि से निर्बल नहीं हैं, अशक्त अथवा असमर्थ नहीं हैं। उनमें शक्ति है; दर्प है, छलकपट, सभी कुछ है और इसी कारण उन दोनों की प्रतिद्वन्द्विता में जीवन है, स्वाभाविकता है, स्पन्दन है, गति और प्रवाह है, कोई बन्धन तथा सीमाएँ भी नहीं हैं।

कालान्तर में, चाहे काव्य हों अथवा रूपक; सामाजिक, धार्मिक और नैतिक सीमाओं के कारण, उस स्वाभाविकता का ह्रास होने लगा। आदर्शों को सामने रखकर जब सीमाएँ बना दी गयी तो कुछ ही प्रतिभाएँ ऐसी हुयीं जिन्होंने इन सीमाओं में रहते हुए भी अद्वितीय और अनुपम साहित्य दिया, जो आज भी जीवित है। फिर भी उन पर सीमाओं और उन वेणियों के चिन्ह स्थान-स्थान पर उभरे हैं। ऐसा प्रतिनायक के ही शरीर (भूमिका) पर ही नहीं, नायक और नायिका के शरीर पर भी स्पष्ट है। फिर भी दार्शनिक विचारधारा एवं तन्निस्यूत सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवेश में, नायक के चरित्र का आदर्शवादी स्वरूप तो विकसित होता रहा किन्तु प्रतिनायक का ह्रास होता गया। यह भुला दिया गया या भुला दिया जाने लगा कि प्रतिनायक वृत्र और अहि का वंशज कैसा हो। इसी कारण यह भी भुला दिया गया कि प्रतिनायक के माध्यम से नायक के औदात्य की उसकी धीरता, गम्भीरता को,

उसकी मर्यादा और निष्ठा को, एक उद्धत और असहिष्णु, दुष्ट और निर्मर्यादित चरित्र के माध्यम से कैसे उद्भावित किया जाए।

इसी कारण कुछ अपवादों को छोड़कर प्रायः सभी रूपक प्रबन्धों में प्रतिस्पर्धा का अभाव देखा जा सकता है। प्रतिस्पर्धी है, प्रतिनायक है, किन्तु वह भावना नहीं है जो इन्द्र के प्रतिद्वन्द्वियों में दृष्टिगोचर होती है। रावण है परन्तु उसका राक्षसत्व मर गया है, दुःशासन है परन्तु अनुशासित है, दुर्योधन है पर सुयोधन के रूप में। यह विकास का एक पक्ष है।

दूसरा पक्ष है, नायक का प्रतिनायकत्व या प्रतिनायक का नायकत्व। किरातार्जुनीयम् के अतिरिक्त सम्भवतः किसी अन्य काव्य में ऐसा उदाहरण नहीं मिलेगा जहाँ किसी मान्य प्रतिनायक को नायकत्व मिल पाता हो। (नायकत्व तो दुर्योधन को यहाँ (किरात० में) भी नहीं मिलता परन्तु उसका स्पर्श मात्र किया जा चुका है) ऋग्वेद में हम पाते हैं कि इन्द्र को प्रतिद्वन्द्विता में वरुण; वरुण की प्रतिद्वन्द्विता में इन्द्र, इन्द्र की प्रतिद्वन्द्विता में मरुत, अथवा मरुत् की प्रतिद्वन्द्विता में इन्द्र, इसी प्रकार इन्द्र-कुत्स की प्रतिद्वन्द्विता के परिप्रेक्ष्य में नायक कुत्स का प्रतिनायकत्व सीमित होते हुए भी मुखर है। अगले अध्याय में हम देखेंगे कि महाकवि भास ने स्पष्टरूपेण ऐसे प्रसंग उठाये है जहाँ दुर्योधन एवं कर्ण को भी उन्होंने नायकत्व प्रदान किया है। ऋग्वेद के इस मूल का विकास हमें वहाँ भी देखने को मिलता है जहाँ नायक प्रति-नायक का निर्णय कर पाना कठिन है।

इन विशेषताओं के होते हुए भी, इसमें सन्देह नहीं कि संस्कृत-रूपकों की परम्परा अपने नैतिक मूल्यों और मान्य आदर्शों के लिए उस दर्शन और संस्कृति की ऋणी है जिसका उत्स वेदों और ब्राह्मण ग्रन्थों में है। नायक को जय, प्रतिनायक की पराजय, नायक का आदर्श; अथवा आदर्शों का नायकत्व, दुःख, खेद एवं पराभव में भी नायक का धैर्य, इन अयथार्थ तत्त्वों पर भी उसी दर्शन का प्रभाव है। ये भास से लेकर हर्ष तक विकसित होते रहे और उसके बाद भी फूलते-फलते रहे।

इसी प्रकार प्रतिनायक चाहे वृत्र हो अथवा बल, अर्बुद हो अथवा नमुचि; पिप्रु हो अथवा शुष्ण, शम्बर हो अथवा धुनि सभी का अन्त होता है ठीक उसी प्रकार जैसे रावण, दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, शकुनि, यहाँ तक कि उनके सहायक बालि, भीष्म, द्रोण प्रभृति का होता है। गर्त से निकालने के लिए कुत्स द्वारा इन्द्र से की गई प्रार्थना में और यदु-तुर्वश द्वारा नदी पार कराने की प्रार्थना में, बालि और शकार की क्षमायाचना, पश्चात्ताप अथवा प्रायश्चित्त की भावना का मूल है। भावों का यह परिवर्तन ही कुत्स का अन्त है जो इन्द्र विरोधी है, यही उन यदु-तुर्वशों का अन्त है जो अतिथिग्वदिवोदास एवं सुदास का विरोध करते हैं, क्योंकि इसके बाद

ही वे इन्द्र के ऋणी और दिवोदास, सुदास के मित्र हो जाते हैं। प्रकारान्तर से, दिवोदास अथवा सुदास के अन्य प्रतिद्वन्द्वियों द्वारा इन्द्र के समक्ष आत्मसमपर्ण में हम जामदग्नि और राक्षस तथा महासेन (प्रतिज्ञा०) के आत्मसमर्पण का मूल देख सकते हैं।

जहाँ तक धीरोदात्तादि नायकों का प्रश्न है, इस साहित्यशास्त्रीय-दर्शन का भी मूल इन आख्यानों में है। इन्द्र-वरुण विवाद में एक उद्धत है, दूसरा उदात्त। वस्तुतः वरुण का चरित्र तो नितान्त धीरोदात्त ही है। अग्नि, बृहस्पति और अङ्गिरसों का स्वरूप भी ऐसा ही है। राजर्षि से प्रतीत होने वाले अतिथिग्व में भी ऐसा ही आभास होता है। मरुत्-इन्द्र प्रतिद्वन्द्विता में दो धीरोद्धत भूमिकाओं का संघर्ष है, जैसा कि भीम और दुर्योधन के मध्य होता है। कुत्स-इन्द्र प्रतिद्वन्द्विता में एक ओर तो इन्द्र की असहिष्णुता है तो दूसरी ओर कुत्स में किञ्चित लालित्य। अहल्या, अपाला और उपमा, दीर्घजिह्वी तथा विलिस्तेंगा के साथ इन्द्र के प्रसंगों में रत्याभास का अनुमान किया जा सकता है। सारा युद्ध लड़ने के बाद भी, जिस प्रकार पुरुरवा, रघु और दशरथ की अपेक्षा, इन्द्र को ही अधिक यश मिलता है, उसी प्रकार अतिथिग्व, सुदास, आयु और कुत्स के साथ शुष्ण, शम्बर तथा अन्य आर्यों-अनार्यों की प्रतिद्वन्द्विता में, सारा यश, सारा श्रेय इन्द्र को ही मिल जाता है। सारांश रूप में आख्यानों, आख्यायिकाओं के चयन से लेकर नायक-प्रतिनायक प्रभृति भूमिकाओं और इनके माध्यम से उत्पन्न भावों तथा अनुभूतियों तक (जिसे कालान्तर में रस के रूप में व्याख्यायित किया गया) सभी का मूल वहीं है जहाँ भारतीय संस्कृति का उद्गम है, जहाँ भारतीय जीवन के आदर्शों का मूल है, जहाँ भारतीय दर्शन का मूल है।

द्वितीय परिच्छेद

प्रतिनायक का शास्त्रीय स्वरूप *

काव्यों और नाटकों में नायक के उत्कर्ष चित्रण की दृष्टि से प्रतिनायक की भूमिका महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है[1]। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में नायक, वैदिक मर्यादाओं का प्रतिनिधि है। उसकी भूमिका एक आदर्श भूमिका है। 'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्' यह साहित्य का कान्तासम्मित उपदेश है और इसी कारण नायक-विरोधी भूमिका, वस्तुतः नायक के आदर्श, मान्यताओं और विश्वासों की विरोधी भूमिका है जिसका प्रतिनिधित्व करता है—प्रतिनायक। 'प्रतिनायक' यह शब्द वस्तुतः नायक के कार्यों का विरोध करने के कारण ही नायक–विरोधी चरित्र पर आरोपित है, जिसे नाट्यशास्त्रियों ने तो 'नेता' इस विशेषण से भी विभूषित किया है[2]। रावण केवल सीता हरण के कारण ही राम का विरोधी नहीं बना है। राम तो विवाह रचाने के पूर्व ही विश्वामित्र के साथ रावण के बन्धुओं के विनाश का कार्य प्रारम्भ कर देते हैं। विवाह के बाद उनका वनवास भी सम्भवतः किसी ऐसी ही कूटनीति का परिणाम है। सांस्कृतिक मर्यादाओं और पौराणिक मान्यताओं को छोड़ दें तो राम से रावण के विरोध को साम्राज्यविस्तार के रूप में देखा जा सकता है।

कौरवों और पाण्डवों का युद्ध यद्यपि सत्ता संघर्ष है और राम रावण विरोध से अधिक यथार्थ है किन्तु साँस्कृतिक परम्परायें उसे भी एक शाश्वत-विरोध के रूप में ही प्रस्तुत करती हैं। इस कारण वह अच्छाई और बुराई के मध्य विरोध का रूप

---

१. (क) अथवा प्रतिपक्षस्य वर्णयित्वा गुणान् बहून्।
तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च मतं क्वचित्॥——प्रतापरुद्रयशोभूषणम्

(ख) विना प्रतिनायक चरित के चित्रण के नायक–चरित का सौन्दर्य नहीं चित्रित किया जा सकता। –डॉ॰ सत्यव्रत सिंह, साहित्य दर्पण, १.१३१ विमर्श

२. व्यसनी पापकृद् द्वेष्यो नेता स्यात् प्रतिनायकः। ——नञ्जराजयशोभूषण

* वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः॥
— काव्यादर्श

ग्रहण कर लेता है और तब सत्ता संघर्ष गौण और सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म के मध्य सीधा संघर्ष प्रमुख हो जाता है जिसके अन्यान्य रूप परस्पर टकराते हुए दृष्टिगत होते हैं। अतः जहाँ विरोध न हो वहाँ भी राम-रावण, कृष्ण-कंस, पाण्डवों और कौरवों के मध्य विरोध के अङ्कुर फूट आते हैं। अतएव आचार्य धनञ्जय ने स्पष्ट शब्दों में नायक-विरोधी भूमिका को 'रिपु' कह कर संकेतित किया है और इसी कारण रूपक-प्रबन्धों अथवा काव्यों में नायक, प्रतिनायक किसी का भी मूल्यांकन करते समय हमारे लिए इन सांस्कृतिक मर्यादाओं, परम्पराओं और दार्शनिक मूल्यों को पृष्ठभूमि में रखना आवश्यक है।

प्रथम अध्याय में हम कह आये हैं कि 'रिपु' का जन्म कब हुआ, इस विषय पर विचार करते हुए हम पाते हैं कि स्वार्थ, प्रतिस्पर्धा ओर संघर्ष की भावना आदि काल से ही मनुष्य के जोवन के साथ सम्बद्ध रही है। कभी एक शिकार पर दो व्यक्तियों के अधिकार को लेकर तो कभी स्थान अथवा अन्य कारणों से उनमें कलह. विरोध और संघर्ष होते ही रहते थे। तत्वतः प्रतिस्पर्धा और स्वार्थ; विरोध अथवा संघर्ष के मूल में, और यह विरोध और प्रतिस्पर्धा ही प्रतिनायक चरित्र के मूल में निहित है। अतएव प्रतिनायक 'रिपु' है प्रतिपन्थी है[1]।

साहित्य के उपलब्ध अवशेषों में नाटक के उद्गम के समान ही प्रतिनायक चरित्र अथवा प्रतिनायक जैसे चरित्र के प्राथमिक स्वरूप को खोजते-खोजते हम ऋग्वेद की उपत्यका में जा पहुँचते हैं। चूँकि वेद नाटक नहीं हैं अतः उनमें ऐसे नायक के सम्बन्ध में काई धारणा बनाना उचित नहीं होगा, किन्तु वेदों को पुराकथाशास्त्र अथवा काव्य[2] रूप में स्वीकार करने के बाद उसमें नायकों और तदनुसारी प्रतिनायकों का अस्तित्व तो स्वीकार किया ही जा सकता है। जैसा कि हम देख चुके हैं, इन्द्र, कुत्स, बृहस्पति, प्रभृति देवों और उनमें भी इन्द्र, मरुत्, प्रभृति देवों का चरित नायकों जैसा हैं, जिन्हें नायक कहना किसीं भी रूप में अनुचित नहीं है। अतएव इन्द्र आदि के विरोधियों को संस्कृत नाट्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार प्रतिनायकों की कोटि में रखना भी कठिन नहीं है।

इन्द्र के प्रमुख विरोधी अहि, वृत्र, पणि प्रभृति चरित्र हैं जिन्हें बार-बार मारने की तथा उन्हें मारने के कारण इन्द्र के महनीय गुणों की स्तुति से ऋग्वेद की ऋचाएँ प्रशस्तियों सी प्रतीत होती हैं। वृष्टि को रोककर अथवा गौओं को बाँधकर देवों अथवा मानवों को उत्पीड़ित करने में ही इन प्रतिनायकों को आनन्द आता है। यह पात्र चाहे

१. नाट्यदर्पण ४.१६६ वृत्तिभाग
२. पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यते। —अथर्ववेद

जितने काल्पनिक हों किन्तु उनका चित्रण सजीव और यथार्थ है। इन्द्र चौड़े सीने और सुन्दर बाहुओं, आकर्षक दाढ़ी और मूछों से युक्त एक गर्वीला चरित्र है जो किसी महाकाव्य अथवा नाटक के नायक के समान प्रतीत होता है। उधर उसके प्रतिद्वन्द्वी अहि, वृत्र, बल, अर्बुद, स्वर्भानु, चुमुरि, शुष्ण, शम्बर और पणिगण महान् मायावी, दुर्गों, पुरों में रहने वाले, घातक प्रहार करने वाले शिक्षित योद्धा हैं। उनमें और संस्कृत के नाटकीय प्रतिनायकों में अन्तर केवल यही है कि वृत्र प्रभृति शत्रु वास्तविक अर्थों में 'रिपु' हैं जो मृत्युशय्या पर भी विरोध नहीं छोड़ते जबकि रूपक प्रबन्धों में अधिकांश प्रतिनायक अन्ततोगत्वा अपनी त्रुटि को स्वीकार करते हुए प्रायश्चित्त करते देखे जाते हैं।

रूपक प्रबन्धों की संरचना को दृष्टि में रखते हुए हम पाते हैं कि आधिकारिक एवं प्रासङ्गिक इतिवृत का रूपकों के अनुरूप चयन, उसमें कथा के बीज का उपन्यास, बिन्दु के रूप में उसका प्रस्फुटन, आवश्यक स्थिति में पताका एवं प्रकरी की योजना, आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम के रूप में नायक के कार्यों की पाँच अवस्थाओं का निरूपण एवं मुख्य रस, व्यभिचारीभावों एवं कथातन्तुओं को एक सूत्र में बाँधते हुये स्थान-स्थान पर सन्ध्यङ्गों की योजना के रूप में पञ्च-सन्धियों का प्रयोग एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। यह तत्त्व ऐसे हैं जिन्हें ध्यान में रखकर नाट्य-रचना नहीं की जाती अपितु प्रत्येक रूपक प्रबन्ध में ये तत्त्व स्वतः आ जाते हैं। अतः नाट्यशास्त्र की दृष्टि से, अध्ययन एवं आलोचना की दृष्टि से, इनका महत्त्व है, इसे भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसकी विस्तृत विवेचना तो पृथक् होगी किन्तु प्रकृत प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि इन्हें देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि नायक के समान ही प्रतिनायक-भूमिका का (संरचनातत्त्वों में) भी अपना महत्त्व है और इस दृष्टि से नाट्यशास्त्रियों ने पर्याप्त विचार किया है। सन्धियों एवं सन्ध्यङ्गों के लक्षणों को देखने से यह तथ्य सरलता से समझा जा सकता है कि उनमें ऐसे तत्त्वों की योजना का विधान है जिससे द्वन्द्व, प्रतिस्पर्धा, द्वेष, युद्ध-नियुद्ध, संघर्ष एवं बाधाओं का निरूपण अनिवार्य हो जाता है और नायक-नायिका, प्रतिनायक तथा अन्य सक्रिय सहायक भूमिकाओं के कार्यों में इनके दर्शन सरलता से हो जाते हैं।

भावों-विभावों का प्रतिनायकत्व

संस्कृत रूपकों में नायक विरोध के अनेक माध्यम हैं। कहीं यह विरोध नायक-नायिका के मध्य संयोग में बाधक तत्त्वों के रूप में मिलता है तो कहीं यह विरोध नायक-प्रतिनायक के मध्य मात्र सैद्धान्तिक संघर्ष के रूप में देखा जाता है। यह सैद्धान्तिक विरोध भी कहीं धर्मामर्म के माध्यम से उभरता है तो कहीं मात्र सत्ता-संघर्ष में पर्यव-

स्थान पाता है। यह विरोध ही कहीं स्वभावतः दुष्ट-शकार के चरित्र के रूप में है तो कहीं शास्त्रतः परिभाषित प्रतिनायक के रूप में।

भावों अथवा भावों के मानवीयकरण के माध्यम से प्रस्तुत किये जाने वाले विरोध की विविधता विस्मयकारिणी है। राजमाता, राजमहिषी अथवा राजमहिषी की सहायिकाओं द्वारा नायक-नायिका के मध्य संयोग के उपकरणों और योजनाओं को ध्वस्त करना, उसमें विघ्न उत्पन्न करना, कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। शृङ्गाररसप्रधान रूपकों में अङ्ग रूप से विप्रलम्भ-शृङ्गार की योजना किंवा अनिवार्यता 'न विना विप्रलम्भेन शृङ्गारो पुष्टिमश्नुते' की सैद्धान्तिक मान्यता का तात्पर्य यही है कि ऐसे स्थलों पर ये विप्रलम्भकारी तत्त्व भी नायक-विरोध की भूमिका निभाते हैं। नायक की वासना (मन में रति रूप में विद्यमान), प्रेमभावना के प्रतिकूल आचरण करने वाली प्रकृति और प्रकृति में विद्यमान अन्य उद्दीपन विभाव भी नायक को पीड़ा पहुँचाते हैं। यह पीड़ा जो विप्रलम्भ अथवा वियोग के रूप में अभिव्यक्ति पाती है, नायक के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से, उसके चरित्र को उभारने की दृष्टि से, महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। इस भावना अथवा उसकी योजना को प्रतिनायक या प्रतिनायिका तो नहीं कहा जा सकता किन्तु चरित्र चित्रण की दृष्टि से उसकी वही उपयोगिता है जो किसी प्रतिनायक की होती है। यह एक ओर तो रसनिष्पत्ति में सहायक होती है तो दूसरी ओर द्वन्द्व-अन्तर्द्वन्द्व को जन्म देती है।

वियोग के कारणों के रूप में राजमाता अथवा राजमहिषी के कोप को हम प्रतिकूल दैव तथा शाप एवं शाप-मुक्ति की तन्निमित्तक योजनाओं के साथ समान कोटि में रख सकते हैं[1]। अभिज्ञानशाकुन्तल में 'दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः' के रूप में दैव की प्रतिकूलता के शमन का प्रयास, किन्तु दुर्वासा के शाप के रूप में उसका प्रतिफलित हो उठना और 'विक्रमोर्वशीय' में पुत्रलाभरूप शाप-मुक्ति के कारण पुरूरवा से उर्वशी के वियोग की सम्भावना भी ऐसी ही है। इन्हें भी प्रतिनायक की कोटि में तो नहीं रखा जा सकता किन्तु नायक-नायिका की रति को उद्दीप्त करने की दृष्टि से तथा इस रूप में शृङ्गारी नायक के उत्कृष्ट चित्रण की दृष्टि से इनका महत्त्व सन्देह से परे है। क्योंकि किसी भी रूपक प्रबन्ध में नायक के चरित्र को उभारने के लिए प्रतिनायक की भूमिका की उपयोगिता यही है।

अतएव ये योजनाएँ भी नायक विरोधी हैं। किन्तु जिस प्रकार जामदग्नि, बालि, शकार एवं शर्विलक; नायक की वीरता, धीरता और औदात्त्य की अभिव्यक्ति कराने के उपरान्त, आत्म-समर्पण कर देते हैं उसी प्रकार उपर्युक्त प्रतिकूलदैव, शाप एवं कोप का भी पर्यवसान हो जाता है। इसे ध्यान में रखते हुए हम प्रकृत प्रसंग में

---

१. अपरस्तु अभिलाष विरहईर्ष्याप्रवासशापहेतुक इति पञ्चविधः—काव्यप्रकाश,

प्रतिनायक के केवल उस रूप को ही लेंगे जिसे नाट्यशास्त्रियों ने रिपु के रूप में पापकृत व्यसनी, और नायक का प्रतिपन्थी माना है।

औद्धत्य के आधार पर प्रतिनायक के रूप

प्रतिनायक का लक्षण करते हुए नाट्यशास्त्रियों ने, उसका लोभ-मोह की भावना से युक्त होना, उसका हठी होना, नायक का प्रतिपन्थी होना आदि अनेक विशेषण गिनाए हैं, जिसके आधार पर आगे विचार किया जा रहा है। किन्तु लक्ष्य रूपक प्रबन्धों की दृष्टि से, प्रतिनायक की सामान्य विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए, उसे, उसके औद्धत्य, उसकी आदर्शपरायणता एवं उसकी प्रतिस्पर्धा की दृष्टि से भी विभिन्न रूपों में देखा जा सकता है। केवल औद्धत्य के आधार पर धीरोद्धत, अर्धधीरोद्धत पूर्णोद्धत एवं औद्धत्य तथा आदर्शहीन प्रतिनायक के रूप में भी उसके चार भेद हो सकते हैं।

(क) धीरोद्धत प्रतिनायक

धीरोद्धत प्रतिनायक की विशेषता होती है, उसकी आदर्शपरायणता और किन्हीं निश्चित आदर्शों के कारण नायक का विरोध; जैसे कि मुद्राराक्षस में राक्षस, मध्यम व्यायोग में घटोत्कच तथा महावीर चरित में माल्यवान् एवं बाली के चरित्र हैं। इनके चरित्र में प्रतिस्पर्धा और औद्धत्य के साथ धीरता का नैरन्तर्य बना रहता है। जिस प्रकार सैद्धान्तिक दृष्टि से विनय, मधुरता, त्याग, प्रिय भाषण आदि सामान्य नायक के गुण धीरोद्धत नायक के लक्षणों के विपरीत प्रतीत होते हैं फिर भी धीरोद्धत नायक को नायक माना ही जाता है, उसी प्रकार प्रतिनायक भी अपने सामान्य गुणों के साथ ही धीरोद्धत नायक के गुणों से युक्त होता है। इस विप्रतिपत्ति की व्याख्या यही है कि नायक के सामान्य गुण सभी नायकों में सामान्य रूप से मिलते हैं, यही उनकी धीरता, उदारता है किन्तु औद्धत्य, औदात्त्य, लालित्य आदि गुण ही उन्हें एक दूसरे से पृथक् करते हैं। इसी प्रकार प्रतिनायक धीरोद्धत नायक के गुणों से युक्त होता हुआ भी व्यसन, पाप, नायक-विरोध, लोभ आदि के कारण धीरोद्धत नायक से पृथक् दिखाई देता है। प्रतिनायक को मात्र उद्धत न कह कर आचार्यों द्वारा उसे धीरोद्धत कहने के पीछे संस्कृत की नाट्यपरम्परा का वह आदर्श पक्ष है जिसका अपना पृथक् महत्त्व है। इसी कारण संस्कृत के अनेक रूपकों में नायक-प्रतिनायक के मध्य स्पष्ट रेखाङ्कन पर्याप्त कठिन है। इतना ही नहीं संस्कृत की काव्यशास्त्रीय-परम्परा के अनुसार नायक का सामान्य लक्षण कहीं-कहीं प्रतिनायक के चरित्र पर पूरा घटित होता है जो आश्चर्यजनक नहीं हैं। मुद्राराक्षस का प्रतिनायक राक्षस एक ऐसा ही चरित्र है जो प्रतिनायक होते हुए भी अपने गुणों से चाणक्य को पराभूत करने में पूर्णतः सक्षम है।

(ख) अर्धधीरोद्धत प्रतिनायक

स्वभाव से उग्र होते हुए भी अर्धधीरोद्धत प्रतिनायकों में औद्धत्य उभर नहीं पाता। फिर भी प्रतिस्पर्धा और प्रतिशोध की भावना उनमें बनी रहती है, उसके आदर्श किंवा जीवन मूल्य विशृङ्खल से होते हैं। इन प्रतिनायकों एवं धीरोद्धत प्रतिनायकों के आदर्शों के मध्य कोई सीमा-रेखा नहीं खींची जा सकती। 'महावीरचरित' में रावण, शूर्पणखा और वेणीसंहार में अश्वत्थामा, पञ्चरात्र में द्रोणाचार्य, भीष्म तथा प्रतिज्ञायौगन्धरायण में महासेन एवं भरतरोहक की भूमिकाएँ ऐसी ही हैं, जिनमें धीरता भी अधूरी है और औद्धत्य भी पूर्ण नहीं है।

(ग) पूर्णोद्धत प्रतिनायक

इस प्रकार के चरित्र में कदाचित् आदर्श-हीनता के भी दर्शन होते हैं क्योंकि वह पूर्णतः उद्धत, दुर्व्यसनी, पापी और महान् शक्तिशाली होता है। जामदग्नि, रावण, दुर्योधन उसके सहायक दुःशासन, शकुनि तथा ऐसे कुछ अन्य पौराणिक प्रतिनायक भिन्न-भिन्न रूपकों में, भिन्न-भिन्न रूप में पूर्णोद्धत प्रतिनायकों के रूप में दिखाई पड़ते हैं।

(घ) औद्धत्य एवं आदर्शहीन प्रतिनायक

आदर्श ही नहीं औद्धत्य की दृष्टि से भी पिछड़ा हुआ एक अन्य प्रतिनायक है। जिसके पीछे कोई आदर्श नहीं है वह स्वभावतः हर अच्छाई का विरोधी है, कामुक, दम्भी, मूर्ख और कायर भी है। उसके औद्धत्य में प्राण नहीं है, क्रोध में वह केवल मूर्खता ही प्रदर्शित करता है, जिसका आदर्श उसके आत्मसमर्पण के बाद ही प्रकट होता है जो उसकी सदाशयता का उतना परिचायक नहीं है जितना कि उसकी विवशता का परिचायक है। उसके चरित्र में जहाँ हास्यास्पद तत्त्व मिलते हैं वहीं प्रतिनायकीय दृष्टि से आवश्यक तत्त्व 'नायकविरोध' की भावना भी अत्यन्त प्रबल है[१]।

उपलब्ध नाट्य साहित्य में भास ऐसे सबसे प्राचीन नाट्यकार हैं जिनके रूपकों में प्रतिनायक का शास्त्रीय स्वरूप मिलता है। किन्तु प्रतिनायक सम्बन्धी बाह्य-साक्षियों में पतञ्जलि द्वारा उल्लिखित 'बलिबन्धन' तथा 'कंसवध' के उल्लेख भी कम महत्त्वपूर्ण

1. 'Samsthanaka by no means unfamiliar compound of villain and buffoon as he apears in Western drama, well known to the *Commedia dell' arte* and sufficiently exemplified as recently as the monstrous braggart in Samucl Backettes *Waiting For Godot*.

CDI, P. 137

नहीं है[१]। इस उल्लेख में जहाँ नाटकों के अस्तित्व किंवा अभिनयकला आदि का परिचय मिलता है वहीं बलि तथा कंस जैसे दो नायक विरोधियों के चरित्रों के आङ्गिक, वाचिक, आहार्य तथा सात्त्विक, इन चारों प्रकार के अभिनय की प्राचीनता पर भी प्रकाश पड़ता है। इतना ही नहीं नाट्य-साहित्य की प्राचीनता[२] के सन्दर्भ में भी इसका महत्त्व है।

पतञ्जलि के कथन में एक अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्य जो उभरता है वह है पात्रों द्वारा युद्ध-नियुद्ध। रङ्गमञ्च पर दर्शकों के समक्ष युद्ध-नियुद्ध भरत मुनि द्वारा पूर्णतः निषिद्ध था[३]। किन्तु पतञ्जलि के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि उनके समय नाटक का स्वरूप जो भी रहा हो इसका प्रदर्शन निषिद्ध नहीं था। ग्रन्थिकों के सन्दर्भ में विवाद को (जो लूडर्स व कीथ[४] के मध्य है) छोड़ दें और कृष्ण व कंस भक्ति को सामाजिक के संदर्भ में न भी मानें तो भी यह तो निस्सन्देह स्वीकार किया जा सकता है कि रङ्गमञ्च पर इस प्रकार के वध एवं बन्धन सामाजिक के मन में रस निष्पत्ति करने में समर्थ रहे होंगे।

खण्डित रूप में उपलब्ध 'सारिपुत्र प्रकरण' को छोड़कर देखें तो भास के नाटकों से ही प्रतिनायक चरित्र का पर्याप्त विकसित स्वरूप दृष्टिगत होने लगता है। किन्तु लक्ष्य

---

१. ये तावदेते शोभानिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयन्ति इति।.........अतश्च सतो व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते, केचित् कंसभक्ता भवन्ति केचिद् वासुदेव भक्ताः। वर्णान्यत्वं खलु पुष्यन्ति, केचित्कालमुखा भवन्ति, केचिद् रक्तमुखाः। महाभाष्य ३.१.२

२. 'यदि पतञ्जलि के रचना-काल में वास्तविक नाटक का अस्तित्व नहीं था तो यह कहना संगत है कि उनके थोड़े ही समय बाद उसके विकास का न होना आश्चर्य की बात होगी—संस्कृत नाटकः कीथ (अनुवादक डा० उदय भानुसिंह) पृ० ३६

३. युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः संविधेयानि॥ भरत २०.२१
यत्र तु वधेप्सितानां वधो ह्युदग्रो भवेद्धि पुरुषाणाम्।
किञ्चद् व्याजं कृत्वा तेषां युद्धं शमयितव्यम्॥ भरत २०.८४.८६
तुलना के लिए देखें—
(क) भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य शास्त्र का संक्षिप्त विवेचन—पृ० २८३,४१८
—डा० चौधरी तथा गुप्त
(ख) ट्रेजडी एण्ड संस्कृत ड्रामा पृ० १२—जो० के० भाट

४. संस्कृत नाटक, पृ० २६

नाटकों के प्रतिनायकों की चर्चा के पूर्व प्रतिनायक को भूमिका के इस अभिनय पक्ष पर दृष्टिपात करते हुए हमारा ध्यान उसके नाट्यशास्त्रीय स्वरूप पर स्वतः चला जाता है और हम पाते हैं कि सैद्धान्तिक दृष्टि से वहाँ प्रतिनायक की भूमिका का महत्त्वपूर्ण स्थान मिलता है। भरत ने यद्यपि 'प्रतिनायक' का कोई लक्षण नहीं किया है किन्तु अप्रत्यक्ष-रूपेण ऐसी कथावस्तु आदि का विधान किया है जिससे प्रतिनायक सम्बन्धी उनके दृष्टि-कोण का परिचय सरलता से मिल जाता है। कालान्तर में नाट्यशास्त्रियों ने प्रतिनायक का लक्षण करते हुए उसके सम्बन्ध में कुछ अधिक मुखरता प्रदर्शित की, किन्तु निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि इतना होने पर भी प्रतिनायक की भूमिका को उतना महत्त्व नहीं मिला जितनी अपेक्षा की जाती है।

भरत का नाट्यशास्त्र एवं प्रतिनायक

भरत मुनि नाट्यशास्त्र के ३४ वें तथा ३५ वें अध्याय में जहाँ नायक-नायिका, तथा अन्य सहायक भूमिकाओं जैसे विदूषक, विट, शकार आदि का लक्षण करते हैं; प्रति-नायक का किंचित भी उल्लेख नहीं करते। किन्तु इसी आधार पर यह धारणा बना लेना न्याय-संगत न होगा कि उन्होंने प्रतिनायक जैसी भूमिका को स्वीकार ही नहीं किया है।

पञ्चमवेद नाट्य के सम्बन्ध में भरतमुनि ने अति-व्यापक दृष्टि दी है। उन्होंने रूपक प्रबन्धों की नानाभावोपसम्पन्नता के परिप्रेक्ष्य में, उसमें धर्म, अर्थ और काम के अतिरिक्त, हास्य, युद्ध एवं वध का भी दर्शन किया है :—

क्वचिद् धर्मः क्वचित्क्रीडा क्वचिदर्थः क्वचिच्छमः ।
क्वचिद् हास्यं क्वचिद् युद्धं क्वचित्कामः क्वचिद्वधः ॥

भरत १.१०४,१०५

अतः द्वन्द्व, संघर्ष एवं प्रतिस्पर्धा के माध्यम से नायक का विरोध करने वाली भूमिका को भरत भूल गये हों ऐसा नहीं कहा जा सकता। कारण जो भी रहा हो, किन्तु शकार का लक्षण[1] उसकी भाषा, उसके कुल, गुण, कर्म एवं स्वभाव अर्थात् प्रकृति पर व्यापक चर्चा करते हुए[2] भी भरत प्रतिनायक के सम्बन्ध में मौन हैं। उन्होंने प्रति-नायक और शकार को एक में मिलाकर देखा हो, ऐसा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि शकार अपने गुणों और कर्मों के परिप्रेक्ष्य में प्रतिनायक तो हो सकता है, किन्तु विभिन्न रूपक-प्रबन्धों में भरत ने जिस प्रकार की कथावस्तु, भावों और क्रियाओं की अनिवार्यता का विधान किया है उसका निष्पादन शकार के माध्यम से असम्भव है। इस दृष्टि से

---

१. भरत ३५.५६
२. भरत १३.१४७ १४८ (गति), १८.५०.५१ (भाषा) ३४.१४ (प्रकृति)

सर्वप्रथम ऐसे रूपकों के लक्षण देखने होंगे जिनमें वे तत्त्व मिल जाते हैं जिससे भरत द्वारा शकार के अतिरिक्त किसी ऐसी भूमिका के विधान का अनुमान किया जा सकता है जो उत्तरकालीन नाट्यशास्त्रियों द्वारा उल्लिखित प्रतिनायक के लक्षण का मार्ग प्रशस्त करती है।

'ईहामृग', 'समवकार', 'डिम', एवं 'व्यायोग' रूपक भेदों का लक्षण करते हुए भरत मुनि ने स्पष्टतया इनमें युद्ध-नियुद्ध से सम्बन्धित कथावस्तु के ग्रथन तथा देव, दानव, राक्षस आदि पात्रों की योजना का विधान किया है[1]। **ईहामृग** का लक्षण करते हुए भरत मुनि कहते हैं :—

दिव्यपुरुषाश्रयकृतो दिव्यस्त्रीकारणोपगत युद्धः ।
सुविहितवस्तुनिबन्धो विप्रत्ययकारकश्चैव ॥
उद्धतपुरुषप्रायः स्त्रीरोषग्रथित काव्यबन्धश्च ।
सङ्क्षोभविद्रवकृतः सम्फेटकृतस्तथा चैव ॥
स्त्रीभेदनापहरणापमर्दनप्राप्तवस्तुशृङ्गारः ।
ईहामृगस्तु कार्यः चतुरङ्कविभूषितश्चैव ॥

भरत २०.८२-८५

इतना ही नहीं वे आगे कुछ और मुखर होते हैं और एक अन्य दिशा में संकेत करते हैं कि ऐसी कथावस्तु के ग्रथन में यदि वध्य पात्र का प्रयोग अनिवार्य हो गया हो तो किसी न किसी व्याज से उस युद्ध का शमन कर देना चाहिए। तात्पर्य यह कि यह वध्य और वधिक का सम्बन्ध नायक और नायिका अथवा नायक व विदूषक के मध्य तो होगा नहीं, निश्चित रूप से वे दोनों परस्पर विरोधी भूमिकायें ही होगी। ईहामृग की कथावस्तु में संक्षोम, विद्रव,[2] सम्फेट, स्त्रीभेदन, अपहरण, अपमर्दन जैसे भावों व कर्मों का निबन्धन बिना प्रतिद्वन्द्वी की भूमिका के कैसे सम्भव हो सकता है ? ऐसी क्रियाओं के प्रदर्शन के निषेध आदि के आधार पर यदि उन्हें नेपथ्य में प्रस्तुत करके अथवा अन्य

---

१. डिमसमवकारश्च व्यायोगेहामृगौ तथा। एतासां विद्धसंज्ञानि विज्ञेयानि प्रयोक्तृभिः एषां प्रयोगः कर्त्तव्यो देवदानवराक्षसैः ॥ भरत ३५.३५,६६

२. (क) विद्रवो देवासुरवैरनिमित्तं सम्प्रहारादिकम्। ना० द० द्वितीय विवेक तथा 'भयत्रासकारिणो वस्तुनो या शङ्काऽपायकारत्वसम्भावना सा द्रवति श्लथीभवतिहृदयमनेनेति द्रवः। उपनतं भयमुद्वेगः. तत्सम्मावना तु विद्रवः।'
ना० द० प्रथम विवेक

(ख) विद्रवो वधबन्धादि—द० रू० १.४५

(ग) शंकाभयत्रासकृतः सम्भ्रमो विद्रवो मतः। सा० द० ६.१००

माध्यमों यथा विष्कम्भक प्रवेशक आदि द्वारा सामाजिक तक संप्रेषित करने की बात मान ली जाए तो भी अप्रत्यक्षरूपेण प्रतिनायक की उपस्थिति तो माननी ही पड़ेगी।

डिम रूपक भेद के सम्बन्ध में भी भरत मुनि कुछ ऐसे ही विचार व्यक्त करते हैं :—

निर्घातचन्द्रसूर्योपरागसोल्कावपातसंयुक्तः ।
युद्धनियुद्धप्रहरणसंफेटकृतश्च कर्त्तव्यः ।।
मायेन्द्रजालबहुलो बहुपुरुषोत्थानभेदयुक्तश्च ।
देवभुजगेन्द्रराक्षसयक्षपिशाचावकीर्णश्च ।।
षोडशनायकबहुलः सात्त्वत्यारभटिवृत्तिसम्पन्नः ।
कार्यो डिमः प्रयत्नान्नानाश्रयभावसम्पन्नः ।। भरत २०.८८–९२

उपर्युक्त निर्घात, युद्ध, नियुद्ध, सम्फेट[1] प्रभृति कार्य नायक के प्रतिद्वन्द्वी द्वारा ही सम्भव होंगे स्वयं नहीं। यदि ये कर्म नायक द्वारा किये जाते हों तो भी किसके विरुद्ध ? वह भूमिका किसी प्रतिद्वन्द्वी की ही होगी स्वपक्षी की नहीं। ईहामृग व डिम में जहाँ तक षोडष नायक की बात है वह भी अपने में कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इसकी चर्चा के पूर्व समवकार एवं व्यायोग रूपकभेदों के सन्दर्भ में भरत मुनि के प्रतिनायकीय संकेतों की चर्चा अधिक उपयुक्त होगी। **समवकार**[2] का लक्षण करते हुए भरत मुनि कहते हैं :—

देवासुरबीजकृतः प्रख्यातोदात्तनायकश्चैव ।
त्र्यङ्कस्तथा त्रिकपटः त्रिविद्रवः स्यात् त्रिशृङ्गारः ।।
द्वादशनायकबहुलो ह्यष्टादशनाटिकाप्रमाणश्च ।। भरत २०.६६,६७

समवकार के तीनों अंकों में भरत मुनि ने त्रिशृङ्गार, त्रिविद्रव, एवं त्रिकपट के संयोजन का विधान किया है। त्रिविद्रव[3] की व्याख्या करते हुए वे स्पष्ट कहते हैं :—

युद्धजलसम्भवो वा वायु अग्निजलेन्द्रसम्भवो वाऽपि ।
नगरोपरोधजो वा विज्ञयो विद्रवस्त्रिविधः ।। भरत २०.७४

---

१. (क) संफेटो रोषभाषणम् ।—द० रू० १.४५, सा० द० ६.१०२
(ख) संफेट वस्तुतः ऐसा उत्तर प्रत्युत्तर है जो क्रोध का अभिव्यंजक हुआ करता है।' डॉ० सत्यव्रत सिंह—सा० द० १.१०२ पर विमर्श

२. भरत २०.६६–८१

३. 'विद्रवन्ति त्रस्यन्ति जना अस्मादिति विद्रवोऽनर्थः ।' —ना० द० द्वितीय विवेक

इसी प्रकार उन्होंने कपट भी तीन प्रकार के गिनाए हैं जिनकी योजना उन्होंने 'समवकार' में अनिवार्य मानी है :—

यस्तु गतिक्रमविहितो दैववशाद्वा परप्रयुक्तो वा ।
सुखदुःखोत्पत्तिकृतस्त्रिविधः कपटाश्रयो ज्ञेयः ॥ भरत २०.७५

तात्पर्य यह कि यहाँ तीन प्रकार के विद्रवों में युद्ध द्वारा उत्पन्न अथवा नगरोपरोधजन्य विद्रव (अनर्थ) और तीन प्रकार के कपटों में दैवी कारणों वाले कपट के अतिरिक्त जो पर प्रयुक्त कपट हैं उनके मूल में किसी नायक विरोधी भूमिका का अनुमान कठिन नहीं है ।

व्यायोग रूपक भेद में भरत मुनि समवकार के समान पुरुषबहुल, अल्पस्त्रीक एवं युद्ध-नियुद्ध, आघर्षण, संघर्षयुक्त कथावस्तु के ग्रथन का विधान करते हैं । भरत मुनि कहते हैं :—

व्यायोगस्तु विधिज्ञैः कार्यः प्रख्यातनायकशरीरः ।
अल्पस्त्रीजनयुक्तस्त्वेकाहकृतस्तथा चैव ॥
बहवस्तत्र च पुरुषाः कविभिः कार्याः यथा समवकारे ।
न च तत्प्रमाणयुक्ताः कार्या एकाङ्कनायकनिबद्धः ॥
न च दिव्यनायककृतः कार्यो राजर्षिनायकनिबद्धः ।
युद्धनियुद्धाघर्षणसंघर्षकृतश्च कर्त्तव्यः ॥ भरत (ओ) १८.१४२-१४४

इस एकांकी विधा में स्पष्ट रूप से पुनः भरत मुनि ने युद्ध-नियुद्ध, आघर्षण एवं संघर्ष के निबन्धन का विधान किया है । यद्यपि युद्ध-नियुद्ध को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत न करने का विधान भरत मुनि करते हैं किन्तु इसे किसी भी रूप में प्रस्तुत किया जाए, इस वस्तुस्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि उसमें दो परस्पर विरोधी भूमिकाओं की सत्ता तो होगी ही । भरत मुनि के 'दिव्यस्त्रीकारणोपगतयुद्ध' एवं स्त्री-अपहरण की व्यवस्था बिना विरोधी के कैसे सम्भव है ? इस विरोध की अभिव्यक्ति कैसे होगी रंगमंच पर ? यद्यपि नाट्य-वस्तु को रूपकों में दो प्रकार से प्रयुक्त होते देखा जाता है—एक तो वह वस्तु (कथावस्तु) अथवा घटना जो सामाजिकों को केवल सूचित कर दी जाती है, दूसरी वह जो दृश्य होती है[1] । अर्थात् 'नीरस', 'अनुचित' तथा 'विस्तृत' कथावस्तु तो विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार एवं प्रवेशक आदि के द्वारा सूचित कर दी जाती है[2] । सम्भव है दिव्य-स्त्रीकारणगत-युद्ध, अपहरण आदि

---

१. द्वेधा विभागः कर्त्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः ।
सूच्यमेव भवेत्किञ्चित् दृश्यश्राव्यमथापरम् ॥ —द० रू० १.५६

२. द० रू० १.५७-५८

अथवा डिम रूपक भेद में विहित माया, इन्द्रजाल, नियुद्ध, आवर्षण को अनुचित अथवा परित्याज्य मानकर उसका आङ्गिक अथवा आहार्य अभिनय न हो पर उसकी सूचना, विरोधी की चर्चा के बिना भी क्या सामाजिकों के हृदय को अविभूत कर सकेगी ? मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, अभिषेक अथवा मुद्राराक्षस और वेणीसंहार (कर्ण-अश्वत्थामा के मध्य विवाद) तथा महावीरचरित (तृतीय अङ्क) में वाग्युद्ध एवं शस्त्रास्त्रयुद्ध के अनेक स्थल आते हैं; उनमें से प्रतिनायक की भूमिका को हटाकर यदि उन क्रिया-कलापों को प्रवेशक, चूलिका और विष्कम्भक के माध्यम से ही सामाजिक तक संप्रेषित किया जाए तो क्या ये रूपक निर्जीव न हो जायेंगे ? फिर भी क्या प्रतिनायक की सत्ता समाप्त हो पायेगी ? दृश्य को श्रव्य बनाकर भी प्रतिनायक का आभास तो होगा ही । भास के 'ऊरुभङ्ग' में प्रतिनायक भीम मञ्च पर नहीं आता, फिर भी यह तो ज्ञात हो ही जाता है कि ऊरुभङ्ग का कारण कौन है ? अतः जहाँ कथावस्तु युद्ध-नियुद्धात्मक एवं वधबन्धात्मक होगी वहाँ प्रतिनायक की सत्ता तो होगी ही यह स्वीकार करना पड़ेगा ।

इस प्रकार हम भरत मुनि के नियमन-आवर्जन अर्थात् विधान और निषेध दोनों ही स्थलों पर युद्ध-नियुद्ध का उल्लेख पाते हैं । इन दोनों ही विधानों में इस प्रकार के संघर्ष को स्वीकार किया गया है जो बिना प्रतिद्वन्द्वी के सम्भव नहीं है ।

जहाँ तक द्वादश अथवा षोडश नायकों की बात है उसे स्पष्ट समझने के लिए भरत के समवकार रूपक के लक्षण[1] को देखें तो पता चलता है कि उसमें भरत मुनि तीन अङ्कों, बारह नायकों; वस्तु, स्वभाव एवं दैवादिकृत तीन कपटों; रण, पुररोध तथा अग्नि के कारण तीन बार विद्रव की योजना का विधान करते हैं। इस प्रकार के रूपक में हम जिस संघर्ष की सहज कल्पना कर लेते हैं उसी सन्दर्भ में बारह नायकों की योजना कुछ कुतूहलकारिणी है । डिम रूपक भेद में तो वे चार अङ्कों और सोलह नायकों की योजना का विधान करते हैं[2] । यह शास्त्रीय शैली भरत मुनि ने ही नहीं उत्तरवर्ती अन्य आचार्यों ने भी अपनायी है[3] । इस गुत्थी के सम्बन्ध में आचार्य अभिनवगुप्त का मत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । वे 'समवकार' के भरत मुनि-कृत लक्षण की व्याख्या करते हुए कहते हैं :—

'द्वादश-नायक-बहुल इति प्रत्यङ्कमिति केचित् । अन्ये तु नायकप्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चतुराहुः, समुदायापेक्षया हि द्वादशेति ।'

---

१. भरत २०.६६-८१

२. भरत २०.६२

३. द्रष्टव्य नाट्य दर्पण २.८७ (ईहामृग का लक्षण) दशरूपक ३.५८, ६४, रसार्णवसुधाकर ३.२८४—८८

यहाँ आचार्य अभिनवगुप्त ने दो मतों का उल्लेख किया हैं। प्रथम मत तो 'मघवामूल विडौजा टोका' है। फिर भी उसका अर्थ प्रत्येक अङ्क में बारह पात्रों की योजना से लिया जा सकता है। दूसरे मत के अनुसार 'समवकार' में तीन अङ्कों का विधान है। नायक + प्रतिनायक = २, उनके सहायक २ × २ = ४ और इनका तीनों अङ्कों में उपगूहन करते हुए अर्थात् ४ × ३ अङ्क = १२ नायकों की व्याख्या समझ में आने वाली है। वस्तुतः नाट्य-शास्त्रियों ने नायक-प्रतिनायक, उनके सहायक तथा अन्य मुख्य पुरुष पात्रों को नायक या नेता के रूप में स्वीकार किया है[1]।

अभिनवगुप्त के उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि किसी न किसी रूप में भरत मुनि प्रतिनायक की भूमिका को स्वीकार करते ही हैं। क्योंकि प्रतिनायक का महत्त्व यही है कि वह रङ्गमञ्च पर कुछ विशिष्ट भावों और कर्मों का अभिनय करने वाला नायक पहले है, प्रतिनायक बाद में। अतः कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में उसकी अनिवार्यता को अस्वीकार किया ही नहीं जा सकता।

नाटकलक्षणरत्नकोश एवं प्रतिनायक

यद्यपि आचार्य सागरनन्दी ने दशरूपककार के पश्चात् अपने ग्रन्थ नाटकलक्षण रत्नकोश' की रचना की है तथापि उन्होंने भरत का अनुकरण करते हुए ही सम्भवतः प्रतिनायक की लक्षण नहीं किया है। कारण जो भी रहा हो प्रकृत स्थल पर उनके पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्रियों के मतों के विज्ञापन के पूर्व ही सागरनन्दी के उल्लेखों में प्रतिनायक के अस्तित्व को ढूँढ़ने का कारण यही है कि वे प्रतिनायक का अभिधानतः लक्षण नहीं करते। फिर भी उनके ग्रन्थ में यत्र-तत्र ऐसे उल्लेख मिल जाते हैं जिसके आधार पर प्रतिनायक की भूमिका के महत्त्व के साथ ही उसके प्रति इस उपेक्षा के प्रमाण मिल जाते हैं।

---

१. (क) नेतारो देवगन्धर्वयक्षरक्षो महोरगाः ॥ द० रू० ३.५७
नेतारः प्राकृताः नराः ॥ द० रू० ३.७१
(ख) मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायकः प्रतिनायकः। ना० द० ४.११६ वृत्ति भाग
(ग) नेतारः प्राकृताः नराः। सा० द० ६.२५०
(घ) नेतारः स्युः पिशाचाद्याः······। नञ्जराजयशोभूषण
नेतारो देवदैत्याद्या······। नञ्जराजयशोभूषण
नेतारः प्राकृता मर्त्याः······। नञ्जराजयशोभूषण
व्यसनी पापकृद् द्वेष्यो नेता स्यात् प्रतिनायकः।
—नञ्जराजयशोभूषण
इन सभी स्थलों पर नेता या नायक 'पुरुष पात्र' का पर्याय है।

नाटक प्रसंग में पात्रों की योजना कैसे की जाए इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं:—'**सन्निहितनायकाङ्कश्च कार्यः। ये नायकाः पूर्वं कथिताः ते तत्र सन्निहिताः कर्त्तव्याः। नायको नायिका नायकौ। एकः प्रधानो नायकः। अपरश्च तस्योपनायकः। हन्तव्यश्च नायक एव**।' इस प्रकार वे किसी 'हन्तव्यनायक' की सत्ता को स्वीकार करते हैं। यह नायक किसी भी रूपकप्रबन्ध का मुख्यनायक नहीं हो सकता क्योंकि नायक हनन न तो संस्कृत की नाट्यशास्त्रीय परम्परा को स्वीकार्य है और न ही भारतीय संस्कृति एवं दर्शन को। यदि ऐसा सम्भव होता तो संस्कृत-साहित्य ने निश्चय ही त्रासदी जैसी नाट्यविधा को भी जन्म दिया होता। अस्तु, इस रूप में यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि सागरनन्दी जैसे उत्तरवर्ती आचार्य भी नाटकों में प्रतिनायक का उल्लेख न करते हुए भी 'हन्तव्यश्च नायक एव' के रूप में अप्रत्यक्षतः उसके अस्तित्व और महत्त्व को स्वीकार करते हैं।

भरत एवं सागरनन्दी जैसे नाट्यशास्त्रियों के अतिरिक्त **आचार्यदण्डी, आनन्दवर्धन** एवं **मम्मठ** प्रभृति साहित्यशास्त्रियों ने भी नायकप्रतिपक्ष के महत्त्व को स्वीकार किया है। **आचार्यदण्डी** तो ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने नायकप्रतिपक्ष को रिपु कहते हुए उसे नायकचरित के उत्कर्ष-चित्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना है। वे कहते हैं—

वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः॥ काव्यादर्श १.२२

अर्थात् 'नायक की महानता को दर्शाने के लिए उसके रिपु अर्थात् उसकी प्रतिस्पर्धी अथवा प्रतिपन्थी भूमिका के पराक्रम, यश, प्रतिष्ठा का उल्लेख करते हुए नायक द्वारा उसकी पराजय का वर्णन निश्चय ही एक हृदयावर्जक विधा हो सकती है। मुद्राराक्षस की सफलता के मूल में इस माध्यम को स्पष्टरूप से देखा जा सकता है।

विरोधीरसों की चर्चा करते हुए **आनन्दवर्धन** ने विधान किया है कि जब दो विरोधीरसों का एक स्थान पर आयोजन करना हो तो अङ्गीरस को तो मुख्य नायक के सन्दर्भ में निष्पन्न होता हुआ प्रदर्शित किया जाए तथा विरोधीरस को नायक विपक्ष से सम्बद्ध किया जाए। उदाहरण के रूप में यदि वीररस के साथ भयानकरस की निष्पत्ति अपेक्षित है तो वीररस को कथा के नायक से एवं भयानक रस को नायक की प्रतिपक्षी (प्रतिनायक) भूमिका से सम्बन्धित होना चाहिए, वे कहते हैं-—

'तत्र प्रबन्धस्थेन स्थायिनाङ्गिना रसेनौचित्यापेक्षया विरुद्धैकाश्रयो यो विरोधी यथा वीरेण भयानकः स विभिन्नाश्रयः कार्यः। तस्य वीरस्य यो आश्रयः कथानायकस्तद्विपक्षविषये सन्निवेशयितव्यः।' ध्वन्यालोक : ३.२५ वृत्तिभाग

इसी प्रकार करुणरस के सन्दर्भ में आनन्दवर्धन कहते हैं कि 'अभिनन्दनीय उत्कर्ष वाले नायक के प्रभावातिशय के प्रदर्शन के अवसर पर नायकप्रतिपक्ष से

सम्बन्धित करुणरस प्रेक्षकों के वैक्लव्य का कारण न होकर परमानन्द का कारण बनता है क्योंकि उससे नायकगतरस एवं नायक का ही उत्कर्ष तथा नायक-विरोधी के अपकर्ष का विज्ञापन होता है[1]। इन उल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भरत आदि कुछ नाट्यशास्त्रियों ने भी प्रतिनायक का प्रत्यक्षतः उल्लेख न करते हुए भी तद्गतरस प्रभृति विषयों पर विचार करते हुए प्रतिनायक की भूमिका के महत्त्व को स्वीकार किया है।

दशरूपक एवं प्रतिनायक

प्रतिनायक का अप्रत्यक्ष उल्लेख करने वाले इन आचार्यों के पश्चात् रूपकों के प्रसंग में प्रत्यक्षरूपेण प्रतिनायक की भूमिका का उल्लेख एवं लक्षण करने वाले आचार्यों में दशरूपककार आचार्य धनञ्जय एवं धनिक का उल्लेख आवश्यक है, क्योंकि प्रायः सभी परवर्ती नाट्यशास्त्रियों ने उन्हीं के लक्षण का अनुसरण किया है। प्रतिनायक, जिसे दशरूपककार ने नायक के रिपु की संज्ञा दी है, उसका लक्षण करते हुए कहते हैः—

'लुब्धः धीरोद्धतस्तब्धः पापकृद् व्यसनी रिपुः। —द० रू० २.६

इस लक्षण की व्याख्या करते हुए वृत्ति भाग में कहा गया है : —

'तस्य नायकस्य इत्थम्भूतः प्रतिपक्षनायको भवति यथा रामयुधिष्ठिरयोः रावण दुर्योधनौ।'

मूल एवं वृत्ति दोनों में ही यहाँ दशरूपककार प्रतिनायक का नामतः ग्रहण नहीं करते किन्तु इस लक्षण के विषयोल्लेख में तथा आगे ईहामृग[1] रूपक भेद के लक्षण प्रसंग में वे इस शब्द से अपना परिचय देते हैं। इस आधार पर कम से कम यह तो कहा ही जा सकता है कि दशरूपककार ऐसे प्रथम नाट्यशास्त्री हैं जो नायक-विरोधी भूमिका का लक्षण करते हैं। वस्तुतः नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से इसे नायक की प्रतिद्वन्द्वी भूमिका का सबसे प्राचीन एवं सबसे अर्वाचीन मत माना जाए तो कोई अत्युक्ति न होगी। क्योंकि आगे की सारी परम्परा शब्दान्तर से प्रायः इसी लक्षण को दुहराती है। ऐसा नहीं है कि किसी परवर्ती आचार्य ने मौलिक बात न कही हो, किन्तु उन पर भी दशरूपक का स्पष्ट प्रभाव है, ऐसा कहा जा सकता है।

प्रतिनायकलक्षण में उपात्त, लुब्ध, स्तब्ध, पापकृद्, व्यसनी एवं रिपु इन विशेषणों के अतिरिक्त धीरोद्धत विशेषण नितान्त पारिभाषिक हैं। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि इस विशेषण को अधिकांश आचार्यों ने इसी रूप में ग्रहण कर

---

१ किञ्च, नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित् प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधाति प्रत्युत प्रीत्यतिशय-निमित्ततां प्रतिपद्यते। ——ध्वन्यालोक ३.२० वृत्तिभाग

लिया है, अतः उसके सम्बन्ध में दशरूपककार की मान्यता स्पष्टरूपेण समझ लेनी अधिक उचित होगी। नायक भेद के प्रसंग में धीरोद्धत नायक का लक्षण करते हुए कहा गया है:—

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥—द० रू० २.५-६

दर्प अर्थात् शौर्यादिजन्य मद, तथा मात्सर्य—असहनशीलता, माया अर्थात् मन्त्र बल से अविद्यमान वस्तु का प्रकाशन, छद्म अर्थात् वंचना, चल अर्थात् अनवस्थित-चित्त, चण्ड—रौद्र स्वभाव एवं विकत्थन अर्थात् आत्म-गुणों का बखान, इन गुणों से युक्त नायक धीरोद्धत होता है[1]।

पहले हम देख चुके हैं कि अधिकांश देवों के चरित धीरोद्धत हैं। भरतमुनि ने स्पष्ट रूप से 'देवाः धीरोद्धताः ज्ञेयाः' कहकर देवों को धीरोद्धत का पर्याय बना दिया है। संस्कृत रूपकों का प्रतिनायक; ऊपर प्रतिनायक के लक्षण में गिनाए गए गुणों के परिप्रेक्ष्य में; लोभी, उजड्ड अथवा हठी[2] पापवृत्ति वाला तथा व्यसनी होने के साथ ही धीरोद्धत भी होता है अतः वह धीरोद्धतनायक के इन गुणों से संयुक्त होकर अधिक उद्धत हो उठता है। अतः लक्ष्यरूपकों में प्रतिनायक की भूमिका धीरोद्धतनायक से भी अधिक उद्धत होनी चाहिए। यदि लक्ष्य रूप में संस्कृत के रूपकों पर एक विहङ्गम दृष्टि डालें तो इतनी उद्धत भूमिका कुछ रूपकों के प्रतिनायकों के अतिरिक्त शकार की भी है। किन्तु शकार उद्धत कम उद्दण्ड अधिक है। उसमें औद्धत्य के अभाव से तात्पर्य उसके चरित्र में वीरता एवं उग्रता की न्यूनता से है।

दशरूपककार-कृत लक्षण का महत्त्व इस दृष्टि से और भी अधिक है कि वे प्रतिनायक को स्पष्ट रूप से 'रिपु' की संज्ञा देते हैं। 'महावीरचरित' में राम यद्यपि रावण के गुणों के प्रशंसक हैं किन्तु वे कहते हैं—'कामं शत्रुरिति वध्यः स्यात्' उनके इस कथन से दशरूपककार की ही धारणा का समर्थन होता है। किन्तु यदि किञ्चिद् व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो यह कहना अनुचित न होगा कि दशरूपक-कार ने इस लक्षण के माध्यम से शकार को भी प्रतिनायकत्व प्रदान कर दिया है।

---

१. द० रू० २.५-६ वृत्तिभाग

२. (क) स्तम्भो स्थूणाजड़ीभावौ। अमरकोष ३.३.१३५

(ख) वामन शिव आप्टे ने—'स्तम्भ कर्मणि कर्तरिवा क्त' के रूप में 'स्तब्ध' के कठोर, ढीठ, कठोरहृदय, निष्ठुर अथवा उजड्ड अर्थ किए हैं : देखें संस्कृत-हिन्दी शब्दकोश तथा स्तम्भ+क्त=स्तब्धः=हठी, देखें संस्कृत-शब्दार्थकौस्तुभ (तारिणीश झा)

सम्भवतः इसी कारण वे भरत की भाँति शकार की भूमिका के सम्बन्ध में अधिक मुखर नहीं है और शकार की गणना अन्तःपुर सहायकों के साथ करते हुए, वे उसे अन्तःपुर तक ही सीमित रखना चाहते हैं[1]। इतना ही नहीं वे उसे 'राज्ञः श्यालो हीनजातिः' कह कर ऐसा ही संकेत करते हैं। किन्तु मृच्छकटिक में शकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका को देखते हुए तथा (अपूर्ण) चारुदत्त एवं उसके भी पूर्ववर्ती सारिपुत्र-प्रकरण की खण्डित पाण्डुलिपि में दुष्ट-शकार की भूमिका की कल्पना करते हुए दशरूपककार की इस उपेक्षा का एकमात्र कारण यही प्रतीत होता है कि वे शकार की ऐसी भूमिका को 'रिपु' की इस भूमिका में ही सन्निहित मानते हैं।

इस सारी विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिनायक की भूमिका वस्तुतः अपने में धीरोद्धत-नायक के सारे गुण अन्तर्निहित करके कुछ ऐसे गुणों से भी युक्त होती है जिनसे नायक की प्रतिद्वन्द्विता को प्राण मिलता है। उसके आधार पर रूपक की कथावस्तु में भावद्वन्द्व एवं बाह्य-संघर्ष दोनों की अभिव्यक्ति में सजीवता आती है।

भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में, प्रतिनायक लक्षण में ग्रहीत धीरोद्धत' शब्द से दो महत्त्वपूर्ण संकेत ग्रहण किए जा सकते हैं। एक तो यह कि प्रतिनायक में औद्धत्य के साथ-साथ धीरता, गम्भीरता का भी सन्निवेश होना चाहिए। दूसरा यह कि उसमें धीरोद्धत नायक के अन्य गुण भी होने चाहिए। वस्तुतः इन दोनों संकेतों के परिप्रेक्ष्य में ही नाट्यशास्त्रियों ने प्रतिनायक के रूप में भी एक आदर्श भूमिका की परिकल्पना की है। लक्ष्यरूपकों में नाटककारों ने जिन चरितों को प्रतिनायक के रूप में उपस्थापित किया है वे सभी आदर्श-परायण हैं, मर्यादा-परायण हैं। एक क्षण उनके जोवन में ऐसा भी आता है जब वे गम्भीरतापूर्वक अपने दुष्कर्मों का प्रायश्चित्त करते हैं और तदर्थ ग्लानि का अनुभव करते हैं। यही आदर्श परायणता उन्हें पाश्चात्त्य खलनायकों से पृथक् करती है और यह मर्यादा ही उन्हें औद्धत्य के साथ-साथ धीरता की स्थापना का सम्बल देती है और उनकी भूमिका को गौरव प्रदान करती है। यही कारण है राम की दृष्टि में न तो रावण ही निन्दनीय है और न तो बाली। दोनों में ही ऐसे गुण हैं जो राम की स्पृहा के विषय हो सकते हैं।

अभिनवगुप्त (अभिनवभारती) एवं प्रतिनायक

आचार्य अभिनवगुप्त ने यद्यपि स्वतन्त्ररूप से किसी नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया है। किन्तु भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार होने के कारण

---

१. अन्तःपुरे वर्षवरा किराताः मूकवामनाः।
म्लेच्छाभीर-शकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः॥ —द० रू० २.४४—४५

उनके विचार स्वयं में नाट्यशास्त्र से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। एक स्थल पर वे कहते हैं :—

'धीरोदात्तधीरललितधीरप्रशान्तानांपूर्णोपायप्रवृत्तत्वेन नायकानाम् अतादृगुपायाश्रयेण प्रतिनायकानां च चरितं सफलत्वाफलत्वेन साक्षात्क्रियमाणम् वीराद्भुताभ्यां वीरशृङ्गार-हास्यैः, वीररौद्रभयानककरुणैः वीरवीभत्सशान्तैश्च प्रतिनायकगतरसान्तरसान्तरतया सातिशयचमत्कारगोचरीभूतैः हृदयानुप्रवेशं विदधद् धर्मादिचतुष्कोपायोपादेयधियमधर्मादिभ्यश्च निवृतिं निर्विशङ्कं विधत्त इत्यस्माकम् अधिगतश्रुतितत्त्वानामपि प्रत्यक्षसिद्धमेवैतत् ॥' भरत १.४ पर अभिनवभारती

उपर्युक्त कथन के आधार पर प्रतिनायक के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं :—[१]

(क) प्रतिनायकचरित का धीरोदात्त, धीरललित एवं धीरप्रशान्त नायकों से असदृश होना।

(ख) धीरोद्धतनायक के चरित से प्रतिनायक चरित के असादृश्य की बात न कहकर तद्गुणयुक्त प्रतिनायक भूमिका की स्थापना।

(ग) नायक की सफलता एवं प्रतिनायक की असफलता।

(घ) नायकगत-रस के विरोधी रसों के सन्दर्भ में प्रतिनायक का अस्तित्व।

तात्पर्य यह कि आचार्य अभिनवगुप्त भी प्रतिनायक में धीरोद्धत नायक के गुणों की अनिवार्यता को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करते हैं और मानते हैं कि प्रतिनायक का महत्त्व यह भी है कि वह नायक के सन्दर्भ में निष्पन्नमान रस के विरोधी रस का आश्रय होकर श्रोता अथवा दर्शक को अविभूत करता है।

नाटक-लक्षण-प्रसंग में भरतमुनि उसमें नानाविभूति, ऋद्धि, विलास आदि की योजना का विधान करते हुए कहते हैं :—

नानाविभूतिभिर्युतमृद्धिविलासादिभिर्गुणैश्चैव।
अङ्कप्रवेशकाढ्यं भवति हि तन्नाटकं नाम॥ भरत १८.११

अभिनवगुप्त उक्त 'गुणों' से प्रतिनायकगत अप्रधानभूत उन हेय चेष्टाओं का संकेत ग्रहण करते हैं जिनके माध्यम से प्रतिनायकगत-रस के सन्दर्भ में रसाभास अथवा भावाभास की स्थिति उत्पन्न होती है। वे कहते हैं :—**गुणैरित्यप्रधानभूतानि चेष्टितानि हेयानि प्रतिनायकगतानि अपायप्रधानानि'** इस कथन द्वारा भी प्रतिनायक के सम्बन्ध में इस धारणा की पुष्टि होती है कि नायिका-विषयक उसकी रति के माध्यम से उसे एक पापकारी चरित होना चाहिए। इसी विषय का समर्थन करते हुए वे पुनः कहते हैं, **'नाना प्रकारावस्थौ प्रतिनायकगतौ चरितसम्भोगावनुपादेयावविषये**

चेति हेयावस्थौ नायकगतौ तु तद्वैपरीत्यादुपादेयावस्थाविति तु शब्दस्यार्थः' (भरत १८.१६ पर अभिनव०)। यहाँ उपादेय एवं अनुपादेय अवस्थाओं का तात्पर्य वही है जो ऊपर कहा जा चुका है। इन उल्लेखों के आधार पर यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि अभिनवगुप्त भी प्रतिनायक को धीरोद्धतनायक के गुणों से युक्त तथा अन्य व्यसनों एवं पाप में प्रवृत्त भूमिका का प्रतिनिधि मानते हैं।

अध्याय के आरम्भ में भरतमुनि की प्रतिनायक सम्बन्धी धारणा पर प्रकाश डालते समय यह बताया जा चुका है कि अभिनवगुप्त 'तत्सहायौ च' के रूप में 'समवकार' एवं 'डिम' तथा तदनुसार 'ईहामृग' रूपक भेदों में प्रतिनायक के अतिरक्त उसके सहायक का भी उल्लेख करते हैं। यह विचार उन्होंने भरत के तत्तत रूपकों के लक्षण प्रसंगों में दिये हैं, अतः भरत जो प्रतिनायक का अभिधानतः लक्षण नहीं करते वे इस भेद से असहमत हो सकते हैं किन्तु अभिनवगुप्त निःसंदिग्ध रूप से प्रतिनायक एवं उसके सहायक उपप्रतिनायक का अस्तित्त्व स्वीकारते हुए उसकी भूमिका को, इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण मानते हैं, ऐसा कहा जा सकता है। इतना ही नहीं आगे चल कर शृङ्गार-प्रकाशकार के प्रतिनायक सम्बन्धी विचारों में यदि अभिनवगुप्त की इस धारणा का विकास देखा जाए तो कुछ अनुचित न होगा। (देखें, द्वितीय फलक पृ० ८६)

शृङ्गारप्रकाशकार एवं प्रतिनायक

प्रतिनायक के शास्त्रीय स्वरूप के सम्बन्ध में शृङ्गारप्रकाशकार सर्वाधिक मुखर आचार्य हैं। शृङ्गारसम्बन्धी अपनी धारणा के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने नायकों के अनेक विभाजन किए हैं; जिनके भेदक धर्मों के रूप में उन्होंने गुण, प्रकृति, प्रवृत्ति और परिग्रह को ग्रहण किया है। **'धैर्य हि नाम नायकव्यपदेशहेतुरिन्द्रियाविकारकारणं चित्तधर्मः। येन सतां सत्यपि गर्वादिहेतो गुणसमूहेनोत्सेकादयो जायन्ते'** के रूप में उन्होंने नायकों के संदर्भ में धीरता को ऐकान्तिक गुण के रूप में स्वीकार करते हुए धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्त चार प्रकार के मुख्य भेद माने हैं तथा उपर्युक्त भेदक धर्मों के आधार पर अन्य नाना भेदोपभेद किए है।

प्रकृत सन्दर्भ में धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष शृङ्गार के चारों भेदों में मोक्ष-शृङ्गार सम्बन्धी व्याख्यान के अवसर पर (२१वें अध्याय में) वे स्पष्ट रूप से प्रतिनायक का उल्लेख करते हैं। प्रतिनायक ही नहीं उस अवसर पर उनका नायक विभाजन भी रूपकप्रबन्धों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं :—**'सोऽयं धर्म-शृङ्गाराद्यधिकार-भेदात् नायकश्चतुर्धा, धीरोदात्तो धीरोद्धतो धीरललितो धीरप्रशान्तश्चेति। अथैव प्रत्येकमपि चतुर्धा भिद्यते। नायक उपनायकोऽनुनायकप्रतिनायक इति।** अर्थात् रूपक-प्रबन्धों में नायक, उपनायक, अनुनायक एवं प्रतिनायक के रूप में चार प्रकार की पुरुषों

भूमिकाएं होती हैं। धोरोदात्तादि भेद से उनके भी चार-चार भेद होने से इनकी कुल संख्या सोलह हो जाती है[1]। (देखें, प्रथम-फलक पृ० ८५)

प्रतिनायक-प्रतिनायिका के मौलिक भेद

शृङ्गारप्रकाशकार का यह विभाजन उनके नायिकाओं के विभाजन को भी प्रभावित करता है और वह प्रकृत सन्दर्भ में अत्यन्त उपयोगी है। वे कहते हैं :— '**सापि नायकवच्चतुर्विधा। उदात्ता, उद्धता, ललिता शान्ता, च। धैर्यमासाविवक्षितमधीराणाम्। ता अपि प्रत्येकं पुनश्चतुर्धा। नायिका, उपनायिका, अनुनायिका प्रतिनायिका च**' अर्थात् स्त्रियों के अधीर स्वभाव को ध्यान में रखते हुए नायिकाओं को धोरोदात्त आदि के रूप में न मानते हुए केवल उदात्ता, उद्धता, ललिता तथा शान्ता के रूप में रखकर, नायकों के भेदों की भाँति उनको भी मुख्यनायिका, उपनायिका, अनुनायिका एवं प्रतिनायिका के रूप में चतुर्धा विभक्त करके उनके सोलह भेद मानने चाहिए (देखें : प्रथम फलक पृ० ८५) शृङ्गारप्रकाशकार के इन सोलह नायकों एवं सोलह नायिकाओं में प्रतिनायक एवं प्रतिनायिका के चार-चार भेद हो जाते हैं। इस विभाजन के माध्यम से शृङ्गारप्रकाशकार ने प्रतिनायक की भूमिका को जो महत्त्व प्रदान किया है वह मौलिक भी है और विचार सापेक्ष भी। विचारसापेक्ष इसलिए कि एक ओर वे नायक के रूप में प्रतिनायक को गणना करते हुए उसे उदात्त, उद्धत, ललित एवं प्रशान्त मानते हैं, दूसरी ओर प्रतिनायक का लक्षण करते हुए कहते हैं— '**नायकप्रतिकूलवृत्तिः तदुच्छेदावहः प्रतापाभिमानार्थसाहसादिगुणोत्कर्षो धीरोद्धतः प्रतिनायकः**[2]' अर्थात् नायक के प्रतिकूल आचरण करने वाला, नायकोच्छेद में लग्न, प्रताप, अभिमान और साहस आदि गुणों से युक्त एवं धीरोद्धत स्वभाव वाला नायक प्रतिनायक होता है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि प्रतिनायक का यह लक्षण नायक[3] उपनायक[4], अनुनायक[5], इन नायकों का वर्गीकरण करते समय दिया गया है न कि

---

१. '......the classification of characters into—Hero, Anti-Hero, Sub-Hero etc. Nayaka, Pratinayaka Upnayaka and Anu-nayaka. Illustrations of these four multiplied by the four old types of Dhirodatta etc. which gives 16 varieties in all.'

Dr. Raghavan, *Bhoja'Shringaraprakasha*

Page 40

२. शृ० प्र० २१ वाँ प्रकाश पृ० ७७०

३. 'कथाशरीरव्यापी यथोक्तगुणयुक्तो नायकः'—वही पृ० ७६८

४. 'नायकाभ्यर्हणीयः सम उत्कृष्टो वा नवाप्तपद उपनायकः' वही, पृ० ७६८

५. 'नायकात्किञ्चिदूनः कथाशरीरे विशेषोपयोगवान् अनुनायकः'—वही, पृ० ७७०

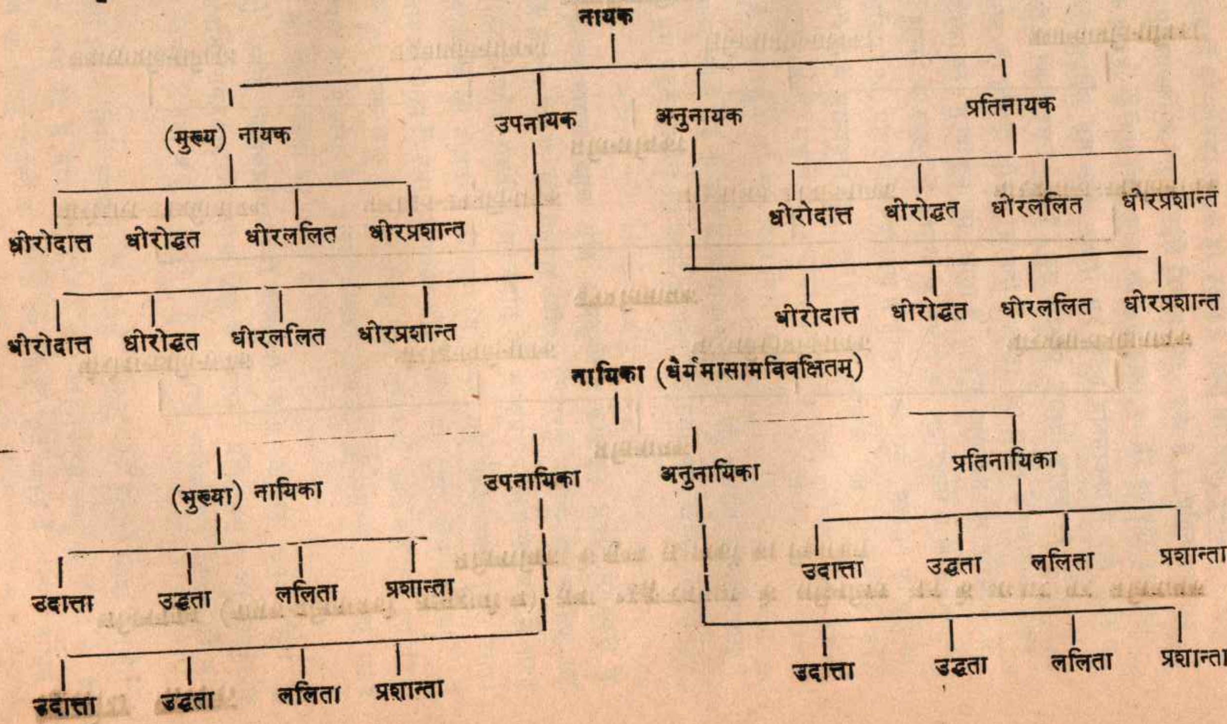
मुख्य-धीरोदात्तादि के आधार पर इन सभी के प्रभेद करते हुए। अतः प्रतिनायक के रूप में श्रृङ्गारप्रकाशकार का विभाजन किंचित् चिन्त्य प्रतीत होता है क्योंकि इस रूप में धीरोद्धत यह 'पद' पुनरुक्त हो जाता है अर्थात् श्रृङ्गारप्रकाशकार के अनुरूप एक ओर तो प्रतिनायक; धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरशान्त हो सकता है दूसरी ओर उपयु्क्त कथन द्वारा वे उसे नियतरूपेण धीरोद्धत मानते हैं। अस्तु, इससे प्रतिनायक के इस चतुर्विध विभाजन की उनकी मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आता। दशरूपककार के प्रतिनायकलक्षण तथा अभिनवगुप्त के 'द्वादशनायक बहुल (समवकार)' एवं 'षोडशनायक बहुल (डिम)' के रूप में, पूर्वोक्त नायक-विभाजन के परिप्रेक्ष्य में भोजराज के इस विभाजन का महत्त्व और भी बढ़ जाता है।

जैसा कि कहा जा चुका है, नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में, 'नायक' अथवा 'नेता' पद का प्रयोग नायक सामान्य के लिए किया गया है और उस आधार पर प्रतिनायक भी उसमें ग्रहीत है। अभिनवगुप्त के विभाजन 'नायक प्रतिनायकौ तत्सहायौ च' के आधार पर यदि देखा जाए तो शास्त्रीय दृष्टि से प्रतिनायक के पुनः भेद करते हुए आठ प्रतिनायकों की गणना की जा सकती है (देखें : द्वितीय फलक, पृ० ८६)

इसी प्रकार नायिकाओं के विभिन्न भेदों (खण्डिता, विप्रलुब्धा, विरहोत्कण्ठिता आदि) में प्रतिनायिकाओं के भी अनेक रूपों के दर्शन हो जाते हैं। प्रायः नायक का पर-स्त्रीगमन तथा उसका अन्यान्य नायिकाओं से प्रेम ही नायिकाओं की इन मनःस्थियों के मूल में सन्निहित हैं,वस्तुतः यह नायिकाओं का एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण ही है। अतः जब कभी नायक अथवा पति किसी अन्य नायिका के समीप से लौटता है तो पत्नी की प्रति-क्रियाओं में किसी प्रतिनायिकाके स्वरूप के ही दर्शन होते हैं। इसी कारण श्रृङ्गारप्रकाशकार ने कहा है कि जब कृष्ण ऐसे ही प्रेम प्रसंगों के बाद लौटकर रुक्मिणी के समक्ष आते हैं तो रुक्मिणी के मुखपर मन्यु के स्थान पर प्रसन्नता को देखकर उसमें उदात्ताप्रतिनायका के दर्शन होते हैं। ऐसी ही परिस्थितियों में उन्होंने सत्यभामा की क्रोधमिश्रित प्रतिक्रिया के आधार पर उसे उद्धता प्रतिनायिका माना है। यहाँ यह भी कहना अनुचित न होगा कि नायकों के सहायकों की अपेक्षा नायिकाओं की सखियों अथवा सहायिकाओं की संख्या अधिक होती है, उनमें भी अन्तरङ्ग सखियों का स्वरूप, नायकों के सहायकों की भाँति ही, महत्त्वपूर्ण होता है और उपर्युक्त प्रसंगों में उनकी प्रतिक्रिया भी प्रायः नायिकाओं के अनुकूल ही होती है। अतः प्रतिनायिकाओं की इन सहायिकाओं को उपप्रतिनायिकाओं के रूप में देखते हुए उनके भी उदात्ता-उपप्रतिनायिका आदि चार भेद किये जा सकते हैं। श्रृङ्गारप्रकाशकार ने उपप्रतिनायिकों की भाँति उपप्रतिनायिकाओं का कोई विभाजन नहीं किया है तो भी प्रतिनायिका सम्बन्धी उनका विभाजन नितान्त मौलिक है।

प्रथम फलक

श्रृङ्गारप्रकाश (२१वें प्रकाश) के आधार पर नायक-नायिका विभाजन



द्वितीय फलक

अभिनवगुप्त (नायक-प्रतिनायकौ तत्सहायौ च) तथा शृङ्गारप्रकाश के सम्मिलित मत के आधार पर प्रतिनायक तथा प्रतिनायिका के मुख्य सहायकों का विभाजन

प्रतिनायक

- धीरोदात्तप्रतिनायक
- धीरोद्धतप्रतिनायक
- धीरललितप्रतिनायक
- धीरप्रशान्तप्रतिनायक

उपप्रतिनायक

- धीरोदात्त-उपप्रतिनायक
- धीरोद्धत-उपप्रतिनायक
- धीरललित-उपप्रतिनायक
- धीरप्रशान्त-उपप्रतिनायक

प्रतिनायिका

- उदात्ताप्रतिनायिका
- उद्धताप्रतिनायिका
- ललिताप्रतिनायिका
- प्रशान्ताप्रतिनायिका

उपप्रतिनायिका

- उदात्ता-उपप्रतिनायिका
- उद्धता-उपप्रतिनायिका
- ललिता-उपप्रतिनायिका
- प्रशान्ता-उपप्रतिनायिका

जहाँ तक प्रतिनायकों के उपर्युक्त भेदप्रभेदों का प्रश्न है इन्हें स्वीकार कर लेने के बाद उन प्रतिनायकों की भूमिका सार्थक हो उठती है जिन्हें घोरोद्धत, पूर्णोद्धत, अर्धोद्धत और औद्धत्यहीन प्रतिनायकों के रूप में पहले दिखाया जा चुका है। प्रतिनायक रावण की विभिन्न रूपक प्रबन्धों में भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमिकाओं को भी व्याख्या इस प्रकार सुगम हो जाती है क्योंकि हम अनेक स्थलों पर अनेक प्रतिनायकों में पाते हैं कि वे नायक-विरोधी तो हैं किन्तु उद्धत नहीं हैं। इस दृष्टि से मालती-माधव में नन्दन की भूमिका, अघोरघण्ट की भूमिका और पद्मावती के राजा, जो नन्दन के सहायक के रूप में हैं, उनकी भूमिका का मूल्याङ्कन हो जाता है। इस व्याख्यान के परिप्रेक्ष्य में, 'मृच्छकटिक' के शकार के स्वरूप में औद्धत्य के अभाव को, मुद्राराक्षस में शकटदास एवं चन्दनदास की भूमिका को, प्रतिज्ञायौगान्धरायण में भरतरोहक एवं महासेन की भूमिका को, 'महावीरचरित' में माल्यवान् एवं शूर्पणखा की भूमिका को, वेणी-संहार तथा पञ्चरात्र में दुःशासन, कर्ण, शकुनि, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, द्रोण, दुर्योधन तथा भीष्म की भूमिकाओं के मूल्याङ्कन को नयी दिशा मिल जाती है।

समवकार रूपक भेद के उल्लेख के साथ भरतमुनि की मान्यता की अभिनवगुप्त कृत व्याख्या में हम पहले ही देख कि उसमें दो प्रकार के मतों का उल्लेख उन्होंने स्वयं ही किया है :—

(क) **द्वादश नायक बहुल इति प्रत्यङ्कमिति केचित्**। अर्थात् समवकार में तीन अङ्क होते हैं और इस मत के अनुसार प्रत्येक में बारह नायक होने चाहिए; इस मत की भी दो व्याख्याएँ हो सकती हैं (अ) अर्थात् ऐसे रूपकप्रबन्धों के प्रत्येक अङ्क में बारह पुरुष पात्रों से अधिक की योजना न की जाय (ब) अथवा एक मुख्य नायक दूसरा उसका सहायक-उपनायक (पीठमर्द) तथा प्रतिनायक और उनके भी (तीन-तीन) सहायकों की योजना करते हुए प्रत्येक अङ्क में बारह-बारह पुरुष भूमिकाएँ होनी चाहिए। इस प्रकार समवकार रूपक भेद में भरत के 'द्वादशनायकबहुलःत्र्यङ्कः' की व्याख्या करते हुए उसमें ३६ नायकों का प्रयोग किया जा सकता है।

(ख) **अन्येतु नायकप्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चतुराहुः समुदायापेक्षा हि द्वादशेति'** अर्थात् 'समवकार' के प्रत्येक अङ्क में, नायक + प्रतिनायक = दो, उनके एक एक सहायक = चार × तीन अङ्क के अनुसार कुल बारह नायकों की योजना की जानी चाहिए।

इसी प्रकार 'डिम' रूपकभेद में सोलह नायकों का विधान किया गया है[1]। चूँकि डिम रूपक भेद में चार अङ्क होते हैं अतः अभिनवगुप्त उपर्युक्त गणित के अनुसार, उसमें भी सोलह नायकों की गणना कर लेते हैं। हमें ध्यान में रखना चाहिए कि

१. भरत २०.८८–९२: लक्षण हेतु देखें, प्रबन्ध पृ० ७३

अभिनवगुप्त की यह दृष्टि तो रूपकभेद विशेष में प्रयुक्त नायक प्रतिनायक की भूमिकाओं के सम्बन्ध में है जबकि शृङ्गारप्रकाशकार का विभाजन सभी नायकों को संग्रहीत करते हुए उनके भेदों से जुड़ा हुआ है। इस दृष्टि से शृङ्गारप्रकाशकार की नायक-प्रतिनायिक सम्बन्धी धारणा और अधिक मूल्यवान् हो उठती है।

शृङ्गारप्रकाशकार भोज; नायक, प्रतिनायक के अतिरिक्त, उपनायक तथा अनुनायक के रूप में चार भूमिकाओं का उल्लेख करते हैं। यह अभिनवगुप्त की उपर्युक्त व्याख्या से भिन्न है और किंचिद् व्यापक दृष्टि से देखें तो हम पाते हैं कि अभिनवगुप्त, नायक एवं प्रतिनायक के एक-एक सहायक का उल्लेख करते हैं किन्तु भोजराज नायक के दो सहायक; उपनायक तथा अनुनायक का उल्लेख करते हैं और प्रतिनायक को निःसहाय छोड़ देते हैं जो कि उचित प्रतीत नहीं होता है। इस सन्दर्भ में शृङ्गारप्रकाशकार के रूपक प्रबन्धों की कथावस्तु और उसके भेद सम्बन्धी मत पर प्रकाश डालना आवश्यक है क्योंकि उसके बिना नायक के उपनायक एवं अनुनायक जैसे दो विशिष्ट सहायकों का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता है।

भरत मुनि[१] की ही इतिवृत्त सम्बन्धी कारिकाओं को कुछ परिवर्तन के साथ स्वीकार करते हुए शृङ्गारप्रकाशकार तीन प्रकार के इतिवृत्त का उल्लेख करते हैं; अधिकारिक, आनुषङ्गिक तथा प्रासङ्गिक[२]। ध्यान देने की बात है कि भरत ने दो प्रकार की ही कथावस्तु मानी हैं; वे हैं—आधिकारिक तथा प्रासङ्गिक। आनुषङ्गिक को उन्होंने प्रासङ्गिक का पर्याय माना है। किन्तु शृङ्गारप्रकाशकार ने इन दोनों में अन्तर किया है। डॉ राघवन् कहते हैं :

> But Bhoja has three divisions and derives these three evedently from Bharata's text itself, Bharata uses Prasangika and Anusangika as synonyms but Bhoja takes the two as slightly different. This is quite characteristic of Bhoja. He says :

---

१. इतिवृत्तं द्विधा चैव बुधस्तु परिकल्पयेत्।
आधिकारिकमेकं तु प्रासङ्गिकमथापरम्॥
यत्कार्यं हि फलप्राप्त्या सामर्थ्यात् परिकल्प्यते।
तदाधिकारिकं ज्ञेयमन्यत् प्रासङ्गिकं विदुः॥
कारणाय फलयोगस्य वृत्तं स्यादाधिकारिकम्।
परोपकारणार्थं तु कीर्त्यते ह्यानुषङ्गिकम्॥ —भरत: २१.२, ३, ५

२. भरत से तुलना हेतु प्रबन्ध पृ० ८६ पर डा० राघवन् द्वारा उद्धृत कारिकाएँ देखें।

तथा चोपक्षेपादयः प्रबन्धेष्वाधिकारिकाः आनुषङ्गिका प्रासङ्गिका वा प्रयोक्तव्याः तत्र किमाधिकारिकम् ? किम् आनुषङ्गिकम् ?

यत् कार्यं हि फलप्राप्तौ समर्थं परिकल्प्यते
तदाधिकारिकं ज्ञेयं अन्यद् स्यादानुषङ्गिकम् ॥
करणात् फलयोगस्य वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ।
तस्योदाहणार्थं तु प्रासङ्गिकमुदाहृतम् ॥

Bhoja does not further explain how Prasagika differs from Anusangika. He maens to take the Prasangika as a sub-class of the Anusangika. Itis not known what Bhaja means by charecterisation of the Prasangika with the words "आधिकारिकस्य उदाहरणार्थम्." We may venture to suggest that Anusangika and Prasangika respectilvely refer to Pataka and Prakari. The two Anustubha given above are Bharta's verses with slight changes.

Bhoja's Shingaraprakasha. p. 600

पताका एवं प्रकरी के भेद को दृष्टि में रखते हुए ही आनुषङ्गिक तथा प्रासङ्गिक इतिवृत्त का अन्तर कुछ समझा जा सकता है। दशरूपककार की मान्यता है—

सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक् । द० रू० १.१३
दूरं यदनुवर्तते प्रासङ्गिकं सा पताका, सुग्रीवादिवृत्तान्तवत् ।
पताकेव साधारणनायकचिह्नवत्तदुपकारित्वात् यदल्पं सा प्रकरी श्रावणादिवृत्तान्तवत् ॥

दशरूपककार ने यहाँ शबरी के वृत्तान्त को प्रकरी के रूप में एक लघु कथानक मान लिया है। किन्तु इससे भोज के उपनायक एवं अनुनायक के भेद पर स्वल्प ही प्रकाश पड़ता है। इसके विपरीत नाट्यदर्पणकार की प्रकरी सम्बन्धी व्याख्या से इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश डाला जा सकता है। नाट्यदर्पणकार; दशरूपककार की भाँति पाँच अवस्थाओं और पाँच अर्थप्रकृतियों के संयोग से सन्धियों की सृष्टि की मान्यता के विरुद्ध हैं। वे मात्र पञ्चावस्थाओं से ही पञ्चसन्धियों का सम्बन्ध मानते हैं। उनकी दृष्टि में किसी भी नाटक में पताका, प्रकरी का होना अनिवार्य नहीं है। अतः उनकी यह विवेचना कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं :—

'प्रकरी चेत् क्वचिद्भावी चेतनोऽन्यप्रयोजनः। क्वचिद् भावी वृत्तैक-देशव्यापी अन्यस्य मुख्यनायकस्यैव प्रयोजनं यस्य स चेतनः सहकारी प्रकर्षेण स्वार्थानपेक्षया करोतीति

प्रकरी। औणादिके 'इ' प्रत्यये संज्ञाशब्दत्वेनः स्त्रीत्वम्। यथा रामप्रबन्धेषु जटायुः। चेदित्यनेन पताकावदनवश्यम्भावित्वमाह। क्वचिद् भावित्वात् स्वार्थनिरपेक्षत्वाच्च पताकातो भेद इति।'—ना० द० प्रथम विवेक

अर्थात् स्वार्थ की भावना से रहित होकर जब कोई पात्र ऐसा कार्य करता है जो नायक के कार्य में सहायक सिद्ध होता है तो उसकी कथा को प्रकरी मानना चाहिए पताका इसके विपरीत इतिवृत्त का वह अंश होता है जो 'दूरं यदनुवर्तते' तो होता ही है मुख्य-कथानक की दृष्टि से आवश्यक भी होता है। अतः प्रकरी एक स्वतन्त्र किन्तु ऐसी अवान्तरकथा है कि यदि उसे अलग कर लिया जाए तो मुख्य कथा में विशेष अन्तर नहीं आता। उसका नायक भोज की दृष्टि से उपनायक होता है क्योंकि उसका चरित मुख्य नायक के समान ही उत्कृष्ट होता है जैसे जटायु की कथा और जटायु का नायकत्व दूसरी ओर सुग्रीव-बाली की प्रतिद्वन्द्विता और सुग्रीव द्वारा राम की सहायता का वचन देने और उसे अन्त तक निभाने की कथा पताका है। सुग्रीव की स्वार्थपरक सहायता एवं उसकी अन्त तक उपस्थिति उसे अनुनायक बनाती है। शृङ्गार—प्रकाशकार अपने इस विभाजन को सैद्धान्तिक ढङ्ग से उपस्थापित करते हुए मानते हैं कि पताका तो 'साधकतम करणम्' के रूप में एक सहायक, साधनभूत होती है, जबकि 'प्रकरी' साधक होते हुए भी स्वतन्त्र एवं 'परार्थी' कथा होती है क्योंकि पताका के नायक की भाँति प्रकरी के नायक का मुख्यनायक से कोई स्वार्थ नहीं होता। इसे ही और अधिक स्पष्ट करते हुए डॉ० राघवन् कहते हैं : The former (PATAKA) is a bigger episode running to the end; it is by it self a complete sub-plot, the character in it has his own purpose served and helps also the main hero to achieve his purpose. The PRAKARI differs from PATAKA; it has no purpose for itself and is purely for the development of the main plot, PARNRTHA.

—*Bhoja's Shringaraprakasha PP 597, 598*

अर्थात् प्रकरी तो रूपकान्तर्गत उपरूपक है, प्रासङ्गिक है, उसका नायक उपनायक[1] होता है किन्तु पताका जिसका नायक स्वार्थवश-मुख्यनायक का अनुगन्ता होता है; अनुनायक[2] होता है और पताका की कथा भी रूपक के अन्त तक चलती है अतः आनुषङ्गिक होती है।

१. नायकाभ्यर्हणीयः सम उत्कृष्टोवा नवाप्तपदः उपनायकः।
शृङ्गार० २१ वाँ प्रकाश

२. नायकात्किंचिदूनः कथाशरीरे विशेषोपयोगिवान् अनुनायकः।
शृङ्गार० २१ वाँ प्रकाश

इस प्रकार से शृङ्गार-प्रकाशकार के उपनायक एवं अनुनायक की भूमिका की इस पृष्ठभूमि को समझने के बाद स्वाभाविक रूप से इनकी प्रतिद्वन्द्विता में आने वाले प्रतिनायकों के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठता है कि उन्हें क्या माना जाये—प्रतिनायक ? यदि हाँ, तो मुख्यनायक के प्रतिस्पर्धी मुख्य प्रतिनायक से इनकी भिन्नता को किस प्रकार रेखाङ्कित किया जा सकता है ? यदि उपनायक के प्रतिद्वन्द्वियों को पूर्वोक्त धीरोदात्तादि उपप्रतिनायकों में ही रख लिया जाय तो भी अनुनायकों के विरोधी प्रतिनायकों के लिए एक अन्य विभाजन तो करना ही होगा और उन्हें भी धीरोदात्तादि भेद से चार प्रकार का मानना ही होगा। इसे स्वीकार कर लेने पर प्रतिनायक के भी बाहर भेद हो जाते हैं। किन्तु व्यापक दृष्टि से ऐसे अन्य विभाजन मात्र गणना के लिए ही करना उचित होगा अन्यथा मुख्यप्रतिनायक (धीरोदात्तादि) के सभी सहायकों को चाहे वे प्रासङ्गिक कथा के प्रतिनायक हों अथवा आनुषङ्गिक इतिवृत्त के उन्हें उपप्रतिनायक ही मानना उचित होगा।

प्रतिनायक को 'धीरोद्धत' इस अनिवार्य गुण के कारण धीर तो सभी मानते हैं यहाँ तक कि शृङ्गारप्रकाशकार भी मानते हैं—यह हम देख चुके हैं, किन्तु उसमें औदात्त्य, लालित्य एवं शान्त इन गुणों की भी सत्ता स्थापित करके शृङ्गारप्रकाशकार ने जहाँ एक मौलिक उद्भावना की है वहीं इस बात का महत्त्व भी स्थापित किया है कि संस्कृत रूपकों का प्रतिनायक आदर्शोन्मुख है; उसके चरित्र में नायक की तुलना में गुणों का अकाल नहीं है और उसका विरोध सैद्धान्तिक है, नैसर्गिक नहीं, जिसके उदाहरण में 'दूतघटोत्कच' का दुर्योधन हो अथवा 'मुद्राराक्षस' का राक्षस, 'महावीरचरित' का रावण हो अथवा 'मध्यमव्यायोग' का भीम हो अथवा घटोत्कच, इन सभी में इनकी आदर्शपरायणता के कारण संस्कृत के प्रतिनायकों में भी लालित्य, औदात्त्य एवं शान्त जैसे गुण खोजे जा सकते हैं। किन्तु इस तथ्य को सदा दृष्टि में रखना चाहिए कि यह आवश्यक नहीं है कि नाट्यशास्त्री नयी दिशा न दें और नाटककार नाट्यशास्त्रियों के बताए मार्ग से हटकर नाट्यरचना न करें।

तात्पर्य यह कि शृङ्गारप्रकाशकार के प्रतिनायक लक्षण में प्रयुक्त 'तच्छुछेदावहः' इस पद पर दशरूपककार के 'रिपु' का प्रभाव है और 'प्रतापाभिमान साहसादिगुणोत्कर्षी' इस पद पर उनके धीरोद्धत विशेषण का प्रभाव है। दूसरी ओर शृङ्गारप्रकाशकार की 'नायक प्रतिकूलता' वाली मान्यता ने नाट्यदर्पणकार को; प्रतिनायक को नायक प्रतिपन्थी कहने की प्रेरणा दी है ऐसा कहा जा सकता है, जिसे हम आगे देखेंगे। वैसे शृङ्गारप्रकाशकार ने 'धीरोद्धत' विशेषण को यथापूर्व रूप में ग्रहण करके भी दशरूपककार का आभार स्वीकार किया है। तथापि भोजराज ने धीरोदात्तादि प्रतितायकभेदों के रूप में दशरूपककार की प्रतिनायक को रिपु मानने की स्थापना का खण्डन कर दिया है। क्योंकि

धीरोदात्त नायक की भाँति धीर और उदात्त, धीरललित-नायक की भाँति धीर और ललित तथा धीरप्रशान्त-नायक की भाँति प्रतिनायक को धीर एवं प्रशान्त मान लेने पर उसका 'रिपुभाव' तो स्वतः ध्वस्त हो जाता है। यह शृङ्गारप्रकाशकार भोज के चिन्तन की मौलिकता है।

वस्तुतः इस व्याख्यान में प्रतिनायक की भूमिका के प्रति जो उदारता है उसका सम्बन्ध भारतीय संस्कृति की उस धरोहर से है जो कर्मसिद्धान्त के रूप में सुरक्षित है और जहाँ कर्म को फल से जोड़ते हुए उसे निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया के रूप में माना गया है। ऐसी संस्कृति में वैर की भावना भी शान्त हो सकती है और शत्रुगण मित्रों के रूप में भी परिवर्तित हो सकते हैं, वे किसी सीमा तक नायक के प्रतिगामी तो हो सकते हैं किन्तु रिपु अर्थात् शत्रु नहीं हो सकते। क्योंकि नायक के महनीय गुण उस समय निरर्थक हो जाते हैं जब नायक अपने शत्रुपक्ष का हृदय-परिवर्तन नहीं करा पाता। इसी कारण भारतीय संस्कृति में हृदय-परिवर्तन का भी महत्त्व है। लक्ष्य रूपकों में हम प्रायः पाते हैं कि नायक अपने प्रतिद्वन्द्वी को आत्मसमर्पण, क्षमा-याचना एवं प्रायश्चित्त के लिए बाध्य कर देता है। ऐसी स्थिति में उसे रिपु नहीं कहा जा सकता वह मित्र हो जाता है। अधिक से अधिक वह समान स्पर्धा के साथ समकक्ष आकर एक प्रतिद्वन्द्वी बना रह सकता है।

हेमचन्द्र और प्रतिनायक

प्रसिद्ध नाट्यशास्त्री रामचन्द्र के गुरु हेमचन्द्र भी उन आचार्यों में हैं जिन्होंने प्रतिनायक की भूमिका का लक्षण किया है। वे काव्यानुशासन में कहते हैं :—

'व्यसनी पापकृल्लुब्धः स्तब्धो धीरोद्धतः प्रतिनायकः।

काव्यानुशासन० ७.२०

जिसके आधार पर अपने इस लक्ष्य परिवेश में, प्रतिनायक चरित में 'धीरोद्धत' यह गुण विद्यमान रहता है। इसके अतिरिक्त उसका व्यसनी, पापकृत, लुब्ध एवं स्तब्ध होना भी अभीष्ट है। इस रूप में दशरूपककार के प्रतिनायक लक्षण के सभी गुण उसमें यहाँ भी विद्यमान हैं। दशरूपककार ने भी 'लुब्धः धीरोद्धतस्तब्धः पापकृद् व्यसनी' के रूप में अपने 'रिपु' को इसी प्रकार रेखांकित किया है। अतः हेमचन्द्र के प्रतिनायक लक्षण में दशरूपक के प्रतिनायक-गुणों का क्रम-विपर्यय मात्र देखा जा सकता है और इस क्रम-विपर्य के आधार पर हेमचन्द्र प्रतिनायक के गुणों में किसी गुण की प्राथमिकता की ओर संकेत करते हों ऐसा मानना एक दुराग्रह ही होगा।

अस्तु, दशरूपककार के लक्षण से तुलना करने पर यहाँ एकमात्र यही वैशिष्ट्य दृष्टिगत होता है कि 'हेमचन्द्र' ने प्रतिनायक को रिपु मानने में विश्वास नहीं किया है

इस आधार पर वे जो विशेष संकेत करना चाहते हैं वह लक्षण से स्पष्ट नहीं है। फिर भी इस आधार पर यदि यह निष्कर्ष निकाला जाए कि वे इस रूप में अपने परवर्ती आचार्यों को 'रिपु' के स्थान पर 'प्रतिनायक' प्रयोग के लिए प्रोत्साहित करते हैं तो अनुचित न होगा। वैसे इसके पूर्व ही शृङ्गारप्रकाशकार और अभिनवगुप्त द्वारा कृत प्रतिनायक शब्द के उल्लेख के परिप्रेक्ष्य में यह वैशिष्ट्य भी अधिक महत्वपूर्ण नहीं है फिर भी नाट्यदर्पणकार पर इनका किंचिद् प्रभाव (शिष्यत्वात्) लक्षित होता है। दशरूपककार के लक्षण से, अन्य सभी विशेषणों के साथ 'धीरोद्धतः' शब्द को इसी रूप में ग्रहण कर लेना भी दृष्टि सापेक्ष है। इस प्रकार 'रिपु' का त्याग एवं धीरोद्धत शब्द का ग्रहण इन दोनों तथ्यों को देखते हुए हेमचन्द्र के धीरोद्धतनायक का भी लक्षण देख लेना अनुचित न होगा। धीरोद्धत नायक के सन्दर्भ में वे कहते हैं :—

'शूरो मत्सरी मायी विकत्थनश्छद्मवान् रौद्रोऽवलिप्तः धीरोद्धतः।

मत्सरी असह्यः। मन्त्रादिबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशको मायी। छद्म वञ्चनामात्रम्। रौद्रो चण्डः। अवलिप्तः शौर्यादिमदः। यथा जामदग्न्यरावणादिः॥

—काव्यानु० ७.१५ एवं वृत्ति भाग

यहाँ दशरूपककार के एतद्विषयक लक्षण का स्पष्ट प्रभाव हेमचन्द्र पर है इसे कहने की आवश्यकता नहीं है। इतना ही नहीं उन्होंने लक्षणवृत्ति में भी दशरूपक की भरपूर सहायता ली है यह भी स्पष्ट है। फिर भी उन्होंने नायक विरोधी भूमिका को 'रिपु' न कह कर यही सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'रिपुभाव' की व्यापकता को नाट्यपरिवेश में ग्रहण करना उचित नहीं है क्योंकि यह भारतीय संस्कृति के प्रतिकूल है। नायकविरोध की भावना के मूल में विद्यमान प्रतिस्पर्धा को वे प्रतिनायक की भूमिका के मूलतत्त्व के रूप में ग्रहण करते हैं, ऐसा कहा जा सकता है। धीरोद्धत होने से प्रतिनायक में लोभ, उद्दण्डता, पापभावना, एवं दुर्व्यसनों के अतिरिक्त उसकी असहिष्णुता, उसका मायावी होना, छल-कपट में उसकी निष्ठा, क्रोधाधिक्य, आत्मश्लाघा एवं शौर्यादिजन्य अहङ्कार से उसका युक्त होना भी हेमचन्द्र को अभीष्ट है। किन्तु इनमें से किसी भी गुण के सन्निवेश द्वारा प्रतिनायक की प्रतिद्वन्द्विता, प्रतिस्पर्धा किंवा विरोध को, शत्रुता के रूप में, नायक के साथ यावज्जीवन शत्रुभाव के साथ नहीं जोड़ा जा सकता। 'रिपुभाव' के पीछे हिंसा एवं हत्या का जो भाव निहित है वह तो दशरूपककार को भी अभीष्ट न रहा होगा किन्तु उन्होंने इस शब्द की ऐसी व्याख्या की भी सम्भवतः आशा न की होगी और न तो उनके समक्ष 'प्रतिनायक' के सन्दर्भ में इस शब्द (रिपु) के मूल्याङ्कन का ही अवसर आया होगा। उन्होंने तो स्वाभाविक रूप से 'रिपु' का ग्रहण किया होगा किन्तु उसे छोड़ने वाले आचार्यों ने इस पर अवश्य विचार किया होगा और इसी कारण उसे छोड़ा होगा, ऐसा कहा जा सकता है।

प्रतिनायक को प्रतिपन्थी (नायक–प्रतिपन्थी) मानने वाले परवर्ती आचार्यों एवं 'नायकप्रतिकूलवृत्ति' मानने वाले पूर्ववर्ती आचार्यों के मतों के परिप्रेक्ष्य में यदि हेमचन्द्र की दृष्टि से उनके प्रतिनायक को भी वैसा ही मान लिया जाए तो कुछ अनुचित न होगा। काव्यानुशासन में काव्यमीमांसा, ध्वन्यालोक एवं अभिनवभारती के लम्बे-लम्बे उद्धरणों को देखते हुए और उसे 'संग्रहग्रन्थ' सा मानते हुये[१] यदि हेमचन्द्र के प्रतिनायक लक्षण एवं उसमें 'रिपु' शब्द के परित्याग को मात्र किसी पूर्ववर्ती आचार्य का अनुकरण मान लें तो भी सागरनन्दी जैसे पूर्ववर्ती नाट्यशास्त्रीय आचार्य कृत प्रतिनायक लक्षण की उपेक्षा के परिप्रेक्ष्य में, उनका यह कर्म कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वैसे उनके द्वारा रिपु के स्थान पर प्रयुक्त प्रतिनायक शब्द व्यापक अर्थ रखता है और धीरोद्धत के साथ उसका सामंजस्य अधिक सार्थक हो उठता है। प्रतिनायक भी नायक है, इस दृष्टि से जहाँ राक्षस जैसा प्रतिनायक अपने विपक्ष का अमात्यत्व ग्रहण कर लेता है वहाँ उसका वास्तविक नायकत्व प्रकट हो उठता है। इसी प्रकार 'ऊरुभङ्ग' एवं 'कर्णभार' के नायकों की भूमिकाओं की भी सार्थकता बढ़ जाती है।

अस्तु, यह स्पष्ट हो जाता है कि 'गतानुगतिकः' का परित्याग करने के लिए ही नहीं अपितु किसी अभ्यर्थ अथवा सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए यदि आचार्य हेमचन्द्र ने दशरूपककार के लक्षण से 'रिपु' को हटाते हुए प्रतिनायक लक्षण को 'यथापूर्वमकल्पयत्' के रूप में स्वीकार किया है तो वह सिद्धान्त, वह आदर्श यही रहा होगा कि लक्ष्य रूपकों में दशरूपक के 'रिपु' के आधार पर प्रतिनायक-भूमिका में हिंसा, हत्या जैसी भावना को अभिव्यक्ति को अवकाश न मिलने पाये और साहित्य के मूल में निहित आदर्शों की क्षति न हो। इतना ही नहीं इस लक्षण के माध्यम से हेमचन्द्र ने प्रतिनायक शब्द के अस्तित्वबोध एवं रूपकप्रबन्धों में उसकी उपयोगिता को अभिव्यक्त करते हुए उसके महत्त्व को अङ्गीकार किया है।

नाट्यदर्पणकार एवं प्रतिनायक

दशरूपककार के परवर्ती नाट्यशास्त्रियों में नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र का स्थान भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य होने पर भी उनका नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण उनसे पृथक् है। उन्होंने स्थान-स्थान पर दशरूपककार की नाट्यशास्त्रीय स्थापनाओं का खण्डन भी किया है। प्रतिनायक के लक्षण में उनका मौलिक चिन्तन स्पष्ट है। वे कहते हैं:—

'लोभी धीरोद्धतः पापी व्यसनी प्रतिनायकः।'—(ना० द० ४.१६६)
मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायकः प्रतिनायकः।
रामयुधिष्ठिरयोः रावणदुर्योधनवदिति।

---

१ देखें : 'काव्यप्रकाश' आचार्य विश्वेश्वर की 'भूमिका', पृ० ७९

अर्थात् मुख्यनायक के प्रतिपन्थी नायक को प्रतिनायक कहा जाता है, जो लोभी पापी तथा व्यसनी होता है और उसमें धीरोद्धत नायक के गुण भी विद्यमान रहते हैं। इस लक्षण में दशरूपककार एवं हेमचन्द्र द्वारा ग्रहीत 'स्तब्धता' का गुण छोड़ दिया गया है। जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे प्रतिनायक की उद्दण्डता अथवा हठवादिता से सहमत नहीं हैं। इसका कारण चाहे जो रहा हो किन्तु प्रतिनायक सम्बन्धी अन्य उल्लेखों के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि उन्होंने प्रतिनायक की भूमिका को महत्त्वपूर्ण भी माना है और उसका स्थान-स्थान पर उल्लेख भी किया है।

नाट्यदर्पणकार के उपर्युक्त लक्षण एवं उसकी व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में कहा जा सकता है कि अन्य आचार्यों की भाँति वे भी 'नायक' शब्द को रूपकप्रबन्धों में पुरुष पात्रों की भूमिका का पर्याय मानते हैं अतएव 'मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायकः' कह कर ही प्रतिनायक की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार मुख्यनायक के प्रतिपन्थी चरित्र को ही प्रतिनायक किंवा मुख्यप्रतिनायक मानने से महाभारत की कथा के प्रसंग में दुःशासन, शकुनि, कर्ण प्रभृति पात्र प्रतिनायक के सहायक, अतः उपप्रतिनायक होंगे। उनकी प्रतिद्वन्द्विता भी उपनायक के साथ ही अधिक मुखर होगी ऐसा भी संकेत इस कथन से ग्रहण किया जा सकता है। इस रूप में वे दशरूपककार का समर्थन करते प्रतीत होते हैं जो 'नायकस्य इत्थं भूतः प्रतिपक्षनायकः' इस मान्यता की स्थापना करते हैं।

इस प्रकार उनके लक्षण से उनकी उपप्रतिनायक के अस्तित्व को स्वीकार करने की मान्यता का संकेत मिलता है। इस दृष्टि से वे अपने पूर्ववर्ती अभिनवगुप्त से भी सहमत हैं। 'द्वादशनायक बहुल इति' की अभिनवगुप्त कृत व्याख्या के समान 'समवकार' रूपक भेद के प्रसंग में वे कहते हैं—

"अत्र समवकारे नायकाः द्वादश। तत्र प्रत्यङ्कं द्वादश। यदि प्रत्येङ्के नायक-प्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चत्वारः ततः सर्वसंख्यया द्वादशेति मध्यमावृत्तिः। तेन क्वचित् न्यूनाधिक्यत्वेऽपि न दोषः।———अतएव सहायापि सुग्रीवादिवत् नायकत्वेन व्यपदिश्यन्ते।"

ना० द० २०.११-१३ वृत्तिभाग

यहाँ एक ओर वे प्रतियायक और उसके सहायक की बात करते हैं दूसरी ओर नायक को नायक, प्रतिनायक के, सभी सहायकों का पर्याय भी मानते हैं। प्रतिनायक सम्बन्धी उनके इस उल्लेख के अतिरिक्त 'ईहामृग' रूपकभेद के प्रसंग में कथावस्तु, नायक-प्रतिनायक, नायिका, उसका अपहरण एवं तन्निमित्तक संग्राम की चर्चा करते हुए वे कहते हैं—

"दिव्यांशो दिव्यनायकः । दृप्ताः मानवाः मर्त्यपुरुषपात्राण्यत्र । स्त्रीहेतुसंग्रामो यत्र । अत्रहि दिव्यां नायकस्त्रियमनिच्छन्तीं प्रतिनायकोऽपहरति । ततस्तन्निमित्तको नायकप्रतिनायकयोः संग्रामो निबन्धनीयः ।" ना० द० २.२५-२६ वृत्तिभाग

इस वृत्ति के माध्यम से ईहामृग के लिए जिस प्रकार की कथा का उल्लेख हुआ है उसके प्रसंग में भयंकर संग्राम की चर्चा के साथ ही दिव्यनायक की प्रतिद्वन्द्विता में आने वाली प्रतिनायक की भूमिका को भी भयंकरता का अनुमान सरलता से हो जाता है। क्योंकि नायक ही नहीं नायिका भी दिव्य होगी और प्रतिनायक उस नायिका का अपहरण करेगा। 'अनिच्छन्तीं' के रूप में, बलात्-अपहरण का जो उल्लेख है उससे प्रतिनायक के औद्धत्य का सहज अनुमान सम्भव है। प्रतिनायक के इस आचरण को रत्याभास की स्थिति बताते हुए वे कहते हैं–'**अनुचितारतिः रत्याभासः स च प्रतिनायकस्य निष्प्रेमस्त्रीविषयत्वादिति**' हम पहले भी देख चुके हैं कि नायिका के प्रति प्रतिनायक की रति रत्याभास कहलाती है जिसका सीधा सम्बन्ध प्रतिनायक से ही मुख्य रूप से स्थापित होता है।

इसी प्रकार रूपक प्रबन्धों में मुख सन्धि से लेकर निर्वहण सन्धि तक के कथानक में प्रतिनायक के महत्त्व को स्वीकार करते हुए वे स्थान-स्थान पर ऐसे उल्लेख करते हैं जिनसे प्रतिनायक के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण का परिचय मिल जाता है। निर्वहण सन्धि के प्रसंग में नायक-प्रतिनायक, नायिका, आमात्य प्रभृति सभी पात्रों के कार्यों को एकत्रित करने का विधान करते हुए वे कहते हैं, "फलेन मुखसाध्येन नायक-प्रतिनायकनायिकामात्यादिव्यापारैः सम्यगौचित्येन युज्यन्ते सम्बद्धयन्ते यस्मिन् प्रधान-वृतांशे स फलागमावस्थया परिच्छिन्नो निर्वहणसन्धिः ।"

—ना० द० १.४७ वृत्तिभाग

अर्थात् इस सन्धि के अवसर पर जहाँ नायक-नायिका के कार्य-व्यापार का उपसंहार होता दिखाया जाता है वहीं प्रतिनायक के कार्य का भी उपसंहार किया जाना आवश्यक है। जिसके आधार पर प्रतिनायक की भूमिका को नायक की भूमिका के समान ही महत्त्व देना चाहिए यह मान्यता भी स्थिर होती है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि नाट्यदर्पणकार रूपकप्रबन्धों में व्यापक रूप से प्रतिनायक की भूमिका की उपयोगिता को स्वीकारते हैं तथा उनके सम्बन्ध में अपने से पूर्ववर्ती आचार्यों के एतत्सम्बन्धी मतों की विवेचना करते हुए प्रतिनायक के साथ ही उपप्रतिनायक के भी अस्तित्व को महत्त्व देते हैं।

आचार्य विश्वनाथ एवं प्रतिनायक

आचार्य विश्वनाथ ने प्रतिनायक का लक्षण करते हुए कहा है—"धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः ।" यथा रामस्य रावणः ।—सा० द० ३.१३१

जैसाकि हम देख चुके हैं दशरूपककार के पश्चात् हेमचन्द्र ने उनके ही लक्षण को शब्द विपर्यय द्वारा स्वीकार कर लिया है। किन्तु उनके बाद उन्हीं के शिष्य नाट्यदर्पणकार ने 'स्तब्ध' पद को छोड़ दिया है और यहाँ साहित्यदर्पणकार ने 'स्तब्ध' तथा 'लुब्धः' दोनों ही पदों को अस्वीकार कर दिया है। इस रूप में उनके विचार से प्रतिनायक का व्यसनी, पापकारी एवं धीरोद्धत होना ही पर्याप्त है। हरिदास भट्टाचार्य ने 'पापकारी पापानुष्ठायी, व्यसनी मनूक्ताष्टादशप्रकारव्यसनस्य अन्यतम-प्रकारवान्, नायकस्य प्रतिपक्षः प्रतिनायकः' के रूप में प्रतिनायक की व्याख्या करते हुए मलयकेतु को राक्षस की प्रतिद्वन्द्विता में प्रतिनायक सिद्ध किया है। उनकी दृष्टि में मलयकेतु का पैशुन्य अर्थात् अविज्ञातदोषाविष्कारी होना ही इसका मुख्य कारण है।

साहित्यदर्पणकार के प्रतिनायक-लक्षण के सन्दर्भ में उनके धीरोद्धतनायक के लक्षण को भी देखना आवश्यक है, वे कहते हैं—

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ॥—सा० द० ३.३३

प्रतिनायक में धीरोद्धतनायक के इन गुणों का समावेश कर लेने पर हरिदास कृत व्याख्या में मनु द्वारा गिनाये गए अनेक गुण पुनरुक्त हो जाते हैं। अस्तु, आचार्य विश्वनाथ के धीरोद्धतनायक-लक्षण को देखने से पता चलता है कि प्रतिनायकलक्षण की भाँति ही इस लक्षण में भी साहित्यदर्पणकार ने दशरूपक के लक्षण में ग्रहीत कुछ विशेषण छोड़ दिए हैं। इस रूप में धीरोद्धतनायक; भरतमुनि ने चतुर्विध नायकों की चर्चा करते हुए जिसका सर्वप्रथम उल्लेख किया है[१], उसे साहित्यदर्पणकार ने मायावी, प्रचण्ड, चञ्चलप्रकृति का, अहङ्कारी, दर्पयुक्त तथा आत्मश्लाघा करने वाला ही बताया है और मात्सर्य एवं छद्मपरायणता को उन्होंने छोड़ दिया है। जिसका निश्चित कारण कह पाना कठिन है पर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने दशरूपककार के छद्म को माया[२] में तथा दर्प, अहङ्कार तथा आत्मश्लाघा से समन्वित चरित्र में मात्सर्य की स्वतः उपस्थिति के कारण उसका पृथक् उल्लेख नहीं किया है।

इन गुणों के परिप्रेक्ष्य में प्रतिनायक जिसे धीरोद्धत होने के साथ केवल व्यसनी एवं पापकारी होना ही साहित्यदर्पणकार को अभीष्ट है कुछ बौना प्रतीत होता है। क्योंकि उनकी अपेक्षा दशरूपककार ने प्रतिनायक को लुब्ध, स्तब्ध (हठी) रिपु इन विशेषणों से युक्त बताया है जो प्रतिनायक के चरित्र के माध्यम से नायक चरित्र का

१ भरत ३४.१७

२ तुलना करें : छद्मः वञ्चनामात्रम् तथा अविद्यमानवस्तुप्रकाशनं माया।
दर्पः शौर्यादिमदः, मात्सर्यम् असहनता स्वगुणशंसी विकत्थनः ॥
—द० रू० २.५ वृत्तिभाग

उत्कर्ष दिखाने की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। इसी कारण आचार्य विद्यानाथ ने 'प्रतापरुद्रीय' में स्पष्टरूपेण कहा है—

अथवा प्रतिपक्षस्य वर्णयित्वा गुणान् बहून् ।
तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च मतं क्वचित् ॥–प्र० रु० नायकप्रकरण ६८

अर्थात् नायक चरित्र को जितना अधिक उठाना है उसके प्रति-पक्षी को भी उतना ही ऊँचा उठाना चाहिए। इसके लिए एक ओर तो नायक के समान उसमें नायक के गुणों का निपेक्ष होता है तो दूसरी ओर दुर्गुणों और व्यसनों की महती योजना की जाती है।

अतः साहित्यदर्पण की अपेक्षा दशरूपक का प्रतिनायक-लक्षण ही अधिक उपयुक्त है। साहित्यदर्पणकार ने प्रतिनायक का लक्षण करने के अतिरिक्त प्रतिनायक का अन्य स्थलों पर भी उल्लेख किया है। आलम्बनविभाव[1] के लक्षण-प्रसंग में 'आदि शब्दान्नायिका प्रतिनायिकादयः' कहकर वे श्रृङ्गारप्रकाशकार की भाँति प्रतिनायिका के अस्तित्व का उल्लेख करते हैं। इस प्रकार वे प्रतिनायक के अतिरिक्त प्रतिनायिका को भी नायक और नायिका के सन्दर्भ में आलम्बनरूप मानते हैं। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है श्रृङ्गार-रस प्रधान रूपकप्रबन्धों में नायक की परिणीता अर्धाङ्गिनी प्रमुख रूप से यह भूमिका निभाती है। वैसे व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो नायिका की दृष्टि से राजमहिषी अथवा अर्धाङ्गिनी तथा राजमहिषी की दृष्टि से नायिका स्वयं प्रतिनायिका के रूप में आलम्बन बनती है। उद्दीपन विभाव के रूप में भी प्रतिनायक या प्रतिनायिका को मानना अनुचित न होगा। किन्तु लगभग सभी आचार्यों ने वन तडागादि जड़ वस्तुओं को ही उद्दीपन माना है। अतः इस विवाद को यहाँ न उठाकर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि श्रृङ्गारी नायक अथवा धीरललित नायक के ही सन्दर्भ में नहीं अपितु माधव जैसे धीरशान्त[2] नायक के सन्दर्भ में भी कपालकुण्डला जैसी प्रतिनायिका तथा अघोरघण्ट जैसे प्रतिनायक के दर्शन हो जाते हैं। प्रतिनायक के इस उल्लेख के अतिरिक्त विश्वनाथ ने ईहामृग रूपकभेद का लक्षण करते हुए, अन्य आचार्यों की भाँति ही, प्रतिनायक का उल्लेख किया है। कारिका भाग में ही दिव्यादिव्य के विपर्यय का उल्लेख करते हुए वे कहते हैं—

नरदिव्यावनियमौ नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्यो गूढभावदियुक्तकृत् ॥–सा० द० ६.२४६

इसकी वृत्ति में पताका नायकों अर्थात् उपनायकों एवं उप-प्रतिनायकों की

---

१ सा० द० ३.२९ वृत्तिभाग

२ द० रू० २.४ तथा सा० द० ३.२४ वृत्तिभाग

संख्या की गणना के साथ उन्होंने 'दशनायक' का उल्लेख किया है। अर्थात् चार अङ्क वाले इस रूपक भेद के प्रत्येक अङ्क में नायक प्रतिनायक उपस्थित होंगे और उसमें पताका की स्थिति के कारण एक उपनायक तथा एक उप-प्रतिनायक भी होगा। इस प्रकार ४ × २ = ८ और पताकानायक (उपनायक) तथा पताकाप्रतिनायक (उपप्रतिनायक) दश नायक-प्रतिनायकों की योजना इसमें की जानी चाहिए। इन उल्लेखों के अतिरिक्त कार्यावस्थाओं और सन्धि-सन्ध्यङ्गों में प्रसंगानुकूल ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे सिद्ध हो जाता है कि विश्वनाथ भी नायक के चरित्र को उठाने के लिए प्रतिनायक के चरित्र को एक सशक्त माध्यम मानते हैं।

आचार्य विद्यानाथ, शारदातनय एवं शिङ्गभूपाल

प्रतापरुद्रीय किंवा प्रतापरुद्रयशोभूषण के आचार्य विद्यानाथ का (जो कि विश्वनाथ के लगभग समकालीन हैं) महत्त्व यही है कि उन्होंने आचार्य दण्डी की एक कारिका को किञ्चित् परिवर्तन के साथ उद्धृत करते हुए प्रतिनायक के महत्त्व को स्वीकार किया है। वे कहते हैं—

अथवा प्रतिपक्षस्य वर्णयित्वा गुणान् बहून्।
तज्जयान्नायकोत्कर्षवर्णनं च मतं क्वचित्॥—प्र० रु० नायकप्रकरण ६८

प्रतिनायक का लक्षण न देते हुए भी आचार्य विद्यानाथ ने दण्डी की कारिका[1] के माध्यम से अपने को उन आचार्यों की श्रेणी में सम्मिलित कर लिया है जो प्रतिनायक के महत्त्व को स्वीकार करते हैं। इस रूप में वे भी दण्डी की भाँति नायकोत्कर्ष चित्रण के निमित्त प्रतिपक्ष, रिपु अथवा प्रतिनायक के उत्कर्ष (वंश, वीर्य आदि के उत्कर्ष) वर्णन को उपयोगी मानते हैं। विद्यानाथ का महत्त्व इस दृष्टि से भी है कि परवर्ती आचार्य नरसिंह कवि ने प्रतापरुद्रयशोभूषण के आधार पर अपने शास्त्रीय ग्रन्थ नञ्जराजयशोभूषण की रचना की है और उसमें उन्होंने प्रतिनायक को व्यापक महत्त्व प्रदान किया है।

शारदातनय

नरसिंह कवि के प्रतिनायक सम्बन्धी उल्लेखों की चर्चा के पूर्व भावप्रकाशन के रचनाकार शारदातनय एवं रसार्णवसुधाकरकार शिङ्गभूपाल की दृष्टि में प्रतिनायक-सम्बन्धी यत्किंचिद् उल्लेखों पर दृष्टिनिक्षेप अनुचित न होगा। शारदातनय के भाव प्रकाशन की प्रसिद्धि के पीछे दो मुख्य कारण माने जा सकते हैं। एक तो उसका अभिधान आयुर्वेदशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'भावप्रकाश' से मिलता जुलता है दूसरे उसमें

---

१. वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
ज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः॥— काव्यादर्श १.२२

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र के अनेक (नाट्य सम्बन्धी) मतों को विस्तार से उद्धृत किया गया है।

वे वस्तुतः नाट्यशास्त्रीय आचार्य हैं और उन्होंने इसी दृष्टि से नायक-नायिका के भेदोपभेदों के साथ ही रस, भाव, नाट्येतिहास, रूपकभेद आदि की विस्तृत विवेचना की है। उनके शकार सम्बन्धी उल्लेखों की चर्चा अगली पंक्तियों में होगी। यहाँ यह उल्लेख ही उपयोगी है कि उन्होंने धीरोद्धतनायक का जो लक्षण किया है वह प्रतिनायक चरित्र (जिसे सभी आचार्यों ने धीरोद्धत माना है) की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वे धीरोद्धत नायक का लक्षण करते हुए कहते हैं—

विकत्थनश्चलश्चण्डो मायाच्छद्मपरायणः ।
समत्सरश्चाहङ्कारी धीरोद्धत इतीरितः ॥ ४.११५

अर्थात् विकत्थना, चञ्चल चित्तवृत्ति, माया, छलछद्म, मात्सर्य तथा अहङ्कार इन गुणों से युक्त नायक धीरोद्धत कहलाता है। किन्तु कारिका की व्याख्या करते हुए शारदातनय जो एक कुतूहलजनक तथ्य प्रस्तुत करते हैं वह चिन्त्य भी है और प्रतिनायक चरित्र की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी है। उन्होंने धीरोद्धत नायक को 'अकृत्यकारी स्वायत्तसिद्धिर्धीरोद्धतो भवेत्' के रूप में माना है जिससे प्रतीत होता है कि इस लक्षण में उन्होंने प्रतिनायक को भी तत्समाहित कर लिया है। आचार्य शारदातनय के इस लक्षण के आधार पर नायक की अकृत्यकारिता निश्चय ही चिन्त्य है जिससे दो अर्थ ग्रहण किए जा सकते हैं। एक अर्थ धीरोद्धत नायक के पक्ष में है दूसरा प्रतिनायक के पक्ष में। प्रथम संदर्भ में यह अकृत्यकरिता असीम दुःसाहसिक कर्मों की पर्याय है और दूसरे संदर्भ में उस दुःसाहसिकता के साथ ही उसमें अकरणीय कर्म = दुष्कर्म भी जुड़ जाते हैं। प्रकान्तर से यह भी कहा जा सकता है कि आचार्य शारदातनय धीरोद्धत नायक तथा प्रतिनायक को समान गुणों का वाहक मानते हैं। इस उल्लेख के अतिरिक्त वे ईहामृग रूपक का लक्षण करते हुए उसमें प्रतिनायक की योजना की अनिवार्यता (अनेक प्रतिनायक) पर बल देते हैं[1]। जिसके आधार पर यह सोचना असंगत न होगा कि वे प्रतिनायक से भलीभाँति परिचित हैं।

धीरोद्धत नायक की अकृत्यकारिता को डॉ० मदनमोहन अग्रवाल ने कुकृत्य कारिता[2] का पर्याय माना है जो उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि नायक धीरोद्धत भले ही हो वह आदर्श तो होता ही है, अतः कुकर्मी नहीं हो सकता। दूसरी ओर 'प्रतिनायक' में ऐसे गुण का होना अनुचित नहीं माना जाएगा।

---

१. गणशः षट्चतुः पञ्चनायकाः ।—भावप्रकाशन (हिन्दी) ८.१९९

२. भाव० (हिन्दी) ४.११५ डॉ मदनमोहन अग्रवाल कृत हिन्दी व्याख्या सहित

नायक लक्षण के पश्चात् धीरोद्धत नायक के लक्षण के प्रसंग में ही विशिष्ट गुणों और सामान्य गुणों की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं, धीरोदात्तादि नायकों के जो लक्षण हैं वे उनमें सामान्य गुणों के रूप में आयोजित किए जाने चाहिए किन्तु माया छलछद्म आदि जो (धीरोद्धत नायक के सामान्य) गुण हैं वे सभी नायकों (प्रतिनायकों में भी ?) में असामान्य गुणों के रूप में आयोजित किए जा सकते हैं[1] ।' तात्पर्य यह कि इस विधान के अनुसार धीरोदात्तादि नायकों में धीरोद्धत नायक के तथा धीरोद्धत नायक में धीरोदात्तादि नायकों के गुणों के आयोजन को अनुचित नहीं माना जाना चाहिए । इसी कारण यदि कहीं धीरोद्धत नायक किसी प्रतिनायक की भाँति किन्हीं व्यसनों में उलझ जाता है अथवा नायक की दृष्टि से किन्हीं अकरणीय कर्मों को करने लग जाता है तो उसे नियम विरुद्ध नहीं माना जाएगा । शारदातनय के 'अकृत्यकारी' का यही तात्पर्य होना चाहिए । अन्यथा ये कर्म केवल प्रतिनायक में ही मिलने चाहिए ।

शिङ्गभूपाल

आचार्य शिङ्गभूपाल के रसार्णवसुधाकर का विषय भी नाट्य ही है । उन्होंने प्रतिनायक का कोई पृथक् लक्षण नहीं दिया है । किन्तु प्रतिनायक के महत्त्व को वे स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं यह उनके व्यायोग एवं ईहामृग के लक्षणों से स्पष्ट हो जाता है । उनकी मौलिकता यही है कि व्यायोग रूपक भेद के प्रसंग में वे नायक को निःसहाय छोड़कर प्रतिनायकों के रूप में दश प्रतिनायकों की योजना का विधान करते हुए कहते हैं :—

ख्यातेतिवृत्तसम्पन्नो निस्सहायकनायकः ।
युक्तोदशावरैः ख्यातैरुद्धतैः प्रतिनायकैः ॥ —रसार्णव० ३.२२१

एक अकेले नायक की प्रतिद्वन्द्विता में प्रसिद्ध उद्धत किन्तु अवर दशप्रतिनायकों के माध्यम से रौद्र-रस के उनके व्यायोग का लक्ष्य कौन-सा रूपक रहा होगा कहना कठिन है किन्तु उनके आदर्श नाट्यशास्त्री आचार्य धनञ्जय (दशरूपककार) हैं इसे वे स्वयं स्वीकार करते हैं[2] । इसके अतिरिक्त शिङ्गभूपाल ने ईहामृग के लक्षण में भी

---

१. विशेषलक्षणेष्वेषु ये सामान्यगुणाः स्मृताः ।
ते तन्नायकभेदेषु कल्पनीया क्वचित् क्वचित् ॥
समानानां गुणानां ये मायाच्छद्मादयो गुणाः ।
विरोधिनस्तेऽसामान्या गुणा स्युर्नायकेषु च ॥ भाव० (हिन्दी)—४.११६-७

२. रसार्णव ३.३२

'धीरोद्धतश्च प्रख्यातो दिव्यो मर्त्योऽथ नायकः[१]' तथा 'स्त्रीनिमित्ताजिसंरम्भः पञ्चषाः प्रतिनायकाः' के रूप में अकेले धीरोद्धत नायक की प्रतिद्वन्द्विता में पाँच-पाँच प्रतिनायकों की योजना पर बल दिया है।

इस प्रकार शिङ्गभूपाल ने नायक के उत्कर्ष को दिखाने के लिए जिस विधा को अपनाने पर बल दिया है वह है—प्रतिनायक की शक्ति का उत्कर्ष। एक अकेले नायक की प्रतिद्वन्द्विता में दश-दश, पाँच-पाँच प्रतिनायकों की यह योजना पूर्णतः नवीन तो नहीं है किन्तु उसके पोषण में नायक को एकाकी छोड़कर उन्होने किञ्चित् मौलिक बात कही है। इस सिद्धान्त की स्थापना से प्रतिनायक के महत्त्व को उन्होंने किस सीमा तक स्वीकार किया है, पुनः कहने की आवश्यकता नहीं है।

नरसिंह कवि

इस शृङ्खला में नञ्जराजयशोभूषणकार, प्रतिनायक के सम्बन्ध में अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में शिङ्गभूपाल, शारदातनय, विद्यानाथ एवं आचार्य विश्वनाथ की अपेक्षा अधिक मुखर हैं। उन्होंने प्रतिनायक का लक्षण दिया है, उसके भेद किए हैं तथा विभिन्न रसनायकों के उल्लेख के रूप में प्रतिनायकगत रसों में रसाभास की स्थिति को स्वीकार किया है[२]। जैसाकि ग्रन्थाभिधान साम्य से भी परिलक्षित है नञ्जराजयशोभूषणकार पर प्रतापरुद्रयशोभूषणकार विद्यानाथ का स्पष्ट प्रभाव है। फिर भी निश्चित रूप से उनकी रसवादी दृष्टि के कारण उनमें मौलिकता के दर्शन किए जा सकते हैं। प्रतिनायक के सम्बन्ध में भी उनके विचारों में विद्यानाथ की अपेक्षा प्राचीन आचार्यों का प्रभाव है। वे कहते हैं :—

व्यसनी पापकृद्वेष्यः नेता स्यात् प्रतिनायकः।
यथा रावणादयः। नञ्ज० विलास ६

लक्षण की दृष्टि से यहाँ प्रतिनायक को नेता मानना, उसका ईर्ष्यालु अथवा विद्वेषी होना, उसका व्यसनी एवं पापभावना से युक्त होना, स्पष्ट परिलक्षित होता है। अपने इस लक्षणपरिवेश में नञ्जराजयशोभूषणकार प्राचीन आचार्यों के निकट होते हुए भी प्रतिनायक के, कालक्रमागत 'धीरोद्धत' विशेषण का परित्याग करके उनसे पृथक् हो जाते हैं। प्रतिनायक को नेता के रूप में स्वीकारते हुए वे सम्भवतः शृङ्गारप्रकाशकार के उस मत का अनुमोदन करते प्रतीत होते हैं जो प्रतिनायक को धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित एवं धीरप्रशान्त प्रतिनायक के रूप में विभक्त करता है। नरसिंहकवि

---

१. रसार्णव० ३.२८४—८८
२. द्रष्टव्य, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज के अन्तर्गत, ओरिएण्टल इन्स्टीच्यूट बड़ौदा से १९३० में प्रकाशित एवं ई० कृष्णमाचार्य द्वारा सम्पादित-नञ्जराजयशोभूषण, पृ० ७५ से ७७ तक

प्रतिनायक को धीरोद्धत भी मानते हैं, ऐसा कहा जा सकता है क्योंकि द्वेषभावना की अभिव्यक्ति का वह भी एक माध्यम हो सकता है। किन्तु उसे एक अनिवार्य गुण न मानकर सम्भव है वे शकार जैसी औद्धत्यहीन भूमिका को भी संकेतित करना चाहते हों। इस दृष्टि से वे विभिन्न रूपकप्रबन्धों में रावण (आदि) की विभिन्न भूमिकाओं को भी 'यथा रावणादय:' कहकर व्याख्यायित करना चाहते हैं, क्योंकि उन्होंने प्रतिनायक लक्षण में औद्धत्य के परित्याग द्वारा प्रतिमानाटक, अभिषेक, महावीरचरित तथा प्रसन्नराघव जैसे रूपकों में रावण के पूर्णोद्धत, अर्धोद्धत तथा औद्धत्यहीन-सी प्रतीत होने वाली भूमिकाओं को भी अपने लक्षण में समाहित कर लेने का प्रयास किया है।

नरसिंह कवि ने रसों को दृष्टि में रखते हुए, नायकों का नया वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। अङ्गीरसों के आलम्बनभूत नायकों में रसानुकूल अनुभावों को आधार मानकर उन्होंने नायकों के शृङ्गाररसनायक, वीरनायक, हास्यनायक, रौद्रनायक, भयानकनायक आदि नये नामकरण किए हैं[1]। इन नायकों का उल्लेख वे रूपक भेदों के लक्षण निर्धारण में भी करते हैं, वे कहते हैं :—

अङ्के प्रख्यातवृत्तं स्याद् रसस्तु करुणो मतः।
नेतारः प्राकृताः मर्त्याः कथ्यन्ते नाट्यवेदिभिः॥
तन्नायकस्तु:— चिन्तादैन्यश्रमापन्नो जडचित्तो प्रतापवान्।
विस्मृतः प्राप्तनिर्वेदो योऽसौ करुणनायकः॥

नञ्ज० विलास ६

इसी प्रकार से सभी नायकों की चर्चा करने के पश्चात् वे इन रूपक-प्रबन्धों में नायक प्रतिनायक की योजना पर प्रकाश डालते हैं और उपनायक की ओर भी संकेत करते हैं :—

एषु च द्विविधौ प्रोक्तौ नायकप्रतिनायकौ।
किञ्चिदूनगुणो दुःखी प्रियस्तस्योपनायकः॥ नञ्ज० विलास ६

यहाँ कारिका में दिया गया पद 'नायकप्रतिनायकौ' महत्त्वपूर्ण है। शृङ्गारनायक, रौद्रनायक, वीर, बीभत्स एवं करुण नायक आदि रसाश्रयी नायक भेदों को

---

१. प्रसङ्गात् सर्वनायकाः कथ्यन्ते :—
हर्षामर्शान्वितः सर्वदुर्वारो गर्वदुर्वहः।
चलचित्तो महोत्साहः कथ्यते रौद्रनायकः॥
अव्यक्तवचनो दीनो मोहदाहत्वरान्वितः।
स्वेदवेपथुसंयुक्तः स्याद्भयानकनायकः॥
जितेन्द्रियो जितक्रोधः संयुक्तः सात्त्विकादिभिः।
सदानन्दो सत्त्ववेदी धीरोऽसौ शान्तनायकः॥ नञ्ज० विलास ६, पृ० ७६–७७

आधार मानकर तदनुसार प्रतिनायकों को भी शृङ्गारी-प्रतिनायक, रौद्रप्रतिनायक, वीरप्रतिनायक, करुणप्रतिनायक, बीभत्सप्रतिनायक, हास्यप्रतिनायक, भयानकप्रतिनायक अद्भुत एवं शान्तप्रतिनायक के रूप में विभक्त करने की यह पद्धति मौलिक है। इनमें से अनेक प्रतिनायकों का स्वरूप निर्धारण तथा उनके उदारण खोजना कठिन नहीं है। इस प्रकार के विभाजन के आधार पर उनके सहायकों को भी विभक्त किया जा सकता है जिन्हें उपप्रतिनायक मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती। यह ध्यान में रखते हुए कि उन्होंने प्रतिनायक को भी 'नेता' माना है, कारिका के उत्तरार्ध में उपनायक सम्बन्धी उनका कथन, इस तथ्य के समर्थन में प्रस्तुत किया जा सकता है।

नरसिंहकवि ने अपनी कारिकाओं को प्राचीन आचार्यों की पद्धति पर यदि वृत्ति के साथ दिया होता तो इन विषयों से सम्बन्धित उनके सिद्धान्तों पर व्यापक प्रकाश पड़ता। किन्तु उसके अभाव में उनके विचारों को ऐसे सूत्रों के रूप में ही देखा जा सकता है जो विचारों को जन्म देते हैं। इसी कारण यह भी कहा जा सकता है कि एक ओर जब उपर्युक्त रसनायक अङ्गीरसों के आलम्बन होंगे तो प्रतिनायक निश्चित रूप से रसाभास का कारण होगा। इस रूप में नरसिंहकवि ने संक्षिप्त किन्तु मौलिक दृष्टि से नायक प्रतिनायक के मध्य एक सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया है और तदनुसार प्रतिनायक के महत्त्व को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

शकार का प्रतिनायकत्व

भरतमुनि ने प्रतिनायक का उल्लेख न करते हुए भी शकार की भाषा, गति, प्रकृति पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। जिसके आधार पर इस महत्त्वपूर्ण भूमिका पर यहाँ विचार करना आवश्यक है। भासकृत 'चारुदत्त' के शकार की भूमिका ही मृच्छकटिक में शकार के रूप में अवतरित हुई है, इसमें सन्देह नहीं है। किन्तु भास के चारुदत्त के अपूर्ण रूप में प्राप्त होने के कारण मृच्छकटिक के अन्तिम अङ्कों में प्रयुक्त शकार की भूमिका की ऐतिहासिकता अनुमान का ही विषय है। शकार की लम्पटता, उसका असम्बद्ध प्रलाप, उसकी कामुकता, उद्दण्डता और दुश्चरित्रता आदि जो मृच्छकटिक में देखने को मिलती है और जिसका संक्षिप्त सा स्वरूप चारुदत्त में भी मिलता है, उसके आधार पर वह नितान्त नायक विरोधी पात्र है जिसका उद्देश्य नायिका को वश में मूल करना ही है, किन्तु पथभ्रष्ट होकर वह नायक के पीछे पड़ जाता है[1]।

---

1. 'He is entroduced to us as CHARUDATTA'S co-suitor, seeking VASANTSENA'S hand by force and thus presents a good contrast to him.'

'Mrichchakatika'—Dr. G. V. Devasthali

नाट्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में हम पाते हैं कि शकार की भूमिका पर भरत, विश्वनाथ तथा शारदातनय ने कुछ विस्तृत चर्चा की है। विचार से तात्पर्य है अन्य आचार्यों की अपेक्षा ये लोग मुखर हैं। उनमें भी भरतमुनि के ही लक्षण आदि को इन दोनों ने दुहराया है। भावप्रकाशनकार ने तो भरत की कारिकाओं को ही कहीं-कहीं उद्-धृत कर दिया है, दूसरी ओर दशरूपक एवं नाट्यदर्पण में शकार का महत्त्व अन्तःपुर के सहायकों तक ही सीमित है। अतः इन आचार्यों ने ही भरत के बाद लक्ष्य-रूपकों में लुप्त होते जा रहे शकार के चरित्र को किंचित् महत्त्व दिया है, ऐसा कहा जा सकता है।

भरत और शकार की भूमिका

मृच्छकटिक के शकार को ध्यान में रखते हुए उसके शास्त्रीय पक्ष पर जब हमारा ध्यान जाता है तो हमें उसके चरित्र में तीन विशेषताएँ दिखाई देती हैं, उसकी भाषा, उसका स्वभाव एवं उसके कर्म। वह प्रकृति से अधम पात्र है और अधम प्रकृति की भूमिकाओं के सम्बन्ध भरतमुनि स्पष्टरूप से कहते हैं :—

रूक्षवाक्याः दुराचाराः निःसत्त्वाः स्वल्पबुद्धयः।
क्रोधनाः घातकाश्चैव कृतघ्नाश्छिद्रदर्शिनः॥
बृथारम्भप्रसक्ताश्च यत्किञ्चिद्वादिनोऽल्पकाः।
पिशुनोपापनिरताः स्त्रीलोलाः कलहप्रियाः॥
मान्यामान्यविशेषाणामनभिज्ञाश्च तस्कराः।
एभिर्दोषैश्च संयुक्ताः प्रकृत्यैवाधमाः स्मृताः॥

—भरत (नि) १८.८७.८६

यदि उपर्युक्त विशेषणों के साथ एक वचन का प्रयोग करके उसे शकार का लक्षण मान लें तो यह सारे ही गुण उसमें देखे जा सकते हैं। इस परिप्रेक्ष्य में संस्कृत-रूपकों को देखते हुए कोई भी अधम भूमिका इतनी सटीक सिद्ध नहीं की जा सकती जितनी कि शकार की भूमिका है[१]। यहाँ यह संकेत कर देना अनुचित न होगा कि प्रतिनायक की भूमिका कहीं भी अधम भूमिका नहीं है। अपने धीरोद्धत स्वरूप में वह कभी उत्तम कभी मध्यम प्रकृति की भूमिका है[२]। अतः शकार तो प्रतिनायक; नायक-विरोधी भूमिका होते हुए भी संस्कृत के सामान्य प्रतिनायकों से पृथक् है। उपर्युक्त अधम प्रकृति के लक्षण को ध्यान में रखकर यदि भरतमुनि के शकार-लक्षण को देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि वे शकार को नाना दुर्गुणों से युक्त (बहुविकारी) और अधम मानते हैं। वे कहते :—

---

१. भरत ३४.५-७

२. **तत्र चत्वार एव स्युर्नायकाः परिकीर्तिताः।**
मध्यमोत्तमायां प्रकृतौ नानालक्षणलक्षिताः॥ भरत—३४.१६

उज्ज्वलवस्त्राभरणः कुप्यत्यनिमित्ततः प्रसीदति च ।
अधमो मागधीभाषी भवति शकारो बहुविकारः ॥

—भरत, ३५.५६

अर्थात् आहार्य अभिनय की दृष्टि से वह श्वेत वस्त्र धारण करता है, स्वभाव से अधम प्रकृति का है और अकारण ही क्रुद्ध तथा प्रसन्न होता है । वह कर्म की दृष्टि से अनेक दुर्गुणों और दुर्व्यसनों से युक्त है तथा भाषा की दृष्टि से 'शकारबहुला' भाषा का प्रयोग करता है । उसके वस्त्रों की उज्ज्वलता तथा चरित का दुर्गुणों से युक्त होना, ऐसे वैषम्य की ओर संकेत करता है जो उसके चरित्र का महत्त्वपूर्ण पक्ष है अर्थात् वह ऊपर से जितना निर्मल है मन से उतना ही काला है ।

भरतमुनि ने इस प्रकार से उसके गुणों के परिप्रेक्ष्य में उसके स्वभाव तथा कर्मों के आधार पर निश्चितरूप से उसे प्रतिनायक से पृथक् माना है, ऐसा कहा जा सकता है । उसका अनिमित्तक्रोध और अकारण प्रसन्नता उसे मूर्ख सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है, उसकी यह विशेषता अधमप्रकृति के सन्दर्भ में 'स्वल्पबुद्धि', 'वृथारम्भप्रसक्तता' तथा मान्यामान्यविषेषाणामनभिज्ञता 'जैसे गुणों के अनुरूप है'[१] । भरतमुनि शकार के गुण, कर्म तथा स्वभाव के अतिरिक्त अभिनय की दृष्टि से उसकी गति की भी चर्चा करते हैं :—

वस्त्राभरणसंस्पर्शः मुहुर्मुहुरवेक्षितैः ।
गात्रैर्विकारविक्षिप्तैः लम्बवस्त्रस्रजस्तथा ॥
सगर्विता चूर्णपदा शकारस्य गतिर्भवेत । भरत १३.१४७–१४८

अर्थात् 'शकार लम्बे-लम्बे वस्त्र धारण करता है, लम्बी माला धारण करता है, किसी शारीरिक दोष से (यथा कन्धा लटकाये, टेढ़ा किये हुए या उठाये हुए या किंचित् लंगड़ाता हुआ आदि) युक्त होता है, अपने वस्त्रों या आभूषणों को बार-बार स्पर्श करता है, नेत्रों को छोटा करके देखता है अथवा धीरे-धीरे देखता है । वह अव्यवस्थित पगों से अथवा छोटे-छोटे डग भरता हुआ[२] गर्वपूर्वक चलता है ।' भरत

---

1. In the Shakara (*Samsthanka*) the poet has created a Craracter unique in Sanskrit dramatic literature, combining the fool and villain of the worst type in one.

—M. R. Cale, Introductian : Mrichchakatikam

२. अनिबद्धपदच्छन्दः तथा चानियताक्षरम् ।
अर्थोपेक्षाक्षरयुतं ज्ञेयं चूर्णपदं बुधैः ॥ भरत १५.३५

इसके पूर्व ही 'शकारस्यापि कर्त्तव्या गतिश्चञ्चलदेहिका' के रूप में विधान करते हैं कि उसकी गति ऐसी होनी चाहिए कि उसकी शारीरिक चञ्चलता आभासित हो सके। इस गति, वस्त्र तथा आभूषण के माध्यम से और उसके पुनः पुनः स्पर्श द्वारा जिस भाव की अभिव्यक्ति होती है वह है, उसका सम्पन्न और विलासी होना।

अभिनवगुप्त ने भरत की इन कारिकाओं पर अभिनव-भारती में जो तथ्य प्रस्तुत किए हैं वे अधिक स्पष्ट नहीं हैं। उन्होंने किन्हीं महाकवि भीम के 'प्रतिज्ञा-चाणक्य' में राजा विन्ध्यकेतु को बार-बार शकार कहने का जो तथ्य उद्घाटित किया है वह उस रचना की उपलब्धि के अभाव में अस्पष्ट है[1]। फिर भी उन्होंने भरत के आधार पर ही उसे आर्येतर जाति का माना है। भरत के 'शकाराभीरचाण्डाल०' (१७.५०) तथा 'शाकाराणां शकादीनाम्' (१७.५४.५५) के आधार पर यह स्पष्ट है कि उसकी भाषा आर्य-भाषा अथवा संस्कृत भाषा से पृथक् होती है। वह शकार-बहुला मागधी अथवा विभाषा (डाइलेक्ट) का प्रयोग करता है। अपने इस स्वरूप में शकार एक ऐसी भूमिका है जिस पर भारतीय संस्कृति और संस्कारों का प्रभाव नाममात्र को ही होता है। चारुदत्त तथा मृच्छकटिक में इसी कारण हम पाते हैं कि उसे इतिहास का किञ्चित् भी ज्ञान नहीं है[2]।

दशरूपककार ने शकार को महत्त्व नहीं दिया है। वे 'तत्तत् कार्यान्तरेषु सहायान्तराणि योज्यानि' के साथ अन्तःपुर में वर्षवर, किरात, मूक तथा म्लेच्छ, आभीर आदि के साथ शकार की भी योजना करने का विधान करते हुए उन्हें अपने-अपने कार्य में उपयोगी बताते हैं[3]। शकार के सम्बन्ध में उन्होंने 'राज्ञः श्यालः हीनजातिः' कहा है जिसका आधार मुख्यरूप से भरत के अधम प्रकृति के पात्रों में खोजा जा सकता है।

इसी भाँति नाट्यदर्पणकार ने भी शकार की गणना ऐसी ही भूमिकाओं के साथ की है। वे कहते हैं कि विदूषक, क्लीब, शकार, चेट, विट, किङ्कर आदि नीच (अधम) भूमिकाएँ हैं। इनमें भी विदूषक हास्य के लिए उपयोगी भूमिका है तथा

---

१. 'प्रतिज्ञाचाणक्य' इस अभिधान के अतिरिक्त विन्ध्यकेतु से मलयकेतु का अभि-धानसाम्य तथा मलयकेतु के चरित्र में शकाराभास पृथक् विवेचना की अपेक्षा करते हैं।

२. चारुदत्त १.१२ एवं मृच्छ० १.३०

३. अन्तः पुरे वर्षवराः किराताः मूकवामनाः।
म्लेच्छाभीरशकाराद्याः स्वस्वकार्योपयोगिनः। द० रू० २.४४-४५

शकार जो कि हीन जातीय है, राजा का साला होता है उसका उपयोग विकृत-हास्य के लिए होता है[1]।

दशरूपक तथा नाट्यदर्पण के आधार पर शकार को राजा के साले के रूप में जो प्रतिष्ठा दी गयी है उसका मुख्य आधार कालिदास के अभिज्ञानशाकुलन्त में खोजा जा सकता है। नाट्यदर्पणकार का स्पष्टीकरण कि राजा के सभी साले शकार नहीं होते; इसका भी मुख्य आधार वही है। किन्तु उसका हीन-जाति होने के साथ साथ राजा की पत्नी का भाई होना महत्त्वपूर्ण है। इस सम्बन्ध में उसकी उपयोगिता को मात्र विकृतहास्य तक सीमित रखना भी चिन्त्य है। ऐसा नहीं है कि इन आचार्यों ने मृच्छकटिक और चारुदत्त में शकार की भूमिका को और चारुदत्त तथा वसन्तसेना के चरित्र के उत्कर्ष की दृष्टि से उसके उपयोग को देखा न होगा। फिर भी शकार की यह उपेक्षा निश्चय ही संकेत करती है कि इन आचार्यों ने, इसका जैसा उपयोग इन रूपकों में हुआ है, उसे प्रशंस्य नहीं माना है। ऐसा प्रतीत होता है इन आचार्यों ने सामाजिक के समक्ष ऐसे विकृतहास्य तथा विकृत प्रसंगों को यथा—वसन्तसेना के साथ बलात्कार के प्रयास तथा तन्निमित्तक हत्या (भले ही वह मर न पायी हो) आदि को, उचित नहीं माना है। ऐसी भूमिका के पुनः उपग्रथन के अभाव से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

अस्तु, जहाँ तक इस भूमिका के लक्षण का प्रश्न है, वह हमें पुनः साहित्य दर्पण में मुखर होता दिखाई देता है। **विश्वनाथ** ने भरत के बाद सम्भवतः सर्वाधिक उत्साह दिखाया है। इस दृष्टि से, उन्होंने भरत के अधम पात्रों में उसकी गणना करते हुए मृच्छकटिक के शकार को उद्धृत भी किया है। वे कहते हैं—"तद्वद् अवरोधे वामनषण्डकिरातम्लेच्छाभीरा शकारकुब्जाद्याः ॥" अर्थात् शकार के साथ ही उक्त अन्य भूमिकाएँ भी अन्तःपुर-सहायक-भूमिकाएँ हैं। शकार के सम्बन्ध में किञ्चित् मुखर होते हुए वे कहते हैं—

मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलितैश्वर्यसंयुक्तः ।
सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकारः इत्युक्तः ॥ —सा० द० ३.४४

अर्थात् मदोन्मत्त (मद्यसेवी), मुर्ख, अभिमानी, नीचकुलोत्पन्न किन्तु सम्पन्न तथा राजा की अविवाहिता स्त्री (रखैल) का भाई—अर्थात् राजा का साला, शकार

---

१. (क) नीचाः विदूषकक्लीबशकारचेटविटकिङ्कराः ।
हास्यायाद्यो नृपे श्यालः शकारस्त्वेकविद् विटः ॥ ना० द० ४.१६७

(ख) नृपे नृपस्यसम्बन्धी श्यालः पत्नीभ्राता । नीचत्वादेव चायं हीनजातिः । 'हास्याय' इति अत्रापि सम्बन्धान्न सर्वो राजपुत्रादिनृपश्यालः शकारः किन्तर्हि, विकृतहास्यहेतुकः परिचारक एव । ना० द० ४.१६७ वृत्तिभाग

होता है। साहित्यदर्पणकार के इस लक्षण का लक्ष्य निश्चय ही 'मृच्छकटिक' है जैसाकि उन्होंने कहा भी है।

भरतमुनि के शकार—लक्षण, उसकी भाषा, उसकी गति आदि पर विस्तृत चर्चा करने के उपरान्त भावप्रकाशनकार शारदातनय के शकार सम्बन्धी कथनों को उद्धृत करने में अधिक लाभ नहीं है किन्तु उन्होंने भरत के तत्सम्बन्धी कथनों में जिस प्रकार से परिवर्तन-परिवर्धन करके उन्हें प्रस्तुत किया है उससे शकार के महत्त्व पर अवश्य प्रकाश पड़ता है। इस दृष्टि से उनके कथन कहीं-कहीं विचारसापेक्ष हैं। उन्होंने 'विभाषा' बोलने वाली भूमिकाओं की गणना करते समय शकार का भी ध्यान रखा है[1]। भरत की भाँति उन्होंने भी शकार को 'शकारप्रायभाषी' के रूप में 'शकारबहुला-भाषा' बोलने वाला माना है। इतना ही नहीं उसके स्वरूप पर वे और प्रकाश डालते हुए कहते हैं—

> **शकाराः गिरिकुञ्जेषु शकारप्रायभाषिणः।**
> **रक्ताक्षाः कृष्णकेशाश्च तुन्दिला दन्तुरास्तथा॥**
> **कार्पासकर्परप्रायवसनाः सहयोषिताः॥**
>
> भाव० अधि० १०.१८०

अर्थात् वह शकार—बहुलभाषाभाषी[2] तो होता ही है उसके नेत्र लाल-लाल, तथा केश काले-काले होते हैं, उसका पेट तथा उसके दाँत भी बड़े होते हैं। इस स्वरूपाख्यान के साथ ही 'प्रकरण' रूपक भेद में उसकी स्पष्ट योजना का विधान करते हुए वे कहते हैं:—

> **शकारः कुट्टिनीचेटीधर्मशास्त्रबहिष्कृताः।**
> **विटचेटादयो बाह्या नित्यं प्रकरणे मताः॥** भाव० अधि० १०

इस रूप में वे 'प्रकरण' इस रूपक-विशेष में उसकी योजना का स्पष्ट विधान करते हुए एक मौलिक तथ्य पर प्रकाश डालते हैं। इसके अतिरिक्त वे नाट्यदर्पणकार की उस मान्यता का भी खण्डन कर देते हैं जिसके आधार पर विदूषक की भूमिका को इन अधम भूमिकाओं के साथ गिन लिया गया है क्योंकि विदूषक जो कि अधिकांश लक्ष्य रूपकों में स्पष्टरूप से एक ब्राह्मण होता है उसे अधम (नीच) मानकर धर्मशास्त्र

---

१ शकाराभीरचाण्डालपुलिन्दाश्शबरास्तथा।
हालिका भैरवाश्चैते सप्तवैभाषिका स्मृताः॥
—भाव० अधिकार १०

२. मृच्छ० १.२३

बहिष्कृत नहीं माना जा सकता[1]। अस्तु, शकार की योजना के सम्बन्ध में उसकी भाषागत उपर्युक्त विशेषताओं के अतिरिक्त उसकी अन्य विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि उसके कथोपकथनों में, व्याकरण की कोई व्यवस्था नहीं होती लिङ्ग[2] आदि की अशुद्धियाँ स्पष्टरूप से देखी जा सकती हैं; देश कुल,[3] न्याय तथा लोकप्रसिद्ध कथनों के विपरीत कथनों की बहुलता[4] होती है। इसके अतिरिक्त सीधी-साधी बातों को भी वह इस ढंग से कहता है कि वे निरर्थक हो उठती हैं[5] :—

आगमलिङ्गविहीनं देशकुल-न्यायलोकविपरीतम् ।
व्यर्थैकार्थमपार्थं भवति हि वचनं शकारस्य ॥ —भाव० अधि० ८

इस प्रकार शकार के सम्बन्ध में शारदातनय कोई बहुत मौलिक बात तो नहीं कहते किन्तु शकार के लक्षण की परम्परा को जीवित रखते हुए तथा लक्ष्य रूपकों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने उसके महत्त्व को स्वीकार किया है और भरत की मान्यताओं को किंचित् स्पष्ट करते हुए अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया है।

सारांश में, शकार की महत्त्वपूर्ण भूमिका के सम्बन्ध में मध्यवर्ती नाट्यशास्त्रियों की उपेक्षा और कालान्तर में उस पर संक्षिप्त किन्तु सार्थक विवेचना को देख कर, कहा

---

१. द्रष्टव्य : ना० द० ४.१६७ तथा वृत्तिभाग

२. मृच्छ० १.१८ में वसन्तसेना के लिए 'तपस्वी' सम्बोधन

३. 'विश्वावसोर्भगिनीमिव तां सुभद्राम्' मृच्छ० १.२५, शूरो विक्रान्तः पाण्डवः श्वेतकेतुः, पुत्रो राधायाः रावणः इन्द्रदत्तः। आहो कुन्त्यास्तेन रामेण जातः, अश्वत्थामा धर्मपुत्रो जटायुः ॥ मृच्छ० १.४७

४. 'रावणस्येव कुन्ती'—मृच्छ० १.२१, 'द्रौपदीव पलायसे रामभीता'—मृच्छ० १.२५ 'अस्माभिश्चण्डमभिसर्यमाणा शृगालीव कुक्कुरैः। मृच्छ० १.२८ शृणोमि माल्यगन्धम्, अन्धकारपूरितया पुनर्नासिकया न सुव्यक्तं पश्यामि भूषण-शब्दम्' मृच्छ० प्रथम अङ्क पृ० २८

५. (क) पलायसे शीघ्रं त्वरितं सवेगं सन्त्रन्तं मम हृदयं हरन्ती' मृच्छ० १.१८

(ख) 'प्रवहणाधिरुढा राक्षसी चौरो वा प्रतिवसति। यद्यदि राक्षसी, तदुभावपि मुषितौ, अथ चौरः तदुभावपि खादितौ।' मृच्छ० अङ्क १. पृ० १९८

(ग) कथं शृगाला उड्डीयन्ते, वायसा व्रजन्ति ? तद्यावद् भावोऽक्षिभ्यां भक्ष्यते दन्तै प्रेक्ष्यते, तावदहं पलायिष्ये।'—मृच्छ० अङ्क १, पृ० १९९

(घ) राजश्वशुरो मम पिता राजा तातस्य भवति जामाता।
राजश्यालोऽहं ममापि भगिनीपती राजा ॥ मृच्छ० ९.७

जा सकता है कि उसका स्वरूप ऐसे प्रतिनायक के रूप में उभरता है जो संस्कृत रूपकों को नई दिशा दे सकता था। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि उसका उपयोग करते हुए शूद्रक ने मृच्छकटिक के रूप में जो कृति दी वह अद्वितीय है। शकार के अभाव में सम्भवतः शूद्रक भी उन्हीं नाटककारों में होते जिन्हें आज अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता है। इतना ही नहीं शकार के अभाव में चारुदत्त का चित्रण भी उतना प्रभावोत्पादक न हो पाता जितना उपलब्ध है। वसन्तसेना भी उसके अभाव में सम्भवतः हिम की मारी कमलिनी के समान कान्तिहीन हो रह जाती, क्योंकि शकार के षड्यन्त्रों में तपकर यह दोनों ही चरित्र स्वर्ण की भाँति आलोकित हो उठे हैं।

जहाँ तक प्रतिनायक से पृथक् शकार लक्षण का प्रश्न है, यह स्पष्ट रूप से ध्यान में रखना चाहिए कि प्रतिनायक और शकार दोनों भूमिकाएँ नायक विरोधी हैं। और प्रायः अन्त में दोनों ही आत्म-समर्पण करते हैं। तथापि दोनों में मौलिक भेद है। उनमें प्रथम अन्तर तो यही है कि शकार की भूमिका औद्धत्यहीन है, वह उद्दण्ड है, उच्छृङ्खल है, दुष्ट, पापी और व्यसनी है साथ ही वह धीरोद्धतनायक के धीर और उद्धत गुणों से भी हीन है। वस्तुतः वह हीन पात्र है। इसी कारण भरत प्रभृति किसी भी आचार्य ने उसमें औद्धत्य के दर्शन नहीं किए हैं, इसी कारण उसमें दर्प मात्सर्य आदि धीरोद्धत नायकगत गुणों का भी अभाव है; अभाव से तात्पर्य उनका वह स्वरूप नहीं है जो किसी उत्तम अथवा मध्यम कोटि की भूमिकाओं में होता है। उसमें भी ईर्ष्या है, दर्प है, विकत्थना है, चाञ्चल्य है, लोभ है, छलछद्म है, अहंकार और उद्दण्डता है किन्तु उस रूप में नहीं है, जिस रूप में वह रावण में है। रावण भी सीता के लिए व्याकुल है किन्तु उस रूप में नहीं जिस रूप में शकार वसन्तसेना के लिए व्याकुल होता है। रावण, सीता की हत्या की कोई भी योजना नहीं बनाता पर शकार योजना ही नहीं बनाता, अपने ज्ञान में वह हत्या भी कर देता है। वस्तुतः यदि इसी स्थल पर (वसन्त सेना की हत्या के साथ ही) मृच्छकटिक का पटाक्षेप हो जाता तो वह रूपक नितान्त 'त्रासदी' हो उठता। किन्तु ऐसा करना भारतीय नाट्यपरम्परा के प्रतिकूल जा पड़ता और शकार का प्रायश्चित्त, उसका शोधन, उसका हृदय परिवर्तन, प्रदर्शित न किया जा पाता जो कि संस्कृत नाट्य-परम्परा और भारतीय दर्शन को अभीष्ट है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में नायक के उत्कर्ष-चित्रण की दृष्टि से नायक विरोधी अन्य तत्त्वों की तुलना में प्रतिनायक की भूमिका का जो महत्त्व है उसे पुनः कहने की आवश्यकता नहीं है। उसकी योजना अनिवार्य तो नहीं है किन्तु उपयोगी अवश्य है। उसकी भूमिका को जितना अधिक सशक्त रखा जाएगा नायक के चरित्र की उतनी ही सत्यापना हो सकेगी। राम महान् हैं, धीर हैं, उदात्त हैं। भीम वीर है, वीर योद्धा है। चाणक्य अदम्य उत्साही और महान् कूटनीतिज्ञ है। इसकी स्थापना

तभी हो सकती है जब सामाजिक पाता है कि रावण, दुर्योधन और राक्षस भी अपने प्रतिस्पर्धी नायकों के समान ही उत्साही, वीर और नीतिनिपुण हैं।

सिकता के टीलों को बहा ले जाना, किसी सरिता की गति का, वेग का, मापक नहीं हो सकता, उसका सही मूल्यांकन तो तब होता है जब वह बड़ी-बड़ी चट्टानों को भी अपनी ऊर्मियों के घर्षण से शिवलिङ्गों सा आकार दे डालती है। वे प्रस्तर खण्ड उसी सरिता के प्रवाह की दिशा में लुढ़कते हुए चलने लगते हैं। यही है वह आत्मसमर्पण किंवा हृदयपरिवर्तन। नाट्यशास्त्रियों ने प्रतिनायक के लक्षणों में ऐसा कोई स्पष्ट विधान नहीं किया है किन्तु प्रतिनायक को भी नायक मानना, उसे भी धीर और उद्धत मानते हुए एक आदर्श नायक के समकक्ष स्थान देना, इतना ही नहीं उसे नायकों के समान ही धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित तथा धीरप्रशान्तप्रतिनायक के रूप में प्रतिष्ठित करना निश्चय ही ऐसी भावनाओं, आदर्शों और मान्यताओं का समर्थन करता है।

प्रतिनायिकाओं को भी इसी रूप में विभक्त करना ऐसी ही क्रान्तिदृष्टि का परिचायक है। प्रतिनायक और प्रातिनायिकाओं और अन्य नायक-विरोधी भावों और तत्त्वों का ऐसा विभाजन, इतना सूक्ष्म वर्गीकरण और इतनी व्यापक विवेचना किसी अन्य साहित्य में हुई है, ऐसा मुझे नहीं लगता; जिसके पीछे निहित है भारतीय दर्शन और संस्कृति की कर्मवादी भावना, साहित्य का धर्म, अर्थ और कामपरक होना और उनका जीवन के मूल्यों से जुड़ा होना।

तृतीय परिच्छेद

नाट्यसंरचना तथा प्रतिनायक *

नाट्यसंरचना एक ऐसी प्रक्रिया है जो काव्य की अपेक्षा अधिक प्रतिभा, क्षमता, श्रम एवं साधन—सापेक्ष है। क्योंकि उसके लिए नाटककार को सामाजिक अभिनेता, रङ्गमञ्च, भाषा और भाव की दृष्टि से पृथक् प्रयास करना पड़ता है। इसके साथ ही आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनयों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न भूमिकाओं के अनुरूप रूपसज्जा, भावयोजना तथा संवाद योजना भी करनी पड़ती है। अभिनय की दृष्टि से इतिवृत्त का चयन और तदनुरूप परिवर्तन परिवर्धन करते हुए उसे रसास्वाद के योग्य बनाना पड़ता है तथा अन्तर्द्वन्द्व-बहिर्द्वन्द्व की योजना के साथ संवादों, कथोपकथनों की सृष्टि के निमित्त सजग एवं सचेष्ट रहना पड़ता है। इस सम्पूर्ण प्रयास को ही संयुक्तरूप से नाट्यसंरचना कहा जाता है।

नाट्यरचना प्रक्रिया के मुख्य अङ्गों के रूप में नाट्यशास्त्रियों ने पञ्चकार्यावस्थाओं, पञ्चअर्थप्रकृतियों तथा पञ्चसन्धियों को महत्त्वपूर्ण माना है, जिनके माध्यम से कथावस्तु के अनुरूप नायक प्रभृति महत्त्वपूर्ण भूमिकाओं के क्रियाकलापों को संवादों के माध्यम से संगठित करते हुए अन्तर्द्वन्द्व एवं संघर्ष की योजना की जाती है।

पञ्चावस्थाएं

नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने नाटककार को इस बात का ध्यान दिलाया है कि नायक फल योग के निमित्त जो व्यापार करता है उसकी पाँच अवस्थाएँ ग्रथित होनी चाहिए। वही अवस्थाएँ प्रारम्भ, प्रयत्न, प्राप्तिसम्भव, नियताप्ति तथा फलयोग के नाम से जानी जाती हैं[१]। दशरूपक[२], नाट्यदर्पण एवं साहित्यदर्पणकार ने भी

---

१. संसाध्ये फलयोगे तु व्यापारः साधकस्य यः,
तस्यानुपूर्व्या विज्ञेयाः पञ्चावस्था प्रयोक्तृभिः।
प्रारम्भश्च प्रयत्नश्च तथा प्राप्तेश्च सम्भवः
नियता च फलप्राप्तिः फलयोगश्च पञ्चमः॥ भरत १९.७-८

२. अवस्थापञ्चकार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः।
आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमः॥ द० रू० १.१९

**सन्निहितनायकोऽङ्कश्च कार्यः। ये नायकाः पूर्वं कथिताः ते तत्र सन्निहिताः कर्त्तव्याः। नायको नायिका च नायकौ। एकः प्रधानो नायकः अपरश्च तस्योपनायकः। हन्तव्यश्च नायक एव। —नाटकलक्षणरत्नकोश

इन्हें आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति तथा फलागम के रूप में स्वीकार किया है। इन अवस्थाओं में यत्न, प्राप्त्याशा एवं नियताप्ति के मध्य 'फलप्राप्ति सुगम नहीं है' यह भावना निहित होती है। हम पाते हैं कि उन रूपक भेदों में भी जिनमें पाँचों सन्धियों के विकल्प की स्थिति है[1], पाँचों अवस्थाओं की स्थिति किसी न किसी रूप में अवश्य दृष्टिगोचर हो जाती है। साधारतः किसी अनुपलब्ध वस्तु को ही प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है इसका आरम्भ ही प्रारम्भ है। किन्हीं-किन्हीं रूपकों में इसे नाट्यवस्तु के आरम्भ से भी जुड़ा हुआ देखा जाता है। यह कार्य की आरम्भिक अवस्था का नाम है। उस आरम्भ के पश्चात् बाधाएँ आती हैं अतः उन्हें हटाते हुए, उनसे जूझते हुए आगे बढ़ना ही 'यत्न' है। इसके फलस्वरूप जिस वस्तु अथवा फल के लिए यत्न किया जा रहा है उसकी प्राप्ति की आशा और कभी इस आशा का निराशा में परिणत हो जाना अथवा उसकी सम्भावना ही प्राप्त्याशा में निहित है। आशा और निराशा अथवा प्राप्ति और प्राप्ति-विमुखता के पश्चात् प्राप्ति की आशा का प्रबल हो जाना ही वह चौथी अवस्था है जिसे नियताप्ति कहा जाता है, अन्यथा नियताप्ति के उपरान्त फलागम महत्त्वहीन हो जाता। किन्तु यह नियताप्ति प्राप्ति की निकटता है, बाधाओं का निर्मूल हो जाना इस स्थिति में भी निश्चित नहीं हो पाता है। इन अवस्थाओं को ही किंचिद् व्यापक दृष्टि से देखने के लिए सर्वप्रथम नाट्यदर्पणकार का आरम्भ सम्बन्धी लक्षण द्रष्टव्य है :—

आरम्भ :— 'उपायविषयमौत्सुक्यानुगुणो व्यापारश्चारम्भावस्थेत्यर्थः'

—ना० द० प्रथम विवेक

नाट्यदर्पणकार की इस व्याख्या के आधार पर भरत[2] एवं दशरूपककार के 'औत्सुक्यमात्रमारम्भः' इस लक्षण में फल के प्रति औत्सुक्य का कोई अनौचित्य

---

१. ऐते (पञ्च) तु सन्धयो ज्ञेया नाटकस्य प्रयोक्तृभिः।
तथा प्रकरणस्यापि शेषाणां विनिबोधत॥
व्यायोगेहामृगौ चापि त्रिसन्धी प्रकीर्तितौ।
न तयोरवमर्शस्तु कर्त्तव्यः कविभिः सदा॥
डिमः समवकारश्च चतुसन्धी प्रकीर्तितौ।
गर्भावमर्शौ न स्यातां न च वृत्तिस्तु कैशिकी॥
द्विसन्धि तु प्रहसनं वीथ्यङ्को भाण एव च।
मुखनिर्वहणे स्यातां तेषां वृत्तिश्च भारती॥ —भरत २१.४४–४७

२. औत्सुक्यमात्राबन्धस्तु यद् बीजस्य निबध्यते।
महतः फलयोगस्य स खल्वारम्भ इष्यते॥ —भरत २१.१०

नहीं है[1]। विशेषकर तब जबकि हम 'यत्न' का लक्षण करते हुए दशरूपककार को 'प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः' में 'तदप्राप्तौ' के रूप में औत्सुक्यमात्र से नहीं अपितु उसके कर्म से, व्यापार से, जुड़ा हुआ पाते हैं। यह फल किसी भी नायक को 'काकतालीय न्यायेन' प्राप्त होने वाली वस्तु नहीं है और न तो ऐसा करने पर नाटककार नाटकीयता का वास्तविक निर्वाह ही कर सकता है। अतः यह अध्यवसायसाध्य है। इसे ही 'अवलोक' में स्पष्ट करते हुए धनिक कहते हैं :—'इदमहं सम्पायामि इतध्यवसायमात्रमारम्भः' यहाँ 'सम्पादयामि' के रूप में वर्तमानकालिक किया का प्रयोग भी स्वतः में महत्त्वपूर्ण है। वस्तुतः आरम्भ की अवस्था को कार्य के के प्रति औत्सुक्य की अवस्था मानना ही उचित है, जिससे व्यापार की प्रक्रिया आरम्भ होती है। प्रयत्न की वास्तविकता अतित्वरा से सम्बद्ध है किन्तु उसका प्रारम्भ उत्सुकता के साथ ही हो जाता है, ऐसा मानना चाहिए। अतः दशरूपककार ने जो सूत्र दिया है नाट्यदर्पणकार उसी के व्याख्याकार हैं, वस्तुतः यह अपूर्ण तो तब होती जब उसकी व्याख्या 'प्रयत्न' के रूप में न होती। इसी कारण प्रयत्न की व्याख्या में नाट्यदर्पणकार स्वयं स्वीकार करते हैं कि प्रारम्भ (कार्य अथवा फल के लिए नायक की उत्सुकता) औत्सुक्य है और 'प्रयत्न' उस औत्सुक्य को परमावस्था है—'औत्सुक्यारम्भः परमौत्सुक्यं तु प्रयत्न इत्यर्थः।'

इस रूप में 'आरम्भ' वह अवस्था है जहां नाटककार कथा के बीज का वपन करते हुए नायक के कार्य का आरम्म कर देता है और इधर प्रतिनायक प्रभृति पात्र भी अपने कार्य-व्यापार के प्रति औत्सुक्य का प्रदर्शन करते हुए उसका आरम्भ कर देते हैं। इस दृष्टि से अभिनवभारतीकार का स्पष्टीकरण अधिक युक्ति-संगत है :—"महतः प्रधानभूतस्य फलस्य युज्यमानस्य तत्तन्नायकोचितस्य यद्बीजमुपाय सम्पत् तस्य यदौत्सुक्यमात्रं तद्विषयस्मरणोत्कण्ठानुरूपम्, अनेनोपायेनैतत् सिद्ध्यति इति, तस्य बन्धो हृदये निरुढिः प्रारम्भः, सा च नायकस्यामात्यस्य नायिकायाः प्रतिनायकस्य दैवस्य वा तस्या हि तथैवानुमानाद् व्यवस्था।"

भरत १९.७–८ पर अभिनव०

अभिनवभारतीकार के इस कथन से एक अन्य तथ्य भी स्पष्ट होता है कि आरम्भावस्था से ही प्रतिनायकों के भी कार्यों का आरम्भ होता है। मुद्राराक्षस में चाणक्य की विकत्थना[2] में, वेणीसंहार में; भीम के क्रोधालाप में[3], मृच्छकटिक के

१. 'आरम्भ' का अभिप्राय केवल मुख्य फल सिद्धि के लिए उपाय विषयक औत्सुक्य ही नहीं अपितु इस औत्सुक्य के अनुरूप वाङ्मनस व्यापार भी है।'

—डॉ० सत्यव्रतसिंह, साहित्यदर्पण ६.७१ विमर्श

२. 'अथ क एष मयि स्थिते ···आदि' – मुद्राराक्षस, पृ० १७

३. 'भीमसेन—लाक्षागृहानल··· ··' — वेणीसंहार, पृ० १४

प्रथम अङ्क में ही विट एवं शकार द्वारा गणिका वसन्तसेना का पीछा करने के रूप में[1], अभिज्ञानशाकुन्तल में वैखानस द्वारा 'दैवमस्याः प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गतः' के रूप में महावीरचरित में विश्वामित्र के 'रक्षोहनानि.......' इस स्वगत कथन में, आरम्भ की स्थिति है जहाँ आगामी बाधाओं एवं नायक-विरोध की सम्भावनाओं का बीजारोपण कर दिया जाता है। ऐसा आवश्यक नहीं है कि इस आरम्भ अवस्था अथवा बीज के स्थल पर प्रतिनायक उपस्थित हो, किन्तु किसी न किसी रूप में उसका अथवा नायक के कार्य में बाधक तत्त्वों का संकेत कर दिया जाता है।

यत्नः–जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है दशरूपककार 'प्रयत्न' का लक्षण करते हुए कहते हैं :— "प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः' अर्थात् फलप्राप्ति के निमित्त किये जाने वाले उपाय एवं योजनाओं का कार्यान्वयन (चेष्टा) ही 'प्रयत्न' है। इसे ही और अधिक स्पष्ट करते हुए नाट्यदर्पणकार ने कहा है :—

"प्रयत्नो व्यापृतौ त्वरा। मुख्यफलोपायव्यापारे त्वराऽनेनोपायेन विना फलं न भवतीति निश्चयेन परमौत्सुक्यं प्रकर्षेण यत्नः प्रयत्नः। औत्सुक्यमारम्भः परमौत्सुक्यं तु प्रयत्न इत्यर्थः ।।" नाट्यदर्पण प्रथम विवेक

तात्पर्य यह कि 'प्रयत्न' तो 'आरम्भ' इस कार्यावस्था का गतिपूर्ण कार्यान्वयन है जिसमें व्यापार की त्वरा और फलप्राप्ति के नाना उपायों की योजना एवं तदर्थ यत्न किया जाता है, यह परम औत्सुक्य का पर्याय है। 'प्रयत्न' तो नायक द्वारा फल को प्राप्त करने का वह यत्न है जिसमें उसके निमित्त षड्यन्त्रों की भूमिका का आरम्भ प्रस्फुटित रूप धारण करने लगता है। मुद्राराक्षस में चाणक्य द्वारा लेख लिखने के साथ ही 'अनेन खलु राक्षसो जेतव्यः' की व्यूह रचना इसका सुन्दर उदाहरण है। किन्तु इसके विपरीत रत्नावली में इसका रूप प्रतिनायिका वासवदत्ता के उपस्थित हो जाने के भय के रूप में है। वस्तुतः यहाँ एक ओर तो नायक की कार्य-सिद्धिनिमित्तक योजनाएँ बनती हैं और उनके लिए गति के साथ व्यापार आगे बढ़ता है। दूसरी ओर उसके मार्ग के बाधक तत्त्व भी अङ्कुरित होकर उसे और अधिक गतिमान करते हैं। इस स्थल पर नायक-व्यापार और प्रतिनायक-व्यापार की कोई कोटि तो निर्धारित नहीं की जा सकती किन्तु बाधक तत्त्वों की उपस्थिति नायक को आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है और वही नवयोजनाओं के लिए मार्ग प्रशस्त करती है; ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। इसका महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है कि नाट्याचार्यों ने इसके बाद की कार्यास्था में कार्यसिद्धि की आशा का दर्शन किया है। अतः नायक एवं उसके कार्य में बाधक तत्त्वों द्वारा अपनी-अपनी स्थिति सुदृढ़ करने की दृष्टि से यह अवस्था महत्त्वपूर्ण है। मृच्छकटिक में शर्विलक के प्रयत्न नायक चारुदत्त की चिन्ता के कारण बनते हैं

१. विट– 'किं त्वं भयेन ··· व्याधानुसारचकिता हरिणीव यासि, मृच्छ०, पृ० १७

और उसके द्वारा चुराये गए आभूषण वसन्त-सेना एवं चारुदत्त के मिलन के लिए मार्ग प्रशस्त करते हैं। मुद्राराक्षस के द्वितीय अङ्क में विषकन्या द्वारा पर्वतक की हत्या (कन्या तस्य बधाय० २.१६) तथा घातक यन्त्रों एवं रसों की असफलता की सूचना, आरम्भावस्था की सूचना है और विषकन्या के प्रयोग से पर्वतक के तथाकथित हत्यारे क्षपणक जीवसिद्धि के देश-निकाले की सूचना आदि के माध्यम से एक ओर तो चाणक्य के प्रयत्नों को प्रकाशित किया गया है तो दूसरी ओर स्तनकलश नामक वैतालिक के माध्यम से चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य के मध्य कलह हेतु राक्षस के प्रयत्नों को प्रदर्शित किया गया है।

प्राप्त्याशा:–प्राप्त्याशा वह तीसरी कार्यावस्था है जिसका लक्षण करते हुए दशरूपककार करते हैं :—

'उपयापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ।। द० रू० १.२१ (१)

रत्नावली नाटिका में वसन्तक; सागरिका का वेश परिवर्तन कराके राजा से मिलने की एक योजना बनाता है। यह योजना वह काञ्चनमाला से मिलकर बनाता है। वस्तुतः यह योजनाएँ प्रयत्न के अन्तर्गत आती हैं। इन योजनाओं का सही मूल्यांङ्कन करते हुए ही काञ्चनमाल स्वयं कहती है :—'साधु रे वसन्तक ! साधु, अतिशयितस्त्वया अमात्य यौगन्धरायणोऽनया सन्धिविग्रहचिन्तया।' इन उपायों का भङ्ग होना पुनः नयी योजनाओं का बनाया जाना इन्हीं संशय और शङ्काओं की दोला पर आरूढ नायक द्वारा फलप्राप्ति के प्रयत्नों की सफलता की आशा ही प्राप्त्याशा की स्थिति है। समागम होगा भी या नहीं यह आशङ्का राजा के मन में भी है[1], सागरिका के मन में भी है और वसन्तक के मन में भी, क्योंकि वासवदत्ता द्वारा इस चोरी के पकड़ जाने की सम्भावना बनी हुई है[2]। किन्तु वसन्तक के यह कहने पर कि बृहस्पति की बुद्धि का उपहास करने योग्य मेरे रहते मिलन कैसे नहीं होगा और जब वह अपनी योजना राजा के सम्मुख रहता है तो राजा को आशा होती है। किन्तु अचानक विदूषक द्वारा वासवदत्ता का नाम ले लेने से एक व्यवधान उपस्थित हो जाता है फिर शीघ्र ही सारा षड्यन्त्र वासवदत्ता को ज्ञात हो जाता है। इस प्रकार यह आशा-निराशा की स्थिति ही वह अवस्था है जिसे प्राप्त्याशा कहा गया है; क्योंकि वासवदत्ता को वश में कर लेने की आशा तो राजा की अब भी है ही।

---

१. राजा :— (सरितोषम्) वयस्य ! दर्शनमपि भविष्यति प्रियायाः ?
रत्नावली तृतीय अङ्क

२. वसन्तक :— भोः ! एवं न्विदम् । यदि अकालवातावली भूत्वा न आयाति देवीवासवदत्ता । वही, तृतीय अङ्क

वस्तुतः, यत्न की अवस्था का अन्त और प्राप्त्याशा की स्थिति का आरम्भ प्रतिनायक अथवा नायक के फलप्राप्ति में बाधक तत्त्वों के पूर्ण विकास के चरमोत्कर्ष का स्थल है। अभिज्ञानशाकुन्तल के तृतीय अङ्क में राजा द्वारा तपस्वियों को दिये जाने वाले आश्वासन के पूर्व जिस भय की योजना की गयी है, (सायन्तने सवनकर्मणि सम्प्रवृत्ते ३.४१) वहाँ से नायकविरोध के साथ ही नायक के कार्य में उठने वाले बाधकतत्त्व पल्लवित होने लगते हैं। चतुर्थ अङ्क के आरम्भ में ही दुर्वासा का आगमन, उनका शाप, शकुन्तला का वियोग, अँगूठी का खो जाना, राजा द्वारा उसे न पहचान सकना, यह जहाँ गर्भ-सन्धि का स्थल है वहीं नायक के फलप्राप्ति में बाधक-तत्त्वों के उत्कर्ष का भी स्थल है। नायक की दृष्टि से यहाँ प्राप्त्याशा की स्थिति धुंधली है और मात्र प्रयत्नों का उत्कर्ष देखा जाता है।

राक्षस की दृष्टि में वैतालिक के गीतों से चन्द्रगुप्त एवं चाणक्य के बीच भेद उत्पन्न कर दिया है किन्तु उधर कृतककलह द्वारा राक्षस को आश्वस्त करके चाणक्य कूट लेख एवं आभूषणों द्वारा मलयकेतु एवं राक्षस के मध्य वैमनस्य उत्पन्न करके अपनी स्थिति सुदृढ करता है अन्त में, राक्षस भी चाणक्य की इस चाल को जान जाता है परन्तु तब तक मलयकेतु राक्षस को उस सीमा तक विश्वासघाती समझ लेता है कि राक्षस द्वारा उसे पूर्व स्थिति तक लाना असम्भव हो जाता है अर्थात् राक्षस की निराशा एवं चाणक्य की आशा यह स्थिति भी प्राप्त्याशा की ही स्थिति है।

वेणीसंहार में अभिमन्युवध से फैली निराशा की स्थिति, पुनः जयद्रथवध और कालान्तर में दुःशासन वध के कारण उत्पन्न आशा की स्थिति प्राप्त्याशा की स्थिति मानी जा सकती है। दुःशासन ही वह मुख्य पात्र है जिससे भीम द्रौपदी के अपमान का प्रतिशोध लेना चाहता है और इसे उसकी पहली विजय माना जा सकता है। अतः यहाँ दुर्योधन के अन्त की निकटता का भी आभास होता है। भरतमुनि ने इसे और भी स्पष्टरूप में व्याख्यायित कर रखा है, उनके अनुसार—

ईषत् प्राप्तिश्च या काचित् अर्थस्य परिकल्प्यते।
भावमात्रेण संज्ञेयो विधिज्ञैः प्राप्तिसम्भवः॥ भरत २१.१०

दुःशासनवध अथवा सागरिका से मिलन की योजना की ऐकाङ्गिक सफलता भरतमुनि की दृष्टि से फल की 'ईषत्प्राप्ति' होगी। नाट्यदर्पणकार ने भी भरतमुनि की इसी मान्यता को आधार मानकर 'फलसम्भावना किञ्चत् प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः।' (ना० द० प्रथम विवेक) ऐसा कहा है। इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—

'मात्र शब्देन फलान्तरयोगः प्रतिबन्धनिश्चयः व्यवच्छिद्यते। फलान्तरसबन्धादनिश्चितबाधकाभावाच्चोपायादीषत् प्रधानफलस्य या सम्भावना न तु निश्चयः सा प्राप्तेः प्रधानफललाभस्याशा प्राप्त्याशा।'—ना० द० प्रथम विवेक

'प्राप्त्याशा' इस अभिधान से आशा और निराशा की स्थिति का स्वतः अनुमान किया जा सकता है। वस्तुतः नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से नाटकों और प्रकरणों में 'यत्न' का उत्तर भाग, प्राप्त्याशा एवं प्राप्ति-सम्भव इस अवस्था का पूर्व भाग; अन्तर्द्वन्द्व एवं बहिर्द्वन्द्व के लिए आदर्श स्थल हो सकता है। अतएव 'अतित्वरा' एवं उपायापायशङ्का का अपना महत्त्व है जिसके पश्चात् फलप्राप्ति में बाधकतत्त्वों का उपशमन आरम्भ हो जाता है और कार्यसिद्धि के लक्षण सुस्पष्ट होने लगते हैं।

नियताप्ति:—'अपायाभावतः प्राप्तिः'[१] के रूप में इस अवस्था को नायक के कार्यपथ में, फलप्राप्ति में, बाधक तत्त्वों के उपशमन का स्थल माना जाता है। नाट्यदर्पणकार ने 'उपायानां साकल्यात् कार्य-निर्णयः प्राप्तिसम्भवः[२]' यह कहकर उपायों की पूर्णता, सिद्धि अथवा सफलता की ओर संकेत किया है। यह नायक के कार्य की; साध्य की नहीं अपितु उसके साधनों के मार्ग की, बाधाओं के उपशमन का भी पर्याय है। इसे ही भरतमुनि ने इस रूप में देखा है—

नियतां तु फलप्राप्तिं यत्र भावेन पश्यति ।
नियतां तां फलप्राप्तिं सगुणस्तु विनिर्दिशेत् ॥ भरत २१.१३

अर्थात् नायक जब फलप्राप्ति के प्रति एक नियत स्थिति, अर्थात् 'अब तो बधाएं समाप्तप्राय हैं अतः फलयोग होगा ही' की सम्भावना करने लगता है तो वह 'नियताप्ति' होती है। नाट्यदर्पणकार ने इसे ही और स्पष्ट करते हुए कहा है—

'प्रधानफलहेतूनां प्रतिबन्धकाभावेन सकलसहकारिसम्पत्त्या कार्यस्य प्रधानफलस्य निर्णयो भविष्यत्येवेतिनिश्चया नियता फलाव्यभिचारिव्याप्तिर्नियताप्तिः।'

—ना० द० प्रथम विवेक

अर्थात् मुख्यफल की प्राप्ति में जो बाधक कारण हैं उनका अभाव हो जाने पर, फल की निश्चयात्मक (अव्यभिचारि) स्थिति ही नियताप्ति है।

रत्नावली नाटिका में 'वासवदत्ता' ही सागरिका के मिलन में बाधक है। अतः जब राजा यह निर्णय कर लेता है कि 'वयस्य ! देवीप्रसादनं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि' तो यह स्थिति वस्तुतः नियताप्ति की भूमिका बनती है। क्योंकि वेश परिवर्तन एवं अन्य स्थलों पर उदयन की सागरिका के प्रति आसक्ति को वासवदत्ता स्वयं देख चुकी है और वह जानती है कि उदयन की अभिलाषा के समक्ष उसे झुकना ही होगा। अतः उसके 'अस्वीकार' का कोई प्रश्न नहीं रह जाता है। राक्षस एवं मलयकेतु के मध्य कलह उत्पन्न करके चाणक्य, मलयकेतु को राक्षस के चित्रवर्मा प्रभृति पाँचों मित्रों के वध का आदेश देने की, स्थिति उत्पन्न कर देता है और इसे सुनकर राक्षस का धैर्य

१. द० रू० १.२१, सा० द० ६.७ २. ना० द० प्रथम विवेक

टूट जाता है; वह किंकर्त्तव्य-विमूढ हो जाता है। आत्महत्या, तपोवनगमन, अथवा एकाकी युद्ध की बातें सोचना[1] उसके अन्तर्द्वन्द्व को मुखर करता है और अन्त में चन्दनदास का ध्यान आने पर वह इन सभी कर्मों से विमुख हो जाता है। ध्यान देने योग्य तथ्य यही है कि चाणक्य ने और किसी को बन्धन में नहीं रखा। किन्तु चन्दनदास बन्दी है, क्योंकि राक्षस का जीवन-मरण चन्दनदास से जुड़ा है और जब राक्षस चन्दनदास का ध्यान करके आत्महत्या, वनगमन एवं युद्ध से पराङ्मुख हो जाता है, बाह्य-संघर्ष भी समाप्त हो जाता है और तब चाणक्य का अवान्तर लक्ष्य कि राक्षस आत्मसमर्पण कर दे, निश्चित सा हो जाता है, क्योंकि अब प्रतिनायक अपने मुख्य-लक्ष्य से विमुख हो चुका है। यही नायक के मुख्य कार्य की नियताप्ति है। इसी प्रकार वेणीसंहार में दुःशासन की मृत्यु के उपरान्त कर्ण का वध होता है तभी भीम और अर्जुन का धृतराष्ट्र से साक्षात्कार होता है। वहीं भीम दुर्योधन की युद्ध योजना बन जाती है, क्योंकि दुर्योधन अब स्वयं युद्ध का उत्सुक हो पतंगे की भाँति जलने को तत्पर है और वह अश्वत्थामा को इस कर्म से मना कर देता है। तभी तो युधिष्ठिर 'स्वल्पावशेषे जये' की घोषणा करते देख जाते हैं[2]।

फलागम:—नियताप्ति तो, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, विघ्नों का अपाय स्थल है, नायक की फलप्राप्ति में बाधक तत्त्वों के अन्तिम पराभव का स्थल है। जिसके उपरान्त फलागम का होना स्वाभाविक ही है। नायक को, आरम्भ से लेकर नियताप्ति तक किए गए प्रयत्नों का अभीष्ट फल प्राप्त होना ही फलागम है। भरतमुनि और दशरूपककार लगभग समानरूपेण इसका लक्षण करते हैं—

(क) अभिप्रेतं समग्रं च प्रतिरूपं क्रियाफलम्।
यद् दृश्यते निवृत्ते तु फलयोगः स उच्यते॥ भरत २१.१४

(ख) समग्रफलसम्पत्तिः फलयोगो यथोदितः। द० रू० १.२२

अर्थात् रत्नावली की प्राप्ति अथवा दुर्योधन वध या राक्षस द्वारा आमात्य पद स्वीकार करने के उपरान्त उदयन, युधिष्ठिर या चन्द्रगुप्त का चक्रवर्ती हो जाना ही फल योग है। किन्तु नाट्यदर्पणकार इससे पृथक्, एक नवीन दृष्टि से इसका लक्षण करते हुए कहते हैं :—साक्षादिष्टार्थसम्भूतिर्नायकस्य फलागमः। ना० द० विमर्श—१

अर्थात् रत्नावली रूपी अर्थ की प्राप्ति, दुर्योधनवध के उपरान्त भीम द्वारा द्रौपदी की वेणी का संहार अथवा राक्षस को पराजित करके उसे चन्द्रगुप्त के आमात्यरूप में कार्य करने को बाध्य कर देना ही फलागम है। फलागम का तात्पर्य नाट्यदर्पणकार ने

---

१. मुद्रा० ५.२४

२. वेणीसंहार ६.१

फल के आरम्भ के रूप में माना है। अपने इसी तात्पर्य को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं :--

'साक्षात् समनन्तरं न तु दानादिभ्यः स्वर्गादिफलमिव जन्मान्तरभाविनो इष्टस्याभिप्रेतस्य अर्थस्य प्रयोजनस्य सम्यक् पूर्णत्वेन भूतिरुत्पत्तिः। फलस्यागमः आगमारम्भो न पुनरागतत्वम्। इह फलस्योत्पत्यावेशः पञ्चम्यावस्था। उत्पतनस्य तु नायकेन यः सम्भोगस्तत् प्रबन्धस्य मुख्यं साध्यम्। अतएव फले साध्ये नायकस्य पञ्चावस्थाः सङ्गच्छन्ते। नायकस्येत्यनेन चावस्थान्तराणि सचिवनायिका-विपक्षदैवादिव्यापारैरपि फलागमः पुनर्नायकस्यैव निबद्ध्यते।'

—ना० द० विमर्श–१

नाट्यदर्पणकार के इस शास्त्रार्थ का पूर्व पक्ष यह है कि फलागम फल नहीं है फल का आरम्भ है। यह नायक के प्रयत्नों का विराम-स्थल है। अर्थात् त्रिवर्ग अथवा चतुर्वर्ग फलप्राप्ति में से किसी को भी सिद्धि, किसी इतिवृत्त, कथा, काव्य अथवा रूपक-प्रबन्ध का साध्य हो सकता है, किसी नायक-नायिका का नहीं। नाट्यदर्पणकार का यह चिन्तन नितान्त मौलिक है। क्योंकि जब हम इन अवस्थाओं को किसी नायक के कार्य से जोड़ देते हैं तो पञ्चम कार्यावस्था 'फलागम' को चक्रवर्तित्व लाभ आदि से कैसे जोड़ सकते हैं। नायक के सारे कर्म नायिका को प्राप्त करने के लिए होते हैं, प्रतिद्वन्द्वी को मारने या जीतने के लिए होते हैं तो फिर फलागम क्या होगा ? स्वाभाविक है वह भी रत्नावली लाभ, राक्षस का आत्मसमर्पण, या वेणी का संहार ही होगा। इसके पश्चात् ही चक्रवर्तित्व, धर्मस्थापना का फल आता है अतः इस रूपक प्रबन्ध के फल अर्थात् लक्ष्य की प्राप्ति का आरम्भ ही फलागम है। अर्थात् लौकिक नाट्य की समाप्ति और पारलौकिक नाट्य का आरम्भ फलागम है।

नाट्यदर्पणकार के स्पष्टीकरण के परिप्रेक्ष्य में यदि भरत एवं दशरूपककार के लक्षणों को देखा जाय तो वे भी कार्यावस्थाओं को नायक के कार्यों से ही जोड़ते हैं, यह स्पष्ट हो जाता है। भरतमुनि तो स्पष्टरूपेण 'फलार्थिभिः प्रारब्धस्य सर्वस्यैव हि कार्यस्य अनुक्रमेणैव हि एताः पञ्चावस्थाः भवन्ति[1]' यह कहते हुए नाट्यदर्पणकार की मान्यता को प्रेरणा देते हैं। दशरूपककार भी 'अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः[2]' के रूप में उसे फलार्थी-नायक के कार्यों से जोड़ते हैं। किन्तु फलागम का लक्षण करते हुए 'समग्र क्रियाफलं' के रूप में भरत एवं दशरूपककार का कथन तथा 'रत्नावलीलाभचक्रवर्तित्वावाप्तिः' धनिक की इस व्याख्या ने जो संशय उत्पन्न किया है उसे नायक के फलागम से बहुत पृथक् करके देखने में भी विप्रतिपत्ति की सम्भावना है। प्रतिज्ञायौगन्धरायण में जहाँ नायक, उदयन नहीं यौगन्धरायण है और मुद्राराक्षस

१. भरत (नि.) १९.१५ २. द० रू० १.१९

में जहाँ नायक चन्द्रगुप्त नहीं चाणक्य है वहाँ उदयन या चन्द्रगुप्त के निष्कटक राज्य की स्थापना ही इसका लक्ष्य है न कि वासवदत्ता या राक्षस की प्राप्ति ऐसा भी कहा कि ही जा सकता है। अतः यदि 'समग्र क्रियाफलं' की व्याख्या 'फलारम्भः' न करके 'फल-प्राप्तिः' भी कर ली जाय तो कुछ अनुचित न होगा। वस्तुतः भरत एवं दशरूपककार एक सूत्र देते हैं और नाट्यदर्पणकार उसे विस्तार देते हैं, यह मानना ही उपयुक्त होगा।

पञ्च अर्थप्रकृतियां

नाट्यशास्त्रियों ने बीज, बिन्दु, पताका प्रकरी और कार्य ये पाँच अर्थप्रकृतियां मानी है। जिनका सीधा सम्बन्ध रूपक के इतिवृत्त से मानना चाहिए। पञ्चकार्या-वस्थाओं के सन्दर्भ में देख चुके हैं कि उनका मुख्य सम्बन्ध नायक के कार्यकलापों से और गौणरूप से रचनाकार द्वारा नायकादि के कार्यनिर्धारण की व्यवस्था से है किन्तु अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध इतिवृत रूपी दुकूल के ताने-बाने से है।

वस्तुतः अर्थप्रकृतियाँ वे तत्त्व हैं जिनका नाटककार के कथानक से सीधा सम्बन्ध है। दशरूपककार कहते हैं 'अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः' अर्थात् प्रयोजन है—नाट्य-संरचना; वह चाहे प्रख्यात हो, उत्पाद्य हो अथवा मिश्र हो, उसके आधार पर ही राम और रावण, जामदग्नि और लक्ष्मण, भीम और दुर्योधन का भेद ज्ञात हो पाता है। कवि कर्म के संदर्भ में अर्थप्रकृतियों को उपाय कहना भी उचित ही है। अभिनव-भारतीकार 'अर्थः फलं तस्य प्रकृतयः उपायाः फलहेतवः[१]' के रूप में इसकी व्याख्या करते हैं, वस्तुतः यह व्याख्यान दशरूपककार की व्याख्या का ही रूपान्तर है। भरतमुनि यद्यपि इस प्रसंग में कोई व्याख्या नहीं करते किन्तु 'बिन्दु' इस अर्थ प्रकृति का लक्षण अवश्य इसी तथ्य की पुष्टि करता है, वे कहते हैं:—

प्रयोजनानां विच्छेदे यदवच्छेदकारणम् ।
यावत्समाप्तिर्बन्धस्य स बिन्दुरिति संज्ञितः ।। भरत २१.२४

यहाँ जिस प्रयोजन की ओर संकेत किया गया है वह कवि के व्यापक कर्म के अङ्ग से भिन्न कुछ अन्य नहीं है। अर्थात् कविकर्म के रूप में कथा के तारतम्य को बनाये रखने का जो कर्म है उस कर्म को ही बिन्दु कहा जाता है। हम आगे देखेंगे कि बिन्दु को किसी नाट्यरचना के आरम्भिक भागों में ही खोजना मात्र भ्रम है, क्योंकि यह तत्त्व कथा में सर्वत्र मिल सकता है। नाटककार को एक बुनकर के रूप में देखें तो हम पाते हैं कि उसके पास कई माडल होते हैं। जिनपर कभी उसे कोई डिजाइन बनानी होती है तो कुछ उससे भिन्न। उसे जैसा रुचिकर होता है वही कर्म वह आरम्भ

१. भरत (ओ) १९.११ पर अभिनव०

करता है। वस्तुतः 'बीज' वह तन्तु जो किसी भी कर्म में आवश्यक है और जहाँ जहाँ उस तन्तु को मोड़ा जाता है वह स्थल 'बिन्दु' होता है। यही 'अवान्तरार्थ के विच्छेद का अच्छेद रूप कारण' होता है। ये ताने बाने ही आधिकारिक इतिवृत्त हैं। आचार्य सागरनन्दी ने तो स्पष्ट रूप से अर्थप्रकृतियों को इतिवृत से सम्बद्ध माना है। वे कहते हैं—

'**अस्य च नाटकस्य पञ्चार्थप्रकृतयो भवन्ति। नाटकीयवस्तुनः पूर्वोक्तस्य पञ्च-प्रकृतयः भवन्ति। नैतान्परित्यज्य नाटकार्थाः सम्भवन्ति**[1]।' अर्थात् ये तत्त्व अर्थ रूपी कथानक के प्रकृति रूप हैं: स्वभावरूप हैं, जिन्हें छोड़कर नाटक का कथानक बन ही नहीं सकता। पताका और प्रकरी के रूप में स्वीकृत तीसरी और चौथी अर्थप्रकृतियों का स्वरूप रूपक सामान्य के सन्दर्भ में वैकल्पिक है। किन्तु प्रकारान्तर से वे स्वयं ही एक लघु कथानक होते हैं। अतः छोटे-छोटे रूपक भेदो में उनका प्रयोग छोड़ा जा सकता है। इसे ध्यान में रखते हुए यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि अर्थप्रकृतियाँ सीधे कथा-वस्तु से सम्बन्धित हुआ करती हैं। पताका और प्रकरी के अभाव में बीज, बिन्दु और कार्यरूप शेष तीन अर्थप्रकृतियों का महत्त्व और बढ़ जाता है।

जहाँ तक '**कार्य**' इस अर्थप्रकृति का सम्बन्ध है वह नाट्यरचना ही है जिसमें नाटककार के यत्न, उपाय आदि सभी सम्मिलित रूप से सन्निहित माने गए हैं[2]। यह अर्थप्रकृति निश्चित रूप से रचनाकारगत है न कि अधिकारी का व्यापार है जैसा कि कुछ विद्वानों ने माना है[3]। वस्तुतः नाट्यकर्म ही 'कार्य' है और उसकी पूर्णता ही कार्यरूप पाँचवी अर्थप्रकृति है।

दूसरी ओर सन्धियां हैं, ये एक ओर तो रस एवं भावों की योजना से सम्बन्धित हैं तो दूसरी ओर नाट्यकार की उस रचनाप्रक्रिया से, जिसे उसने चुना है। नाटककार को अपनी कथावस्तु के अनुरूप 'प्रयोग' करना ही होगा। यदि उसे फूल-पत्तियां बनानी हैं, उतारचढ़ाव दिखाना है तो तन्तुओं को उसी प्रकार मोड़ते हुए अपना कर्म करना होगा। यदि पताका प्रकरी की योजना करनी है, घात-प्रतिघात दिखाना है, सुख-दुःख के चित्र खींचने हैं, संयोग-वियोग को निरूपित करना है, अन्तर्द्वन्द्व को सृष्टि अभीष्ट है तो तदनुरूप सन्ध्यङ्गों की योजना स्वाभाविक है। जहाँ एक भाव समाप्त होकर दूसरा आरम्भ होगा, जहाँ उसी भाव की आवृत्ति होगी तो ऐसे सन्ध्यस्थल सन्ध्यङ्ग होंगे और

---

१. नाटकलक्षण० पृ० १४

२. यदाधिकारिकं वस्तु सम्यक् प्राज्ञैः प्रयुज्यते।
तदर्थो यः समारम्भस्तत्कार्यं समुदाहृतम् ॥ भरत २१.१७

३. द्रष्टव्यः श्रीनिवास शास्त्रीकृत 'दशरूपक' हिन्दी व्याख्या पृ० २१

उनके समुच्चय को सन्धि कहा जाएगा [1]। इनकी योजना के विकल्प की, किसी रूपक-प्रबन्ध विशेष में न्यून सन्धियों के विधान या निषेध की, यही तर्कसंगत व्याख्या हो सकती है। इस प्रकार सन्धियों एवं अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध यही है कि स्थूल रूप से दोनों नाटककार से सम्बद्ध हैं किन्तु भेद यही है कि अर्थप्रकृतियाँ जबकि नाट्यरचना के लिए चुने गए कथानक की रचना प्रक्रिया से जुड़ी हैं[2] तो सन्धियाँ उसके भावों और कल्पनाओं की चित्रविचित्र योजनाओं से जुड़ी हैं। एक का सम्बन्ध कथा के स्थूल रूपसे, उसके शरीर से है तो दूसरे का सम्बन्ध उस शरीर के अङ्गों के परिष्कार, साज-शृङ्गार से है। इस रूप में किसी सीमा तक इन दोनों तत्त्वों के मध्य एक सगोत्रीय सम्बन्ध है। दूसरी ओर पञ्च अवस्थाएँ हैं जिन्हें इनके साथ मिलाया नहीं जा सकता। किन्तु दशरूपककार प्रभृति आचार्यों ने अर्थप्रकृतियां और अवस्थाओं को मिलाकर सन्धियों की रचना के सिद्धान्त का समर्थन किया है जो अधिक समीचीन प्रतीत नहीं होता, अतः चिन्त्य है। वस्तुतः इसके पीछे इन तीनों में पञ्चसंख्याक समानता ने ही कहीं अव्यवस्था को उत्पन्न किया है। नाट्यदर्पणकार ने अर्थप्रकृतियों को पृथक् करके देखा है किन्तु सन्धियों को स्वतन्त्र रूप में कार्यावस्थाओं से जोड़ा है[3]; जिसे पूर्णतः उचित भले ही न माना जाए किन्तु उसके पीछे जो तर्क है वह महत्त्वपूर्ण है। किन्तु हम पाते हैं कि नाट्यदर्पणकार के तर्क तब दुर्बल पड़ जाते हैं जब हम लक्ष्य रूपक-प्रबन्धों में देखते हैं कि पञ्चावस्थाएं तो अनिवार्य हैं किन्तु पञ्चसन्धियाँ अनिवार्य नहीं हैं। नाट्यदर्पणकार की व्याख्या का महत्त्व यही है कि उन्होंने अर्थप्रकृतियों एवं पञ्चावस्थाओं के सम्मिलित रूप को ही सन्धि मानने वाले मत को निरस्त कर दिया है।

प्रतिनायक अथवा अन्य बाधक तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में हम पाते हैं कि ऐसे तत्त्वों की योजना के बीज भी 'बीज' इस अर्थप्रकृति के साथ ही बो दिये जाते हैं[4]। कथावस्तु में जहाँ प्रतिनायक पर अथवा नायक कार्य के बाधक तत्त्वों पर नायक सफलता की किञ्चिद् झलक मिलने लगती है वह स्थल बिन्दु होते हैं, वहीं नायक की सफलता एवं प्रतिनायक की असफलता का उद्घाटन आरम्भ हो जाता है। प्रकरी और

---

१. तेनार्थावयवाः सन्धीयमानाः परस्परमङ्गैश्च सन्धयः—भरत (ओ) १९.३७ अभिनव

२. बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पञ्च कथाभेदस्य हेतवः ॥
एते कथाशरीरस्य हेतवः परिकीर्तिताः। भावप्रकाशन—सप्तम अधिकार

३. सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः पञ्चावस्थानुगाः क्रमात।...अवस्थासमाप्तौ समाप्यन्ते।
नाट्यदर्पण प्रथम विवेक

४. ·····इत्यादि नायक-प्रतिनायकामात्याद्याश्रयेण विचित्ररूपो बीजोपन्यासः।
नाट्यदर्पण प्रथम विवेक

पताका में प्रायः अनुनायक और उपनायक तथा उपप्रतिनायक के माध्यम से कथानक को आगे बढ़ाया जाता है।

भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में इस प्रसंग को देखा जाए तो उनकी सन्धि सम्बन्धी सभी कारिकाएं बीजसापेक्ष हैं और उनके लक्षण 'बीज' के चारों ओर ही घूमते हैं[1]। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उन्होंने बिन्दु, पताका, प्रकरी आदि अर्थप्रकृतियों को उपेक्षित छोड़ दिया है। उन्होंने तो इन अर्थ प्रकृतियों की यथाविधि योजना की छूट दी है[2]। आचार्य अभिनवगुप्त भी अर्थप्रकृतियों और सन्धियों के मध्य एक भेदक स्थिति को स्वीकार करते हुए कहते है:—'अन्येत्वाहुः अर्थस्य समस्तरूपकवाच्यस्य प्रकृतयः प्रकरणान्यवयवार्थखण्डा इत्यर्थप्रकृतयः; एतच्च व्याख्यानं नातीवप्रकृतं पोषयति। सन्ध्यादीनामपि चार्थप्रकृतित्वत्र व्याख्याने स्यात्, इतिवृत्तमेव च समुदायरूपम्। अर्थ इतिवृत्ते प्रकृतय इति वक्तव्येऽर्थग्रहणमतिरिक्तं स्यात्, इत्यवस्थाभिश्च तुलयता वर्णनं वर्णनामात्रं स्यादिति किमनेन।'—भरत (ओ) अभिनव० १९.२१

अभिनवगुप्त यद्यपि यह भी कहते हैं कि अर्थ-प्रकृति को केवल इतिवृत से सम्बद्ध मानना उचित नहीं है। किन्तु यदि अर्थ-प्रकृति को इतिवृत्त से सम्बद्ध मानकर ही देखा जाये तो अधिक संगत होगा। अनुभवगुप्त स्वयं ही अर्थप्रकृतियों को 'अर्थः फलं तस्य प्रकृयः उपायाः फलहेतवः' के रूप में मानते हुए 'तदेतैः पञ्चभिरुपायैः पूर्णफलं निष्पाद्यते' ऐसा कहते हैं। अर्थात् 'नाट्यरचना' इस कर्म की पूर्णता को यदि 'अर्थ' अर्थात् फल मान लिया जाये तो कथानक इतिवृत्त ही वह साधन है जो एक पूर्ण रचना को जन्म देगा। इसे ही जहाँ-जहाँ रूपकप्रबन्ध है वहाँ-वहाँ इतिवृत्त है और जहाँ इतिवृत्त नहीं है वहाँ रूपक-प्रबन्ध नहीं है, अर्थ नहीं है, फल नहीं है अर्थात् कार्य रूप पञ्चम अर्थ-प्रकृति भी नहीं है, ऐसा कहा जा सकता है। अतः शेष अर्थप्रकृतियों, को विशेषकर बीज एवं बिन्दु को, फल का, कार्य का कारण मानने पर उसका सीधा सम्बन्ध इतिवृत्त से स्वतः स्थापित हो जाता है।

नाट्यदर्पणकार ने बीज एवं बिन्दु इन दो अर्थप्रकृतियों को अनिवार्य मानते हुए सन्धियों को 'सन्धयोमुख्यवृत्तांशाः पञ्चावस्थानुगा क्रमात्' कहा है। अर्थात् सन्धियाँ अवस्थाओं का अनुगमन करती हैं। उन्होंने 'अवस्थासमाप्तौ समाप्यन्ते' के रूप में इसका समर्थन भी किया है[3]। इसके साथ ही 'व्यायोग, रूपकभेद का लक्षण करते हुए

१. द्रष्टव्य : भरत २१.३९—४३, २—भरत.२१.२२

३. 'मुख्यस्य स्वतन्त्रस्य महावाक्यार्थस्यांशाः भागाः परस्परं स्वरूपेण चाङ्गैः सन्धीयन्ते इति सन्धयः। अवस्थाभिः प्रारम्भादिभिरनुगताः अनुयाता अवस्था-समाप्तौ समाप्यन्ते-इत्यर्थः। अवस्थानां च ध्रुवभावित्वात् सन्धयोऽपि पञ्चावश्यं भाविनः। क्रमादिति मुखादि उद्देश्यक्रमेणावस्थाक्रमेण च निबन्ध्यन्ते। इह तावत् प्रबन्ध-निबन्धनीयोऽर्थोऽवस्थाभेदेन पञ्चभिर्मात्रैः परिकल्प्यते।'—नाट्यदर्पण, प्रथम विवेक

उन्होंने गर्भ एवं विमर्श सन्धि के साथ ही प्राप्त्याशा एवं नियताप्ति अवस्थाओं का भी प्रतिषेध कर दिया है :—

'अत्र (व्यायोगे) च गर्भविमर्श-सन्धिप्रतिषेधे एतत्सन्धिपरिच्छेदके प्राप्त्याशा-नियताप्ती अवस्थे प्रतिषिद्धे एव'—नाट्यदर्पण, द्वितीय विवेक

अर्थात् 'व्यायोग में गर्भ एवं अवमर्श (विमर्श) सन्धियां नहीं होतीं, अतः स्वाभाविक रूप से प्राप्त्याशा एवं नियताप्ति कार्यावस्थाएं भी नहीं होंगी।' इस प्रकार उन्होंने सन्धियों को अवस्थाओं के साथ सम्बद्ध मानते हुए अवस्थाओं का विकल्प निर्धारण किया है। किन्तु यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती है क्योंकि नाटक (रूपक) के तीन प्रमुख तत्त्व हैं वस्तु, नेता एवं रस। जिनमें, अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध कथावस्तु से, अवस्थाओं का सम्बन्ध नायक प्रतिनायक के कार्यों से है तथा सन्धियां कथावस्तु को, उनके तन्तुओं को जोड़कर कथावच्छेदकधर्म निभाती हैं और वे नाट्य-रस के पूर्ण-परिपाक में सहायक होती हैं।

पूर्वपंक्तियों में विभिन्न आचार्यों के मतों का जो मन्थन किया गया है उससे अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं एवं पञ्चसन्धियों के सन्दर्भ में चार मुख्य प्रश्न उभरते हैं :—(१) क्या अर्थप्रकृतियों और अवस्थाओं की समन्वित रूप ही पञ्च-सन्धियां हैं? (२) क्या सन्धियां मात्र-अवस्थानुगा हैं? (३) अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध इतिवृत्त से है जबकि अवस्थाएं नेता-नायक-प्रतिनायक के कार्यकलापों से ही सम्बन्धित हैं, अतः क्या सन्धियां नायक के कार्यों की व्याख्या करती हुई रस से ही सम्बद्ध है? (४) क्या अवस्थाएं भी ऐसे वैकल्पिक तत्त्व हैं जो किसी कथानक में हो भी सकते हैं और नहीं भी?

कहा जा सकता है कि सन्धियां उसी सीमा तक अवस्थानुगा हैं कि उनमें नायक के विशृङ्खल कार्य-कलापों को सुनियोजित किया जाता है। किन्तु उनमें न तो कारण-कार्यभाव है और न तो गतानुगतिकभाव है। जहाँ तक सन्धियों और अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध है वहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि कथावस्तु को सजाने संवारने किंवा व्यवस्थित करने वाले तत्त्व सन्धियों के माध्यम से ही सक्रिय हो पाते हैं। अतएव 'सन्धयः मुख्यवृत्तांशाः' के रूप में सन्धियों पर आधिकारिक इतिवृत्त का आरोप किया गया है। तात्पर्य यह कि सन्धियाँ एवं अर्थ-प्रकृतियाँ नाटककार को रचना प्रक्रिया से सम्बद्ध हैं और सन्धियां ही अर्थप्रकृति रूपी कथातन्तुओं को रसानुकूल-भावानुकूल बनाती हुई मुख्यरस के साधारणीकरण का माध्यम बनती हैं अतः उन पर 'मुख्य-वृतांशाः' का आरोप अनुचित नहीं है।

वस्तुतः नाट्यरचना की दृष्टि से सन्धि वह तत्त्व है जो मुख्यरूप में रसतत्त्व से जुड़ा है। रस की कोटि अथवा मात्रा के आधार पर ही विभिन्न रूपक प्रबन्धों में

उनको योजना का विकल्प निर्धारण हुआ है । हल्केफुल्के नाट्यप्रबन्धों में जहां कथावस्तु संक्षिप्त है वहाँ नायक के कार्यों की पाँचो अवस्थाएं तो रहती हैं किन्तु अर्थप्रकृतियों का भी विकल्प है और सन्धियों का भी विकल्प है ।

तात्पर्य यह कि रूपक कोई भी हो चाहे भाण हो या व्यायोग, अङ्क हो अथवा प्रहसन उसमें नायक के कार्य की पाँच अवस्थाएं; फलप्राप्ति के निमित्त औत्सुक्य के साथ कार्य का आरम्भ फिर उसके परमौत्सुक्य के साथ कार्य-क्षिप्रता प्रयत्न, उस यत्न के मध्य आने वाली बाधाओं को दूर करने की योजना-द्वन्द्व-पराजय-विजय; सफलता असफलता के बीच झूलते हुए धीरे-धीरे फल की ओर बढ़ना; इस प्राप्त्याशा के साथ विरोधी षड्यन्त्रों का निराकरण करते हुए नियाप्ति की स्थिति, और फिर फल का लाभ; यह पाँचो कार्य तो हर स्थल पर विस्तार अथवा संकोच के साथ होते ही हैं । किन्तु अङ्क वीथी, प्रहसन एवं भाण में मुख एवं निर्वहण[1] का ही प्रयोग, समवकार एवं डिम में मुख प्रतिमुख; गर्भ एवं निर्वहण का प्रयोग[2], तथा व्यायोग में मुख प्रतिमुख एवं निर्वहण का ही प्रयोग[3], यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि सन्धियों की स्थिति वैकल्पिक है । ठीक इसी प्रकार पाँचा अर्थप्रकृतियों में से पताका प्रकरी जैसी अर्थप्रकृति से विहीन अनेक रूपकभेदों के उदाहरण मिल जाते हैं जिससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि पञ्चावस्था एवं पञ्च अर्थप्रकृतियों के संयुक्त रूप को सन्धि कहना उचित नहीं है ।

वस्तुतः इस विवेचन से जो तथ्य प्रकाश में आते हैं वे ये है :—

(१) अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध रूपकों के बाह्य कलेवर से है । जिससे कथावस्तु के ढाँचे का निर्माण होता है[4] ।

(२) अवस्थाओं का सीधा सम्बन्ध नायक-प्रतिनायक-नायिका तथा अन्य पात्रों के क्रिया कलापों से है न कि उसका सीधा सम्बन्ध नाटककार से है[5] । नाटककार तो

१. द० रू० ३.५१, ५४, ६८, ७१   २. वही ३.६० तथा ३.६३

३. वही ३.६१

४. बीजं बिन्दु पताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च कथा भेदस्य हेतवः ।। —भावप्रकाशन, ७वां अधिकार

५. मुद्राराक्षस ४.३ को उद्धृत करते हुए डॉ० सत्यव्रत सिंह कहते हैं :—'वस्तुतः अवस्था-पञ्चक तथा अर्थप्रकृतिपञ्चक के सम्बन्ध में जो स्पष्ट तथा पर्याप्तरूपेण महत्त्वपूर्ण बात मुद्राराक्षस के उपर्युक्त कथन से प्रतीत होती है वह अन्य किसी भी नाट्यशास्त्र सम्बन्धी साहित्य के निर्देश से नहीं । मुद्राराक्षस (४.३) के अनुसार यह पता चलता है कि नाटककार का सम्बन्ध अवस्थापञ्चक तथा अर्थप्रकृतिपञ्चक से है न कि नाटक के नायक का ।' मुद्राराक्षस पृ० ३३०

[मेरे विचार से 'कार्योपक्षेपमादौ०' मुद्रा० ४.३ में प्रयुक्त पदावली अर्थप्रकृतियों और सन्धियों के नामों से मेल खाती है न कि अवस्थाओं से और दोनों तत्त्व रचनाकार गत हैं इसमें सन्देह नहीं, किन्तु अवस्थाएं नायक के कार्य से ही सम्बद्ध हैं]

उन कार्यों को अपनी भाषा देता है; उसे व्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने के अपने दायित्व का निर्वाह करने के कारण, वह उन अवस्थाओं से सम्बद्ध होता है।

(३) सन्धियों का सम्बन्ध रस के परिपाक से है।[1] जिन्हें नाटककार; सामाजिक को रस चर्वणा कराने के निमित्त, विभिन्न सन्ध्यङ्गों के रूप में बिखरे कथातन्तुओं और भावों को एक दूसरे से गूँथ कर प्रस्तुत करता है।

(४) अर्थ-प्रकृतियां एवं सन्धियां वैकल्पिक हैं। अतः वे किसी न किसी रूप में परस्पर सम्बन्धित हैं जैसा कि मुद्राराक्षस ४.३ से भी स्पष्ट होता है।

(५) किन्तु पञ्चावस्थाओं का स्वरूप कथावस्तु के संकोच एवं विस्तार के अनुरूप संकुचित अथवा विस्तृत हो सकता है। उनमें से किसी का भी रूपक में अभाव अस्वाभाविक ही नहीं अनाटकीयता का कारण बन सकता है।

अतः अवस्थाएँ तो सभी रूपक प्रबन्धों में अवश्यम्भावी है किन्तु अर्थप्रकृतियों एवं सन्धियों में कुछ की स्थिति वैकल्पिक है[2]। इस कारण ये तीनों परस्पर उस ढंग से सम्बद्ध नहीं हैं जैसा कि दशरूपककार प्रभृति आचार्य मानते हैं।

पञ्च-सन्धियां

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श एवं निर्वहण ये पांच सन्धियाँ नाट्यशास्त्रियों ने मानी हैं।

मुखसन्धि को कथामुख भी कहा जा सकता है। कथा के आरम्भ से ही नाट्यकथा का किञ्चित् आभास हो जाता है इसे ही 'बीजसमुत्पत्ति' के रूप में स्वीकार किया गया है[3]। संस्कृत नाट्यपरम्परा की रसपरकता के कारण इस सन्धि के स्थल पर ही अर्थात् रूपक के आरम्भ में ही ऐसे कथोपकथानों का उपग्रथन होता है कि नाटककार एवं प्रयोक्ता जिस रस को अङ्गी बनाता है उसका आभास हो सके। मुद्राराक्षस एवं वेणीसंहार में हम ऐसा ही देखते हैं और पाते हैं कि वहाँ क्रमशः चाणक्य और भीम का उत्साह और क्रोध उच्च शिखर पर है जिसमें उन्हें प्रतिद्वन्द्वियों को ललकारते हुए

---

१. तेन रसस्यैवायं विभावादि परिकरो यदङ्गचक्रमिति।
भरत (ओ०) १९.१०२ पर अभिनवभारती

२. डॉ० के० सी० पाण्डेय सन्धियों की अनिवार्यता के समर्थक हैं।
द्रष्टव्य; स्वतंत्र० पृ० ४४७

३. (क) यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरस-सम्भवा।
काव्ये शरीरानुगतं तन्मुखं परिकीर्तितम्॥ भरत (नि०) १९.३९

(ख) प्रारम्भभावित्वान्मुखमिव मुखम् भरत (ओ०) १९.३९

(ग) मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा। द० रू० १.२४

देखा जा सकता है। तात्पर्य यह कि ऐसे रूपकों में नायक द्वारा प्रतिनायक अथवा अन्य बाधक तत्त्वों के निराकरण का आभास आरम्भ से ही प्रतिष्ठित कर दिया जाता है जिसके कारण उन तत्त्वों को शक्ति का भी आभास हो जाता है।

प्रतिमुख सन्धि में बीजरूप से उपन्यस्त कथातन्तु का प्रकाशन किया जाता है अर्थात् बिन्दु इस अर्थप्रकृति का भी यह एक स्थल निर्धारित किया गया है[1]। उदाहरण रूप में भीष्म की मृत्यु से एक बार तो पाण्डवों की विजय का आभास होता है किन्तु कर्ण आदि अब भी जीवित हैं यह निराशाजनक स्थिति है। यह स्थिति नायकगत 'यत्न' कार्यावस्था की भी स्थिति है किन्तु प्रतिनायक की दृष्टि से देखें तो वेणीसंहार में अभिमन्यु को मारकर प्रसन्न होने वाले दुर्योधन की स्थिति पर उसी के कञ्चुकी का आक्षेप उसकी स्थिति को स्पष्ट करता है[2]। इस रूप में भीष्म की मृत्यु यदि नायक के पक्ष में है तो अभिमन्युवध प्रतिपक्ष की सफलता का सूचक है। किसी की भी स्थिति सामाजिक को-जयपराजय का निर्णय नहीं करने देती। यही बीज का 'लक्ष्यालक्ष्य' रूप है। मुद्राराक्षस में चाणक्य चन्द्र (गुप्त) ग्रहण की बात सुनकर क्रोधोन्मत्त हो उठता है (यहाँ से राक्षस को जीतने के लिए लेख लिखने तक) यह मुखसन्धि का स्थल है जिसमें प्रतिनायक की शक्ति को नगण्य मानने वाले चाणक्य की शक्ति का आभास कराते हुए कथा का बीजोपन्यास किया गया है जो लेख के रूप में उद्भेद पाता है। विराधगुप्त के माध्यम से राक्षस को उसके षड्यन्त्रों की असफलता की सूचना एवं चाणक्य की कूटनीतिक सफलता का समाचार नायक के कार्य को तीव्र गति से आगे बढ़ाता है, किन्तु चन्द्रगुप्त के आचरणों से एक कलह का दर्शन होता है उससे राक्षस की स्थिति को बल मिलता है। इस प्रकार नायक-प्रतिनायक के यत्नों वाली यह स्थिति प्रतिमुख सन्धि का स्थल है।

गर्भ सन्धि में कथावस्तु का वह भाग आता है जहाँ नायक के मार्ग की अधिकांश बाधाओं का शमन होने लगता है। प्रकारान्तर से देखें तो; नायक पर प्रतिनायक का भारी पड़ना फिर बाधक तत्त्वों की प्रबलता की स्थिति का शिथिल होकर पुनः नायक को नयी शक्ति, नयी आशा का दिखायी पड़ना किन्तु उसका भी पूर्ण निश्चयात्मक

---

१. (क) बीजस्योद्घाटनं यत्तु दृष्टनष्टमिव क्वचित्।
मुखे न्यस्तस्य सर्वत्र तद्वै प्रतिमुखं स्मृतम्॥ भरत २१.४०

(ख) लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्॥ द० रू० १.३६

(ग) प्रतिमुखं कियल्लक्ष्यबीजोद्घाटसमन्वितः। नाट्यदर्पण प्रथम विवेक

२. वेणीसंहार २.२

न होना ही गर्भस्थिति है[१]। मुद्राराक्षस के चतुर्थ अङ्क में जहाँ राक्षस को वैतालिक के गीतों के माध्यम से चन्द्रगुप्त को चाणक्य के विरुद्ध भड़काने में सफलता की सूचना मिलती है वहीं चाणक्यकी कूटनीति (भागुरायण की नियुक्ति द्वारा राक्षस-मलयकेतु में कलह के बीज डालकर) की विजय की सम्भानाएँ बढ़ जाती-हैं। यहाँ चाणक्य के प्रयत्नों में गति है, तीक्ष्णता है जबकि राक्षस के यत्न कुण्ठित हो उठते हैं, किन्तु किसी की भी विजय की धारणा निश्चित नहीं हो पाती है। उधर वेणीसंहार में कर्ण एवं अश्वत्थामा के कलह से और अश्वत्थामा के युद्धपराङ्मुख हो जाने के बाद चतुर्थ अङ्क में भीम द्वारा दुःशासन का वध कर देने पर, दुर्योधन की शक्ति कुण्ठित हो जाती है। फिर भी दुर्योधन जीवित है अतः विजय निश्चित हो चुकी है ऐसा नहीं कहा जा सकता। उस विजय का अन्वेषण ही 'गर्भ' स्थिति है।

विमर्श सन्धि वह स्थिति है जिसके अन्त तक पहुँचते-पहुँचते प्रतिनायक की स्थिति क्षीणतर हो उठती है किन्तु उसके आरम्भिक अवच्छेदों में आशा-निराशा की स्थिति बनी ही रहती है। अन्तर्द्वन्द्व एवं संघर्ष की समाप्ति अभी भी दूर ही रहती है। विमर्श का यही तात्पर्य है कि अभी सन्देह की स्थिति बनी हुई है[२]। अभिनवगुप्त इसे ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं: 'संशयनिर्णयान्तरालवर्तिनं हि तर्कं तार्किकाः प्राहुः। किं च विमर्श-सन्धिर्नियतफलप्राप्त्यवस्थयाव्याप्तः, तच्च नियतत्वं संदेहश्चेति किमेतत्[3]। अर्थात् 'विमर्श' में सन्देह का मूलोच्छेद नहीं हो पाता है। इस स्थिति में नायक प्रतिनायक के मध्य संफेट, विद्रव, द्रव, शक्ति, छलन, विरोधन, विचलन जैसे संध्यङ्गों के माध्यम से ऐसे संवादों की योजना होती है जो उनके चरित्र-चित्रण में निश्चय ही सहायक होते हैं। जिनके माध्यम से संघर्ष की प्रखरता, संवादों की प्रभावोत्पादकता एवं चरित्र-चित्रण

---

१. (क) उद्भेदस्तस्य बीजस्य प्राप्तिरप्राप्तिरेव वा।
पुनश्चान्वेषणं यत्र स गर्भ इति संज्ञितः॥ भरत २१.४१

(ख) गर्भस्त दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः। द० रू० १.३६

(ग) बीजस्यौन्मुख्यवान् गर्भो लाभालाभान्वेषणैः॥ ना० द० प्रथम विवेक

२. (क) गर्भन्निर्भिन्न बीजार्थो विलोभनकृतोऽपि वा।
किञ्चिदाश्लेषसंयुक्तो विमर्शो स इति स्मृतः॥ भरत २१.४२
क्रोधव्यसनजो वापि स विमर्श इति स्मृतः॥ भरत (नि०) १९.४२

(ख) क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात्।
गर्भनिर्भिन्नबीजार्थः सोऽवमर्शोऽङ्गसङ्ग्रहः। द० रू० १.४३

(ग) अवमर्शसन्धौ तु प्राप्त्यंशः प्रधानफलनिश्चरूपः…… ॥
ना० द० प्रथम विवेक

३. देखें : भरत (ओ) १९.४२ पर अभिनवभारती

की विदग्धता सहज हो उठती है[1]। वेणीसंहार में कर्णवध की सूचना से किञ्चित् विचलित दुर्योधन यह कहते हुए 'या तो मैं अर्जुन के प्राण ले लूंगा या मृत-कर्ण का आलिङ्गन करूंगा' स्वयं को उस दिन के निर्णायक युद्ध का सेनापति घोषित करता है। जिसके माध्यम से प्रतिनायक के अदम्य उत्साह, उसकी धीरता और शौर्य के साथ ही नायकपक्ष के ऊपर आने वाली विपत्ति का भी आभास होता है। तभी अर्जुन एवं भीम आते हैं, जिनके साथ प्रतिनायक दुर्योधन का विवाद होता है। जिससे भीम एवं दुर्योधन की शक्ति एवं शक्ति के दर्प का प्रदर्शन सुकर हो पाता है। फलस्वरूप दुर्योधन से भीम का युद्ध होता है जिसमें दुर्योधन पराजित होता है और भीम का विजयीरूप अभिव्यक्त होता है[2]। मुद्राराक्षस में भागुरायण की नियुक्ति द्वारा मलयकेतु एवं राक्षस के मध्य जो कलह-बीज डाले जाते हैं, वे क्षपणकजीवसिद्धि, भागुरायण एवं सिद्धार्थक तथा चाणक्य के अन्य सेवकों द्वारा घिरे हुए राक्षस एवं मलयकेतु के मध्य कलह उत्पन्न कर देते हैं। उधर मलयकेतु, राक्षस के सभी विश्वस्त राजाओं को मरवा डालता है और चाणक्य द्वारा बन्दी बना लिया जाता है। इस प्रकार एक ओर राक्षस निराश होता है तो दूसरी ओर वह अपनी शक्ति पर भरोसा करके पाटलिपुत्र में प्रवेश करके नये उपाय सोचने लगता है। अतः चाणक्य की स्थिति दृढ़ तो होती है किन्तु विजय हो जाएगी यह निश्चित नहीं हो पाता; यही विमर्श है।

निर्वहण सन्धि, वस्तुतः कथानक के उपसंहार की स्थिति होती है। अतः उसमें नायक द्वारा बाधक तत्वों पर विजय प्राप्ति की स्थिति सुतरां स्पष्ट होकर उभरती है। नाट्यदर्पणकार कहते हैं:—'फलेन मुखसाध्येन नायकप्रतिनायक-नायिकामात्यादिव्यापारैः सम्यगौचित्येन युज्यन्ते सम्बद्ध्यन्ते यस्मिन् प्रधानवृत्तांशे स फलागमावस्थया परिच्छिन्नो निर्वहणसन्धिः' 'नाट्यदर्पण प्रथमविवेक'

अर्थात् नायक प्रतिनायक आदि के सभी कार्यों का छोटी-छोटी योजनाओं, प्रयत्नों और षडयन्त्रों का जो विस्तार रूपकप्रबन्ध में बीजोपक्षेप के साथ आरम्भ होता है उसे एक सूत्र में बाँधकर उसके उपसंहार की योजना ही निर्वहण सन्धि का विषय

---

१. दोषप्रख्यापवादः स्यात् संफेटो रोषभाषणम्।
विद्रवो वधबन्धादिः द्रवोगुरुतिरस्कृतिः ॥
विरोधशमनं शक्तिः तर्जनोद्वेजने द्युतिः ।
गुरुकीर्तनं प्रसङ्गश्छलनं चावमाननम् ॥
व्यवसायः स्वशक्त्युक्ति संरब्धानां विरोधनम् ।
सिद्धामन्त्रणतो भाविदर्शिका स्यात्प्ररोचना ॥
विकत्थना विचलनम् आदानं कार्यसंग्रहः ॥ —द० रू० १.४५.४८

२. 'रक्षो नाहं न भूतः' आदि —वेणी० ६.३७

होता है[१]। इस सन्धिमें आश्चर्य अथवा अद्भुतरस की योजना केलिए भी कुछ नाटयशास्त्रियों का आग्रह रहा है[२]। कुछ रूपकप्रबन्धों में उसकी योजना भी की गयी है; ऐन्द्रजालिक के रूप में अथवा अन्य माध्यमों से ऐसा किया जाता रहा है। वेणीसंहार में भी भीम का भयानक रूप और युधिष्ठिर द्वारा उसे न पहचान पाना एक ऐसा ही चित्र उपस्थित करता है। जिसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण यही है कि सामाजिक, रस की जिस स्थिति तक पहुँच चुका है रूपक की समाप्ति पर वहाँ से सामान्य हो सके, इसका उसे अवसर मिले। वेणीसंहार में इस सन्धि में भीम, द्रौपदी को अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण दिलाते हुए उसकी वेणियों का सम्भार करता है। मुद्राराक्षस के छठे अङ्क में सिद्धार्थक द्वारा चाणक्यनीति की जयघोषणा के साथ ही उपसंहार आरम्भ हो जाता है। वह अपने मित्र सुसिद्धार्थक के व्याज से सामाजिक को सारी स्थिति बता देता है। वही यह भी बताता है कि चन्दनदास के वध के लिए उन दोनों (सिद्धार्थक एवं सुसिद्धार्थक) को ही चाणक्य ने नियुक्त किया है। इस प्रकार प्रथम अङ्क में बन्दी बनाए गए चन्दनदास के भविष्य की सूचना मिलती है फिर आत्महत्या करने वाले पुरुष द्वारा राक्षस को भी इसकी सूचना मिलती है और वह चन्दनदास को मुक्त कराने की बात सोचते-सोचते आत्मसमर्पण की स्थिति तक जा पहुँचता है। इस प्रकार सम्पूर्ण कार्य का उपसंहार होता है और प्रतिनायक राक्षस, चन्द्रगुप्त का अमात्यत्व स्वीकार कर लेता है।

सन्धियों की उपयोगिता एवं प्रतिनायक

दशरूपककार ने सन्धियों-सन्ध्यंगों को रस की दृष्टि से उपयोगी मानते हुए[३] भी मुख्यरूप से उनको नाटककार के लिए इष्टार्थरचना में सहायक, कथानक को विस्तृत करने तथा गोप्यगुप्ति आदि के लिये उपादेय तथा नाट्यप्रयोग में चमत्कार

१. (क) समानञ्च समर्थानां मुख्यार्थानां सबीजिनाम् ।
फलोपसङ्गतानाञ्च ज्ञेयं निर्वहणं तु तत् ॥ भरत २१.४३
नानाभावोऽन्तराणां यद्भवेन्निर्वहणं तु तम् ॥ भरत (नि) १९.४३
(ख) बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
ऐक्यार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ॥ द० रू० १.४८.४९

२. (क) सर्वेषां काव्यानां नानारसभावयुक्तियुक्तानाम् ।
निर्वहणे कर्तव्यो नित्यं हि रसोऽद्भुतस्तज्ज्ञैः ॥ भरत २०.४७
(ख) निर्वहणे चास्मिन् सन्धौ अद्भुतरसः कर्तव्यः । नाटक लक्षण० पृ० ९२
(ग) निर्वहणसन्धि के अङ्गों में 'उपगूहन' का लक्षण करते हुए भरतमुनि कहते हैं—"अद्भुतस्य च सम्प्राप्तिर्भवेदुपगूहनम् ।" भरत २१.१०३

३. बीजानामुत्पत्तिरनेकप्रयोजनस्य रसस्य च हेतुर्मुखसन्धिरिति....।
तेनात्रिवर्गफले प्रहसनादौ रसोत्पत्तिहेतोरेव बीजत्वम् । द० रू० १.२४ वृत्तिभाग

उत्पन्न करने के लिए उपयोगी माना है[१] । नाट्यदर्पणकार ने 'चमत्कार' इस प्रयोजन पर बल देते हुए कहा है कि रामकथा का ऐसा भी स्वरूप हो सकता है कि उसमें पाँचों अवस्थाएँ भी हों, बीज-बिन्दु-पताका आदि भी हों और पाँचों सन्धियाँ भी हों फिर भी चमत्कार का अभाव ही हो[२] । अतः नाटकीय चमत्कार के लिए सन्धियों-सन्ध्यङ्गों की उपयोगिता यही है कि एक ओर तो उससे कथा सूत्र को बाँधा जाता है दूसरी ओर उनसे रसों एवं भावों को निबन्धित किया जाता है[३]। अभिनवगुप्त इसे ही स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'तान्यङ्गानि लिखितानि विवक्षितरसभावादिसम्पूर्णभावभाञ्जि भवन्ति......। इतिवृत्ताविच्छेदोऽपि हि रसस्यैव पोषकः[४] ।' अर्थात् सामाजिक को रसचर्वणा कराने की दृष्टि से भी सन्धियों का अपना महत्त्व है। क्योंकि जिस प्रकार कथा के उपर्युक्त संक्षिप्त रूप में रस चर्वणा सम्भव नहीं है उसी प्रकार कथा के विस्तार मात्र से भी रस चर्वणा सम्भव नहीं है । इतिहास एवं किसी ऐतिहासिक नाटक में मध्य अन्तर[५] यही है कि वहाँ कथा का, घटना का, विस्तार तो मिल जाता है, चमत्कार भी हो सकता है वहाँ,किन्तु उसे रसचर्वणा के योग्य बनाने के लिये संध्यङ्गों के माध्यम से ही कथातन्तुओं को जोड़ते हुए विभिन्न विभाव अनुभाव एवं सञ्चारीभावों की योजना भी की जाती है । इन सन्धियों, सन्ध्यङ्गों के अन्तर्गत नायक-प्रतिनायक-नायिका प्रभृति भूमिकाओं के कार्यों को, घातप्रतिघात को, संघर्ष एवं स्नेह आदि नाना व्यापारों को, रसानुकूल ढंग से नियोजित किया जाता है ।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कार्यावस्थाओं एवं अर्थप्रकृतियों की भाँति सन्धियाँ भी पाँच हैं । नायक-प्रतिनायक के सन्दर्भ में इनका अवलोकन करते समय कुछ मौलिक प्रश्न उठते हैं—

---

१. विवक्षितार्थ निबन्धनं गोप्यार्थगोपनं प्रकाश्यार्थप्रकाशनम् अभिनेयरागवृद्धिः चमत्कारित्वं च काव्यस्येतिवृत्ततस्य विस्तर इत्यङ्गैः षट्योजनानि सम्पाद्यन्ते इति ।
—द० रू० १.५५ वृत्तिभाग

२. 'रामस्य पत्नी रावणेन वनान्तादपहृता, रामेण च जटायुषः समुपलभ्य सुग्रीवं सहायं वानराधिराज्यप्रतिपादनादधिगम्य समुद्रसेतुबन्धमाधाय निहत्य च रावणं प्रत्यानीतेत्यत्र प्रारम्भाद्यवस्था निबन्धनीयैः पञ्चभिरपि सन्धिभिर्बीजाद्युपाययुक्तैः निबद्धे रूपके वृत्तसक्षेपः स्यात्; तथा च न चमत्कारः ।'
—नाट्यदर्पण प्रथम विवेक

३. (क) यथासान्धि तु कर्त्तव्यान्येतान्यङ्गानि नाटके ।
कविभिः काव्यकुशलैः रसभावानवेक्ष्य तु ॥—भरत (नि) १९.१०२
(ख) सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।—ध्वन्यालोक ३.१२

४. भरत (ओ) १९.१०२ पर अभिनवभारती

५. —डॉ० नगेन्द्र, अरस्तु का काव्यशास्त्र, पृ० २६ एवं भूमिका पृ० ४०

(१) नायक-प्रतिनायक का इनसे क्या सम्बन्ध हो सकता है ?

(२) यदि सन्धियों का सम्बन्ध रस से है तो फिर वे नायक-प्रतिनायक के चरित्रों को किस प्रकार प्रभावित करती हैं ?

(३) सन्धियों की योजना में सन्ध्यङ्गों का क्या महत्त्व है और सन्ध्यङ्गों का नायक-प्रतिनायक एवं रसपरिपाक से क्या सम्बन्ध है ?

नाटककार, कार्यावस्थाओं के माध्यम से नायक-नायिका-प्रतिनायक प्रभृति सभी पात्रों के कार्यों को परस्पर जोड़ता है तथा सन्धियों एवं सन्ध्यङ्गों की सहायता से नायक-प्रतिनायक प्रभृति पात्रों और आधिकारिक अथवा प्रासङ्गिक इतिवृत्त के मध्य एक सामञ्जस्य स्थापित करते हुए उन्हें सम्वाद, कथोपथन, अन्तर्द्वन्द्व प्रभृति माध्यमों से रससृष्टि करता हुआ नाटक अथवा रूपकों को सामाजिक के समक्ष प्रस्तुत करता है।

रसपरिपाक एक लम्बी प्रक्रिया है, अतः सामाजिक को उसकी अनुभूति कराना एक कष्टसाध्य कर्म है। तदर्थ कथावस्तु को ऐसे ढंग से प्रस्तुत करना होता है कि सामाजिक भी उस घटना से, उसके पात्रों से तादात्म्य स्थापित कर सके। सन्धियों एवं सन्ध्यङ्गों की उन्हीं स्थानों पर योजना होती है जो इस दृष्टि से उपयोगी होते हैं। इसी कारण ऐसे रूपकों में जहाँ कथावस्तु संक्षिप्त एवं रूपकों का स्वरूप लघु होता है; सभी सन्धियों की भी आवश्यकता नहीं होती है, अनेक सन्ध्यङ्ग भी छोड़ दिए जाते हैं।

रूपकों को कभी-कभी साधारण मनोरंजन का साधन बनाने की दृष्टि से एकाङ्की बनाकर भी प्रस्तुत किया जाता है वहाँ स्वतः ही सन्धियों की व्यापकता समाप्त हो जाती है। ऐसे रूपकों में नायक का चरित्र, रस का परिपाक, विभिन्न गुण, वृत्तियों और अलंकारों को छोड़कर उनकी संक्षिप्तता और क्षिप्रता पर अधिक ध्यान दिया जाता है। यद्यपि रस एवं नायक-प्रतिनायक इन दोनों ही तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए भरतमुनि ने विविध लघु रूपकों के लक्षण किए हैं, किन्तु उन लक्षणों को ध्यानपूर्वक देखने से ज्ञात होता है कि रस की दृष्टि से इन रूपक-भेदों का उतना महत्त्व नहीं है जितना कथावस्तु और कथावस्तु की संक्षिप्तता तथा घटनाक्रम की क्षिप्रता की दृष्टि से उनका महत्त्व है।

सन्ध्यङ्गों की योजना एवं प्रतिनायक

सन्धियों, उनके अङ्गों, रस और नायक-प्रतिनायक के सम्बन्धों पर विचार करते समय सन्ध्यङ्गों के स्वरूप पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। आचार्य आनन्दवर्धन ने इसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है—'रसादिव्यञ्जकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं

निबन्धनं, यत्सन्धीनां मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्यानां, तदङ्गानाञ्चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।'—ध्वन्यालोक, ३.१४ पृ० १६५

अर्थात् रसाभिव्यक्ति के उद्देश्य से ही सन्धि-सन्ध्यङ्गों की योजना करना उचित है अन्यथा नहीं। अभिनवगुप्त भी इसकी व्याख्या करते हुए इसी तथ्य का समर्थन करते हैं तथा इसे भरतमुनि द्वारा समर्थित सिद्धान्त मानते हैं। अभिनवगुप्त कहते हैं—'भरतमुनिना सन्ध्यङ्गानां रसाङ्गभूतमितिवृत्तप्रशस्त्योत्पादनमेव प्रयोजनमुक्तम्। न तु पूर्वरङ्गाङ्गवददृष्टसम्पादनं विघ्नादिनिबारणं वा[1]।—ध्वन्यालोक ३.१२ पर 'लोचन'

वस्तुतः सन्ध्यङ्गों पर एक विहङ्गम दृष्टि डालने पर इनके दो मुख्य उद्देश्य ज्ञात होते हैं। प्रथमतः, वे कथावच्छेदक धर्म हैं अर्थात् वे कथावस्तु को विशृङ्खल होने से बचाते हैं। दूसरे उन्हें सम्वादों की योजना का मुख्य साधन बनाया जाता है। सन्ध्यङ्गों की कथावच्छेदकता की दृष्टि से 'एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानाम् अवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः' दशरूपककार या यह कथन महत्त्वपूर्ण है। नाट्यदर्पणकार ने भी इसे ही 'मुख्यस्य स्वतन्त्रस्य महावाक्यार्थस्यांशा भागाः परस्परं स्वरूपेण चाङ्गैः सन्धीयन्ते इति सन्धयः' कहकर उन्हें नाट्यरूपी वाक्य के अंशों को जोड़ने वाले तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया है।

अधिकांश लक्ष्य रूपकप्रबन्धों में नायक-प्रतिनायक प्रभृति भूमिकाओं के मध्य संवादों में ही इन सन्ध्यङ्गों के आदर्श स्थल मिलते हैं जिसके आधार पर उनका इस दृष्टि से जो महत्त्व है वह स्पष्ट ही है। इसी कारण साहित्यदर्पणकार ने 'प्रायेण प्रधानपुरुषप्रयोज्यानि सन्ध्यङ्गानि भवन्ति' कहकर इनके महत्त्व को स्वीकार किया है। सन्ध्यङ्गों की यह प्रधानपुरुष प्रयोजनीयता क्या है इसे समझने के लिए सन्ध्यङ्गों के लक्षणों को और आचार्यों द्वारा उद्धृत उनके उदाहरणों को देखा जा सकता है।

जैसाकि कहा जा चुका हैं नाट्यप्रबन्धों की आत्मा रस है और व्यापक दृष्टि से सारे सम्वाद, अवस्थाएँ, अर्थप्रकृतियाँ तथा अन्य सहायक तत्त्व उसी के पोषक हैं। किन्तु इस रसाभिव्यक्ति के निमित्त रूपकों का अभिनयपक्ष दुर्बल न होने पाये अतः नाटककार को कथोपकथनों पर विशेष ध्यान देना पड़ता है और संवादों की गतिमत्ता में व्यवधान न आने पाये इसके लिए सन्ध्यङ्गों की योजना के अवसरों का सार्थक उपयोग करना होता है।

विभिन्न नाट्यशास्त्रियों में, सन्ध्यङ्गों के प्रयोग के सम्बन्ध में मतवैभिन्य है। लक्ष्य रूपकों में इन लक्षणों को ढूंढ़ने का प्रयास नितान्त अव्यावहारिक प्रतीत होता है क्योंकि एक ने एक स्थल पर जहाँ एक सन्ध्यङ्ग देखा है, दूसरे ने उस सन्ध्यङ्ग को

---

१. तुलना करें : भरत (ओ) १९.१०२

अन्यत्र देखा है। इतना ही नहीं एक ही स्थल को एक आचार्य ने यदि एक सन्ध्यङ्ग के रूप में माना है तो दूसरे ने उसे ही किसी अन्य अङ्ग के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है। उदाहरणार्थ, मुखसन्धि के अन्तर्गत दशरूपककार ने वेणीसंहार में द्रौपदी को समाश्वस्त करते हुए भीम के कथन[१] को जबकि 'समाधान' माना है, उसे साहित्य-दर्पणकार ने 'परिन्यास' का स्थल माना है और दशरूपककार ने जिस उदाहरण को 'उद्भेदो गूढभेदनम्' के रूप में दिखाया है तो साहित्यदर्पणकार उसे ने 'समाधान का स्थल माना है[२]। इन्हें ध्यान में रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि इस वैचित्र्य का कारण अपनी-अपनी धारणाएँ हैं।

वस्तुतः जिस प्रकार किसी द्रुतगामिनी सरिता अथवा स्रोत के मध्य यह ढूँढना कि उसमें किन-किन स्थलों पर सहायक स्रोत धरती को फोड़कर निकल आए हैं, जो मुख्यधारा को गति देते हैं; नितान्त कठिन है, उसी प्रकार किसी रूपकप्रबन्ध में इन सन्ध्यङ्गों की खोज भी कठिन है। यही कारण है कि इनके लक्ष्य स्थलों के सम्बन्ध में भारी मतवैभिन्य है। सत्य तो यह है कि नाटककार सन्ध्यङ्गों का ध्यान रखकर अपनी रचना नहीं प्रस्तुत करता, उसकी योजना में वे तत्त्व स्वतः उदित और अस्त होते रहते हैं। नाटककार का मुख्य केन्द्र नायक और उसका प्रतिद्वन्द्वी अथवा नायिका एवं अन्य भूमिकाएं होती हैं, उनके मध्य कथोपकथन, कथोपकथन में भी अभिव्यक्ति की क्षमता, उस अभिव्यक्ति में भी रसात्मकता और मानवीय आदर्श एवं मूल्यों की स्थापना का प्रयास ही मुख्य होता है। अतः रूपकों में सन्धि सन्ध्यङ्गों की विवेचना का शास्त्रीय महत्त्व है और किस रचनाकार ने किस ढंग से अपने उद्देश्य को व्यक्त किया है, उसे कितनी सफलता मिली है और उसकी सफलता के क्या कारण हैं, इसे देखते समय ही हमारा ध्यान सन्धियों और सन्ध्यङ्गों पर जाता है।

सन्ध्यङ्गों की योजना के सम्बन्ध में इसी कारण धनिक-धनञ्जय, अभिनवगुप्त, भोज, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, सागरनन्दी एवं विश्वनाथ प्रभृति आचार्यों में दृष्टि भेद है। दशरूपककार, तथा रुद्रट प्रभृति इनकी अनिवार्यता के पोषक हैं, नाट्यदर्पणकार भी

---

१. (क) बीजागमः समाधानं—(द० रू०) यथा वेणी संहारे–भीम :—
'चञ्चद्भुजभ्रमित' ......। वेणी० १.२१
(ख) 'तन्निष्पत्तिः परिन्यासः' (सा०द०) यथा वेणीसंहारे—
'चञ्चद्भुज' इत्यादि।

२. (क) 'उद्भेदो गूढभेदनम् (द०रू०) यथा वेणीसंहारे–(नेपथ्ये) यत्सत्यव्रत......
आदि (१.२४)
(ख) 'बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते' (सा०द०) (नेपथ्येकलकलानन्तरम्)
'यत्सत्यव्रत'......आदि।

किसी सीमा तक ऐसे ही रूढ़िवादी हैं (रुद्रट एवं दशरूपककार की अपेक्षा उदार) किन्तु आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त प्रभृति आचार्य रस अथवा रसध्वनि को काव्य की आत्मा मानते हुए 'दशाविशेषोपयोगी' और रसाभिव्यक्ति के अनुकूल उनके प्रयोग को स्वीकार करते हैं जिससे स्पष्ट है, कि उन्हें छोड़ा भी जा सकता है और उनका क्रम भी तोड़ा जा सकता है[1]।

इसी कारण कीथ महोदय भी इनके विभाजन के महत्त्व को उचित नहीं मानते हैं[2]। वस्तुतः इनका प्रयोग इस रूप में होना चाहिए कि उनसे कथानक को गति, संवादों को सार्थकता मिल सके और नायका-नायिका एवं प्रतिनायक जैसी भूमिकाओं को उभारा जा सके तथा सामाजिक को परमानन्द सहोदर रस की पराकोटि का आस्वाद कराया जा सके।

इस दृष्टि से नायक हो अथवा नायिका, प्रतिनायक हो अथवा कोई अन्य भूमिका संवादों के माध्यम से ही उनके चरित्र-चित्रण को प्रभावशाली बनाया जा सकता है। संस्कृत रूपक हों अथवा पाश्चात्त्य सभी में यह गुण, यह अन्विति, यह विधा मिल जाती है। कथोपकथन वह सशक्त माध्यम है जो सर्वत्र, सतत इस उद्देश्य की पूर्ति करता है। वाचिक अभिनय के रूप में इसीलिए इसे भी एक अभिनय का प्रकार मान लिया गया है।

सारांशरूप में नाटककार अपनी प्रतिभानुसार सन्धियों के स्तम्भों पर सन्ध्यङ्ग रूपी ईंटों, पत्थरों की सहायता से नाट्यरूपी प्रासाद की सृष्टि करता है। जिनमें नींव के रूप में बीज, भित्तियों के रूप में बिन्दु का प्रयोग करता है। इसके निर्माण के बाद नाटककार स्वेच्छया मात्र-आधिकारिक इतिवृत्त के रूप में एक ही बड़े कक्ष का निर्माण करता है अथवा पताका एवं प्रकरी के रूप में उसमें अन्य कक्षों की योजना करता है; यह उसकी योजना पर निर्भर करता है। जिसमें नायक-नायिका अथवा नायक अपने सहायकों के साथ, त्रिवर्ग-इस कार्य की प्राप्ति के निमित्त प्रयास करता है और उसके प्रयास को आरम्भ, यत्न आदि पञ्चावस्थाओं के रूप में देखा जा सकता है। उनके मार्ग के बाधक तत्त्व कहीं प्रतिनायक के रूप में तो कहीं प्रतिनायिका के रूप में, कहीं दैवी आपदा के रूप में तो कहीं प्राकृतिक बाधाओं के रूप में, कहीं शाप के रूप में तो कहीं तिरस्कार के रूप में नाट्यधारा को गति एवं नायक चरित्र को सार्थकता, अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।

---

१. डा० के.सी पाण्डेय, स्वतन्त्र० पृ० ४५५-५६   २. संस्कृत नाटक, पृ० ३२०

चतुर्थ परिच्छेद

नायक-प्रतिनायक सम्बन्ध एवं रस *

प्रतिनायक की भूमिका का महत्त्व नायक चरित्र के उत्कर्ष चित्रण के अतिरिक्त यह भी है कि उसके माध्यम से भावाभास एवं रसाभास को योजना करते हुए नाट्य-कार सामाजिक को अङ्गीरस को परम अनुभूति के साथ ही रसाभास एवं भावाभास की भी अनुभूति के अवसर सुलभ कराने में समर्थ हो पाता है। क्योंकि प्रतिनायक तो द्वन्द्व, संघर्ष और फलप्राप्ति में बाधक उन तत्त्वों की सामूहिक संज्ञा का पर्याय है जो नायक के चरित को गतिमान करने के साथ ही सामाजिक को परमानन्द की अनुभूति का अवसर प्रदान करता है। किसी पहाड़ी सरिता के मार्ग में आने वाली ऊँची-नीची पर्वतशिलाओं अथवा प्रस्तर खण्डों के रूप में आने वाले अवरोध जिस प्रकार उसकी गति को प्रखरता एवं गतिमत्ता प्रदान करते हैं, उसी प्रकार नायक के चरित्र को, ये बाधक तत्त्व गति भी देते हैं और अग्नि में तपे हुए सुवर्ण की भाँति कान्ति भी देते हैं[1]। विरोध रसों की योजना द्वारा भी मुख्य रस ही पुष्ट होता है ऐसा हुए मानते आनन्दवर्धन कहते हैं :—

"स्वसामग्र्या लब्धपरिपोषे तु विवक्षिते रसे विरोधिनां, विरोधिरसाङ्गानां, बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां सतामुक्तिः अदोषः। बाध्यत्वं हि विरोधिनां शक्याभि-भवत्वे सति, नान्यथा। तथा च तेषामुक्तिः प्रस्तुतरसपरिपोषणायैव सम्पद्यते।"

ध्वन्यालोक ३.२० वृत्तिभाग पृ० २१८

---

१. 'नायक का व्यक्तित्व ही उसके सहायकों अथवा विरोधियों के व्यक्तित्व का आधार हुआ करता है और इस दृष्टि से नाटककार अन्यान्य नाटक चरितों के व्यक्तित्व का विकास इसलिए किया करता है जिसमें नायक का व्यक्तित्व शतदल कमल की भाँति उन्मीलित हो उठे।'

'भारतीय नाट्य साहित्य' —सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ में डॉ० सत्यव्रत सिंह के विचार

* नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित् प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधाति प्रत्युत् प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यते।

—ध्वन्यालोक

अर्थात् एक ओर विरोधी रसों के सन्दर्भ में आनन्दवर्धन की मान्यता यह है कि अभीष्ट रस के परिपाक के बाद यदि विरोधी रसों (जैसे शृङ्गार के परिपुष्ट होने पर तद् विरोधी करुण रस) का अङ्गरूप में परिपाक होता है तो वह अनुचित नहीं है। अथवा विरोधी रसों के अङ्गों = व्यभिचारिभावों का परिपाक है तो भी वह अनुचित नहीं है। प्रकारान्तर से इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा जा सकता है कि नायक के उत्कर्ष-वर्णन (वीररस) के अवसर पर उसके विरोधियों के करुणालाप द्वारा मुख्य रस का ही पोषण होता है।

नायक की प्रतिद्वन्द्विता में, प्रतिनायक अथवा प्रतिद्वन्द्वी अथवा उसके मार्ग में, आने वाले बाधक तत्त्व जितने सशक्त होंगे नायक का चरित-चित्रण उतना ही सफल होगा। प्रत्येक बाधा उसके विजय-स्तम्भ के रूप में उभरेगी। यह भारतीय साहित्य अथवा संस्कृत साहित्य की दृष्टि है। भारतीय आदर्शों के परिप्रेक्ष्य में, सांस्कृतिक मूल्यों के परिप्रेक्ष्य में प्रतिनायक का यही मूल्याङ्कन हो सकता है। पाश्चात्य साहित्य इसके विपरीत भौतिक जीवन की असफलताओं को यथार्थ मानकर एक भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है जो यथार्थ भले ही हो आदर्श नहीं हो सकता। यही कारण है कि संस्कृत नाटकों का नायक अपने उद्देश्य में सफल होता है और प्रतिनायक असफल। इसके विपरीत पाश्चात्य खलनायक प्रत्येक स्थल पर नायक पर विजय पाता है और अन्त में अपने अपावन उद्देश्य में सफल होता है। नायक की यह पराजय ही पाश्चात्य नाटक का जीवन है[1]।

सांस्कृतिक अथवा परम्पराओं के दृष्टि-भेद के होने पर भी प्रतिनायक किंवा खलनायक अथवा अन्य बाधक तत्त्व एक साथ सदा और सर्वत्र नायक के चरित्र को उभारते हैं, उसके प्रति सामाजिक के मन में सद्भावना उत्पन्न करते हैं; उसके अनुपात में अन्तर भले ही हो। संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक का जो स्वरूप मिलता है उसे दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि वह कहीं नायक के समक्ष आकर वादविवाद को उस स्थिति तक ले जाता है जिससे आगे युद्ध की सीमा आ जाती है अथवा उसके विरोध का विज्ञापन किन्हीं पात्रों के सम्वादों के माध्यम से होता है और कहीं-कहीं ऐसे तथ्य मात्र साधारण अथवा विशिष्ट पात्रों द्वारा दर्शकों को एक विवरण के रूप में संप्रेषित कर दिये जाते हैं। नाट्यशास्त्रियों की परम्परा ने चूँकि रंगमंच पर युद्ध

---

1. '......the two philosophies by no means differ in their interpr-etation of the basic human conditions. They differ only in the manner of confronting it. One (Western) implies the value of the intelligence and the will to ameliorate the forces of evil; the other (Indian) implies the power of the spirit to transcend them.

—H. W. WELLS, CDI, P, 12

नियुद्ध की वर्जना कर रखी थी[1], अतः नाट्यकारों ने यह प्रयास किया है कि उसे रंगमंच पर प्रस्तुत न किया जाए। अतएव सर्वत्र ही यह संघर्ष वादविवाद के स्तर तक ही पहुँचता है और युद्ध-नियुद्ध नेपथ्य की वस्तु हो जाती है। महाकवि भास को छोड़कर संस्कृत में ऐसे नाट्यकारों का अकाल है जिन्होंने रंगमंच पर मृत्यु की घटनाएँ घटित होती हुई प्रदर्शित की हों। फिर भी ऐसे रूपकों का अभाव नहीं है जिनमें संघर्ष ने उस सीमा स्पर्श कर लिया है जहाँ प्रदर्शन के अभाव का आभास ही नहीं होता है, मुद्राराक्षस ऐसा ही रूपक है। महावीरचरित, वेणीसंहार, मृच्छकटिक भी इस स्थिति में खरे उतरने वाले रूपक हैं।

काव्यवत् वर्णन-बहुल रूपकों में भी संघर्ष का स्थान गौण नहीं होता। वहाँ भी सक्षमता के साथ नाट्यकारों ने अपनी प्रतिभा के माध्यम से नायक विरोध की भावना को प्रदर्शित करते हुए प्रतिनायक चरित्र के व्याज से नायक के चरित्र को उभारा है। सबसे बड़ी बात नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण से यह है कि संस्कृत नाटककारों ने तो प्रतिनायक विहीन नाटकों की भी रचना की है।

कोमल भावनाओं और शृङ्गार रस के इन नाटकों में नायक-नायिका के प्रेम-संयोग अथवा वियोग को कवि प्रतिभा द्वारा उद्भासित किया गया है। इस प्रकार के नाटकों में नायक-नायिका के मिलन रूपी फल में अनेक बाधाएँ आती हैं जो कभी प्राकृतिक बाधा के रूप में उसके प्रेम को अपूर्व गति देती हैं तो कभी उसके वियोग को उद्दीप्त करती हैं। इनके अतिरिक्त, इस प्रकार के सभी रूपकों में नायिका की प्रतिद्वन्द्विता में एक अन्य पात्र का प्रमुख स्थान है, वह है—नायक की परिणीता पत्नी, रानी-महारानी, राजमहिषी। इसके अपवाद भी हैं। मृच्छकटिक में चारुदत्त की पत्नी, धूता, वसन्तसेना के मार्ग में कहीं भी कोई बाधा उपस्थित नहीं करती। इसका कारण सम्भवतः यही है कि प्रकृति एवं शकार और स्वयं राज्य का शासक, उसके मार्ग में बाधा उपस्थित करने और तदनुसार नायक के चरित्र को उभारने के लिए पर्याप्त हैं। प्रतिनायक अथवा इन बाधक तत्त्वों को यह सफलता ही नायक प्रतिनायक के सम्बन्ध को परस्पर मुखापेक्षी बनाती है और नाटक के मुख्य-तत्त्व रस की पुष्टि में सहायक होती है।

नायक और प्रतिनायक

पिछले परिच्छेदों में हम देख चुके हैं कि 'नायक' का प्रयोग नाट्यशास्त्रियों ने 'पुरुषपात्रों' के सन्दर्भ में भी किया है अन्यथा द्वादश अथवा षोडष नायकों की बात न

---

१. दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादि विप्लवम्।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम्।
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षमपि न दर्शयेत्॥ देखें; द० रू० ३.३४-३५ तथा
नाट्यदर्पण १.१८-२२, २.२७

उठाई गयी होती। किन्तु प्रकृत स्थल पर नायक से तात्पर्य उस प्रमुख भूमिका से है जो किसी काव्य अथवा नाटक के फल का भोक्ता है। कथावस्तु को उपसंहार तक ले जाने वाले[1] इस प्रधान चरित को इसी कारण 'नेता' भी कहा गया है। नायक के समान 'नेता' या 'नेतारः' का प्रयोग सभी प्रमुख पुरुष भूमिकाओं के अर्थ में हुआ है[2], किन्तु वस्तुतः ये दोनों ही शब्द नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से साधारणतः पारिभाषिक चार प्रकार के नायकों के बोधक हैं।

नायक के लक्षण को देखते हुए संस्कृत नाट्यपरम्परा के उस उत्स तक पहुँचा जा सकता है जो संस्कृत साहित्य की अमूल्य निधि है। साहित्य की कोई विधा हो नायक की सारी विशेषताएँ सर्वत्र एक-सी हैं। जैसा कि आगे स्पष्ट किया जाएगा, नाट्यशास्त्र के ग्रन्थों में ही नहीं; धीरोदात्त, धीरललित, धीरोद्धत और धीरशान्त चारों प्रकार के नायक प्रत्येक स्थल पर समानरूपेण कुछ'सामान्य गुणों से युक्त होते हैं और इन गुणों का सामूहिक नाम है धीरता[3] जो प्रतिनायक का भी ऐकान्तिक गुण है। नायक के साधारण लक्षण को देखने से ज्ञात होता है कि संस्कृत का नायक उन सभी मानवीय गुणों से युक्त है जो उसे नितान्त आदर्श बना देते हैं। सबसे बड़ी बात यह है कि नायक प्रतिनायक के ये सारे गुण भारतीय संस्कृति और दर्शन के अनुरूप हैं और यही कारण है कि संस्कृत साहित्य का नायक वह चाहे कथा साहित्य में हो अथवा काव्य में, नाट्य साहित्य में हो अथवा अन्यत्र, कुछ आदर्शों से अनुप्राणित होने के कारण ऐसा नायक है जो युगों-युगों तक अपराजित हो जीवित रहता है। यही कारण है कि ऐसे साहित्य ने त्रासदी जैसी विधा को जन्म नहीं दिया[4]।

---

१. (क) नाटकादि (दौ) विनिष्पत्ति (न्न) फलयोगस्य भाजनम्।
नायकः कथितः सद्भिस्तस्य भार्या च नायिका ॥
नाटकलक्षण २५६ पृ० २१०

(ख) —कीथ सं० ना० पृ० ३२६

२. उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत्।
रसस्तु करुणः स्थायी नेतारः प्रकृताः नराः ॥ दशरूपक ३.७०-७१

३. Dr. V. Raghavan, BHOJA'S SHRINGARAPRAKASA, P.–445

४. 'The reasons why the Sanskrit dramatists did not develop the tragic form are, I think, many. And they are connected wlih the individual and social life of man, the contemporary conditions in so far as they promote response to dramatic entertainment, the convention of literature and art, and the social, ethical, religious and philosophical values which a society accepts.'

— *G K Bhat, Tragedy And Sankrit Drama*, P.87

नाट्यशास्त्र पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है कि नायक ही नहीं रूपकों के प्रत्येक पात्र के गुणों की एक निश्चित रूपरेखा है, उसके लिए निश्चित निर्देश हैं, यहाँ तक कि भरतमुनि की पैनी दृष्टि ने सूक्ष्मतापूर्वक विट, चेट जैसी लघ्री भूमिकाओं को भी निश्चित साँचों में ढाला है। जिसके पीछे संस्कृत साहित्य का अपना मौलिक चिन्तन और दर्शन है।

संस्कृत साहित्य का मूल मन्त्र है 'सत्य शिवं सुन्दरम्'। साहित्य, सत्यपरक हो, सत्य को उद्घाटित करता हो, महान् तथा एकमेव सत्य जिसे वैदिक वाङ्मय 'ऋत' के नाम से जानता है, उसका पोषक हो। वह सत्य सदा 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की मङ्गल भावना का सञ्चार करने में सक्षम हो। काव्यप्रकाशकार ने इसे ही 'शिवेतरक्षति' के रूप में देखा है। मृदुता, कोमलता और सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से साहित्य का 'सुन्दरम् होना अभिप्रेत है। श्रुतियाँ और स्मृतियाँ जिस सत्य का उद्घाटन प्रभुसम्मित रूप में करती हैं, पुराणादि जिसे मित्रवत् समझाते हैं तथा नीतिज्ञ लोग जिस सत्य को कथा के के व्याज से बताते हैं[1] उसे ही कवि अथवा नाट्यकार कान्तासम्मिततया उद्घाटित करते हैं। किन्तु 'सत्य' एक ही है। वैदिक नायक इन्द्र, मरुत्, वरुण हों अथवा पुराणों के नायक पुरूरवा, दुष्यन्त और राम अथवा काव्यों नाटकों में इन्हीं नायकों का प्रतिबिम्बन उनके महनीय तथा ऐकान्तिक गुणों में कोई अन्तर नहीं आता।

नाट्य-संदर्भ में नायक के रूप में उन सभी प्रमुख पात्रों की गणना की गयी है जो रूपक-प्रबन्धों में मुख्य-मुख्य भूमिकाओं का निर्वाह करते हैं। इसमें मुख्यनायक, उपनायक, अनुनायक और प्रतिनायक सभी आ जाते हैं। यहाँ तक कि उपप्रतिनायकों को भी नायक माना गया है ऐसा हम देख चुके हैं। प्रकृत संदर्भ में 'नायक' शब्द उस मुख्य भूमिका के सन्दर्भ में ग्रहण किया गया है जिसके सम्बन्ध में भरतमुनि ने कहा है 'नाट्यस्यान्तं गच्छति तस्माद्वै नायकोऽभिहितः[2] अर्थात् किसी रूपक की चरम-परिणति का प्रापक ही नायक; मुख्यनायक होता है। हेमचन्द्राचार्य ने कहा है, 'समग्रगुणः कथाव्यापी नायकः—अर्थात् नयति व्याप्नोति इतिवृत्तं फलं चेति नायकः[3], इस प्रकार कथानक में व्यापकता एवं फल की प्राप्ति भी उसका अनिवार्य गुण है। ऐसे नायक के सामान्य गुणों का उल्लेख करते हुए उन्हें विनीत, मधुर स्वभाव वाला, त्यागी त्वरित बुद्धि, नीतिनिपुण, प्रियभाषी, लोकरंजक, पवित्र, वाक्पटु, कुलीन, अविचल बुद्धि, मन एवं वाणी से युवकवत् व्यवहर्ता माना गया है। उसे ज्ञान, उत्साह, स्मृति,

---

१. कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते।—हितोपदेश

२. भरत (ओ) ३५.३२

३. काव्यानुशासन ७.१

बुद्धि, कलाविज्ञता एवं स्वाभिमान से युक्त तथा शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञाता तथा धर्म में निष्ठा रखने वाला कहा गया है[१]।

इन महनीय गुणों पर विचार किया जाए तो यह धारणा स्वतः निर्मूल हो जाती है कि संस्कृत साहित्य एकाङ्गी है जो समाज के उस पक्ष को छोड़ देता है जिससे मानवता संत्रस्त है। पाश्चात्त्य दृष्टिकोण से भिन्न, संस्कृत साहित्य की परम्परा 'कला कला के लिए' को अस्वीकार कर कला को जीवन के लिए उपयोगी मानती है, इस रूप में वह सत्य, शिव, सुन्दर से अनुप्राणित है। ऐसी हरीतिमा में, मरुभूमि की शुष्कता को कैसे संजोया जा सकता था। उद्देश्यपरक, आदर्शोन्मुख साहित्य में नायक पर प्रतिनायक की विजय, धुरी को उलट देगी। पाठक या दर्शक जब सामाजिक जीवन में देखता है कि सच्चरित्र, सज्जन और त्यागमय जीवन-यापन करने वाले दुखी हैं, लम्पट और दुश्चरित्र सुखी हैं तो स्वाभाविक रूप से उसके मन में नाना प्रकार के सन्देह, नाना प्रकार की विचिकित्सा उठती है। उसके सम्मुख यदि साहित्य के माध्यम से भी यही तथ्य प्रदर्शित किया जाए तो वह निश्चित रूप से पथभ्रष्ट होगा। इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर भारतीय उपजीव्य साहित्य में कर्मानुसार कुछ प्रतिनिधि चरित्रों का निर्माण हो चुका था जिसके आधार पर परवर्ती साहित्य का उपबृंहण हुआ[२]। राम यदि आदर्शों के प्रतिनिधि हैं तो रावण दुष्प्रवृत्तियों का। दुर्योधन, शिशुपाल प्रभृति चरित्र भी उसी के सहमार्गी हैं। अतः स्वाभाविक है ऐसे महनीय गुणों से युक्त नायक को नाना बाधाओं के आने पर भी सफल प्रदर्शित किया जाए। मानवीय मूल्यों के प्रति यही निष्ठा पाश्चात्त्य साहित्य से संस्कृत साहित्य को विलग करती है। यही वह तथ्य है जिनके कारण संस्कृत साहित्य में घटनाप्रधान, अथवा तथाकथित यथार्थवादी नाटकों को स्थान नहीं मिला। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि किसी साहित्य की अमूल्य निधि वही साहित्य बन सकता है जिसके पीछे महान् उद्देश्य हैं

१. (क) नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंश स्थिरोः युवा॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः ।
शूरोदृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः॥ —द०रू० २.१–२

(ख) त्यागी कृती कुलीनःसुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्य शीलवान् नेता॥ —सा०द० ३.३०

२. **Indian drama is a stage whose main issues have been fully solved long before the play begins and where equilibrium and stability are the qualities to which the theatre itself is primarily dedicated.'** —*CDI Page 82*

इस महान् तात्पर्य से आदर्श ही नहीं है। वह यथार्थ भो हो सकता है पर ऐसा यथार्थ जो सार्वकालिक हो। विशेष परिस्थतियों की उपज न हो। सम्भवतः संस्कृत का साहित्य भी यदि इसी प्रकार का होता तो आज हजारों वर्षों तक जीवित न रहता, वह कालजयी न हो पाता। यहीं इस तथ्य को भी बल मिलता है कि सम्भव है ऐसे ही घटनाप्रधान अथवा क्षणिक मनोरञ्जन युक्त हल्के-फुलके नाटक भी संस्कृत में लिखे गए हों पर वे कालजयी न हो पाए हों। जिनके अवशेषों के रूप में अनेक प्रहसन और भाण-भाणी अभी भी उपलब्ध हैं।

यही कारण है कि इन आदर्शों से अनुप्राणित संस्कृत साहित्य के नायक भी अमर हैं, कालजयी हैं। राम हों अथवा युद्धिष्ठिर, कृष्ण हों अथवा जीमूतवाहन, ऊरूभङ्ग का दुर्योधन हो अथवा कर्णभार का कर्ण, दुष्यन्त हों अथवा उदयन अथवा चारुदत्त, नाना प्रकार की झंझाओं से लड़ते हुए, शापों और प्रकृति के कोपों से जूझते हुए, वे अन्त में अपने उद्देश्य में सफल होते हैं। उनका चरित्र आज तक जीवित है, वे सभी आदर्श हैं, दर्शकों और पाठकों के लिए अनुकरणीय हैं। यही वह सत्य है, वह शिव है और वह सौन्दर्य-बोध है जिससे पाश्चात्त्य जगत भी स्पृहा करता है[१]। इसी कारण संस्कृत साहित्य के अतिरिक्त विश्व के किसी भी साहित्य में ऐसे उदाहरण नहीं मिल सकेगें जहाँ दुर्योधन, अथवा कर्ण जैसे प्रसिद्ध प्रतिद्वन्द्वियों को भी नायक बनाया गया हो। कहीं भी मैकबेथ अथवा कैशस अथवा इआगो नायक के रूप में न मिलेंगे क्योंकि उनमें वह प्रकृति है ही नहीं जो उन्हें नायक बनाये। इस दृष्टि से प्रतिनायक के महत्त्व को समझने के लिए और उनके परस्पर सम्बन्ध को मुखर करने के लिए यह आवश्यक है कि नायकों के लक्षणों पर एक विहङ्गम दृष्टि डाल ली जाए।

भरतमुनि, नायक-नायिका अर्थात् प्रत्येक पुरुष अथवा स्त्री पात्रों को प्रकृति भेद से उत्तम, मध्यम और अधम के रूप में विभक्त करते हैं[२]। नाटक के मुख्य नायक को उत्तम कोटि का मानते हुए वे कहते हैं :—

---

१. ......West must in some degree shift its philosophical outlook if it is to derive from even the best of the Sanskrit theatre as keen an aesthetic pleasure as it does from its own. Yet in many and grave terms of appraisal the Sanskrit stage appears equal or even superior to that of the West. —*CDI*, *Page 84*

२. समासतस्तु त्रिविधा प्रकृतिःपरकीर्तिता।
स्त्रीणां च पुरुषाणां उत्तमाधममध्यमा॥ —भरत (नि) २४.१

[1] नाट्ये चत्वार एवैते नायकाः परिकीर्तिताः ।
तत्रोत्तमायां प्रकृतौ नानालक्षणलक्षिताः ॥
धीरोद्धतो धीरललितो धीरोदात्तस्तथैव च ।
धीरप्रशान्तश्चैवेति नायकाः नाटकाश्रयाः ॥

—भरत (नि) २४.२–३

भरतमुनि प्रकृतिभेद से नायकों को पुनः 'देव' 'नृप', 'सेनापति' अथवा 'अमात्य' 'ब्राह्मण एवं वणिक्' के रूप में क्रमशः धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त एवं धीरशान्त नायकों का प्रतिनिधि मानते हैं[2] । अर्थात् नाटककार यदि अपनी रचना में किसी देवता को नायक बनाता है तो उसका चरित धीरोद्धत[3] होगा, यदि किसी राजा को नायक बनाता है तो उसका चरित धीरललित होना चाहिए[4] । इसी प्रकार यदि सेनापति अथवा किसी अमात्य को नायक बनाया जाय तो उसका चरित्र धीरोदात्त होना चाहिए[5] । किसी ब्राह्मण अथवा वणिक् के नायक होने पर उसका चरित्र धीरशान्त होना चाहिए[6] ।

भरत के इस विधान के अनुरूप कितने नाटक लिखे गए ? कितने उपलब्ध हैं ? उनमें अक्षरशः इसी प्रकार का चित्रण है या नहीं ? यह विषय विवादास्पद हो सकता है । किन्तु इसके आधार पर एक निश्चित परम्परा का बीज अवश्य पड़ा जो कालान्तर में फलीभूत हुआ और उसी आधार पर विभिन्न रूपकों का विभाजन किया गया । ऐसा नहीं है कि उसके अपवाद न हों पर उसका कारण कवि जैसे स्वतन्त्र-चेता-मानव की प्रतिभा के रूप में देखा जा सकता है ।

संस्कृत के रूपकों में नायक सम्बन्धी विवाद भी एक अनूठी बात है और उस आधार पर प्रतिनायक का निर्णय भी कठिन न हो तो विवाद के रूप में देखा जा सकता है । फिर भी प्रतिनायक का निर्णय जितनी सरलता से हो जाता है नायक का निर्णय उतना सरल नहीं है । जैसाकि पहले भी कहा जा चुका है संस्कृत का सम्पूर्ण वाङ्मय जिस पात्र को एक स्थान पर व्यसनी, पापकृद् लोभी प्रतिनायक मानता है, वह भी नायक बन सकता है । कर्णभार में कर्ण के दान का माहात्म्य और ऊरुभङ्ग में दुर्योधन की

१. भरत ३४.१६–१९
२. भरत ३४.१८–११
३. देखें : प्रबन्ध प्रथम परिच्छेद, ऋग्वेद के इन्द्र का चरित ।
४. उदयन का चरित—रत्नावली द० रू० २.३
५. जीमूतवाहन का चरित—नागानन्द
६. चारुदत्त अथवा माधव का चरित—मृच्छ०, मालतीमाधव

नीतिनिपुणता, करुणा, और प्रायश्चित्त की भावना उसे नायक बना देती है। यद्यपि यह सत्य है कि अधिकांश पौराणिक रूपकों के नायक प्रतिनायक के मध्य जो रेखा उपजीव्य काव्यों के आधार पर बनायी गयी उस पर चलना सरल भी था और परम्परानुकूल भी, फिर भी 'महावीर चरित' में रावण का चरित्र कुछ भिन्न है। नाटककार परम्परा के प्रति प्रतिबद्ध होते हुए भी उससे विलग होने का प्रयास करता है। वह राम-रावण के मध्य नैसर्गिक विरोध को जानता है। किन्तु रावण द्वारा कुमारी सीता की याचना; वह भी अपने पुरोहित को दूत के रूप में भेजकर; शिष्टाचार-पूर्वक, कैसे अनुचित हो सकती है। इस व्याज से रावण का चरित्र तो उभरता ही है राम का चरित्र भी उभरता है[1]।

प्रकृतिभेद के साथ-साथ भरतमुनि ने जिन चार प्रकार के नायकों का उल्लेख किया है वे सभी साहित्याचार्यों को मान्य हैं। इसके अतिरिक्त कुछ आचार्यों ने रसों के आधार पर भी उनके भेद किये हैं, जैसाकि हम दूसरे परिच्छेद में देख चुके हैं। किन्तु प्रमुखरूप से उनको भी इन्हीं चारों में अनुस्यूत किया जा सकता है। क्योंकि रसाधृत नायकों के भेदों के पीछे उनकी रसानुकूलता को ध्यान में रखा गया है जो किसी भी नायक पर विभिन्न परिस्थितियों में घटित हो सकती है। प्रकारान्तर से धीरोद्धतनायक दुर्योधन को हम वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में शृङ्गारनायक के रूप में देख सकते हैं और शकुन्तला के लिए उद्विग्न धीरोदात्तनायक दुष्यन्त, राक्षस रूपी मातलि के वध का उपक्रम करते हुए, वीर नायक-सा हो जाता है। इसी प्रकार महावीर चरित में परशुराम से बात करते जाते समय राम का सीता के प्रति कथन उनके शृङ्गार नायक होने के लिए उद्धृत किया जा सकता है। ऐसे स्थलों पर अङ्गीरस और सञ्चारीभावों की महत्ता को सदा ध्यान में रखना चाहिए। यह दृष्टि रूपक-विशेषपरक भी मानी जा सकती है क्योंकि रूपकभेदों का लक्षणनिर्धारण करते समय रसों पर विशेष ध्यान दिया जाता रहा है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है यह चारों प्रकार के नायक उत्तम प्रकृति के माने गए हैं। यद्यपि धीरोद्धतनायक के लक्षण के प्रसंग में हम देखते हैं कि उसके लिए गिनाए-गए गुणों में अधिकांश गुण सद्गुण नहीं माने जा सकते। जहाँ तक इस विपरीत दृष्टि का कारण है, वह सात्त्विक, राजसी और तामसी वृत्ति को ध्यान में रखकर देखने से स्पष्ट हो जाता है। राजा, सेनापति, आमात्य, ब्राह्मण अथवा वणिक् वर्ग के

---

१. राम––वत्स ! साधारण्यान्निरातङ्ककन्यामन्योऽपि याचते।
किं पुनर्जगतां जेता प्रपौत्रः परमेष्ठिनः ॥
लक्ष्मण––अति हि सौजन्यमार्यस्य। तस्मिन्नपि निसर्गवैरिणि निशाचरे बहुमानः।
महावीर १.३१

लोगों को नायक बनाने की दृष्टि से उन्हें उत्तम कोटि में रखने का भी औचित्य स्पष्ट है। इसी कारण राजसी वृत्ति प्रधान धीरोद्धतनायक का चरित्र भी आश्चर्यजनक नहीं लगता। इतना ही नहीं प्रतिनायक भी एक उत्तम कोटि की ही भूमिका है। जिसका कारण है – नाट्यशास्त्र की वह परम्परा जो प्रतिनायक को द्वादश, षोडश नायकों के साथ 'नायक' इस अभिग्रधान से अनुग्रहीत करती है। यहाँ तक कि नाट्य-दर्पणकार उसे स्पष्टरूपेण उत्तमपात्र मानते हुए कहते हैं—मध्यमैरित्यमात्यसेनापतिवणिग्विप्रादिभिर्न पुनर्देवीकुमारनायकप्रतिनायकादिभिः। ना० द० १.२४

इसी स्थल पर यह भी स्पष्ट कर देना अधित उचिक होगा कि नायकों के इन चार भेदों के साथ ही इसी आधार पर नायिकाओं के भी चार भेद किए गए हैं। भरतमुनि का विभाजन दिव्या, नृपपत्नी, कुलस्त्री और गणिका के रूप में चार प्रकार का है और उन्होंने दिव्या तथा राजाङ्गना (नृपपत्नी) दोनों को धीरा, ललिता, उदात्ता तथा निभृता (शान्त चित्त की) माना है। कुलजाङ्गना (कुलस्त्री) को उन्होंने उदात्ता एवं निभृता तथा गणिका को शिल्पकारिका (कलामर्मज्ञा) एवं उदात्त तथा ललित गुणयुक्त माना है[१]। इसके विपरीत दशरूपककार एवं अन्य आचार्यों ने स्वीया, परकीया, साधारण स्त्री के रूप में तीन प्रमुख भेद करके मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा आदि नाना-भेदोपभेद किये हैं[२]। शृङ्गारप्रकाशकार ने इसके विपरीत, उदात्ता, उद्धता, ललिता और शान्ता के रूप में चार भेद किए हैं और यह भी स्पष्ट किया है कि धीरता का गुण इनमें आवश्यक तत्त्व के रूप में नहीं है[३]। किन्तु एक बात जो इन लक्षणों को देखने से स्पष्ट होती है वह यह कि नायिकाओं का यह विभाजन पूर्णरूपेण नायकों के साथ उनके सम्बन्धों पर प्रमुखरूपेण अवलम्बित है[४]। जबकि नायक के सन्दर्भ में यह गुण ऐकान्तिक है और सभी ने उसे स्वीकार किया है[५]।

नायकभेद

धीरोदात्तनायक—दशरूपककार के अनुसार शोक-क्रोधादि से अनभिभूत होने वाले, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, आत्मश्लाघा न करने वाले, विनयी, अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ रहने वाले नायक को धीरोदात्त माना गया है—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः।
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः[६]। द०रू० २.४,५

१. भरत० ३४.२४, २५ २. द० रू० २.१५-२८
३. धैर्यमासामविवक्षितम् —शृङ्गारप्रकाश २१वाँ अध्याय
४. दि क्लासिकल ड्रामा आफ इण्डिया, पृ० ८४-८५ तथा कीथ—सं० ना० पृ० ३२७
५. कीथ स० ना० ३२६ तथा शृङ्गार० डा० राघवन्, पृ० ४० तथा ४४५
६. अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः।
स्थेयान् निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः॥ —ना० द० ३.३२

दशरूपककार ने शास्त्रार्थ के साथ यह सिद्ध किया है कि जीमूतवाहन एक धीरोदात्त नायक है[1]। किसी नायक को किस भेद में रखा जाए इस पर मुण्डे–मुण्डे मतिर्भिन्ना की स्थिति हो सकती है। लक्षणों की व्याख्या भी अपने-अपने ढंग से की जा सकती है। अतः किसी नायक का उदाहरण प्रकृत स्थल पर न देते हुए यहाँ यही संकेत करना अभीष्ट है कि उपर्युक्त गुणों से युक्त नायक को धीरोदात्त माना गया है। अन्य आचार्यों के लक्षण भी इसी से मिलते जुलते हैं।

धीरललित :—राज्यकार्य के गुरुतर भार को अपने सचिव आदि पर निक्षिप्त कर उस दिशा से निश्चिन्त, नाना प्रकार की कला—गीत, नृत्य, मृगया आदि में संसक्त सर्वतः सुखी एवं स्वभाव से कोमल, शृङ्गार–प्रधान नायक को आचार्यों ने धीरललित माना है। दशरूपककार ने धीरललितनायक का लक्षण इस प्रकार किया है :—

निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः ।—द० रू० २.३

अन्य आचार्यों ने भी इन्हीं गुणों से युक्त नायक को धीरललित माना है[2]। दशरूपककार ने वत्सराज उदयन को, उदाहरण के रूप में, धीरललित नायक माना है जो वासवदत्ता के प्रेम में आसक्त हो राज्यकार्य को अपने आमात्य यौगन्धरायण पर न्यस्त कर स्वतः निश्चिन्त हो, वीणा वादन और मृगया में व्यस्त रहता है। इस प्रकार के नायक का शृङ्गारी होना स्वाभाविक है।

धीरशान्त :—इसके विपरीत धीरशान्तनायक को दशरूपककार ने केवल 'सामान्य गुणयुक्त द्विजादि' माना है :—

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।—द० रू० २.४

साहित्यदर्पणकार भी इसी प्रकार का लक्षण करते हैं[3]। दशरूपक की वृत्ति में 'सामान्यगुण' को व्याख्या, नेता के सामान्यगुण 'नेताविनीतो मधुरः...' आदि के रूप में की गयी है। भरतमुनि के 'ब्राह्मणाः वणिजाश्चैव प्रोक्ता धीरप्रशान्तकाः[4]' के आधार पर दशरूपककार ने भी विप्र, वणिक् सचिवादि को गणना धीरप्रशान्तनायकों के रूप में की है। इसे धीरललित से विलग करते हुए वृत्ति भाग में और स्पष्ट किया गया है कि धीरललितनायक के निश्चिन्ततादि गुणों से युक्त होने पर भी विप्र, वणिक्,

---

१. द० रू० २.४–५ वृत्ति भाग

२. निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् —सा० द० ३.३४।

३. सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरप्रशान्तः स्यात्। —सा० द० ३.३४

४. भरत० २४.५

सचिवादि को धीरशान्त ही मानना चाहिए, धीरललित नहीं। 'मृच्छकटिक' के नायक चारुदत्त की कलाप्रियता तथा जातीय गुणों को ध्यान में रखते हुए यह स्पष्टीकरण आवश्यक है।

धीरद्धत :—धीरोद्धतनायक का लक्षण करते हुए दशरूपककार कहते हैं :–

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठः मायाच्छद्मपरायणः।
धीरोद्धतस्त्वहङ्कारी चलश्चण्डो विकत्थनः॥ द० रू० २.५,६

वृत्ति भाग में दर्पमात्सर्य आदि की व्याख्या करते हुए वे उदाहरण के रूप में जामदग्नि (महावीरचरित) तथा रावण का उल्लेख करते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने धीरोद्धतनायक को शूरवीर, मायावी, आत्मश्लाघी, छद्मपरायण, रौद्रस्वभाव तथा शौर्यादिजन्यमद से युक्त माना है। वे कहते हैं :—

'शूरो मत्सरी मायी विकत्थनश्छद्मवान् रौद्रोऽवलिप्तः' काव्यानुशासन–७।१५

अर्थात् 'मत्सरी असहनः मन्त्रादिबलेनाविद्यमानवस्तुप्रकाशको मायी। छद्म-वञ्चनामात्रम्। रौद्रो चण्डः। अवलिप्तः शौर्यादिमदः। यथा जामदग्न्यरावणादिः।'

इस रूप में वे धीरोद्धतनायक के दशरूपक के लक्षण के दर्प एवं अहङ्कार की क्लिष्टता को सरल करते हुए उसे सम्भवतः शौर्यादिजन्यमद में संग्रहीत कर लेते हैं। किन्तु दशरूपक के 'चलः' गुण को छोड़ देते हैं। वे 'उद्धत किन्तु धीर' नायक के इस गुण को ध्यान में रखकर ऐसा करते हैं, यह माना जा सकता है। भरत ने देवों को धीरोद्धत माना है और उस परिप्रेक्ष्य में ही सम्भवतः हेमचन्द्र ने 'चल' यह विशेषण छोड़ दिया है। प्रतिनायक के लक्षण में धीरोद्धतनायक के गुणों का समावेश करते समय दशरूपककार के 'व्यसनी' विशेषण को छोड़ देने के पीछे भी सम्भवतः यही कारण है क्योंकि प्रतिनायक भी एक आदर्श भूमिका है। कालान्तर में साहित्यदर्पणकार के लक्षण में हम पुनः धीरोद्धतनायक में 'चलः' अथवा 'चपलः' इस गुण का संग्रह पाते हैं। दशरूपककार एवं हेमचन्द्र ने जामदग्नि तथा रावण को इसका आदर्श नायक माना है जबकि साहित्यदर्पणकार ने भीम को उद्धृत किया है।

प्रतिनायक का आलम्बनरूप

जैसा कि भरतमुनि ने कहा है, **'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः'** अर्थात् विभाव[1], अनुभाव[2] और **व्यभिचारीभाव**[3] वे मूल तत्त्व हैं जो परमानन्द सहोदर

---

१. रत्याद्युद्बोधकाः लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः। —सा० द० ३.२८

२. अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः। ––द० रू० ४.३

३. विविधमभिमुखेन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः। ––भरत ७.२७ वृत्ति

रस की निष्पत्ति के लिए आवश्यक हैं। इसी कारण काव्यप्रकाशकार की कारण-कार्य और सहायक भावों के रूप में इसकी व्याख्या अधिक समीचीन है[1]। इनमें भी विभाव की सर्वप्रथम गणना का भी महत्त्व है जिसके दोनों ही प्रकार-आलम्बन और उद्दीपन विभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भट्टलोल्लट ने 'विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपन-कारणैः रत्यादिको भावो जनितः' के रूप में इसके महत्त्व को स्पष्ट किया है। वस्तुतः आलम्बन भूत नायक-नायिका एवं उद्दीपन-भूत उद्यान, चन्द्रिका, ताडग् प्रभृति तत्त्व ऐसे हैं जिनके बिना रस की कल्पना नहीं की जा सकती। इनमें भी आलम्बन विभाव वह प्रमुख तत्त्व है जिनसे सर्वप्रथम रति आदि भाव जागृत होते हैं और अनुभावों द्वारा यह दर्शक तक संप्रेषित होता है।

ये आलम्बनभूत नायक जिन्हें पहले ही नाट्य संदर्भ में सभी भूमिकाओं के लिए ग्रहण किया जा चुका है वह तो उपनायक, अनुनायक, प्रतिनायक, उपनायिका, प्रति-नायिका प्रभृति सभी पात्रों की एक सामूहिक संज्ञा है। एक दूसरी दृष्टि से देखें तो वह स्थिति जहाँ दर्शक, नायक या नायिका से तादात्म्य स्थापित करके रसानुभूति की पराकाष्ठा पर पहुँचता है वहाँ पर भी नायक-प्रतिनायक का भेद बना ही रहता है। महाभाष्य के उस उल्लेख को जहाँ कंस और बलि के घात और बन्धन के साथ ही 'केचित् कंसभक्ता भवन्ति केचित् वासुदेवभक्ताः' का उल्लेख हुआ है और उसी आधार पर जहाँ 'केचित् कालमुखा भवन्ति केचित् रक्तमुखाः' कहा गया है वहाँ कुछ विद्वानों ने उसे दर्शक या सामाजिक की रसानुभूति के रूप में देखा है[2]।

महाभाष्य के इस उल्लेख की व्याख्या को छोड़ दें तो भी रस की सामाजिक-गत अनुभूति और तदनुरूप उनकी प्रतिक्रिया एवं नायक-प्रतिनायक विषयक भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इस आधार पर इतना तो स्पष्ट ही है कि आलम्बनभूत नायक, नायिका वे मुख्य पात्र हैं जिनके चारों ओर रस-वादी विचारधारा चक्कर काटती है और उन्हें ही रस का अजस्र स्रोत समझकर सामाजिक टकटकी लगाए रहता है। इस आशा की पूर्त्ति के लिए नायक-नायिका को जिनकी सहायता मिलती है उन भूमिकाओं में प्रतिनायक की भूमिका का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसके माध्यम से ऐसे भाव तरङ्गित होते हैं, जो नायक के चरित्र को भी प्रभावित करते हैं—उनके उत्कर्ष का कारण बनते हैं। प्रतिनायक को, नायक-विरोधी चरित्र को, बनाने का यही कारण है कि उस विरोध द्वारा सामाजिक की रसानु-भूति गहरी हो उठती है और नायक का चरित्र भी उभर आता है। प्रतिनायक की इस उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए ही उसे भी नायक माना गया है। यदि प्रतिनायक

१. का० प्र० ४.२७–२८ तथा सा० द० ३.१४

२. कीथ—संस्कृत नाटक पृ० २६

गत मूलभावों को; नायक विरोध को, ध्यान में रखा जाय तो प्रतिनायक, नायक के मार्ग के व्यक्तिकरों का सामूहिक अभिधान बन जाता है और तब नायक के लिए प्रतिनायक भूमिका की, विरोध अथवा बाधक तत्त्वों की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध हो जाती है। राम पर आने वाली विपत्तियों और उदयन अथवा दुष्यन्त की अभीष्ट-सिद्धि में जो बाधाएँ हैं, यदि उन्हें हटा दिया जाय तो राम का, उदयन, चारुदत्त अथवा दुष्यन्त का चरित्र सपाट और अनाटकीय हो उठता है; भले ही अपने सामान्य (नाट्यबाह्य) जीवन में वे कितने ही महान् हों। तात्पर्य यह कि नाट्य जीवन में उनका विरोध; उनकी फलप्राप्ति में आने वाली बाधाएँ, जितनी सशक्त होंगी, उनकी महानता उतनी ही प्रखर होगी। अतः नायक प्रतिनायक के मध्य एक उपस्कार्य उपस्कारक भाव है। किन्तु नायक को चुनते समय नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से यह देखना अनिवार्य है कि उसमें (यथास्थान) चतुर्विध नायकों के निर्धारित गुण विद्यमान हों। जिसके फलस्वरूप उसकी महानता पूर्णतः स्थापित रहती है; प्रतिनायक उसकी महानता को ललकारता है, उसके धैर्य को डिगाता है ओर अपनी सफलता की बलि चढ़ा कर नायक की महानता को सार्थकता प्रदान करता है।

इस रूप में स्पष्ट है कि नायक प्रतिनायक के मध्य उपर्युक्त सम्बन्ध वैसा नहीं है जैसा कि पाश्चात्य रूपकों में देखा जाता है, जहाँ बैंकों और इआगो को हटा दिया जाय तो मैकबेथ और ओथेलो शून्य हो जाते हैं। तीनों डाइनों और मैकडफ को हटा दिया जाय तो मैकबेथ केवल एक वीरयोद्धा ही तो है और वह भी ऐसा योद्धा जो भाग्य के भरोसे हो जीता है, डाइनों से डरता है तथा लेडी मैकबेथ का साक्षात्कार नहीं कर पाता। इसके विपरीत चाणक्य और राक्षस दोनों ही महान् हैं। एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता से उनकी महत्ता और विस्तार पाती है। रावण के बिना भी राम महान् हैं। दुर्योधन के बिना भी भीम की महानता पर कोई प्रश्नचिह्न नहीं लगा सकता और भीम के बिना दुर्योधन की महानता के लिए 'ऊभरूङ्ग' साक्षी है। यहाँ तक कि राम के बिना भी रावण की महानता नहीं घटती। उसकी विद्वत्ता, वीरता और शालीनता स्थिर है। शकार इसका अपवाद है किन्तु उसके अभाव में भी दरिद्र किन्तु उदार चारुदत्त महान् है, उसकी निःस्पृहा, धर्मपरायणता, उसके आदर्श उसे महान् बनाये रखते हैं। पाश्चात्य एवं संस्कृत नाट्यसाहित्य के मध्य स्थित इस अन्तर का मूल कारण, निर्धारित आदर्शों की पूर्ति के लिए निर्धारित, यह उपस्यकार्य-उपस्कारक भाव ही है।

तात्पर्य यह कि संस्कृत रूपकों का प्रतिनायक भी एक नायक है। मुख्य नायक का सहायक है—नायक के उत्कर्ष चित्रण की दृष्टि से। विरोधीरसों, विरोधीभावों एवं सामाजिक दृष्टि से विरोधी एवं बाधक कर्मों के माध्यम से वह नायक को आदर्श-स्थापना के महान् कार्य में सहायता करता है। विभिन्न भूमिकाओं को देखते हुए यह

कहा जा सकता है कि कुछ भूमिकाएँ ऐसी भी हैं जो प्रतिनायक की सहायक हैं जिनकी गणना पिछले परिच्छेदों में की जा चुकी है। मृच्छकटिक में विट, चेट, माथुर द्यूतकर, स्थावरक प्रभृति अनेक पात्र ऐसे हैं जो किसी न किसी रूप में चारुदत्त के औदात्त्य और धैर्य का आदर करते हुए भी शकार की सहायता करते हैं। रामायण की कथा पर आधृत रूपकों में बाली, मारीचि, सुबाहु प्रभृति अनेक सहायक पात्र भी ऐसे ही हैं। महाभारत की कथा पर आश्रित रूपकों में दुर्योधन के सहायक; दुःशासन, शकुनि, कर्ण अश्वत्थामा प्रभृति पात्र इसी प्रकार के उप-प्रतिनायक हैं।

किञ्चिद् व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो हम पाते हैं कि वस्तुतः प्रतिनायक की सहायक भूमिकाओं को नायक की भूमिकाओं में ही अनुस्यूत कर लिया गया है। जैसाकि हम पहले ही देख चुके हैं लगभग सभी आचार्य 'नायक' इस शब्द का बहुत व्यापक अर्थ में प्रयोग करते हैं जिससे प्रतिनायक और उसके सहायकों को भी नायक कहलाने का अवसर मिल जाता है। फिर भी कुछ आचार्यों ने नायक के सहायकों को जिस प्रकार उपनायक कहा है उसी प्रकार प्रतिनायक के सहायक को उपप्रतिनायक मानना अनुचित नहीं है।

वस्तुतः इस तथ्य के पीछे मुख्य कारण यही है कि नाट्यशास्त्रीय दृष्टि में प्रतिनायक की भूमिका ऐसी नहीं है जिसे पाश्चात्त्य खलनायक की तुलना में देखा जाए। शकार इसका अपवाद है और सम्भवतः इसी कारण भरतमुनि ने उसे पृथक् करके ही देखा है और उन्होंने प्रतिनायक की प्रत्यक्षतः पृथक् सत्ता ही नहीं मानी। 'नायक' का जो स्वरूप बताया गया है, दुर्योधन हो अथवा रावण वे उस सीमा में स्वतः आ जाते हैं[१] क्योंकि 'नायक' इस भूमिका को मूल धारा कर्मानुसारणी न होकर वर्णानुसारिणी है। 'देवाः धीरोद्धताः[२]' और 'सद्वंशः क्षत्रियोवापि' अथवा 'रूढ़वंशः' 'राजर्षिवंश चरितम्[३]' इत्यादि नाट्यशास्त्रीय कथन इसी तथ्य को परिपुष्ट करते हैं। इतना ही नहीं नायक-नायिका की प्रकृति की चर्चा करते हुए भरतमुनि स्पष्टरूप से धीरोदात्तादि नायकों के सम्बन्ध में एक स्पष्ट धारणा देते हैं[४]। नाटक, नाटिका, प्रकरण, भाण, व्यायोग, प्रभृति रूपकों उपरूपकों में नायक किस कुल का हो, नायिका का वंश कौन-सा हो यह उल्लेख जहाँ उन्हे सम्भ्रान्तवर्गीय बना देता है वहीं तदनुरूप अन्य भूमिकाओं के लिए भी सीमाङ्कन किया जाता है। यही कारण है कि संस्कृत रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका भी एक सुसंस्कृत, निष्ठावान्, धर्मभीरु एवं सीमित आदर्शों वाली भूमिका है। उसके सहायक तो और भी धर्मभीरु हैं (इसके अपवाद भी हैं

१. अकृत्यकारी स्वायत्त सिद्धिर्धीरोद्धतो भवेत्। भाव० ४.१२०

२. भरत (नि) २४.४ ३. भरत (नि) १८.१०,. सा० द० ६.६

४. भरत (नि) २४.४-११

शकुनि और दुःशासन) वे किसी न किसी कारण प्रतिनायक के आभारों से दबे हुए हैं अथवा किसी राजनीतिक लाभ की आशा में प्रतिनायक की सहायता करते हैं।

संस्कृत नाटकों में पताका एवं प्रकरी के रूप में मुख्य कथा के साथ अवान्तर कथाओं की जहाँ-जहाँ सृष्टि की जाती है वहाँ नायक के एक सहायक की भी भूमिका होती है और इन स्थलों पर प्रतिनायक का सहायक उसकी प्रतिद्वन्द्विता में प्रस्तुत किया जाता है, सुग्रीव और बालि के युद्ध की यही नाट्यशास्त्रीय व्याख्या है। इसी प्रकार उपनायक के प्रतिद्वन्द्वी उपप्रतिनायक के अतिरिक्त नायिका से नायक के मिलन में बाधक बनकर आने वाली स्त्री पात्रों की भूमिकाएँ शृङ्गारप्रधान रूपकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि इस प्रकार की भूमिकाएँ अधिक उभर नहीं पायी हैं फिर भी उनका अस्तित्व है। नायक विरोधी तत्वों की गणना के प्रसंग में प्राकृतिक बाधाओं, वियोग के कारणों और वियोग के उद्दीपन विभावों की भी गणना की जा सकती है। इन उद्दीपन विभावों का महत्त्व इस दृष्टि से और भी बढ़ जाता है क्योंकि इनसे रस की पुष्टि होती है और प्रकारान्तर से इससे नायक के चरित के उत्कर्ष को अवकाश मिलता है।

प्रतिनायक की इस पारिभाषिक भूमिका के प्रसंग में शकार[1] की भूमिका का अपना विशिष्ट स्थान है। कहना न होगा, यही वह नायक विरोधी भूमिका है जिसका अभिधानतः उल्लेख भरतमुनि ने किया है[2]। इतना ही नहीं इस विशिष्ट भूमिका के सन्दर्भ में भरतमुनि ने उसकी गति[3], प्रकृति[4] और भाषा[5] पर व्यापक चर्चा की है। प्रकृति भेद से भरतमुनि ने शकार को अधम माना है और 'अधम' प्रकृति की भूमिकाओं की विशेषताएँ बताते हुए वे कहते हैं कि अधम जन रूक्षभाषण करते हैं, आचरण-शिथिल, निःसत्त्व, मन्दबुद्धि, क्रोधी, घातक, कृतघ्न एवं छिद्रान्वेषी होते हैं। व्यर्थ की बातों लगे रहते हैं तथा उनके बातचीत का स्तर निम्न प्रकार का होता है। चुगलखोर पापी, स्त्रीलोलुप एवं झगड़ालू होना भी उनका विशिष्ट गुण है। इसके साथ ही कौन मान्य है और कौन तिरस्करणीय इस शिष्टाचार से अपरचित तथा चौर कर्म जैसे दोषों से युक्त व्यक्ति अधम प्रकृति के माने गए हैं। भरतमुनि की इस प्राचीर के मध्य शकार का चरित्र, जिसे वे स्पष्टतः 'अधमो मागधीभाषो' के रूप में देखते है किसी भी पाश्चात्य खलनायक से कम नहीं उतरता। अन्तर केवल दो स्थलों पर है एक तो शकार की बुद्धि छोटे-छोटे स्वार्थों तक सीमित है उसकी महत्त्वाकांक्षाएं

१. द्रष्टव्य; प्रबन्ध, द्वितीय परिच्छेद
२. भरत ३५.५६
३. भरत १३.१४७-४८, १५.३५
४. भरत ३४.५८
५. भरत० १८.४१, ३५.५६

इआगो की तरह नहीं हैं, दूसरे इन सारे दुर्गुणों के होने पर भी उसे अपने किये का पाश्चात्ताप होता है, जैसा कि कैशकैशस के सहयोगी बैंको को होता है।

शकार अपने इन गुणों के परिवेश में; नायक विरोधी होने के कारण, प्रतिनायक के रूप में माना जाता है। लक्ष्य ग्रन्थों, रूपकों के अभाव में उसकी नाटकीयता के नाना रूप देखने को नहीं मिलते फिर भी उसका जो रूप 'मृच्छकटिक' तथा 'दरिद्रचारुदत्त' में मिलता है वह इस मान्यता की पुष्टि के लिए पर्याप्त है। यही कारण है जहाँ शकार की भूमिका है वहाँ किसी अन्य प्रतिनायक की कल्पना नाटककारों ने नहीं की। शकार को 'राज्ञ: श्यालः' राजा की रखैल का भाई कहा गया है। किन्तु 'शाकुन्तल' के छठे अङ्क के प्रवेशक में नागर का जो स्वरूप मिलता है वह शकार के चरित्र से बिलकुल विपरीत है, अतः उसे 'शकार' कहना उचित नहीं है। नाट्यदर्पणकार ने भी कहा है—'न सर्वो राजपुत्रादिनृपश्यालः शकारः।'

शकार को नायक विरोधी स्वतन्त्र भूमिका माना जाय अथवा प्रतिनायक की निर्धारित भूमिका में ही उसे अन्तर्निहित माना जाय। इस सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि 'मृच्छकटिक' एवं 'दरिद्रचारुदत्त' के अतिरिक्त भरतमुनि से लेकर साहित्यदर्पण तक सभी नाट्यशास्त्रियों ने उसके चरित्र को कुछ इस तरह चित्रित किया है जिससे उसे एक स्वतन्त्र भूमिका ही मानना उचित है। इसका कारण यह भी है कि प्रतिनायक को किसी भी अर्थ में अधम प्रकृति का नहीं माना जा सकता। जबकि शकार निश्चित रूप से एक अधम भूमिका है। जिसको समकक्ष भूमिकाएं विट, चेट आदि हैं। उसकी गणना वामन, षण्ड, किरात, आभोर, म्लेच्छ, कुब्ज, प्रभृति निम्न प्रकृति की भूमिकाओं के साथ की गयी है। इसके विपरीत प्रतिनायक वस्तुतः नायक-विरोधी 'नायक' है। यही कारण है नायक की तुलना में अपनी साज-सज्जा, सैन्य-परिचर, पार्षद तथा अन्य सहचरों की दृष्टि से संस्कृत के प्रतिनायक, नायक से न्यून नहीं है।

पाश्चात्त्य नाटकों के सन्दर्भ में जब संस्कृत रूपकों का मूल्याङ्कन किया जाता है तो संस्कृत रूपकों में शकार की भूमिका ही ऐसी दिखाई पड़ती है जिसे 'नायक-पतन' की कारणभूत खलनायक की भूमिका की तुलना में प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसके माध्यम से चारुदत्त का चरित्र उठता है और उठता ही चला जाता है। शकार की यह भुमिका यहाँ चारुदत्त जैसे कविप्रतिभा निर्मित चरित्र को नये आयाम भी देती है और रस की पराकोटि की अनुभूति भी कराती है। क्योंकि चारुदत्त का वह रूप, जो हमारे काव्यों नाटकों में राम या कृष्ण का है, नहीं है। अतः सामाजिक ने जब सर्वप्रथम इस प्रकरण का आस्वाद लिया होगा तो निश्चय ही उसकी अनुभूति भिन्न रही होगी। क्योंकि यहाँ (मृच्छकटिक में) जो संघर्ष है वह अधिक मौलिक, यथार्थ और सामाजिक के नित्यप्रति के जीवन से जुड़ा हुआ है। चारुदत्त के साथ, राम के नाम के साथ जुड़े हुए आदर्श भी नहीं हैं और शकार भी स्थापित प्रतिनायकों से भिन्न है।

साधारण रूप से तो, नायक-प्रतिनायक के मध्य केवल आदर्शों का संघर्ष है और उपजीव्य काव्यों से प्रभावित हमारे संस्कार एक पूर्वाग्रह से ग्रस्त होने के कारण निश्चित धारा में प्रवाहित होते हैं। वस्तुतः पौराणिक कथाओं और मान्यताओं के कारण ही इन आदर्शों का निर्णय होता है और इसी आधार पर नायक और उसकी प्रतिद्वन्द्वी भूमिका की सृष्टि की जाती रही है। यही तत्त्व सामाजिक के मनोभावों को भी प्रभावित करता है। मुद्राराक्षस जैसे रूपकों में नायक-प्रतिनायक की शास्त्रीय स्थापना कुछ भी हो किन्तु उपजीव्य काव्यों में, पौराणिक आख्यानों की शिथिल-पृष्ठ-भूमि में, चाणक्य का नायकत्व भी शिथिल हो उठता है और उसकी कठोरता, नीति-प्रवणता, घात-प्रतिघात की नीति, सामाजिक के हृदय में एक भयमिश्रित श्रद्धा को जन्म भले ही दे, किन्तु राम, कृष्ण, युधिष्ठिर, चारुदत्त जैसे नायकों के प्रति उठने वाली श्रद्धा की भाँति वह असीम और अनन्त नहीं है। इसके विपरीत रावण, दुर्योधन और शकार के प्रति सामाजिक अनुभूति की तुलना में राक्षस के प्रति उद्भूत सहानुभूति अधिक गम्भीर और आत्मीय है। यह अन्तर स्वतः में महत्त्वपूर्ण है और उसकी पृष्ठभूमि उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस दृष्टि से तीन प्रकार के प्रतिनायक हमें दृष्टिगत होते है—(१) संस्कारगत कारणों से निर्णीत प्रतिनायक जिनके प्रति सामाजिक में स्वाभाविक घृणा का संचार होता है। (२) उपजीव्य काव्यों एवं पौराणिक परम्पराओं से पृथक् उन रूपकों के प्रतिनायक, जिनमें नायक-प्रतिनायक दोनों ही समान ठहरते हैं तथा जहाँ सामाजिक नायक की अपेक्षा प्रतिनायक से अधिक सहानुभूति रखता है। ऐसे प्रतिनायकों में बालि जैसे उपप्रतिनायक भी हैं, जो सामाजिक की यथाशक्ति सहानुभूति अर्जित करते हैं। (३) शकार जैसे प्रतिनायक, जिनके पीछे कोई भी सद्भावना नहीं है और जो पूर्णतः धूर्तचरित के रूप में प्रतिनायकत्व ग्रहण करते हैं। भिन्न-भिन्न रसों की निष्पत्ति के कारणभूत इन द्वन्द्वों के पीछे जो तत्त्व हैं उनका महत्त्व यही है कि वे नायकगत दृढ़ता की, वीरता की, धैर्य और उदारता की, सहिष्णुता और औदात्त्य की, सांस्कृतिक और सामाजिक निष्ठा की, अभिव्यक्ति करते हैं। इन द्वन्द्वों की कोटि एवं स्वरूप की भिन्नता सामाजिकगत रस की पराकोटि की विभिन्न अनुभूतियों को जन्म देती है।

इस प्रकार नायक से प्रतिनायक का सम्बन्ध यही है कि एक ओर तो प्रतिनायक के माध्यम से नायक के चरित्र का उत्कर्ष प्रदर्शित किया जाता है, उसकी धीरता और उदारता का, औदात्त्य, लालित्य, औद्धत्य और सहिष्णुता की कोटि का निर्धारण होता है तो दूसरी ओर तज्जन्य रसाभिव्यक्ति, जो सामाजिक को अन्त तक अभिभूत किए रहती है, उसे गति, तीक्ष्णता, गहरायी और स्पन्दन मिलता रहता है।

प्रतिनायक एवं रसनिष्पत्ति

नायक-प्रतिनायक के इस प्रगाढ़ सम्बन्ध को देखने के पश्चात् रस के सन्दर्भ में प्रतिनायक-भूमिका की उपयोगिता का मूल्याङ्कन करते हुए हम पाते हैं कि कुछ रसों की निष्पत्ति तो बिना प्रतिनायक के सहयोग के हो ही नहीं सकती। द्वितीय परिच्छेद में प्रतिनायक के नाट्यशास्त्रीय स्वरूप की विवेचना करते समय इस विषय पर संकेत किये जा चुके हैं कि प्रतिनायक की इस उपयोगिता को नाट्यशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया है। यहाँ विभिन्न रसों अथवा रससमूहों के सन्दर्भ में प्रतिनायक की महत्त्वपूर्ण भूमिका की उपयोगिता पर चर्चा की जा रही है।

षड्दीप्तरस एवं प्रतिनायक

इस दृष्टि से षड्दीप्तरसों का अपना विशिष्ट स्थान है। यह छः रस हैं—वीर, रौद्र, बीभत्स, अद्भुत, करुण एवं भयानक[1]। ऐसा नहीं है कि शान्त, हास्य एवं शृङ्गार रस के सन्दर्भ में विरोध की कोई उपयोगिता नहीं है। वस्तुतः उनके साथ विरोध को प्रतिनायक के नाट्यशास्त्रीय स्वरूप के माध्यम के निष्पन्न होते हुए प्रदर्शित करने की अपेक्षा आचार्यों ने विरोध के दूसरे स्वरूप को अपनाया है।

प्रतिनायक वह चाहे किसी कोटि का हो उसका नायक से सम्बन्ध यही है कि नायक उसके अस्तित्व को स्वीकार करता है, उसके कारण आने वाली मनस्थिति को झेलता है, पीड़ा और द्वन्द्व का अनुभव करता है, उसमें जीता है, उसका प्रसन्नतापूर्वक साक्षात् करता है। इस द्वन्द्व के अनेक रूप हैं, वासवदत्ता के भय के कारण उदयन के मन में उत्पन्न द्वन्द्व, उदयन के बन्दी बनाए जाने पर यौगन्धरायण के मन; बुद्धि पर छा जाने वाला द्वन्द्व, दुर्वासाशाप के कारण दुष्यन्त के मन में जायमान् द्वन्द्व और लाञ्छित शकुन्तला की शारीरिक वेदना एवं मानसिक द्वन्द्व, सीताहरण पर राम और सीता के मन का द्वन्द्व, और सीतापरित्याग पर दोनों ओर उत्पन्न द्वन्द्व। शकार के कारण चारुदत्त का अपमान होता है, उसके मन में जो द्वन्द्व होता है, उसे सामाजिक जीवन में जो क्षति होती है, वह एक भिन्न प्रकार का द्वन्द्व है। इनके कारण जो रसानुभूति होती है वह वीर अथवा रौद्र अथवा करुण प्रभृति दीप्त रसों की अनुभूति से भिन्न है। क्योंकि इन रसों में दीप्ति, दीपन, प्रकाशात्मिकावृत्ति अथवा ओज की भावना निहित रहती है। इस दृष्टि से ध्वन्यालोककार का यह कथन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—

---

१. (क) षड्रसलक्षणयुक्तश्चतुरङ्को वै डिमः कार्यः ॥
शृङ्गारहास्यवर्जः शेषैः सर्वैः रसैः समायुक्तः।
दीप्तरसकाव्ययोनिर्नानाभावोपसम्पन्नः ॥ भरत २०.८८,८९,

(ख) रसैरहास्यशृङ्गारैः षड्भिर्दीप्तैः समन्वितः। द० रू० ३.५८

(ग) दीप्ताः स्युः षड्रसाः शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिताः। सा० द० ६.२४४

रौद्रादयोरसा दीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यवर्तिनः ।
तद्व्यक्तिहेतू शब्दार्थावाश्रित्योजो व्यवस्थितम् ॥ ध्वन्या० २.६

रौद्रादयो हि रसाः परां दीप्तिमुज्ज्वलतां जनयन्ति इति लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्चते ॥

इस स्थल पर ध्वन्यालोककार ने रौद्रादि रसों को, दीप्ति-उज्ज्वलता किंवा ओज को उत्पन्न करने वाला माना है । अभिनवगुप्त के अनुसार इस 'आदि' के द्वारा वीर एवं अद्भुत रसों की भी गणना की जानी चाहिए । वैसे आदि पद से वीररस की गणना तो उचित है किन्तु अद्भुत रस के स्थान पर बीभत्स रस की गणना की जानी चाहिए क्योंकि भरतमुनि मूलतः चार ही रसों को स्वीकार करते हुए कहते हैं— 'तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो एव रसाः । तद्यथा शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति' अर्थात् शृङ्गार, रौद्र, वीर तथा बीभत्स ये चार ही मूल रस हैं जो कि शेष अन्य रसों की उत्पत्ति के कारण भी माने गए हैं । अपनी इस मान्यता की स्थापना करते हुए भरत मुनि पुनः कहते हैं—

शृङ्गाराद्धि भवद् हास्यो रौद्रात्तु करुणो रसः ।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिः बीभत्साच्च भयानकः ।[1] भरत ६.३६

भरतमुनि के इस कथन से स्पष्टतः सिद्ध हो जाता है कि ध्वन्यालोक के उपर्युक्त 'आदि' पद से अद्भुत नहीं बीभत्स रस का ग्रहण करना चाहिए । भरतमुनि के 'वीरस्यापि च यत् कर्म सोऽद्भुतः परिकीर्तितः' इस कथन के आधार पर अद्भुत और वीररस में जन्यजनक भाव सम्बन्ध है । अस्तु, इससे यह तथ्य उद्घाटित हो जाता है कि दीप्त-रस भी मूलतः तीन ही हैं और करुण, अद्भुत तथा भयानक ये तीनों रस क्रमशः इन्हीं मूलरसों से उत्पन्न होते हैं । डिम आदि रूपक भेदों में, जहाँ दीप्त रसों की योजना का नियत विधान है[2] वहाँ भरतमुनि ने स्पष्टतः 'शृङ्गारहास्यवर्जना' का भी विधान कर रखा है । जिससे इन्हीं छः रसों को दीप्तरस मानने का सिद्धान्त सुस्थिर हो जाता है । प्रयोग में हम देखते हैं कि शृङ्गार रस के मूल में विद्यमान रति का भाव; माधुर्य और प्रसाद गुणों के अधिक निकट है—अपेक्षाकृत ओजोगुण के जो, और हास्य की स्थिति भी यही है । अतः शेष छः रस जिनमें ओज का प्राधान्य रहा करता है उनमें ही दीप्ति की खोज उचित है तथा उन्हें ही दीप्त रस मानना न्याय संगत है । इसे ही प्रकारान्तर से इस तरह समझा जा सकता है कि इन छहों रसों में उत्तेजना को पर्याप्त स्थान मिलता है । इस दीप्ति अथवा उत्तेजना की स्पष्ट व्याख्या इन रसों का मानव-मन पर त्वरित

1. विशेषविस्तार के लिए देखें : भरत ६.४०-४५
2. भरत २०.८८,८६,६७

प्रभाव है। एक वीर रस का काव्य, बीभत्स दृश्य, करुणा का पात्र, अद्भुत कार्य और किसी का रौद्र और भयानक रूप देखकर जिस शीघ्रता से उसका प्रभाव मन पर पड़ता है; दुष्यन्त का प्रेम, वसन्तक हास्य और नागानन्द का शम उतना शीघ्र प्रभाव नहीं डाल पाता।

रूपक का आरम्भ होते ही 'ममरिपुबलकालं लाङ्गलं लङ्घयित्वा' अथवा 'चञ्चद्भुजभ्रमित०' किंवा 'आस्वादितद्विरदशोणित०' द्वारा सामाजिक पर जितनी तीव्रता एवं तीक्ष्णता से भावों का संप्रेषण होता है शृङ्गार, हास्य अथवा शान्तरस-प्रधान रूपकों में यह उतनी शीघ्रता से नहीं होता। काव्यप्रकाशकार ने इस ओज की सुतरां व्याख्या करते हुए कहा है 'चित्तस्य विस्ताररूपः दीप्तत्वजनकमोजः'[1] और यह ओज, वीर, बीभत्स तथा रौद्र रसों के माध्यम से क्रमशः अधिक चित्त विस्तारक होता जाता है :—

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थिति ।
बीभत्स-रौद्ररसयोस्तस्याधिक्यं क्रमेण च ॥—का० प्र० ८.६९-७०

यह चित्त की विस्तारकता ही वह तत्त्व है जो विवेच्य षड्रसों को शृङ्गार, हास एवं शान्त रसों से पृथक् करता है।

भरतमुनि के 'दीप्त-काव्य-रस-योनिः'[2] इस कथन को ध्यान में रखते हुए उनके डिम एवं व्यायोग रूपक भेदों और तदनुसारी परम्परा में दशरूपककार एवं विश्वनाथ[3] के डिम एवं व्यायोग के लक्षणों को देखा जाए तो यह दीप्तिमूलक षड्रसों की मान्यता और भी प्रामाणिक सिद्ध हो जाती है। हम देख चुके हैं कि शृङ्गार का नैकट्य हास्य से बनता है एवं अन्य छहों रस अन्य कोटि में ठहरते हैं जहाँ उनमें कारणकार्य सम्बन्ध है और वीर, रौद्र तथा बीभत्स की आजोमूलकता के परिप्रेक्ष्य में तज्जायमान क्रमशः अद्भुत, करुण एवं भयानक रसों में भी वही भाव संप्रेषित होता है। ओज अर्थात् दीप्ति अथवा प्रकाशन किंवा चित्तविस्तारकता के रूप में जिस गुण को हम उपर्युक्त षड्रसों के मूल में देख रहे हैं वह ओज, दशरूपककार के विस्तार, क्षोभ, विक्षेप का भी पर्याय है[4]। जबकि शृङ्गार और हास्य के सन्दर्भ में मन का विकसित होना ही उन्हें

---

१. का० प्र० ८.६९ की वृत्ति २. भरत १८.१३७,१४५

३. क्रमशः देखें : द० रू० ३.५७-६२, तथा सा० द० ६.२३३, २४४

४. विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः ।
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात् ॥
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि ।
अतस्तजन्यता तेषामतएवावधारणम् ।—द० रू० ७.४३-४५

स्वीकार्य है। यह तथ्य भी भरत की उपर्युक्त मान्यता का ही पोषक है जहाँ उन्होंने जन्य-जनक-भावेन इन रसों का निर्धारण किया है।

तात्पर्य यह कि वीर, बीभत्स, रौद्र, अद्भुत, करुण एवं भयानक ये षड्रस अपने विशिष्ट रूप में शृङ्गार, हास्य एवं शान्त से पृथक् हैं। यही कारण है नाट्य-शास्त्रियों ने जिन रूपकभेदों में इन षड्रसों के प्रयोग का विधान किया है वहाँ तदनुरूप कथानक में संघर्ष अर्थात् युद्ध-नियुद्ध को स्थान मिला है। यहाँ संघर्ष से तात्पर्य उस स्थिति से है जहाँ स्वाभाविक रूप से नायक-विरोध की भावना एवं तदनुरूप भूमिका के निर्माण का अवकाश स्वत: बन जाता है और अन्तर्द्वन्द्व को, वाचा और कर्मणा युद्ध-नियुद्ध के रूप में विस्तार मिलता है।

ऐसे रूपक भेदों की चर्चा के पूर्व इस शङ्का का निराकरण आवश्यक है कि क्या जहाँ शृङ्गार, हास्य अथवा शान्त रस को अङ्गी बनाया गया है वहाँ नायक विरोधी भावना उत्पन्न नहीं हो सकती ? वस्तुत: वहाँ विरोध की भावना और नायक के मार्ग में बाधा की स्थिति के दर्शन तो हो जाते हैं, किन्तु रति, हास एवं निर्वेद जैसे भावों के सन्दर्भ में प्रतिनायकोचित गुणों का विस्तार नहीं होने पाता; यह रसानुकूल भी प्रतीत नहीं होता। यही कारण है इन रसों के प्रसंग में या तो धीरोद्धत प्रतिनायक की भूमिका कभी भी आयोजित नहीं की जाती और यदि विरोध है तो वह ऊपरी धरातल पर है और भाव संघर्ष के रूप में ही वह विस्तार पाता है। शकार की योजना अवश्य एक अपवाद है। किन्तु वह भी एक ओर तो रस की दृष्टि से शृङ्गार के अनुकूल हास्य को जन्म देता है दूसरी ओर नायक-नायिका के मध्य बाधक बनकर आते हुए भी औद्धत्य, युद्ध-नियुद्ध की स्थिति से दूर रहता है और मुख्य रूप से भाव संघर्ष को ही पुष्ट करता है। इसी कारण शकार को औद्धत्यहीन प्रतिनायक के रूप में देखा गया है [1]।

शृङ्गार अथवा रति के परिप्रेक्ष्य में, नायिका के प्रति प्रतिनायक का मोह हो सकता है, किन्तु उसे सांस्कृतिक दृष्टि से उचित नहीं माना गया है। यहाँ तक कि गणिका वसन्तसेना से शकार की रति-याचना फलीभूत नहीं होने पाती, यह आदर्शों के प्रतिकूल तो है ही, रस के नैरन्तर्य की दृष्टि से भी अनुचित है, अतएव उसे 'आभास' (रत्याभास, भावाभास) ही माना जाता है। ऐसे अवसरों पर यह ध्यान देना आवश्यक है कि संस्कृत नाट्यपरम्परा रसवादी है और उस रस की निष्पत्ति भी इतनी साधारण नहीं कि क्षण में ही हो जाए। इसी कारण एक ओर तो शृङ्गार को 'दीप्त' नहीं माना गया दूसरी ओर उसे भ्रष्ट नहीं होने दिया गया। शृङ्गार रस के ही सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। किसी भी अङ्गी रस के सन्दर्भ में ऐसे विरोधी रसों की योजना उचित नहीं

---

१. देखें; प्रबन्ध, द्वितीयपरिच्छेद पृ० ६९, १११

मानी गयी। इसी कारण वेणीसंहार में दुर्योधन-भानुमती का व्यापार आलोचना का विषय बना रहा। क्योंकि ऐसे प्रयोगों से नायक ही नहीं प्रतिनायक भी लक्ष्यभ्रष्ट हो जाता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को ध्यान में रखते हुए ही नाट्याचार्यों ने अनुकूल एवं प्रतिकूल, सहयोगी एवं विरोधी रसों की भी योजना की है।

इस परिप्रेक्ष्य में कुछ रूपक भेदों के लक्षण स्वतः में महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं। जैसाकि कहा जा चुका है नाट्यशास्त्रियों ने अनेक रूपकों के लक्षण प्रसंग में इन षड्दीप्त-रसों में से एक को अङ्गी (मुख्य) बनाकर, तथा अन्य अनुकूल रसों को उनका पोषक बनाकर, प्रयोग करने का विधान किया है। उन्होंने ऐसे रूपकों में संघर्ष के माध्यम के रूप में त्रिविद्रव, त्रिकपट, उद्धतपुरुषप्राय भूमिकाओं, माया, इन्द्रजाल जैसे अद्भुत कार्यों को योजना का विधान किया है।

प्रतिनायक एवं डिम रूपक भेद

उपर्युक्त रूपक भेदों में—डिम, व्यायोग, समवकार, अङ्क (उत्सृष्टिकाङ्क) और ईहामृग निश्चय ही दृष्टि सापेक्ष हैं। इन रूपक भेदों की सबसे बड़ी विशेषता है, उनमें संघर्ष-प्रधान-कथावस्तु का उपगूहन। द्वितीय परिच्छेद में भरतमुनि के प्रतिनायक सम्बन्धी विचारों का संक्षिप्त परिचय देते हुए बताया जा चुका है कि उन लक्षणों के आधार पर वहाँ नायक-विरोधी भूमिका की योजना आवश्यक है। भरतमुनि के तत्तत लक्षणों की अन्य आचार्यों के लक्षणों से तुलना करने पर यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जाता है कि उन रूपक भेदों में यदि प्रतिनायक की भूमिका का ग्रथन न किया जाए तो उनमें रसपरिपाक की प्रक्रिया अत्यन्त कठिन हो जाएगी। डिम रूपक भेद के[1] रूप में भरतमुनि ने जिस रूपक का उल्लेख किया है वह है त्रिपुरदाह; वस्तुतः प्रतिनायक के कार्य ही त्रिपुरदाह के मूल में स्थित हैं। यदि ऐसा न होता तो सामाजिक को उससे कितना परितोष होता इसे सरलता से समझा जा सकता है।

दशरूपककार के अनुसार डिम रूपकभेद का कथानक प्रसिद्ध अर्थात् ऐतिहासिक इतिवृत्त प्रधान होना चाहिए, जिसमें देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, भूत-प्रेत, पिशाच आदि विभिन्न सोलह नायकों का प्रयोग होना चाहिए जो स्वभावतः (प्रकृति से) उद्धत होंगे जिसमें हास्य, शृङ्गार को छोड़कर शेष दीप्तिप्रधान वीर, अद्भुत, बीभत्स, रौद्र, करुण एवं भयानकरसों का प्रयोग हो सकता है। इसका अङ्गीरस रौद्र होना चाहिए तथा माया, इन्द्रजाल, संग्राम, क्रोधादि से उद्भ्रान्त लोगों की चेष्टाओं का प्रदर्शन होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसकी कथावस्तु विमर्श संधि को छोड़कर शेष चार संधियों में बद्ध तथा चार अङ्कों में समाप्य होनी चाहिए[2]। उद्धत पुरुषों की प्रधानता, रौद्र को

---

१. भरत ४.१०

२. द० रू० ३.५७-६०

अङ्गों के रूप में तथा अन्य दीप्ति-प्रधान रसों की गौण रूप से योजना, माया, इन्द्रजाल प्रभृति कार्यों के प्रदर्शन, संग्राम की अनिवार्यता आदि आयोजनों को देखते हुए उसमें प्रतिनायक की अनिवार्य योजना अप्रत्याशित नहीं है।

डिम की पदव्याख्या करते हुए अभिनवभारतीकार कहते हैं :—'डिमो डिम्बो विद्रव इति पर्यायाः, तद्योगादयं डिमः। अन्येतु ड्यन्त इति डिमाः उद्धतनायकास्तेषां वृत्तिर्यत्रेति'[1]। अर्थात् डिम उत्पात का पर्याय है। भरतमुनि स्वयं भी, डिम की कथावस्तु में, निर्घात, उल्पाकात, युद्धनियुद्ध, घर्षण और संफेट की योजना का स्पष्ट विधान करते हैं। जिससे नायक-विरोधी किंवा प्रतिनायक जैसी भूमिका की रङ्गमञ्च पर अवतारणा सशक्त हो उठती है। नाट्यदर्पणकार कहते हैं :—

रणः संग्रामः बाहुयुद्धबलात्कारपराभवादिरूपः। डिमो डिम्बो विप्लव इत्यर्थः तद्योगादयं डिमः। —ना० द० द्वितीय विवेक

अर्थात् रौद्ररस की प्रधानता, शान्त, हास्य एवं शृङ्गार को छोड़कर अन्य रसों का गौण रूप में प्रयोग, ख्यात कथावस्तु, उल्कापात, निर्घात, इन्द्रजाल आदि की योजना, इस रूपक भेद की विशेषताएँ है। जिसमें सुर-असुर पिशाच आदि के रूप में इस चतुरङ्कीय रूपक में, चार-चार के क्रम से सोलह नायक (पुरुष भूमिकाएँ) होते हैं[2]।

साहित्यदर्पणकार भी नाट्यशास्त्र एवं दशरूपककार की ही मान्यताओं को दुहराते हैं[3] तथा षड्दीप्तरसों की योजना का विधान करते हुए शृङ्गार, हास्य एवं शान्त रसों के प्रयोग का निषेध करते हैं। वस्तुतः यह सम्पूर्ण मान्यता भरतमुनि के ही लक्षण पर आधृत है, जो सर्वमान्य है। तात्पर्य यह कि रौद्ररस की अनिवार्यता को देखते हुए ऐसे रूपक भेदों में प्रतिनायक की उद्भावना स्वतः स्पष्ट हो उठती है। युद्ध-नियुद्ध आदि के परिप्रेक्ष्य में यहाँ प्रतिनायक की भूमिका को नायक का प्रतिरोध करने के लिए पर्याप्त अवकाश भी मिलता है।

प्रतिनायक एवं व्यायोग रूपकभेद

व्यायोग रूपकभेद की भी कथावस्तु इतिहासप्रसिद्ध होती है। उसके पात्र (नर) सुप्रसिद्ध एवं उद्धत चरित्र वाले होते हैं। उसमें भी संग्राम की योजना होती है किन्तु उसका कारण 'स्त्री' कभी भी नहीं होगी। एक दिन की कथा पर आधृत यह रूपक, गर्भ एवं विमर्श सन्धियों से रहित तथा एक अङ्क में समाप्त होना चाहिए[4]। भरतमुनि

१. भरत (ओ) १८.१३६-१४१ पर अभिनव०
२. ना० द० २.२१-२२
३. सा० द० ६.२४१–२४४
४. द० रू० ३.६०–६२

के अनुसार, उसमें युद्ध-नियुद्ध, घर्षण का आयोजन तथा सुख-दुःख की समान योजना, पुरुष भूमिकाओं की बहुलता और न्यूनातिन्यून स्त्री पात्रों का प्रयोग (२०.९४) होना चाहिए। भरतमुनि तथा दशरूपककार के व्यायोग लक्षण में थोड़ा सा अन्तर है जो सैद्धान्तिक है। भरतमुनि व्यायोग में संग्राम; युद्ध-नियुद्ध की योजना का विधान तो करते हैं किन्तु यह बन्धन नहीं लगाते कि यह संग्राम 'अस्त्रीनिमित्तक' हो, जैसाकि दशरूपककार और साहित्यदर्पणकार मानते हैं[1]। इसके अतिरिक्त भरत इसमें प्रयुक्त रसों के सम्बन्ध में केवल 'दीप्त-काव्य रसयोनिः' कहकर संकेत करते हैं और दशरूपककार 'डिम' लक्षण में बताये गये रसप्रयोग को आदर्श मानते हुए षड्-दीप्त-रसों की योजना के साथ रौद्ररस को अङ्गी बनाने का विधान करते हैं।

भास के 'मध्यम-व्यायोग' को आदर्श मानकर यदि देखें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें भरत और दशरूपक के बीच की ऐसी ही परम्परा का ज्ञान है जिसके अनुसार व्यायोग 'अस्त्रीनिमित्तक' न होकर 'अल्पस्त्रीजनयुक्त' प्रयोग है, और इसी कारण वहाँ जो संग्राम है वह हिडिम्बा के आदेश पर ही होता है। इसके साथ ही उसमें एक अन्य स्त्रीपात्र ब्राह्मणी के चरित्र को भी ग्रथित किया गया है। साहित्यदर्पणकार इसमें अस्त्रीनिमित्त संग्राम की योजना का विधान तो अवश्य करते हैं किन्तु उदाहरण देते हैं—सौगन्धिकाहरण का, जो इस दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता है। जो भी हो कथावस्तु, नेता और रस की दृष्टि से इस रूपक भेद में भी प्रतिनायक की भूमिका का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। भास के अन्य व्यायोगों में भी इस तथ्य के स्पष्ट दर्शन होते हैं। दशरूपककार ने उसके उदाहरण के रूप में 'सहस्राजुर्नवध' का और साहित्यदर्पणकार ने 'सौगन्धिकाहरण' का जो उल्लेख किया है, उनकी कथावस्तु के आधार पर भी प्रतिनायक की अनिवार्यता स्वतः सिद्ध है। इसी कारण रसार्णवसुधाकरकार शिङ्गभूपाल ने उसमें प्रतिनायक की योजना का उल्लेख करते हुए कहा है :—

> **ख्यातेतिवृत्तसम्पन्नो निस्सहायकनायकः ।**
> **युक्तोदशावरैः ख्यातैरुद्धतैः प्रतिनायकैः ।।**—रसार्णवसुधाकर ३.२२८

अर्थात् व्यायोग में अकेले नायक की प्रतिद्वन्द्विता में दशदश उद्धत-प्रतिनायकों की योजना होनी चाहिए।

प्रतिनायक एवं समवकार रूपकभेद

समवकार एक ऐसा रूपक भेद है जिसकी कथावस्तु 'देव अथवा असुरविषयक' होती है और पृष्ठभूमि पौराणिक होती है ('देवासुरबीजकृतं' भरत के इस कथन को

---

१. (क) अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो। द० रू० ३.६१
(ख) भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः। सा० द० ६.२३२

दशरूपककार[1], नाट्यदर्पणकार[2] एवं साहित्यदर्पणकार[3] इसी रूप में ग्रहण करते हैं।) समवकार में त्रिविद्रव, त्रिकपट के आधार पर जिस वस्तु की अपेक्षा की जाती है, वह त्रिशृङ्गार के कारण ध्वस्त होती प्रतीत होती है। किन्तु यहाँ वीर रस के अङ्गी होने से[4] तथा शृङ्गार को धर्म, अर्थ एवं प्रहसनमूलक काम के रूप में व्याख्यायित करने से उसका निराकरण हो जाता है और इस रूप में ये त्रिशृङ्गार के रूप में संचरण करने वाले व्यभिचारिभाव वीररस के मध्य उचित ही प्रतीत होते हैं। यद्यपि दशरूपककार के लक्षण[5] से भरत के लक्षण की तुलना करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि इस रूपक भेद में 'आमुखं नाटकादिवत्' तथा 'बहुवीररसाः सर्वे' के आधार पर षड्दीप्त रसों की योजना की सीमा टूट जाती है। किन्तु यहाँ वीररस की प्रधानता तथा त्रिविद्रव, त्रिकपट, देव-दानव के मध्य संघर्ष पर आधृत वस्तु के परिप्रेक्ष्य में प्रतिनायक पात्र की योजना नितान्त आवश्यक प्रतीत होती है। अभिनवगुप्त ने इसी कारण इस रूपक के सामाजिकों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए कहा है—'एवं श्रद्धालवो देवता-भक्ता तद् देवयात्रादावनेन प्रयोगेणानुगृह्यन्ते, निरनुसन्धानहृदयाः स्त्रीबालमूर्खाश्च विद्रवादिना हृतहृदयाः क्रियन्ते' (अभिनवभारती) अर्थात् इस रूपक भेद में जो शृङ्गार है--(जो कालान्तर में भक्तिरस के रूप में विस्तार पाता है) उसमें भक्ति का प्राधान्य है। और विद्रव आदि द्वारा वीररस की योजना होती है, इस कारण दो भिन्न-भिन्न भावभूमि तथा मनस्थितियों वाले सामाजिक उसमें एक साथ परमानन्द सहोदर से साक्षात्कार करते हैं।

प्रतिनायक एवं उत्सृष्टिकाङ्क रूपकभेद

उत्सृष्टिकाङ्क अथवा अङ्क इस अभिधान से प्रसिद्ध रूपक भेद की कथावस्तु, प्रख्यात होते हुए भी 'उत्सृष्टकाङ्के प्रख्यातं वृत्तं बुद्ध्या प्रपञ्चयेत्[6]' इस आधार पर

---

१. ख्यातं देवासुरं वस्तु—द० रू० ३.६३

२. समवकारे च संक्षिप्तः सहास्यः शृङ्गारः कपटो विद्रवो देवासुर-वैरनिमित्त संप्रहारादिकं च दिव्यप्रभावसाध्यं लौकिकीभिरुपपत्तिभिर्हीनं मायेन्द्रजाल-प्लुत-लङ्घनोच्छेद्य-पुस्तावपातादि-बहुलयाऽरभट्यावृत्या सर्वमपि प्रहसन-कपट-विद्रवादि-कुतूहलिनां परां तुष्टिमुत्पादयितुं व्युत्पाद्यते।यदाहुः,
शूरास्तु वीर-रौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषु च।
बाला मूर्खाः स्त्रियश्चैव हास्यशोकभयादिषु॥ ना० द० द्वितीय विवेक

३. वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम्।—सा० द० ६.२३४

४. बहुवीररसा वीरश्चाङ्गी–द०रू० ३.६४ एवं वृत्ति भाग, वीरमुख्योऽखिलो रसः।
—सा०द० ६.२३६

५. द०रू० ३.६२–६८   ६. द०रू० ३.७०

कवि प्रतिभा[1] को प्रमाण मानती है। 'करुणरसप्रायकृतो निवृत्तयुद्धोद्धतप्रहारश्च (भरत. २०.६६) भरतमुनि के इस कथन के आधार पर उसमें संग्राम, बन्धन एवं वध जैसे कार्यों की योजना की जानी चाहिए। भरतमुनि इसके ख्यातवृत्तात्मक होने का विधान और उसमें दिव्यनायक की योजना का निषेध करते हैं। उत्तरवर्ती सभी आचार्यों ने भरत की इन मान्यताओं को स्वीकार कर लिया है। दिव्य-नायक के इस निषेध के आधार पर दशरूपककार, नाट्यदर्पणकार, भावप्रकाशनकार एवं साहित्यदर्पणकार सभी आचार्यों ने इस रूपकभेद में प्राकृत;साधारण-जन को नायक बनाने का विधान किया है[2]। कथावस्तु के सम्बन्ध में 'प्रख्यातवस्तु विषयस्तु, अप्रख्यात: कदाचिदेव स्यात्' भरत के इस मत से उत्तरवर्ती आचार्यों के मतों में अन्तर होते हुए भी सभी आचार्यों ने एकमत से इसके लिए करुणरस को मुख्य रस बनाने का विधान किया है[3]। भावप्रकाशनकार 'क्वचिद्भयानक—प्राय:' का भी विधान करते हैं, जिसका कारण

---

१. अन्यत्र देखें : (क) प्रख्यातमितिवृत्तं च कविबुद्ध्या प्रपञ्चयेत्। सा०द० ६.२५१

(ख) यद् वृत्तं तत् स्वयं प्रसिद्धं वा सदत्रनिबन्धनीयम्।

—ना०द० द्वितीय विवेक

(ग) उत्सृष्टिकाङ्के प्रख्यातमितिवृत्तं क्वचिद् भवेत्।
कदाचिदेतदुत्पाद्यमप्रख्यातं कवेर्धिया॥

—भाव० आठवाँ अधिकार

२. (क) दिव्यपुरुषैर्वियुक्त: शेषैरन्यैर्भवेत्पुंभि:। —भरत २०.६८

(ख) नेतारो प्राकृता नरा:। द० रू० ३.७१

(ग) पुमाञ्श्चोपरोधोद्धतप्रहारवधबन्धनाऽदिरूपसंग्रामा: पात्रत्वेन नियोज्या:।

—ना०द० द्वितीय विवेक

(घ) उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतार: प्राकृत: नरा:। —सा० द० ६.२५०

(ङ) दिव्यैरयुक्त: पुरुषै: शेषैरन्यै: समन्वित:। —भाव०आठवाँ अधिकार

३. करुणरसप्रायकृतो—भरत० २०.६६, रसस्तु करुण: स्थायी—द०रू० ३.७१
'करुणाङ्किक: —करुणरसबहुलम्' —ना०द० विवेक २,
'उत्क्रमणीया सृष्टिर्जीवितं प्राणा: यासां ता उत्सृष्टिका शोचन्त्य: स्त्रियस्ता-भिरङ्कित इति तथोक्त:।' —भरत (ओ) १८.१४७ पर अभिनव०
'प्रभूतकरुणस्त्रीणां परिदेवितमेदुर:।
निर्वेदभाषितै: स्त्रीणां नानाव्याकुलचेष्टितै:॥' भाव० अधि० ८
'रसोऽत्र करुण: स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम् निर्वेदवचनं बहु:।'

—सा० द० ६.२५१-२५[illegible]

सम्भवत: सभी आचार्यों की वह मान्यता है, जिसके अनुसार इस रूपक-भेद में भी युद्ध, उद्धतप्रहार, संग्राम, वध, बन्धन आदि से सम्बद्ध कथावस्तु की योजना का विधान है। रस चाहे करुण हो अथवा भयानक, दीप्तरसयोनित्वात् उनका साहचर्य तथा वस्तु के अनुरूप प्रतिनायक की उपस्थिति इस रूपक में भी दृष्टि सापेक्ष है।

इस रूपक में भी उपर्युक्त युद्धादि व्यापार निश्चितरूप से नायक की प्रतिद्वन्द्विता में प्रतिनायक जैसी भूमिका के अस्तित्व को साकार करता है। दशरूपकार के 'वाचायुद्धं विधातव्यं' एवं साहित्यदर्पणकार के 'युद्धं च वाचा कर्तव्यं' की सीमा भरत की परम्परा से अनुप्राणित है। नाट्यदर्पणकार भी ऐसा ही संकेत करते हैं। अतः इस रूपकविशेष की सीमा में वास्तविक युद्ध के लिए अधिक अवकाश नहीं है। फिर भी दशरूपककार, नाट्यदर्पणकार, भावप्रकाशनकार, साहित्यदर्पणकार तथा इन सबके पूर्व भरतमुनि द्वारा प्रस्तुत सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में कम से कम युद्ध, संग्राम, वध-बन्धादि सम्बन्धी सम्वाद, कथोपकथन और आकाशभाषित तो होंगे ही; अतः उसके निमित्त नायकविरोधी पात्र की योजना भी अवश्यम्भावी है, अन्यथा दीप्तरस अदीप्त ही रह जाएँगे।

इस रूपकभेद एवं तद्गत रस के संदर्भ में कहा जा सकता है कि परम्परा के अनुरूप नायक की विजय निश्चित है, अत: यदि इस रूपक का अङ्गीरस, प्रतिपक्ष की पराजय-जन्य करुणा में निहित होगा तो उससे प्रतिनायक के नायकत्व का सिद्धि होगी क्योंकि आलम्बन भी तो प्रतिनायक अथवा उसका पक्ष ही होगा। कीथ महोदय ने 'ऊरुभङ्ग' को 'उत्सृष्टिकाङ्क' रूपकभेद माना है। उसमें दुर्योधन का नायकत्व स्वयं सिद्ध है। साहित्यदर्पणकार ने 'अन्ये तु—उत्क्रान्ता विलोमरूपा सृष्टिः (इतिवृत्तरचना)[1] यत्र इत्युत्सृष्टिकाङ्कः[2]' इस रूप में जिन किन्हीं आचार्यों के मत को प्रस्तुत किया है, इससे प्रसिद्ध नायकों को प्रतिनायकों के रूप में तथा प्रतिनायकों को नायकों के रूप में प्रस्तुत करने का औचित्य सिद्ध किया जा सकता है। यदि यहाँ दुर्योधन नायक नहीं, प्रतिनायक ही है तो भी यही सिद्ध होता है कि इस रूपकभेद एवं तद्गत करुण-रस के लिए प्रतिनायक की भूमिका अनिवार्य है। नायक की क्षणिक पराजय-जन्य करुणा के सन्दर्भ में भी प्रतिपक्ष की सत्ता माननी ही होगी। चूँकि उत्सृष्टिकाङ्क में करुणरस अङ्गी (मुख्य) होगा अतः उसका नायकगत होना तो निश्चित ही है। अन्यथा किसी अन्य विरोधी रस के अङ्गी होने पर भी करुणरस की गौणता प्रतिपक्ष की सत्ता

---

१. डा सत्यव्रतसिंह, सा० द० ६.२५२ पर हिन्दी टीका

२. उत्क्रमणीया सृष्टिर्जीवितं प्राणाः यासां ता उत्सृष्टिकाः शोचन्त्यः स्त्रियः ताभिरङ्कित इति —भरत (ओ १८.१४७ पर अभिनवभारती

का ही समर्थन करेगो। ऐसे ही किसी रूपक को लक्ष्य में रखकर आनन्दवर्धन ने कहा है :—

'नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित् प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधाति प्रत्युत प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यते'—ध्वन्यालोक ३.२० वृत्ति भाग

प्रतिनायक तथा ईहामृग रूपकभेद

इस रूपकभेद के सम्बन्ध में अभिनवगुप्त कहते हैं–'ईहा चेष्टा मृगस्येव स्त्रीमात्रार्था यत्र स ईहामृगः।'–अभिनवभारती। किन्तु इसे ही स्पष्ट करते हुए 'नायको मृगवदलभ्यां नायिकामत्र ईहते वांछतीतीहामृगः' अर्थात् मृगी सी अलभ्य नायिका की इच्छा करने वाले नायक की क्रियाओं का चित्रण ही इस रूपकभेद की विशेषता है, ऐसा भी कहा जा सकता है। भरतमुनि के अनुसार दिव्य नायक द्वारा दिव्य स्त्री के लिए कृत कर्मों वाले इस रूपकभेद में युद्ध की योजना से युक्त कथावस्तु का ग्रथन होता है। इसी कारण भरतमुनि व्यायोग रूपकभेद के समान इसे भी 'दीप्तकाव्यरसयोनि' मानकर उसमें भी षड्दीप्त रस; वीर, बीभत्स, रौद्र, भयानक, करुण तथा अद्भुत में से एक को मुख्य तथा अन्यों को गौण रूप में प्रयोग करने का विधान करते हैं। इसके लक्षण में भी भरतमुनि ने प्रतिनायक की भूमिका का अभिधानतः कहीं भी उल्लेख नहीं किया है[१]। किन्तु कालान्तर में लगभग सभी नाट्यशास्त्रियों ने इस रूपकभेद में प्रतिनायक पात्र का अभिधानतः उल्लेख किया है[२]।

दशरूपककार इस तीन सन्धि एवं चार अङ्कों में समाप्य रूपक भेद में प्रतिनायक की योजना को लेकर एक मौलिक सिद्धान्त रखते हैं–'नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ' अर्थात् दिव्यनायक की प्रतिद्वन्द्विता में मर्त्य पात्र एवं मर्त्य नायक की प्रतिद्वन्द्विता में किसी दिव्य पात्र को प्रतिनायक के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए। इतना ही नहीं दोनों को सुप्रसिद्ध एवं धीरोद्धत होना चाहिये। प्रतिनायक को नायक के विपरीत अनुचित कर्मों में संलग्न होना चाहिए। ईहामृग की कथावस्तु के अनुरूप दिव्या नायिका जो कि वस्तुतः नायक में अनुरक्त होगी उसे प्रतिनायक अपहरण करेगा। अतः स्वाभाविक रूप से उस नायिका के प्रेम की प्राप्ति के लिए प्रतिनायक कृत शृङ्गारचेष्टाएँ शृङ्गाराभास की स्थिति उत्पन्न करेंगो।

१. भरत २०.८१–८६

२. 'प्रतिनायको विपर्यासाद्विपर्ययज्ञानादयुक्तकारीविधेयः'–द० रू० ३.७३ वृत्ति भाग,
'अत्र हि दिव्यां नायकस्त्रियम् अनिच्छन्तीं प्रतिनायकोऽपहरति'–ना०द० विवेक २
'स्त्रीनिमित्ताजिसंरम्भः पञ्चषाः प्रतिनायकाः।'—रसार्णवसुधाकर ३.२८६
'नरदिव्यावनियमौ नायकप्रतिनायकौ'—सा० द० ६.२४६

नाट्यदर्पणकार भी इस रूपक भेद पर विस्तारपूर्वक विचार करते हैं। किन्तु सैद्धान्तिक स्तर पर दशरूपककार, नाट्यदर्पणकार, रसार्णवसुधाकरकार एवं साहित्य-दर्पणकार में कोई विशेष अन्तर नहीं है। सभी आचार्य भरत की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए दशरूपककार के दिव्य एवं मर्त्य नायक-प्रतिनायक के विपर्ययसिद्धान्त का पोषण करते हैं। दशरूपककार के इस सिद्धान्त का मूल भी भरतमुनि के 'विप्रत्ययकार-कश्चैव' में खोजा जा सकता है। यह विवेच्य विषय के अनुरूप एक महत्त्वपूर्ण रूपक-भेद है। जिसमें षड्दोप्तरसों की योजना के अतिरिक्त रत्याभास अथवा शृङ्गाराभास की स्थिति और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। इतना ही नहीं भरत से लेकर उत्तरकालिक आचार्यों के लक्षणों को देखने पर यह तथ्य और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि इस लक्षण के अन्तिम चरण में सभी आचार्यों ने वधेप्सित पात्रों की स्थिति एवं उनके वध तथा युद्ध के प्रशमन का विधान किया है। इस रूप में यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रतिनायक के कर्म एवं उसकी उपस्थिति द्वारा हो वीर, रौद्र, भयानक आदि दीप्त रसों में से जो भी रस अङ्गी होगा उसे पूर्णरूप से निष्पादित किया जा सकता है।

वैसे तो रङ्गमञ्च पर युद्ध, वध आदि का निषेध सभी आचार्यों ने किया है किन्तु इस रूपकभेद में इसका विशेषरूप से उल्लेख यह प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त है कि यहाँ नायक-प्रतिनायक के मध्य वादविवाद एवं षड्यन्त्रों के अतिरिक्त युद्ध की स्थिति भी उपस्थित हो सकती है। अतः ऐसे रूपकभेद में प्रतिनायक का क्या स्वरूप होगा इसे सरलता के समझा जा सकता है। नाट्यदर्पणकार स्पष्टरूपेण कहते हैं :—
'...दिव्यस्त्री हेतु संग्रामो यत्र। अत्र हि दिव्यां नायकस्त्रियमनिच्छन्तीं प्रतिनायकोऽपहरति ततस्तन्निमित्तको नायकप्रतिनायकयोः संग्रामो निबन्धनीयः। वधासन्ने समरा-न्तरं भाविवधयोग्ये शरीरिणि व्याजेन पलायनादिना रणाभावो विधेयः।' अर्थात् इस रूपकभेद में दिव्यस्त्री के लिए संग्राम की योजना होती है, उस दिव्य और नायक में अनुरक्त अथवा उसकी (विवाहिता) नायिका के न चाहने पर भी प्रतिनायक उसका अपहरण करता है। इस प्रकार के नायक और प्रतिनायक के मध्य होने वाले संघर्ष की योजना इस रूपक का विषय होती है। नायक प्रतिनायक के मध्य जो भी हारता है और जिसका वध निश्चितप्राय हो उठता है, उसके पलायन द्वारा इस संघर्ष को समाप्त करना चाहिए।

इस रूप में हम पाते हैं कि नायक-स्त्री का अपहरण, समर, वध, इन सबकी योजना के कारण इस रूपक भेद को पर्याप्त लोकप्रिय होना चाहिए था, किन्तु उपलब्ध साहित्य में इसके विरल उदाहरणों से यह सिद्ध है कि इस भेद का भी नाट्यशास्त्रीय रूप ही अधिक आकर्षक है। इसका कारण चाहे जो भी रहा हो किन्तु उसमें नाट्य-शास्त्रीय निषेधाज्ञाएँ भी बाधक रही होंगी, इसमें सन्देह नहीं।

डिम, समवकार, व्यायोग और ईहामृग आदि उपर्युक्त रूपकभेदों के लक्षणों में जिस प्रकार की कथावस्तु की योजना का विधान है, उससे उनमें षड्दीप्त-रसों और उद्धत भूमिकाओं की योजना का महत्त्व स्वतः स्पष्ट हो जाता है। उसे ध्यान में रखते हुए ऐसे रूपकों में नायक प्रतिनायक का जो सम्बन्ध स्थिर होता है उसकी पुनरावृत्ति करने की आवश्यकता नहीं है; किन्तु यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि उनमें प्रतिनायक भूमिका की प्रत्यक्ष—अप्रत्यक्ष उपस्थिति अनिवार्य प्रतीत होती है। और उसकी उपेक्षा भी नहीं की जा सकती।

प्रतिनायक एवं नाटक तथा प्रकरण रूपकभेद

समवकार, व्यायोग, डिम, उत्सृष्टिकाङ्क, और ईहामृग रूपक भेदों के अतिरिक्त नाटक तथा प्रकरण, ऐसे मुख्य रूपक भेद हैं जिनको प्रकृत प्रसंग में देखना अभीष्ट होगा। नाटक एवं प्रकरण को भरतमुनि ने 'नानारस—योजना' के रूप में विविधता दी है। षड्दीप्त रसों की विवेचना के आधार पर इन रूपकप्रबन्धों में भी प्रतिनायक चरित की योजना में कोई सन्देह नहीं रह जाता। जहाँ तक शृङ्गार, हास्य एवं शान्त रसों का सम्बन्ध है उस दृष्टि से शृङ्गार-प्रधान रूपकों में विरोधी भावों और नायक-नायिका के संयोग में विघ्नकारी तत्त्वों की चर्चा भी की जा चुकी है। विप्रलम्भ शृङ्गार की भूमि इस दृष्टि से नितान्त उर्वरा है जहाँ कभी दुर्वासा का शाप, तो कभी नायक की अर्धाङ्गिनी का कोप, कभी लोकापवाद (उत्तररामचरित) तो कभी साक्षात् शकार अथवा दुष्ट की योजना के माध्यम से रस को पराकोटि तक पहुँचाया जाता रहा है। इसे ही काव्यप्रकाशकार ने 'अभिलाषविरह-ईर्ष्या-प्रवासशापहेतुकः' माना है। संयोग शृङ्गार के सन्दर्भ में भी जबकि सीता एवं राम के मध्य प्रेमाङ्कुर उत्पन्न हो चुके हैं, रावण की सीता विषयक रति (महावीर-चरित) याचना के रूप में (रत्याभास रूप में) प्रकट होती है। पञ्चवटी में शूर्पणखा द्वारा राम से रति की याचना और रावण द्वारा सीताहरण जैसे कार्य संयोग शृङ्गार में भी प्रतिनायक के कार्यों को दर्शाते हैं।

शान्तरसप्रधान नागानन्द में जीमूतवाहन के शान्त और वीरचरित की परीक्षा गरुड द्वारा ही सम्भव हो सकी है। गरुड का प्रतिनायकत्व और भविष्य में सर्पभक्षण न करने का प्रतिज्ञारूप-आत्मसमर्पण, परम्परा के अनुरूप ही है। हास्यरस-प्रधान कोई नाटक अथवा प्रकरण तो उपलब्ध नहीं है किन्तु अङ्गी हास्य में प्रतिनायक के माध्यम से करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर, अथवा भयानक का आभास (रसाभास-भावाभास) असम्भव नहीं है। वीथी, भाण, प्रहसन आदि रूपकभेद अथवा नाटिका आदि उपरूपकों में भी रस के साथ प्रतिनायक का ऐसा ही सम्बन्ध है। उपर्युक्त अनेक भेदों के आधार पर इनमें भी प्रतिनायक की स्थिति और उसका रसानुसारी होना नितान्त सम्भव है, अनुकूल है।

सारांशरूप में नवनवोन्मेषशालिनी कवि प्रतिभा किसी भी प्रकार के बन्धन नहीं स्वीकारती अतः निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि किस रस के साथ प्रतिनायक योजना नहीं हो सकती अथवा किस-किस रस के साथ ही उसको योजना हो सकती है। दोनों ही स्थितियों में अपवाद मिल सकते हैं। इसी कारण अभिनवगुप्त कहते हैं:—

'तथाहि धीरोदात्त-धीरललित-धीरप्रशान्तानां पूर्णोपायप्रवृत्तत्वेन नायकानामताद्दगुपायाश्रयेण प्रतिनायकानां च चरितं सफलत्वाफलत्वेन साक्षात्क्रियमाणं वीराद्भुताभ्यां वीरशृङ्गारहास्यैः वीररौद्रभयानककरुणैः वीरबीभत्सशान्तैः प्रतिनायकगतरसान्तरसान्तरतया सातिशय-चमत्कार-गोचरीभूतैर्हृदयानुप्रवेशं विदधद्धर्मादिचतष्कोपायोपादेयधियमधर्मादिभ्यश्च निवृत्तिं निर्विशङ्कं विधत्त ।'

—अभिनवभारती अध्याय १, पृ० ४६

अर्थात् तत्-तत् सभी रसों के माध्यम से कवि अथवा नाटककार, नायक की सफलता और प्रतिनायक की असफलता को प्रदर्शित करता हुआ जिस चमत्कार की सृष्टि करता है उसके द्वारा धर्मादि चतुर्वर्ग के प्रति प्रवृत्ति (नायक की विजय द्वारा) एवं अधर्म से निवृत्ति (प्रतिनायक की पराजय द्वारा) को प्राण—प्रतिष्ठा होती है।

इस प्रकार अभिनवगुप्त किसी रस को किसी नायक या प्रतिनायक से बाँधना उपयुक्त नहीं मानते किन्तु वे स्थायी भावों, रसों एवं संचारी भावों के, सन्दर्भ में, औचित्य, अनौचित्य के ज्ञान का होना आवश्यक मानते हैं[१]।

इस सम्पूर्ण विवेचना से यह सिद्ध होता है कि:—

(१) 'रस' वह महत्त्वपूर्ण तत्त्व है जिसकी निष्पत्ति नाटककार का मुख्य लक्ष्य हुआ करता है। किन्तु रसनिष्पत्ति इतनी साधारण प्रक्रिया नहीं है कि बिना किसी आयोजन के वह पूर्ण हो जाये। तदर्थ 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोग' आवश्यक है। विभावों में, आलम्बन रूप में विभिन्न भूमिकाओं की उपयोगिता अपना स्थान रखती है और 'प्रतिनायक' भी एक ऐसी ही भूमिका का विग्रह है जो कभी आलम्बन तो कभी-कभी उद्दीपन विभाव के रूप में आता है। नायक-प्रतिनायक का सम्बन्ध भी यही है और रसनिष्पत्ति का आनुषङ्गिक कारण भी यही है। संचारिभावों की दृष्टि से भी प्रतिनायक की भूमिका का उपयोग लक्ष्य रूपकों में खोजना कठिन नहीं है। कथावस्तु के माध्यम से ही रूपकप्रबन्धों में यह सारी योजना सुकर होती है अतः उसका भी महत्त्व सुस्पष्ट ही है।

---

१. 'स्थाय्युत्पादनरसनवक-तद्गतव्यभिचारि-त्रयस्त्रिंशत्सात्त्विकाष्टकानुरूपाणां पञ्चाशतोऽर्थानां न्याय्यान्याय्यभेदेन नायकप्रतिनायक-विषयतया प्राधान्याभिप्रायेणेति'
—अभिनवभारती अध्याय—१

(२) इस सारी योजना के हो जाने पर भी प्रतिनायक को किसी रसविशेष, भावविशेष या वस्तुविशेष के बन्धन में नहीं रखा जा सकता और यह सब कविप्रतिभा पर निर्भर करता है। अर्थात् 'यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिकल्प्यते' के आधार पर नाटककार स्वेच्छया उसकी योजना और उसका उपयोग करता है।

(३) फिर भी 'षड्दीप्तरसों के सदर्भ में प्रतिनायक का चरित्र अधिक विस्तार पाता है क्योंकि उसके लिए निर्धारित गुणों के पल्लवन के लिए वही भूमि अधिक उपयुक्त है।

प्रकृत स्थल पर इन रूपक भेदों की विवेचना द्वारा यही सिद्ध करना अभीष्ट है कि इनमें कुछ विशिष्ट रसों की योजना पर बल दिया गया है। रसवादी विचार-धारा के परिप्रेक्ष्य में यह महत्त्वपूर्ण है कि तदनुरूप कथावस्तु का भी चयन किया जाए। रूपकों की प्रस्तावनाओं में हम पाते हैं सूत्रधार, विद्वत्परिषद्, ऋतु, अथवा अवसर के अनुरूप रस की बात कहकर ही किसी रूपक की प्रस्तावना करता है। नाटककारों को दिए गए रसानुकूल इतिवृत्त के चयन के निर्देशों से भी यही तथ्य सिद्ध होता है। अतः रसानुकूल कथावस्तु और उसी के आधार पर धीरोदात्तादि नायकों की योजना के परिप्रेक्ष्य में आवश्यकतानुसार प्रतिनायक की स्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। 'काव्यस्यात्मा रसः' की परम्परा में जहाँ सम्पूर्ण काव्य; श्रव्य भी और दृश्य भी रसाश्रित–रसप्राण हों वहाँ रूपकों के नायक और प्रतिनायक रसानुसारी न हों ऐसा कैसे सम्भव है। जिस साहित्य में मुख्यनायक और उसके प्रतिद्वन्द्वी दोनों को, इतना ही नहीं रूपकप्रबन्ध में आने वाले उपनायकों और उप-प्रतिनायकों तक को नायक और नेता मान लिया गया हो[1], जिस साहित्य में रस के आधार पर ही धर्मवीर, दयावीर, दानवीर जैसे नायकभेद हों[2], जिस साहित्य और साहित्यशास्त्र में रसानुकूल शृङ्गार-

---

१. (क)……'द्वादशनायकबहुल इति………। अन्येतु प्रत्यङ्क नायकप्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चतुराहुः समुदायापेक्षया हि द्वादशेति।'—अभिनवगुप्त

(ख) 'एकः प्रधानोनायकः अपरश्च तस्योपनायकः। हन्तव्यश्च नायक एव। एषामेकतमस्य भीमः। सुन्दरभानुमत्योः दुर्योधनः। अश्वत्थामा स एव। धृतराष्ट्रः स एव। संहारे तु युधिष्ठिरः………।'—सागरनन्दी, (नाटकलक्षण० पृ० २८)

(ग) द्रष्टव्य प्रबन्ध के द्वितीय परिच्छेद में शृङ्गारप्रकाशकार भोज का मत; जिन्होंने नायक, उपनायक, अनुनायक एवं प्रतिनायक इन चार नायकों को पुनः धीरोदात्तादि भेद से सोलह नायकों के रूप में विभक्त किया है।

२. (क) द० रू० ४.७२ एवं वृत्ति भाग,

(ख) 'स च अनेकधा युद्धधर्मदान-गुण-प्रतापावर्जनाद्युपाधिभेदात्'—नाट्यदर्पण,

(ग) 'स च वीरो दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीरो दयावीरश्चेति चतुर्धास्यात्' —सा० द० ३.२३४

नायक, वीरनायक, रौद्रनायक, भयानकनायक तथा करुणनायक के रूप में नायकों को सम्बोधित किया गया हो[1] वहाँ प्रतिनायक, जिसे बार-बार नायक और नेता माना गया है[2] उसको रसानुकूल सम्मान न मिले, उसका सम्बन्ध रस से न हो, ऐसा कैसे सम्भव है। यही कारण है कि अनुचित होते हुए भी शृङ्गाराभास की योजना निषिद्ध नहीं है। यही कारण है कि दिव्यनायक होने पर कहीं मर्त्य पुरुष-प्रतिनायक का विधान है[3] तो कहीं मर्त्यनायक की प्रतिद्वन्द्विता में दिव्यप्रतिनायक को योजना रसानुसारिणी है, रसपरक है; रस से आरम्भ होकर रस में ही विलीन होने वाली परम्परा है और प्रतिनायक भी उसी का एक अङ्ग है

१. द्रष्टव्य; नृसिंहकवि का 'नञ्जराजयशोभूषण'

२. (क) 'मुख्यनायकस्य प्रतिपन्थी नायकः प्रतिनायकः'—नाट्यदर्पण
(ख) 'व्यसनी पापकृद् द्वेष्यो नेता स्यात् प्रतिनायकः'—नृसिंहकवि

३. 'नरदिव्यावनियमान्नायकप्रतिनायकौ—द० रू० ३.७३, सा० द० ६.२४६

पञ्चम परिच्छेद

रामकथामूलक रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका *

संस्कृत साहित्य के उपलब्ध रूपकप्रबन्धों में प्रतिनायक की भूमिका के व्यावहारिक पक्ष को देखने पर ज्ञात होता है कि प्रायः प्रतिनायक का विरोध, आदर्श नायक के विरुद्ध होने के कारण, भारतीय संस्कृति के मान्य आदर्शों के विपरीत जा पड़ता है। दुर्वासा अथवा जामदग्नि का क्रोध 'वार्धक्ये मुनिवृत्तीनाम्' के प्रतिकूल है। इसी कारण वसिष्ठ ने भी जामदग्नि को 'कामं गुणैर्महानेष प्रकृत्या पुनरासुरः' कहा है। रावण तो निखिल वेद-शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी देव-विरोधी चरित्र है। राज्य के वास्तविक उत्तराधकारियों से राज्य छीनने के कारण ही दुर्योधन को शत्रु मान लिया गया है। किन्तु यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो प्रश्न उठता है कि क्या शकुन्तलाकृत मुनिअवज्ञा अथवा अतिथि अपमान, राम द्वारा शिव-धनुर्भङ्ग, सीता की याचना करने पर विश्वामित्र एवं कुशध्वज द्वारा किया गया रावण का अपमान अथवा सत्ता हथियाने के लिए चाणक्य द्वारा नन्दों के उच्छेद जैसे कर्म शास्त्रानुमोदित हैं ?

वास्तविकता यह है कि आदर्शों की मनोनुकूल-स्वार्थानुकूल व्याख्याओं का यह संघर्ष संस्कृत रूपकप्रबन्धों के मूल में यत्र-तत्र दबा हुआ है; उसे दबा दिया गया है और नायकपक्ष की ओर से उनपर संस्कृति एवं धर्म का आवरण डाल दिया गया है। इसी कारण इस विरोध में, प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता में, कृत्रिमता उभर-उभर आती है। यही कारण है मित्र-वत्सल, स्वामिभक्त और अप्रतिहत योद्धा राक्षस भी हार जाता है, अपमानित होता है और आत्मसमर्पण कर देता है, दूसरी ओर दूरदर्शी, चिन्तक, धर्माधर्मविवेकी माल्यवान् भी असफल हो जाता है।

एक ही दर्शन के दो मान्य आदर्शों के मध्य संघर्ष की योजना द्वारा भी रूपकों में प्राणों की स्थापना हो सकती थी और उस संघर्ष को पाठकों और दर्शकों के विवेक पर छोड़ा जा सकता था कि वे किसे उचित और किसे अनुचित मानते हैं। कृष्ण भक्तों के साथ ही कंस भक्तों के निमित्त भी अनुभूतियों का साधारणीकरण हो सकता था।

---

* युद्धे येन सुराः सदानवगणाः शक्रादयो निर्जिताः
दृष्ट्वा शूर्पणखाविरूपकरणं श्रुत्वा हतौ भ्रातरौ।
दर्पाद् दुर्मतिमप्रमेयबलिनं रामं विलोभ्यच्छलैः
स त्वां हर्तुमना विशालनयने ! प्राप्तोऽस्म्यहं रावणः ॥

—प्रतिमानाटकम्

किन्तु संस्कृति, आदर्श और जीवन मूल्यों के प्रति अतिपक्षपात के कारण कला को कान्तासम्मित उपदेश बना दिया गया है, इसी कारण 'अनुभूति' का वह पक्ष अपवाद बनकर रह गया। संस्कृत साहित्य के अधिकांश रूपकप्रबन्धों में इसी कारण 'वंशवीर्य-श्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि। तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः' के आधार पर 'बहु-गुण-वर्णन' तो किसी सीमा तक किया भी गया, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से प्रतिपक्ष को अति-निष्क्रय एवं प्रमादी बना दिया गया। वर्जनाओं और निषेधों के माध्यम से उसे नेपथ्य में ले जाकर निरीह और दीन-हीन बना दिया गया[1]। प्रकारान्तर से संस्कृत रूपकों में प्रतिपक्ष को शास्त्रों में प्रयुक्त पूर्वपक्ष की भाँति उत्तरपक्ष की स्थापना के निमित्त ही उपयोग में लिया गया है और अपनी मान्यता और सिद्धान्तों की तो व्याख्या की गई किन्तु पूर्वपक्ष को मात्र संकेतित किया जाता रहा।

अस्तु, प्रकृत-सन्दर्भ में ऐसे ही प्रतिपक्ष के 'नेता' प्रतिनायक और उसके सहायकों का मूल्याङ्कन करने के निमित्त केवल उन भूमिकाओं पर किंचिद् विवेचना अभीष्ट है जिन्हें मूर्तरूप में दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता रहा है। सीतापरित्याग के पीछे लोकापवाद का भय, दुर्वासा का शाप, अनवस्थित-चित्त उर्वशी पर भरतमुनि का क्रोध[2] जैसे अमूर्त तत्त्वों अथवा अमूर्त प्रतिपक्ष की विवेचना यहाँ अभीष्ट नहीं है। मालविकाग्निमित्र में इरावती व धारिणी की भूमिका, रत्नावली में वासवदत्ता, अथवा स्वप्नवासवदत्ता में वासवदत्ता और उदयन के मिलने में बाधक तत्त्वों की भूमिका के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी यहाँ मुख्यरूप से प्रतिनायक और उसके सहायक का ही मूयाङ्कन आवश्यक समझा गया है। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि इन कोमल भावनाओं के प्रतीक इन बाधक तत्त्वों की शल्यक्रिया से अनेक प्रतिस्पर्धी चरितों के ध्वस्त हो जाने का भय है। वासवदत्ता (रत्नावली में) प्रतिनायिका होते हुए भी उदयन को प्रिय है। प्रतिनायिका होने पर भी रुक्मिणी और सत्यभामा का अन्त न तो कृष्ण को अभीष्ट है और न तो राधा को ही।, रामवनवास के मूल में विद्यमान कैकेयी की महत्त्वाकांक्षा के परिप्रेक्ष्य में रावण, माल्यवान् प्रभृति चरित्र गौण हो जाते हैं, वे मात्र साधन सिद्ध होते हैं। अतएव कैकेयी की महत्त्वाकांक्षा, रुक्मिणी, सत्यभामा अथवा वासवदत्ता के विरोध तथा दुर्वासा प्रभृति के शाप पर प्रकृति सन्दर्भ में विचार नहीं

---

1. 'The Sanskrit play must, according to imperative tradition, have a hero but in Western eyes this hero looks a trifle pallid. The most obvious explanation is that the protagonist lacks a really sinister antagonist., —H.W. Wells, CDI Page 83

२. 'लगता है कालिदास ने एक महान् दुःखान्त पौराणिक कथा को एक सुखान्त श्रृङ्गारमूलक नाटक में परिणत कर दिया है।'

—शेल्डानचेनी, रंगमंच, पृ० १३६

किया जा रहा है। यहाँ रावण प्रभृति चरितों का ही मूल्याङ्कन कर हुए, मुख्य नायक के चरित के उत्कर्ष के लिए उनके उपयोग पर विचार किया जा रहा है।

महाकवि भास

रूपक वह चाहे रामचरित पर आश्रित हों अथवा कृष्णचरित पर, अथवा इनसे इतर लोककथामूलक; उपलब्ध नाट्यसाहित्य के आधार पर भास वे पहले नाटककार हैं जिनके रूपकों को सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। रामकथामूलक रूपक-प्रबन्धों के रूप में भास ने संस्कृत नाट्यसाहित्य को प्रतिमानाटक तथा अभिषेकनाटक जैसी दो बहुमूल्य रचनाएँ दी हैं। जैसाकि स्वाभाविक था, उनकी भाषा भी सरल है और नाटक की तकनीक भी सरल है। भास की परम्परा नितान्त अपनी है और उन्होंने अपने सारे ही रूपक एक ही ढंग से लिखे हैं। सरलता के साथ अर्थ की गुरुता उनका महान् गुण है। वे शैली की दृष्टि से वाल्मीकि से विशेष रूप से प्रभावित हैं। यही कारण है, उनकी भाषा सरल एवं अधिक प्रभावोत्पादक है, जिसमें कृत्रिमता का अभाव है[1]।

प्रतिमानाटक ही नहीं, स्वप्नवासवदत्ता को छोड़कर भास के किसी भी नाटक में रस के प्रति इतना दुराग्रह नहीं दीख पड़ता कि कथावस्तु को दर्शक भूल जाए। इसी कारण भास के रूपकों को केवल संभ्रान्त किंवा आभिजात्य वर्ग से सम्बद्ध नहीं माना जा सकता। यदि ऐसा (रसाग्रह) ही होता तो सम्भवतः स्वप्नवासवदत्ता की भाँति उनकी लेखनी से कुछ अन्य महान् रसप्रधान रूपकों का भी जन्म होता।

प्रतिमानाटक

प्रतिमानाटक की कथा राम के अभिषेक से आरम्भ होकर उनके अभिषेक में ही समाप्त होती है। तात्पर्य यह कि सर्वप्रथम राम के अभिषेक की पूरी तैय्यारियाँ हो चुकी है। तभी कैकेयी की इच्छानुसार राम का अभिषेक रुक जाता है और उन्हें बनवास का आदेश हो जाता है। सीता और लक्ष्मण उनके साथ जाते हैं। ननिहाल से लौटते हुए भरत को प्रतिमागृह में दशरथ के स्वर्गवास एवं सीता सहित राम के वन-गमन की सूचना मिलती है। भरत राम के पास जाते हैं, उन्हें घर लौट चलने को कहते हैं, किन्तु राम के आग्रह पर वे उनकी पादुकाएँ लेकर निराश लौटते हैं। साधुवेश में रावण द्वारा सीता का हरण हो जाता है। सीता को ले जाते हुए रावण को रोकने के कारण जटायु का वध होता है। इधर भरत को भी सीताहरण की सूचना मिलती है, वे कैकेयी को सारे दुःख का कारण मानकर क्रुद्ध हो उठते हैं। इसी समय चौदह दिन के स्थान पर चौदह वर्ष की भूल एवं दशरथ पर किसी शाप के कारण पुत्र-वियोग की भवितव्यता की सूचना मिलती है। और भरत, सीता के उद्धार के लिए सपरिवार एवं

१. कीथ, सं० ना० पृ० ११०

ससैन्य प्रस्थान करते हैं। उनके पहुंचने पर ज्ञात होता है कि राम ने रावण का वध करके सीता को मुक्त करा लिया है। अतः वहीं पर माताओं तथा अन्य स्वजन परिजनों के समक्ष राम का राज्याभिषेक होता है। इस प्रकार राम की चतुर्दशवर्षीय यात्रा का जितना संक्षिप्त स्वरूप भास ने दिया है उतना संक्षिप्त कथानक कहीं अन्यत्र दुर्लभ है। इससे भी महत्त्वपूर्ण है यह तथ्य, कि उसमें पात्रों की भी अधिकता नहीं है। राम का चरित्र भी अत्यन्त लघु है। किन्तु भरत की भूमिका को यहाँ प्रमुखता मिली है।

भरत का नायकत्व

इस रूपक के नायक राम हैं अथवा भरत यह एक विवाद का विषय हो सकता है। महामहो० गणपति शास्त्री के मत में प्रतिमानाटक के नायक राम हैं, वे इस नाटक की भूमिका में कहते हैं कि प्रतिमानाटक में करुण रस के साथ धर्म-वीररस की परिपुष्टि हुई है। राम अपने पिता की धर्माज्ञा का पालन करते हुए एक धर्मवीरनायक के रूप में देखे जा सकते हैं[1]। किन्तु सम्पूर्ण नाटक में जो चरित्र सर्वाधिक स्पृहणीय एवं हृदय को स्पर्श करने वाला है; वह भरत का है। प्रतिमागृह के नायक तो निश्चित रूप से भरत ही हैं और यह प्रतिमागृह ही वह मुख्य बिन्दु है जिसकी नवीन कल्पना कवि को मोह लेती है। इसी कारण इस सम्पूर्ण कथा को ही कवि प्रतिमानाटक इस नाम से पुकारता है। अतः भरत को नायक मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

भ्रातृ-प्रेम, पितृभक्ति, राज्य के प्रति लिप्सा का अभाव, भाभी एवं भाइयों के ऊपर आए संकट से उनका विचलित हो उठना और उस रोष में माता कैकेयी को बुरा-भला कहना; किन्तु सत्य को जानकर अपने रोष के प्रति आत्मग्लानि एवं राम की सहायता के लिए ससैन्य-परिजन प्रस्थान, ये गुण भरत को इस नाटक का नायक बनाते हैं। और आरम्भ से अन्त तक शोक, ग्लानि, पश्चात्ताप, दुःख, पीड़ा, सन्ताप इन सबके कारण सामूहिक रूप से करुणरस का प्रभाव सर्वत्र उभरता है।

रस की दृष्टि से यदि कथानक को देखा जाए तो निश्चय ही नायक का निर्णय भी सरल हो सकता है। लक्षणानुसार प्रतिमानाटक एक सम्पूर्ण नाटक है छोटा किन्तु मार्मिक एवं प्रभावोत्पादक। जिसमें नियमानुकूल धीरोदात्तनायक, सुप्रसिद्ध कथानक,

---

१. 'In the PRATIMA, however, the central Rasa that runs through it, is the DHARMAVIRA mingled with KARUNA Rasa, the DHARMAVIRA manifesting itself in the enthusiasm displayed by the Hero (Rama) in cherishing the single thought of carrying out the DHARMAN i.e. fulfilling the mandates of his royal father.'

—T. GANAPATI SHASTRI

Pratimanatakam, Introduction

पञ्च सन्धियाँ, सुख-दुःख समुद्भूत नानारस, तथा करुण, रौद्र, शान्त एवं वीररस का सामूहिक प्रयोग है। किन्तु सम्पूर्ण नाटक में अङ्गीरस करुण है। कारण है, करुणा की व्यापकता। राम का अभिषेक वनवास में परिवर्तित हो जाता है, जिसे सुनकर लक्ष्मण का क्रोध[1] अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचता है पर राम का मन माँ कैकेयी, भाई भरत एवं पिता दशरथ तीनों को ही निर्दोष मानकर क्रोध नहीं, करुणा से द्रवित हो उठता है[2]। सुमन्त्र, कौशल्या एवं कैकेयी की पीड़ा को व्यक्त करने में कवि का कौशल देखने योग्य है। उधर राम के वनवास की तैयारी पर स्वयं लक्ष्मण का मन भारी हो उठता है, विशेषकर सीता एवं राम द्वारा उन्हें छोड़ कर वन जाने का औचित्य वे नहीं समझ पाते और सीता से कहते हैं :—

गुरोर्मे पादशुश्रूषा त्वमेका कर्तुमिच्छसि ।
तवैव दक्षिणः पादो मम सव्यो भविष्यति ॥—प्रतिमा० १.२७

उधर दशरथ की स्थिति है, किसी वनैले हाथी की भाँति, जो कि मूर्छा खाकर पृथ्वी पर गिर-गिर पड़ते हैं। दूसरे अङ्क में दशरथ की दशा अत्यन्त कारुणिक है वे विक्षिप्त भी हैं और असहाय भी[3] और अन्त में उनकी स्वर्ग-यात्रा[4], जो कि मञ्च पर ही दिखाई गयी है, ये सभी करुणा के कारण हैं।

---

१. यदि न सहसे राज्ञो मोहं धनुः स्पृश मा दया ।
स्वजन-निभृतः सर्वोऽप्येवं मृदुः परिभूयते ॥
अथ न रुचितं मुञ्च त्वं मामहं कृतनिश्चयः ।
युवतिरहितं लोकं कर्तुं यतश्छलिता वयम् ॥—प्रतिमा० १.१८

२. ताते धनुर्न मयि सत्यमवेक्षमाणे मुञ्चानि मातरि शरं स्वधनं हरन्त्याम् ।
दोषेषु बाह्यमनुजं भरतं हनानि किं रोषणाय त्रिषु पातकेषु ॥
प्रतिमा० १.२२

३. (क) हा वत्स ! राम ! जगतां नयनाभिराम !
हा वत्स ! लक्ष्मण ! सलक्षणसर्वगात्र ॥
हा साध्वि ! मैथिलि ! पतिस्थितचित्तवृत्ते !
हा हा गताः किल वनं बत मे तनूजाः ॥ प्रतिमा० २.४

(ख) सूर्य इव गतो रामः सूर्यदिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः ।
सूर्यदिवसावसाने छायेव न दृश्यते सीता ॥ प्रतिमा० २.५
'राम ! वैदेहि ! लक्ष्मण ! अहमितः पितॄणां सकाशं गच्छामि ।
हे पितरः ! अयम् अयमागच्छामि' ॥ प्रतिमा पृ०.२७१

४. प्रतिमा० २.२१

भरत जब ननिहाल से लौट रहे हैं उनका मन भयातुर है। वे पिता एवं परिवार के सभी लोगों का समाचार जानने को व्याकुल हैं। तभी उचित प्रस्थान बेला की प्रतीक्षा में बिताया जाने वाला समय उनके लिए बहुत मँहगा पड़ता है और वहीं प्रतिमागृह में उन्हें पितृ-निधन के साथ राम वनवास की सूचना मिलती है। पितृ-निधन, माता की धृष्टता, भाई का वनवास सभी शोक के कारण एक साथ उन्हें मथ डालते हैं[१]। वे अपनी इस पीड़ा से इतने व्याकुल हैं कि माँ को माँ मानना अस्वीकार कर देते हैं[२] और रोते हुए उधर ही प्रस्थान करते हैं जिधर राम गए हैं :—

तत्र यास्यामि यत्रासौ वर्तते लक्ष्मणप्रियः ।
नायोध्या तं विनायोध्या सायोध्या यत्र राघवः ।।— प्रतिमा० ३.४

चतुर्थ अङ्क में भरत द्वारा राम, लक्ष्मण और सीता से मिलन के साथ पुनः करुणा का प्रस्फुटन होता है। किन्तु भरत की ममता पर राम की धीरता तथा उदात्तता का अङ्कुश यहाँ गहरा है[3]। तथापि वे करुणा से विह्वल हैं[४]।

पाँचवें अङ्क में भरत पर आ पड़े राज्यसंचालन के गुरुतर भार को सोचकर[५] तथा वन में सीता की कठोर तपश्चर्या से राम का मन पुनः करुणाप्लावित है[६]। इतना ही नहीं पितृशोक[७] आदि भी कम नहीं हुआ है और इसीलिए वे पिता का श्राद्ध करना चाहते हैं। वस्तुतः पाँचवा अङ्क ही एकमात्र अङ्क है जिसमें प्रतिनायक के दर्शन होते हैं। बिना प्रतिनायक के ही करुणा की सृष्टि कवि को अभीष्ट है। अतः रावण की योजना से करुण रस को विशेष प्रोत्साहन नहीं मिलता। सीताहरण के कारण जो स्थिति उत्पन्न होती है और रामायण तथा अन्य राम कथा पर आश्रित नाटकों में इस प्रसंग से जो लाभ अन्य नाटककारों ने उठाया है, भास उसे उपयुक्त नहीं समझते। इससे राम की धीरता और उनके धीरोदात्त चरित्र को जो क्षति हो सकती है भास उसके प्रति सजग हैं। सीताहरण के अवसर पर रावण की आत्मश्लाघा[८], एवं राम की उत्तेजना, कथानक का निर्वाह मात्र है[९]। रावण की विद्वत्ता एवं माया का परिचय यहाँ अवश्य मिलता है। वह सीता के हरण का यह कुकर्म क्यों कर रहा है इसे भी स्पष्ट कर देता है[१०]। पाँचवें अङ्क की समाप्ति पर जटायु

१. अयोध्यामटवीभूतां पित्रा भ्रात्रा च वर्जिताम् ।
पिपासार्तोऽनुधावामि क्षीणतोयां नदीमिव ।।—प्रतिमा० ३.७०

२. प्रतिमा० ३.१८, २२
३. प्रतिमा० ४.२०
४. प्रतिमा० ४.१२, २२
५. प्रतिमा० ५.१
६. प्रतिमा० ५.३
७. प्रतिमा० ५.४
८. प्रतिमा० ५, १७, १९
९. प्रतिमा० ५.२१
१०. प्रतिमा० ५.१६

द्वारा सीता की रक्षा के लिए आत्माहुति और छठे अङ्क के आरम्भ में उसी का वर्णनात्मक पक्ष भास नहीं भूले हैं। यह प्रसंग उन्होंने उठाया है किन्तु वे मूल कथा एवं रस से अलग नहीं होना चाहते हैं। अतः सीधे वे भरत को सीताहरण का समाचार पहुँचा कर एक नयी उद्भावना करते हैं।

सीताहरण का प्रसंग प्रतिमा में अत्यन्त संक्षिप्त है और इस अवसर पर राम के नेत्रों से कहीं भी अश्रुपात होते नहीं देखा जाता। छठे अङ्क में पुनः भरत द्वारा सीताहरण की सूचना पर माँ कैकेयी को भला बुरा कहना, फिर सुमन्त्र से राम वनवास एवं उसके कारण पितृ-निधन के कारणभूत ऋषि शाप का प्रसंग; जहाँ कथानक को अच्छा मोड़ देता है वहीं राम की सहायता के लिए भरत का ससैन्य प्रस्थान नवीनता की सृष्टि करता है, इस प्रकार इस सम्पूर्ण अङ्क में भरत का ही चरित्र व्याप्त है।

इसके पश्चात् सातवाँ और अन्तिम अङ्क है जहाँ सीता की प्राप्ति का सीधा उल्लेख है। यह वस्तुतः रस, कथा एवं रूपक का उपसंहार है जहाँ नाटककार ने सब कुछ संगठित किया है। यहीं रावणवध की भी सूचना मिलती है और राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न, सीता, तीनों माताएं, सुमन्त्र, ऋषिगण, सैन्य परिजन सभी सीता की प्राप्ति एवं राम के अभिषेक के साक्षी बनते हैं।

तात्पर्य यह कि आरम्भ से अन्त तक करुण रस का निर्वाह ही कवि को भला लगा है। कवि ने वीर, बीभत्स और अद्भुत का स्पर्शमात्र किया है। रौद्र रस अथवा क्रोधाभिव्यक्ति को भी स्थान मिला है। किन्तु ये सब मुख्य रस करुण के ही सहायक हैं। राम हों अथवा भरत, दशरथ हों अथवा सुमन्त्र, तीनों माताएं हों अथवा प्रतिहारी और कञ्चुकी, सभी राम वनवास की पीड़ा से कराह उठते हैं और उस घनीभूत पीड़ा के साक्षी हैं; सामाजिक, जो किसी स्थल पर उस करुणा से अभिभूत हो रो पड़ें तो असम्भव नहीं है। इस दृष्टि से महान् नाटककार भास करुण रस के एक सफल प्रयोक्ता हैं।

इस करुणा के केन्द्र बिन्दु राम हैं अथवा भरत यह दूसरा प्रश्न हो सकता है। यद्यपि आरम्भिक तीनों अङ्कों में भरत का नाम नहीं आता किन्तु इस रिक्तता को पूरा करने वाले भरत का उल्लेख उन्हें इन तीनों ही अङ्कों में नेपथ्य में उपस्थित रखता है और उनकी यह अनुपस्थिति उनकी उपस्थिति से अधिक महत्त्वपूर्ण है, करुणा की दृष्टि से। नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से नायक की सम्पूर्ण नाटक में उपस्थिति का तर्क नितान्त असंगत है। इस तथ्य की पुष्टि में संस्कृत के वे नाटक देखे जा सकते हैं जहाँ अनेक अङ्कों में नायक दृष्टिगत नहीं होता। भास के ही छः अङ्कीय स्वप्नवासवदत्ता के प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अङ्कों के पश्चात् ही नायक आता है। **अविमारक** के प्रथम अङ्क में अविमारक नहीं है। **अभिषेक** के नायक राम द्वितीय, तृतीय एवं पञ्चम

अङ्क में अनुपस्थित हैं जिसमें कुल छः अङ्क हैं। इसी प्रकार चतुरङ्कीय **चारुदत्त** के द्वितीय एवं तृतीय अङ्क नायक-हीन हैं। **बालचरित** के प्रथम एवं द्वितीय अङ्कों में दामोदर की अनुपस्थिति भी विस्मयकारिणी नहीं है। ऐसा नहीं है कि भास ऐसे निराले नाटककार हों जिन्होंने ऐसा किया हो। **मुद्राराक्षस** का नायक यदि चाणक्य को माना जाए तो वह प्रथम अङ्क में आकर फिर दूसरे, चौथे, पाँचवे तथा छठे अङ्क में दिखाई नहीं देता। यदि राक्षस को नायक माना जाए तो वह तो प्रथम तथा द्वितीय अङ्क में है ही नहीं। **मृच्छकटिक** का नायक द्वितीय, चतुर्थ, छठे तथा आठवें अङ्क में अनुपस्थित है जिसमें कुल दस अङ्क हैं। इसके विपरीत **वेणीसंहार** में यदि युधिष्ठिर को नायक माना जाए तो वे तो इस छः अङ्क के रूपक में केवल छठे अङ्क में ही उपस्थित हो पाते हैं, प्रथम से पांच तक कहीं आते ही नहीं। यदि भीम को ही नायक माना जाए तो वह भी दूसरे, तीसरे तथा चौथे अङ्क में अनुपस्थित है। **उत्तररामचरित** के चतुर्थ तथा पञ्चम में एवं **प्रसन्नराघव** के पहले और पांचवे अङ्क में राम अनुपस्थित हैं। **महावीरचरित** के प्रथम अङ्क में राम की उपस्थिति है पर नगण्य-सी, फिर वे तीसरे तथा छठे अङ्क में भी अनुपस्थित हैं। इसी प्रकार **प्रबोधचन्द्रोदय** का नायक विवेक भी द्वितीय तृतीय एवं पाँचवे अङ्क में अनुपस्थित है जबकि इसमें कुल छः अङ्क ही हैं। इस आधार पर यह सरलता से समझा जा सकता है कि प्रत्येक अङ्क में न तो नायक की उपस्थिति ही अनिवार्य है न ही यह आवश्यक है कि जो पात्र प्रत्येक अङ्क में उपस्थित हो उसे ही नायक माना जाए।

वस्तुतः नायक का निर्णय नाटक को, कथावृत्त की घटनाओं के आधार पर होना चाहिए कि घटना किसके चारों ओर घटती है, कथावृत्त से सर्वत्र कौन सा चरित्र आवृत्त है[1]। कौन मुख्य रस है और उससे आप्यायित कौन चरित्र है। इस दृष्टि से प्रतिमानाटक में राम नहीं अपितु भरत ही नायक; मुख्य-नायक सिद्ध होते हैं। 'नाट्यस्यान्तं गच्छति तस्माद्वै नायकोऽभिहितः' भरत के इस कथन के आधार पर नायक का निर्णय उचित नहीं है। इसके विपरीत 'नयति व्याप्नोति इतिवृत्तं फलं च इति नायकः' की व्याख्या अधिक उचित है। नायक भरत इतिवृत्त पर छाये तो हैं ही फल को भी प्रभावित करते हैं इसमें संदेह नहीं है। अतः प्रतिमानाटक के नायक भरत हैं, राम नहीं, ऐसा मानना चाहिए।

उपनायक एवं लक्ष्मण के माध्यम से भरत का उत्कर्ष

प्रतिनायक चरित्र की उपयोगिता नायक चरित्र को उभारने में है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, रावण द्वारा सीताहरण के फलस्वरूप राम की प्रतिक्रिया पर कवि की लेखनी नहीं चली अर्थात् राम की पीड़ा अथवा विप्रलम्भ के व्याज से करुण रस

---

१. समग्रगुणः कथाव्यापी नायकः।—काव्यानुशासन, ७.१

की सृष्टि करना कवि को अभीष्ट नहीं है । इसके विपरीत सीताहरण की सबसे तीखी प्रतिक्रिया भरत पर होती है । सीताहरण के वृत्तान्त को छुपाते हुए सुमन्त्र को दशरथ की शपथ दिलाकर भरत यह जान लेते हैं कि सीता का हरण हो गया है और वे बड़ी तीव्रता से अन्तःपुर में प्रविष्ट होते हैं । कैकेयी पर उनका सारा क्रोध फूट पड़ता है। यही वह स्थल है जहाँ भरत का क्रोध निःसीम हो उठता है और यही वह स्थल है जहाँ शाप एवं चौदह दिन और चौदह वर्ष की भूल का ज्ञान होता है । यहीं पर कैकेयी भी अपने मन की बात कहती है और इस संक्षिप्त संवाद के पश्चात् भरत, रावणवध की योजना बनाते हुए राम की सहायता के लिए प्रस्थान करते हैं[1]।

इस प्रकार सीताहरण पर राम की मनःस्थिति के चित्रण का अभाव एवं भरत पर उसकी गहरी क्रोध-मिश्रित शोक की अभिव्यञ्जना भी इन्हें नायक सिद्ध करती है। अतः सीताहरण किंवा रावण के चरित्र की उद्भावना द्वारा कवि भरत के चरित्र को उभारने में सफलता प्राप्त करता है । तात्पर्य यह कि प्रतिनायक का चरित्र नायक-चरित्र को उभारने के लिए होता है । यह तथ्य भरत के चरित्र पर चरितार्थ होता है, राम पर नहीं ।

जहाँ तक लक्ष्मण के आवेश का प्रश्न है, वह समयानुकूल, सशक्त एवं प्रभावोत्पादक है । इसमें दो राय नहीं हो सकती कि उससे राम-लक्ष्मण तथा भरत एवं लक्ष्मण के चरित्रों की तुलना को अवसर मिलता है । लक्ष्मण के सुप्रसिद्ध क्रोधी स्वभाव का इतना संक्षिप्त, सुन्दर एवं प्रभावोत्पादक चित्र अन्यत्र दुर्लभ है । ' यदि राजा का मूर्छित हो जाना तुम्हें सह्य नहीं है, फिर दया किस बात की, धनुष उठाओ । नहीं तो कोमल-स्वभाव वाले तुम्हारे जैसे लोगों को अपने ही लोग धोखा देते हैं । यदि तुम्हें धनुष उठाना भी अच्छा नहीं लगता तो छोड़ो मुझे, मैंने इस संसार की सारी नारियों को नष्ट कर देने की प्रतिज्ञा कर ली है जिन्होंने हमें छला है[2]।' लक्ष्मण की इस उक्ति में जो क्रोध है वह समयानुकूल नहीं है । सीता स्वयं कहती हैं :—'आर्यपुत्र । रोदितव्ये काले सौमित्रिणा धनुर्गृहीतम् । अपूर्वः खल्वायासः ।' किन्तु क्रोध की ज्वाला की लपटें लक्ष्मण को पूरी तरह आवेष्टित कर चुकी हैं । वे पूछते हैं, 'क्या यह भी कोई सोचने का समय है जबकि परम्परानुसार प्राप्य राज्य आपसे (राम से) छीन लिया गया है और महाराज मूर्छित अवस्था में पड़े हुए हैं । मुझे तो लगता है आपने आत्मगौरव ही जैसे खो दिया है[3]।'

---

१. अद्यैवाहमार्यस्य साहाय्यार्थं कृत्स्नं राजमण्डलमुद्योजयामि । अयमिदानीम्-
वेलामिमां मत्तगजान्धकारां करोमि सैन्योद्यनिवेशनद्धाम् ।
बलैस्तरद्भिश्च नयामि तुल्यं ग्लानिं समुद्रं सह रावणेन ॥ —प्रतिमा० ६.१६

२. प्रतिमा० १.१८ ३. प्रतिमा० १.१९

लक्ष्मण के इस प्रत्याख्यान में, राम से उनके स्वभाव का अन्तर तो स्पष्ट होता ही है, 'दोषेषु बाह्यमनुजं भरतं हनानि' राम के इस कथन द्वारा लक्ष्मण एवं भरत के मध्य के अन्तर को भी स्पष्ट करना कवि को अभोष्ट है। क्योंकि भरत को राज्य मिलना है, अतः उसकी हत्या सारी समस्या का समाधान कर सकती है। अतः राम का यह प्रश्न लक्ष्मण के क्रोध पर पानी डाल देता है और वह चीत्कार कर उठते हैं :—

यत्कृते महति क्लेशे राज्ये मे न मनोरथः।
वर्षाणि किल वस्तव्यं चतुर्दश वने त्वया।। प्रतिमा० १.२३

उन्हें तो राम के वनवास का दुःख है राज्य की लिप्सा नहीं है। वस्तुतः लक्ष्मण का यह कथन उनके पूर्व कथनों का उलटा है। 'स्वजननिभृतः सर्वोऽप्येवं मृदुः परिभूयते' यह कथन एवं सम्पूर्ण संसार की युवतियों की हत्या का उपक्रम निरर्थक नहीं है। राम स्वयं लक्ष्मण की पीड़ा का कारण जानते हैं। वे कहते हैं—'सुमित्रा-मातः! अस्मद्राज्यभ्रंशो भवत उद्योगं जनयति। आः अपण्डितः खलु भवान्।' 'राज्य भरत को मिले या मुझे दोनों बराबर है यदि तुम्हें धनुष पर बड़ा भरोसा है तो जो भी राजा बने तुम्हें तो उसी की सेवा करनी चाहिए।' राम यह कहकर लक्ष्मण का क्रोध शान्त करते हैं। इस आधार पर दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। एक तो लक्ष्मण की राज्य-लिप्सा; राज्य को हाथ से निकलते देख उनकी मानसिक स्थिति का अस्थिर हो उठना, दूसरे भरत का राज्य के प्रति निर्मोह। कवि ने लक्ष्मण एवं भरत के चरित्र के इस पक्ष को उभार कर भी भरत के चरित्र की महानता को अभिव्यक्त किया है।

प्रतिनायक रावण

भरत की भूमिका को प्राणवान् बनाने के लिए एक ओर तो भास ने लक्ष्मण एवं भरत के वैषम्य का आश्रय लिया है दूसरी ओर रावण की भूमिका की सृष्टि की है। जैसाकि कहा जा चुका है, सीताहरण की जितनी तीव्र प्रतिक्रिया भरत के मन पर होती है, उतनी राम के मन पर नहीं होती। इस प्रकार रावण की संक्षिप्त किन्तु सार्थक और पौराणिक किन्तु मूल्यवान् भूमिका को किञ्चित् नये (श्राद्ध हेतु कृष्ण मृग की प्राप्ति) आयाम में प्रस्तुत करते हुए नाटककार ने भरत के चरित को उभारने का भरपूर प्रयास किया है। राम, सीता की प्राप्ति के लिए क्या करते हैं, इसे बताने की अपेक्षा नाटककार ने, भरत क्या करते हैं यह–दर्शाया है। यह तो दुर्भाग्य ही है कि पौराणिक परम्पराएं रावणवध का कार्य राम के हाथों ही सम्पन्न कराती हैं अन्यथा भास के भरत यहाँ भी राम की अपेक्षा अधिक आक्रामक सिद्ध होते और वे ही रावण-वध का कार्य करके सीता को मुक्त कराते।

रावण के चरित्र में हम पाते हैं कि वह एक सत्यसन्ध नायक की भाँति स्वीकार करता है कि खर नामक राक्षस को मारकर राम ने जो वैर ठाना है, सीताहरण उसी का परिणाम है :—

नियतमनियतात्मा रूपमेतद् गृहीत्वा
खरवधकृतवैरं राघवं वञ्चयित्वा ।
स्वरपदपरिहीणां हव्यधारामिवाहं
जनकनृपसुतां तां हर्तुकामः प्रयामि ॥ प्रतिमा० ५.७

प्रकारान्तर से वह मानता है कि सीता सती है, पतिव्रता है और वह स्वयं अनियतात्मा है। अतिथि होने के कारण राम जब रावण की शुश्रूषा के लिए सीता को आदेश देते हैं तब रावण (अपना भेद खुल जाने के भय से ही सही) सीता को ऐसा करने से रोक देता है और अपनी प्रच्छन्न धीरता का ही प्रदर्शन करता है और यह मानता है कि सीता तो नारियों में अरुन्धती के समान है। प्रकटरूप से वह अपनी सारी योग्यताएं बता देता है। दशरथ के श्राद्ध के लिए कृष्ण मृग के व्याज से राम को दूर भेजकर वह सीता का हरण करता है। अपने इस रूप में वह राम से जो प्रतिशोध लेता है वह अनुचित नहीं है यह कर्म रावण (प्रतिनायक) के धीरोद्धत स्वरूप के नितान्त अनुकूल है। उधर राम पर सीताहरण की प्रतिक्रिया शून्य है।

रावण के उपर्युक्त आत्मकथन के पश्चात् सीता के हरण के समय उसकी विकत्थना में किञ्चद् औद्धत्य है। 'आः रावणस्य चक्षुर्विषयमागता क्व यास्यसि' में उसकी वासना से अधिक उसका दम्भ है किन्तु क्षणभर बाद ही वह अपनी वासना का भी उद्घाटन कर देता है 'विगणय मां च यथा तवार्यपुत्रः' अर्थात् अपने आर्यपुत्र के स्थान पर अब मुझे ही अपना पति समझो' यह कहकर वह सीता को शाप देने के लिए बाध्य कर देता है और सीता द्वारा 'शप्तोऽसि' यह कहने पर वह बताता है कि जब सूर्य की रश्मियाँ उसे भस्म नहीं कर सकी तो सीता का शाप उसका क्या बिगाड़ सकता है। वह चोरों की भाँति सीता का हरण नहीं करता अपितु घोषणा करता है कि 'ओ जनस्थान के निवासियों! सुन लो, मैं सीता का अपहरण करके ले जा रहा हूँ यदि राम में क्षात्रतेज है तो वह अपना पराक्रम दिखाये[1]।'

यह माया के आवरण से स्वयं को छुपाये हुए ऐसा ढोंगी है जो अपनी वासना को भी अपने प्रतिशोध की भावना के आवरण से ढँक लेता है। वह कहता है, खर और दूषण जैसे बन्धु-बान्धवों को मार कर तथा उसकी बहन शूर्पणखा को कुरूपा बनाकर दुष्टमति वाले राम ने[2] उसके मन में प्रतिशोध की भावना को उत्पन्न कर दिया है। अतः ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसकी वासना भी उसी प्रतिशोध की पुत्री है।

---

१. बलादेष दशग्रीवः सीतामादाय गच्छति ।
क्षात्रधर्मे यदि स्निग्धः कुर्याद् रामः पराक्रमम् ॥ प्रतिमा० ५.२१

२. प्रतिमा० ५.१६

इस रूप में रावण धीरोद्धत भी है और पापकृत्, व्यसनी तथा एक सशक्त प्रतिस्पर्धी भी है।

सीताहरण का यह दुःखद प्रकरण और रावण का यह दुष्कर्म दोनों ही राम को उत्तेजित नहीं कर पाते। यह राम के औदात्त्य के अनुकूल भले ही हो किन्तु भास को भी जैसे यह प्रसंग, राम की दृष्टि से, अभीष्ट नहीं रहा है। इसी कारण यहाँ न तो राम की करुणा ही व्यक्त हो सकी है और न तो उनका शौर्य और पराक्रम ही। इसके विपरीत राम के सम्बन्ध में, 'हृतदारः वसञ्छैले तुल्यदुःखेन मोक्षितः[१]' सुमन्त्र का यह संकेत ही भरत को सशंकित कर देता है और रावण ने सीता का अपहरण कर लिया है यह सुनकर तो वे मूच्छित हो जाते हैं। चेतना आते ही सुमन्त्र को लेकर वे अन्तःपुर में जा पहुँचते हैं। वहाँ माता कैकेयी के प्रति उत्पन्न उनका क्रोध, स्थिति के स्पष्ट होते ही, रावण की ओर उन्मुख हो जाता है और तत्काल ही वे रावण पर आक्रमण के लिए ससैन्य प्रस्थान कर देते हैं। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण नाटक में भरत की ही करुणा प्रधान है। यहाँ तक कि सीताहरण का समाचार भी तत्काल भरत को क्रुद्ध नहीं कर देता, वे मूच्छित होते हैं, चैतन्य होते हैं और तब भी सर्वप्रथम उनकी करुणा ही जागती है, वेदना ही उत्पन्न होती है[२]। यह वेदना उनके क्रोध में भी सहगामिनी है[३] और तब वह उस क्रोध का रूप धारण करती है जिसमें सम्पूर्ण सागर-तटों को अन्धकारमय कर देने की क्षमता है[४]। यहाँ भरत की करुणा की अपेक्षा रावण का चरित्र, उसकी भूमिका संक्षिप्त होते हुए भी अत्यन्त प्रभावशाली है। अन्य नाटकों की अपेक्षा यहाँ रावण की भूमिका सशक्त और भरत के चरित चित्रण की दृष्टि से पर्याप्त उपयोगी रही है।

इस रूप में हम पाते हैं कि प्रतिमानाटक में भरत को जोकि नायक है; प्रतिनायक रावण एवं उपनायक लक्ष्मण के चरित्र के माध्यम से उभारा गया है और कवि सफलतापूर्वक नायक भरत के चरित्र को उस सीमा तक उठा सका है जहाँ से वह राम की तुलना में एक अधिक सशक्त चरित्र बन सका है।

अभिषेकनाटक

प्रतिमानाटक की अपेक्षा अभिषेकनाटक कम सशक्त है। नायक राम, प्रतिनायक रावण, उप-प्रतिनायक बालि उपनायकों तथा अनुनायकों और के रूप में लक्ष्मण, सुग्रीव एवं हनुमान की भूमिकाएँ हैं। इसका अङ्गीरस वीर है। प्रतिमा की भाँति अभिषेक

१. प्रतिमा० ६.१०
२. प्रतिमा० ६.१२
३. प्रतिमा० ६.१३, १४
४. प्रतिमा० ६.१६

को भी नाटककार ने पर्याप्त संक्षिप्त कर लिया है । संक्षेपण की क्रिया में उसने अनेक घटनाओं को, जिनमें नाटकीयता उत्पन्न करने की प्रक्रिया कठिन थी, समेटने का प्रयास नहीं किया है ।

प्रतिमा एवं अभिषेक के तुलनात्मक अध्ययन से सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह उभरता है कि प्रतिमा नाटक में जहाँ नाटकीयता की प्रधानता एवं अधिक सरसता है, वहीं अभिषेक में दोनों की ही न्यूनता है । कीथ एवं हैनरी वेल्स का विचार[१] इस दृष्टि से सत्य प्रतीत होता है कि 'अभिषेक नाटक रामायण के तत्संवादी कांडों (४-६) का कुछ नीरस संक्षेप-सा है ।' अभिषेक का कथानक बालिवध (किष्किन्धाकाण्ड) से आरम्भ होकर हनूमान् द्वारा सीता समाश्वासन एवं लङ्कादहन (सुन्दरकाण्ड) तथा राम-रावण युद्ध, विभीषण के राज्याभिषेक तथा स्वयं राम के अभिषेक (युद्ध काण्ड) की कथा के साथ समाप्त होता है ।

राम कथा का यह अंश जितना रोचक एवं महत्त्वपूर्ण है, अभिषेक नाटक के रूप में वह उतना ही नीरस एवं महत्त्वहीन-सा होकर रह गया है । फिर भी भास अपनी लीक पर न चलने की प्रकृति के धनी हैं और उन्होंने रङ्गमञ्च पर ही बालि का वध दिखाकर भरत की नाट्यपरम्परा के विपरीत प्रयोग किया है । राम एवं लक्ष्मण के कृतकशिरों द्वारा सीता के मन जीतने का रूपक भी कुछ रोचक बन पड़ा है । इन दो बातों के अतिरिक्त रूपक में सम्भवतः कुछ भी नहीं है । किन्तु इन्हीं दो उद्भावनाओं के कारण यह रूपक पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर सका है । कथानक शिथिल है, यद्यपि घटना-क्रम में गति है ।

प्रतिमानाटक एवं अभिषेक इन दोनों रूपकों में राम के अभिषेक का स्थल लङ्का या उसके समीप का ही कोई प्राङ्गण है यह कवि की मौलिकता भी है और अपने क्षेत्र के प्रति उनका मोह भी (यदि वे दाक्षिणात्य थे) । जैसाकि कहा जा चुका है नाटक के नायक निर्विवाद रूप से राम हैं और उनका मुख्य प्रतिद्वन्द्वी रावण है । दोनों ही दूत समुदाचार का पालन करते हैं । किन्तु रावण दूत को भी दण्ड देकर उसका पूर्ण निर्वाह नहीं करता जबकि राम, उन्हें, जो कि वास्तविक दूत भी नहीं, छद्मवेशी भेदिए हैं, क्षमा कर देते हैं । राम एवं रावण के मध्य धर्मवीर एवं युद्धवीर नायकों का यह

---

१. (क) स० ना० पृ० ६६ तथा देखें,
Bhasa's The CORONATION reads more like a hastily composed, rapid fire scenario than a dramatic poem. His STATUE PLAY on the contrary, is a highly sensitive and well composed poetic drama on a major episode in the Ramayana.

HENRY W. WELSS, C D I Page 26

वैषम्य दिखाकर कवि एक ओर राम को धीर और उदात्त प्रदर्शित करता है, दूसरी ओर रावण की हठवादिता तथा मात्सर्य अथवा असूया की भावना को व्यक्त करता है।

नायक राम

राम के चरित्र में वीरता की अपेक्षा औदात्त्य अधिक है। वस्तुतः उनका चरित्र धीरोदात्त नायक का चरित्र है। बालि से सम्वाद, उसका वध, विभीषण को लङ्केश्वर बनाने का वचन, वरुण से उनका सम्वाद, छद्मवेशी शुक, सारण नामक रावण के मंत्रियों के सम्बन्ध में विभीषण से मंत्रणा एवं उन्हें क्षमादान, विभीषण द्वारा सीता को लाने पर राम द्वारा अग्निपरीक्षा के निमित्त लक्ष्मण को आदेश, फिर अग्निदेव से राम का सम्वाद और सब कुछ जानते हुए भी लोक-प्रदर्शन के निमित्त उनकी अग्नि-परीक्षा का हठ, ये वे स्थल हैं जहाँ राम का उदात्त एवं धीर रूप उभरता है। इसे हो उनकी धर्मवीरता भी कहा जा सकता है। वैसे अभिषेक के राम धर्मवीर की अपेक्षा धर्मभीरु[1] अधिक लगते हैं। फिर भी अभिषेक के राम एक पूर्ण नायक हैं। वे भास की दृष्टि में महामानव हैं, यद्यपि बालि से उनके सम्वाद, अग्नि एवं वरुण की उपस्थिति तथा अन्य देवों द्वारा उनकी प्रशंसा ने उन्हें महामानव से भी ऊपर उठा दिया है।

प्रतिनायक रावण के माध्यम से राम का उत्कर्ष-चित्रण

रावण का संक्षिप्त एवं शिथिल चरित्र प्रतिमानाटक में राम के चरित के उत्कर्ष को तो किञ्चित् भी सहायता नहीं देता है किन्तु भरत में अवश्य रावण के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया दिखाई देती है, जिससे उत्प्रेरित हो उनकी करुणा और क्रोध दोनों की उद्भावना हो पायी है। अभिषेक में इसके विपरीत राम और कुछ अन्य उपनायकों के चरित्र-निर्माण में रावण की भूमिका का महत्त्व है। यहाँ राम-रावण के मध्य साक्षात् सम्वादों के अभाव में एवं युद्ध में उनके आमने-सामने न आने के कारण राम का युद्ध-वीररूप तो उभर नहीं पाता फिर भी रावण के चरित्र के माध्यम से कवि ने राम, विभीषण एवं हनूमान् के चरित्र का उत्कर्ष दिखाया है।

रावण के मन में सीता के प्रति आकर्षण है, अपनी शक्ति का घमण्ड है। हनूमान् अथवा विभीषण द्वारा सीता की मुक्ति के उपदेशों में अथवा राम की शक्ति के प्रत्याख्यानों में उसका मात्सर्य और उसकी असहिष्णुता प्रकट होती है। सीता के

---

१. एक ओर तो राम सीता की शुद्धता की परीक्षा का आदेश देते हैं दूसरी ओर लक्ष्मण के यह बताने पर कि सीता अग्नि में प्रविष्ट हो गयी है, वे व्याकुल होकर उनसे सीता को रोकने का आग्रह करते हैं।

देखें:—अभिषेक ६.२०, २३, २४ एवं सम्वाद

विमोहन में उसकी माया एवं छलकपट के दर्शन होते हैं। वह अहङ्कार का जीवित आदर्श है। उसका क्रोधी अथवा उग्र स्वभाव भी यहाँ स्पष्ट है। वह आत्मश्लाघा तथा पापपूर्ण कुविचारों से युक्त है। इस प्रकार के रावण का चरित्र निश्चय ही संक्षिप्त होते हुए भी पर्याप्त मुखर है।

दर्प एवं कामुकता के वशीभूत हो रावण देवी सीता का मन जीतने के निमित्त जितना व्याकुल है, राम पर विजय प्राप्त करने को उतना आकुल नहीं है। वह जानता है छल-छद्म किसी भी प्रकार से यदि सीता उसे अपना लेती है तो राम स्वतः वापस हो जाएगें, यह उसकी नीति है। वैसे उसे अपनी शक्ति पर भी अटूट विश्वास है।

सीता पर उसकी आसक्ति में विक्षोभ भी है और दया भी, राम नर हों या नारायण पर रावण की दृष्टि में तो वे निरीह तापस[१] ही हैं, निरे मानुष[२] ही हैं, एक निरीह मृग[३] हैं, नराधम हैं[४]। रावण द्वारा राम के प्रति व्यक्त इन शब्दों में राम को अपना शत्रु मानने की भावना है ही, वह उनको अपनी तुलना में क्षुद्र जीव मानकर अपने दर्प और अहङ्कार को भी व्यञ्जित करता है।

प्रतिनायकगत व्यसनों में वे सभी दुर्गुण आ जाते हैं जो किसी भी व्यक्ति के पतन का कारण बनते हैं। मनु ने अट्ठारह प्रकार के व्यसन गिनाये हैं जो किसी भी राजा के लिए घातक हैं। मुख्य रूप से काम एवं क्रोध[५] से उत्पन्न ये सभी दुर्गुण रावण में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूप में विद्यमान है, क्योंकि वह कामी भी है और क्रोधी भी।

सीता के प्रति राम की प्रेम भावना, भले ही उनके उदात्त चरित्र के कारण अधिक उभर कर सामने न आए, सीता के वियोग में राम की पीड़ा भी चाहे अभिव्यक्ति न पा सके, किन्तु रावण का अनुराग तो प्रकट होता ही है। उसे सीता के उपवास, उसके म्लानमुख एवं कृश शरीर को देखकर पीड़ा होती है[६]। चन्द्रमा की

---

१. अभिषेक २.१०, ५.१६ २. अभिषेक २.१२, १४, ३.१७, ५.७, ८, ९

३. अभिषेक २.१३, ३.२१ ४. अभिषेक ५.१०

५. कामजेषु प्रसक्तो हि व्यसनेषु महीपतिः। वियुज्यतेऽर्थधर्माभ्यां क्रोधजेष्वात्मनैव तु॥ मृगयाक्षो दिवास्वप्नः परीवादः स्त्रियोमदः। तौर्यत्रिकं वृथाद्या च कामजो दशको गुणः॥ पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्यासूयार्थदूषणम्। वाग्दण्डजश्च पारुष्यं क्रोधजोऽगुणोष्टकः॥—मनुस्मृति

६. 'एषा सीता पादपमूलमाश्रित्य ध्यानसंवीतहृदयानशनक्षामवदना आदि.........'

—अभिषेक द्वितीय अङ्क

रजत् किरणें उसकी इस पीड़ा में घृताहुति डालती हैं[१]। सीता की यह उग्र तपस्या उससे देखी नहीं जाती और वह तत्काल प्रणय निवेदन कर देता है। और उसे लङ्केश्वरी बनाने के दिवास्वप्न दिखाता है [२]। वहाँ सीता की प्रतिक्रिया 'शप्तोऽसि' को सुनकर उसका दर्प भी जागता है, किन्तु उसे सीता के इन तीन अक्षरों पर हँसी आती है[३]। रावण की यह कामुकता यहीं समाप्त नहीं होती। वह तो जब भी सीता को अपने समक्ष देखता है, उसकी वासना का आवेग तीव्र हो उठता है और वह नितान्त कामाचारी की तरह प्रलाप करने लगता है। उसे रात्रि में नींद भी नहीं आती है। सीता के आलिङ्गन को व्याकुल उसका शरीर नित्य क्षीण होता जा रहा है[४]। वह अपने प्रणय निवेदन में भी राम के प्रति अपनी दुर्भावना की अभिव्यक्ति करता नहीं थकता[५]। वह माया, छल एवं छद्म द्वारा सीता के मन को राम से हटाकर अपनी ओर आकर्षित करने का प्रयास करता है और इसीलिए राम एवं लक्ष्मण के कृतक शिरों को प्रदर्शित करता है[६]।

रावण के प्रणय-निवेदन एवं सीता के सतीत्व की परिचायक शापोक्ति के प्रत्यक्ष द्रष्टा एवं श्रोता हनुमान् की उपस्थिति के माध्यम से कवि ने राम को उत्तेजित करने का प्रयास किया है। रसाभास एवं भावाभास के ये स्थल उपनायक हनूमान् के चरित्र को प्रभावित करते हैं। कम से कम हनूमान् की तात्कालिक प्रतिक्रिया तो तब नाटकीयता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो ही उठती है; जब वे रावण को स्वयं मार डालने अथवा इस पावन उद्देश्य में आत्म-बलिदान कर देने का संकल्प करते हुए देखे जाते हैं और अन्त में जब उनके क्रोध पर उनकी दूरदृष्टि विजयी होती है[७]। सीता से प्रणय-निवेदन करते समय रावण द्वारा राम को 'गतायु:' कहने पर हनूमान् की प्रतिक्रिया में राम के चरित्र को वर्णनात्मक दृष्टि से उभारने में भी सफलता मिली ही है[८], उससे हनूमान के चरित्र का उत्कर्ष भी स्पष्ट हो उठता है।

तृतीय अङ्क में रावण एवं हनूमान् के मध्य होने वाले संवादों के माध्यम से भी कथानक को आगे बढ़ाने एवं राम के महत्त्व को उभारने में सहायता ली गयी है। इसके अतिरिक्त हनूमान् के चरित्र को भी उससे गति मिलती है। उपनायक हनूमान् की भूमिका का यह मुख्य अंश है। इस संवाद के माध्यम से रावण के क्रोध, दर्प, विकत्थाना को दर्शाने में कवि ने सफलता पायी है। एक तुच्छ वानर से भयभीत लङ्का के राक्षसों द्वारा उसे पकड़ पाने में असमर्थता का उद्घाटन, रावण के सेनापतियों द्वारा

---

१. अभिषेक २.११ २. अभिषेक २.१४ ३. अभिषेक २.१८
४. 'अहो नु खलु अतुलबलता कुसुमधन्वनः' आदि अभिषेक ५.६
५. अभिषेक ५.७ ६. अभिषेक ५.८
७. अभिषेक २.१६ ८. अभिषेक २.१५

उसे पकड़ने के उपक्रम में मृत्यु एवं अन्ततोगत्वा इन्द्रजित द्वारा उसे वश में करने की कथा द्वारा राम के एक अनुचर के माध्यम से राम एवं रावण के शक्ति-सन्तुलन को स्पष्ट किया गया है। इसी कारण रावण भी चिन्ताकुल हो उठता है कि जिस लङ्का के बारे में सुर और दानव सोच भी नहीं सकते, उस लङ्का को अभिभूत कर एक वानर उत्पात मचा रहा है[1]। शंकुकर्ण द्वारा वानर के उत्पात का वर्णन प्रकारान्तर से राम की शक्तिसम्पन्नता का परिचय देता है[2]। तभी रावण के क्रोध एवं दर्प की अभिव्यक्ति को सुतरां अवसर मिलता है, वह कहता है यदि इसके पीछे देवताओं का हाँथ है तो उन्हें भी इसका फल भोगना होगा[3]।

तात्पर्य यह कि यहाँ प्रतिनायक रावण के चरित्र को कवि ने महत्त्वपूर्ण ढंग से उठाया है और यही कारण है कि नायक एवं उपनायकों के चरित्रों को भी उससे सम्बल मिला है। हनुमान् ही नहीं रावण से विभीषण के सम्वादों में भी जहाँ रावण का क्रोध अभिव्यक्ति पाता है वहीं विभीषण की धीरता, सहिष्णुता, औदात्य एव शिष्टता के भी दर्शन होते हैं।

उपनायक

प्रतिनायक रावण के साथ सम्वादों द्वारा उपनायक हनुमान् के चरित्र का संक्षिप्त परिचय मिल जाता है। अन्य उपनायकों में सुग्रीव एवं विभीषण का नाम लिया जा सकता है। जैसा कि स्पष्ट ही है उपनायक की उपयोगिता एवं महत्त्व नायक के मुख्य कर्म में सहायता करना है। इस कार्य को प्रतिनायक अथवा उप-प्रतिनायक के साथ उनके संघर्ष को प्रदर्शित करते हुए प्रस्तुत करना सबसे सशक्त माध्यम है। उपनायक सुग्रीव का बालि से संघर्ष एवं विभीषण एवं हनूमान् का रावण से वाक्कलह इस दृष्टि से आदर्श है। सुग्रीव का चरित्र एक वीर का चरित्र नहीं है। वह बालि से पराजित होता है और कहीं भी उसका वीररूप उभर नहीं सका है। इसके विपरीत विभीषण नीति निपुण है। वैसे तो सुग्रीव एवं विभीषण द्वारा राम की सहायता के पीछे भी स्वार्थ ही प्रमुख है। अपने भाई से राज्य छीनने का प्रयास दोनों पक्षों में स्पष्ट है किन्तु विभीषण की कूटनीति अधिक परिपक्व प्रतीत होती है। दोनों ही राम के उपकार से कृतार्थ हैं और उनके आज्ञाकारी सेवक लगते हैं। वे दोनों ही रावण की पराजय एवं तदर्थ योजनाओं को साकार करने में समर्पित हैं।

---

१. अभिषेक ३.११

२. 'तेन खलु मृणालवदुत्पाटिताः सालवृक्षाः मुष्टिना भग्नोदासपर्वतक……आदि।
—अभिषेक, तृतीय अङ्क

३. अभिषेक ३.४

नायकोत्कर्ष हेतु उप-प्रतिनायक बालि का उपयोग

बालि ही एक ऐसा उप-प्रतिनायक है जिसे महत्त्व दिया जा सकता है। उसके प्रतिनायकत्व का कारण है; प्रतिनायक रावण के लिए उसका कार्य एवं उपनायक सुग्रीव से उसका वैर और तदर्थ युद्ध। उस पर छोटे भाई सुग्रीव की भार्या के साथ कदाचार एवं रावण की सहायता का आरोप है। प्रतिनायक की 'पापकृद्' की सार्थकता का यह प्रमाण है। वह उद्धत है, सुग्रीव के ललकारने पर उसकी उत्तेजना[1] एवं दर्प[2] दोनों ही देखने योग्य हैं, जिसमें वित्थना भी है, द्वेष भी है, अहं की सफल अभिव्यक्ति भी है[3]। किन्तु नाटक में गति-क्षिप्रता के घनी भास को, प्रकृत स्थल पर दिखाई गई क्षिप्रता ने नाटकीयता को दुर्बल किया है और शीघ्र ही राम छलपूर्वक बालि का वध कर देते हैं। इस प्रसंग में बालि एवं राम के बीच संवादों में न तो गम्भीरता है और न तो अधिक तर्क का अवकाश ही।

जैसाकि प्रतिनायक लक्षण प्रसंग में कहा जा चुका है, संस्कृत के प्रतिनायक की यह चारित्रिक विशेषता है कि वह अन्त में अपने पाप को स्वीकार कर प्रायश्चित करता है वही तथ्य बालि पर भी लागू होता है। बालि का प्रश्न राम के उत्तर[4] से अधिक शक्तिशाली है। विशेषकर तब जबकि बालि अपने कर्म को धर्म (परम्परा) के अनुकूल मानता है[5]। अस्तु, अवैदिक (असुर) संस्कृति पर वैदिक संस्कृति की यह विजय ही नाटककार को अभीष्ट है। इस व्यामोह के कारण ही राम के शिथिल से उत्तर पर बाली द्वारा पापस्वीकृति अनाटकीयता का कारण बनती है। तत्पश्चात् ही वह राम से सुग्रीव और अङ्गद को अपनी शरण में ले लेने की याचना और स्वर्गारोहण करता है। इस प्रकार सुग्रीव से भी उसका वैर किंचिद् कृत्रिम हो उठा है किन्तु यह भारतीय दर्शन के अनुकूल है जहाँ हृदयपरिवर्तन तथा आत्मशुद्धि को, ज्ञान प्राप्ति और जीवन मुक्ति का साधन माना गया है। राम उसके स्वर्गारोहण के प्रत्यक्ष साक्षी हैं। एक प्रतिनायक वह भी राम जैसे आदर्श पुरुष का विरोधी, और चारित्रिक दृष्टि से अपने अनुज की भार्या का अभिस्रष्टा बालि, स्वर्गारोहण करे ऐसा भारतीय संस्कृति के अतिरिक्त सम्भवतः अन्यत्र दुर्लभ ही होगा। प्रतिनायक चरित्र की यह प्रतिष्ठा सम्भवतः किसी

---

१. अभिषेक १.९ २. अभिषेक १.१०,११ ३. अभिषेक १.१२

४. सुग्रीवेणाभिमृष्टाभूद् धर्मपत्नी गुरोर्मम।
तस्य दाराभिमर्शेन कथं दण्ड्योऽस्मि राघवः। अभिषेक १.२१
राम :-- नत्वेवं हि कदाचिद् ज्येष्ठस्य यवीयसो दाराभिमर्शनम्॥
अभिषेक पृ० ३ ७

५. बालि :—अगम्यागमनेनेति। एषोऽस्माकं धर्मः। अभिषेक, प्रथम अङ्क पृ० ३२६

भी साहित्य में दुर्लभ होगी । इस अप्रतिम कल्पना के पीछे भारतीय संस्कृति की वह मान्यता ही है जहाँ युद्ध में वीरगति प्राप्त करने वालों के लिए स्वर्ग के द्वार सदा खुले रहते हैं ।

संक्षेप में, हम यह देख सकते हैं कि रावण एवं बालि यह दोनों ही नायक-विरोधी पात्र राम के चरित्र को उठाने में सहायक हैं । अभिषेक नाटक के आरम्भ में ही प्रतिनायक बालि की उपस्थिति द्वारा राम के तीन सहायकों और उनकी सेना की सहायता का उपक्रम स्वतः में महत्त्वपूर्ण है । सुग्रीव, अङ्गद एवं हनुमान् यह तीन सहायक राम को बालि के वध से ही सुलभ हो पाते हैं[२], कम से कम बालि के जीवित रहते राम का कार्य सुकर न होता और राम की सैन्य शक्ति पंगु ही रह जाती । निश्चय ही बालि वह चट्टान है जिससे टकराकर राम के चरित्र को गति मिलती है । नाटककार भास ने रस एवं नाटकीयता को ध्यान में रखते हुए रामायण की अनेक घटनाओं को छोड़ दिया है जिससे कथानक में गति आयी है, बालि एवं रावण के चरित्र को अवकाश मिला है एवं प्रकारान्तर से इनके माध्यम से हनूमान् एवं राम के चरित्रों का भी विकास हुआ है ।

रस की दृष्टि से अभिषेक, प्रतिमानाटक की अपेक्षा अधिक सुन्दर नहीं है किन्तु रावण एवं हनुमान् के संवाद, विभीषण एवं रावण के विवाद तथा बालि और सुग्रीव के युद्ध के माध्यम से वीर एवं रौद्र रसों का प्रयोग सफल है । किन्तु इन दोनों ही रसों का जैसा परिपाक महाभारत की कथा पर आश्रित उनके अन्य रूपकों में हुआ है वैसा यहाँ नहीं दिखाई पड़ता । फिर भी नाट्यपरम्परा के अनुसार कवि का यह प्रयास अवश्य रहा है कि वह वीर एवं रौद्र रसों का उपनिवेश कर सके । प्रतिनायक रावण के चरित्र के माध्यम से कवि ने वीर एवं रौद्र रस के साथ ही शृङ्गाराभास तथा रत्याभास का भी सफल उपगूहन किया है । इस रूप में हम पाते हैं कि रावण अपनी कामुकता के परिवेश में अपने सहायकों पर आश्रित एक सचिवायत प्रतिनायक के रूप में भी कभी-कभी दिखाई पड़ता है । उसे ऐसे स्थलों पर शृङ्गारप्रकाशकार के धीरललित प्रतिनायक के रूप में देखा जाय तो अनुचित न होगा । अन्यथा भास ने उसके धीरोद्धत स्वरूप को प्रस्तुत करके राम के चरित्र का उत्कर्ष दिखाने में सफलता प्राप्त की है, इसमें सन्देह नहीं है ।

महाकवि भवभूति कृत महावीरचरितम्

भवभूति ने भी राम कथा को आधार बनाकर दो रूपकों की रचना की है । राम के विवाह से लेकर राम-वनवास, सीताहरण एवं उसकी प्राप्ति तक के कथानक को

---

२. बालि :—भो राघव ! यस्मिन् कस्मिन् वापराधेऽनयोर्वानरचापलं क्षन्तुमर्हसि ।
अभिषेक, प्रथम अङ्क

उन्होंने 'महावीरचरित' में संग्रहीत किया है, जबकि लोकापवाद के भय से सीता के प्रति राम के व्यवहार पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए उन्होंने 'उत्तररामचरित' में उस महती करुणा की अभिव्यक्ति की है जिसे 'एक मात्र रस' मानने वालों का एक सम्प्रदाय ही बन गया। प्रकृत प्रसंग में उत्तररामचरित की करुणा के मूल में विद्यमान् उन तत्त्वों की (भावों अथवा कारणों की) विवेचना अभीष्ट नहीं है जो इस करुणा के जनक अथवा पोषक होने के कारण नायक-नायिका के विरुद्ध हैं। अतः यहाँ 'महावीरचरित' को ही इस विषय के लिए चुना जा रहा है जिसमें नायक विरोध की प्रक्रिया साक्षात् प्रतिनायक तथा उसके सहायकों के रूप में ग्रथित है।

महावीरचरित में राम के दानवीर, दयावीर, धर्मवीर और युद्धवीर रूप को कवि कितना उभार सका है और इस कार्य में प्रतिनायक एवं उसके सहायक और उपनायकों से सहायता लेने में कितना सफल हुआ है, यही प्रकृत विवेचना का विषय है। यहाँ परशुराम के चरित्र के उत्कर्ष के माध्यम से धीर-गम्भीर राम के चरित्र का महान् पक्ष उभारा गया है। परशुराम का इतना विकराल रूप सम्भवतः संस्कृत के किसी अन्य रूपक में नहीं दिखायी देता और इसी कारण राम का जो रूप महावीर-चरित में है वह भी अन्यत्र दुर्लभ है। माल्यवान्, जामदग्नि एवं बालि की भूमिकाओं के माध्यम से भी इसी उद्देश्य को पूरा किया गया है।

ख्यातवृत्तात्मक महावीरचरित में सुख-दुःख का नैरन्तर्य अतः नाना रसों की स्थान-स्थान पर योजना स्वाभाविक है। किन्तु रस की योजना में मुख्य कथानक से अलग पड़ जाने की प्रवृत्ति से बचते हुए भवभूति ने महावीरचरित की रचना की है। जिसमें सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही पक्षों को उन्होंने ध्यान में रखने का प्रयास किया है। अपने गुणों और दोषों के परिप्रेक्ष्य में यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि महावीर-चरित एक सुन्दर कृति है। भास की सी गतिमत्ता और सरलता के अभाव में भी कवि उन स्थलों को ढूंढने में सफल रहा है जिससे नायक तथा अन्य भूमिकाओं का उत्कर्ष प्रदर्शित किया जा सके।

कथावस्तु :—महावीरचरित का आरम्भ नवीन उद्भावनाओं से युक्त होते हुए भी किंचिद् शिथिल है। तपोवनों में होने वाले यज्ञों की सुरक्षा हेतु लाये गए राम एवं लक्ष्मण से विश्वामित्र के आश्रम में, जनक के अनुज कुशध्वज के साथ सीता एवं उर्मिला का साक्षात्कार, राम द्वारा अहल्या के उद्धार से उनका चमत्कृत होना, रावण द्वारा प्रेषित राक्षस का अपमान, ताटका वध, विश्वामित्र द्वारा राम को और राम की याचना पर लक्ष्मण को दिव्यास्त्रों का दान, फिर इन कार्यों से प्रभावित कुशध्वज की इच्छा को समझकर विश्वामित्र द्वारा राम से वहीं वन में हर-धनु को भंग करवाना, राम एवं उनके भाइयों के साथ सीता एवं उनकी बहनों के विवाह

निर्णय तदनन्तर मारीच एवं सुबाहु का वध, यह सब प्रसंग एक साथ दिखाए गए हैं। उधर राम के इन कर्मों का प्रत्यक्ष-द्रष्टा रावण का दूत राक्षस, अपने स्वामी की याचना की उपेक्षा से अपमानित होकर रावण के मन्त्री माल्यवान् के पास जाकर सारा वृतान्त बताता है। जिससे चिन्तित होकर वह एक षड्यन्त्र रचता है जिसके द्वारा वह एक ओर शूर्पणखा को मन्थरा के रूप में कार्य करने को तैयार करता है तथा दूसरी ओर परशुराम को उत्त`जित करने के लिए खण्डित हरचाप को माध्यम बनाता है। उसकी यह दोनों ही योजनाएँ कार्य रूप में परिणत हो जाती हैं। परशुराम जनकपुरी में पहुँच कर आतंक मचाते हैं और उनके शान्त होते ही अर्थात् माल्यवान् के इस षड्यन्त्र के निमू`ल होते ही मन्थरा द्वारा उत्तेजित कैकेयी की याचना दशरथ के सामने आती है। यह कार्य मिथिला में ही होता है, ऐसी कल्पना कवि की अपनी है। राम वहीं से भरत के आग्रह पर अपनी पादुका देकर सीता एवं लक्ष्मण के साथ वन चले जाते हैं। जहां (दण्डकारण्य में) पहुँचकर वे खरदूषण का वध करते हैं। क्रुद्ध रावण द्वारा सीता का अपहरण होता है जिसमें बाधक जटायु मारा जाता है। जटायु के बताने पर राम सीता को खोजते हुए विराध का वध करते हैं। तभी सुग्रीव से उनकी मैत्री होती है। बालि का वध करने के पश्चात् उनकी यह मैत्री और भी दृढ़ हो जाती है। विभीषण भी आ मिलता है। राम लंका पर चढ़ाई करते हैं। जहाँ युद्ध में लक्ष्मण को शक्ति लगती है, संजीवनी द्वारा उनकी चेतना वापस होती है। अन्त में मेघनाथ एवं रावण प्रभृति शत्रुओं को मार कर राम सीता को मुक्त करा लेते हैं। इसके साथ ही लंका का राज्य विभीषण को देकर वे अयोध्या लौट आते हैं।

कथानक में मौलिकता

महावीरचरित में भवभूति ने रामायण की कथा को पर्याप्त परिवर्तित कर प्रस्तुत किया है। किन्तु रामकथा के छोटे-छोटे प्रसंगों को भी संजोये रखने के मोह का संवरण वे नहीं कर सके हैं। इस कारण कथानक में शिथिलता आयी है। अहल्योद्धार ताटकावध, एवं सुबाहु तथा मारीच का प्रसंग, धनुर्भङ्ग, दिव्यास्त्रों का दान यह सारी कथा एक ही अङ्क में संग्रहीत करके जहाँ उन्होंने कथानक को बोझिल कर दिया है, वहीं कथा के क्रम को तोड़ा मरोड़ा है। विश्वामित्र के आश्रम में ही सीता एवं उर्मिला के साथ कुशध्वज का आगमन, सीता-राम तथा उर्मिला और लक्षमण के हृदय में परस्पर प्रेम का संचार, रावणदूत द्वारा रावण के लिए सीता की याचना, विश्वामित्र एवं कुशध्वज द्वारा उसे उपेक्षित कर उसी के समक्ष दिव्यशक्ति द्वारा समाहूत हरचाप को राम से खण्डित करवाने की घटनाओं में नवीनता है।

माल्यावान् की योजनाएं, शूर्पणखा का मन्थरा के शरीर में प्रवेश तथा माल्यवान् द्वारा जामदग्नि को राम की प्रतिद्वन्द्विता में खड़ा करना भी कवि की अपनी

प्रतिभा का चमत्कार है । इतना ही नहीं इसी प्रसंग में विश्वामित्र, वसिष्ठ, शतानन्द, जनक तथा दशरथ से पृथक्-पृथक् एवं एक साथ जामदग्नि के सम्वाद तथा ऋषियों की शापोक्तियां और जनक, विश्वामित्र एवं दशरथ द्वारा जामदग्नि को युद्ध के लिए ललकारना भी ऐसी ही मौलिक उद्भावना के परिणाम हैं । विश्वामित्र के आश्रम से सीधे राम लक्ष्मण का जनकपुरी को जाना, उधर बिना वर के सारी बारात का जनकपुरी आना और वहीं से राम का वनवास और भरत को राज्य का उत्तरदायित्व दिया जाना भी नवीनता लिए हुए है । यहीं दशरथ के, (सम्भवतः मिथिला में ही,) स्वर्गवास के भी संकेत मिलते हैं । जैसाकि कहा जा चुका है इन परिवर्तनों, परिवर्धनों से कहीं नाटकीयता की सृष्टि हुई है तो कहीं कथानक की गति अवरुद्ध हुई है । फिर भी परशुराम के व्यापक कथावृत्त एवं माल्यावन् की कार्य-चिन्ता एवं साधना द्वारा कथानक में रोचकता उत्पन्न हुई है ।

नायक राम

जहाँ तक इस सारी नवीनता के पीछे निहित मुख्य तत्त्व का प्रश्न है वह राम के चरित्र को, उनके युद्धवीर रूप को प्रस्तुत करना ही है । परशुराम के चरित्र को इतने व्यापक स्तर पर चित्रित करना कि द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ अङ्कों के नायक परशुराम प्रतीत होने लगें और उनका त्वरित-पतन राम की महानता एवं शक्ति को उपबृंहित करता है । इसी प्रकार माल्यवान् की सारी चिन्ता राम की शक्ति को क्षीण करने की योजना का अङ्ग है जिससे उसका कर्त्तव्यनिष्ठ साचिव्य[1] तो उभरता ही है किन्तु उसकी योजनाओं की सफलता (राम को सैन्यहीन करके घोर वनों में खींच लाना) और असफलताओं (परशुराम की पराज्य एवं बालि वध) द्वारा भी अन्त में राम के वीर चरित्र को उभारा गया है ।

महावीरचरित के नायक राम को भवभूति किस रूप में चित्रित करना चाहते हैं यह रूपक के अभिधान से ही स्पष्ट है । 'महावीर—राम' राम के साथ यह विशेषण वैसे ही उचित नहीं लगता जैसे राम की करुणा, रुदन, व्याकुलता की अधिकता आदि उचित नहीं लगती । फिर भी उन्होंने राम की दोनों ही भावनाओं को अपने रूपकों का विषय बनाया है । सम्भवतः यह एक साहित्यिक परीक्षण था जो भवभूति ने किया । उन्होंने महावीरचरित में राम के वीररूप को और 'उत्तररामचरित' में राम की करुणा को रूपायित करने का प्रयास किया है । पर्याप्त सफलता का यश भी मिला उन्हें, किन्तु परीक्षण की यह प्रक्रिया उनके बाद लगभग अवरुद्ध हो गयी ।

रामायण के राम का रूप धीरोदात्त ही है—उदात्त भी और धीर भी । यही आदर्श रूप है, जो न तो सुख में सीमातीत सुखी होते हैं न ही दुःख में अत्यन्त

१. महावीर० छठा अङ्क, पृ० २४५,

विचलित[१]। राम की वीरता पर उनकी धीरता, गम्भीरता का प्रभाव सदा ही सुखकर लगता है। किन्तु भवभूति ने राम की वीरता को प्रमुखता देने के निमित्त ही महावीरचरित की रचना की, ऐसा लगता है। उत्तररामचरित में भी उनके करूणालाप को, एक मानव की-सी करुणा के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यही उनकी मौलिकता है। राम की यह वीरता उनके औदात्त्य की अपेक्षा कितनी प्रकृष्टरूप में उभर सकी है यही विवेच्य है, प्रकृत स्थल पर। किन्तु इससे औदात्त्य को, वीरता का विरोधी नहीं माना जाना चाहिए। औदात्त्य वीरता को द्विगुणित करता है, किन्तु यह तभी जबकि वीरता निर्जीव न हो, उसमें प्राण हों।

इस रूपक का अङ्गीरस वीर है[२]। वीर रस की विवेचना में पर्याप्त शास्त्रार्थ है, क्योंकि विभिन्न आचार्यों ने इसके नाना भेद किए हैं। किन्तु उनमें युद्धवीर, दानवीर, दयावीर, और धर्मवीर के रूप में इसके चार प्रमुख भेदों के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं हैं। जैसाकि अभिधान से ही स्पष्ट है इसका आधार वीररस के स्थायीभाव उत्साह की प्रक्रिया पर अवलम्बित है। युद्ध, दया, धर्म अथवा दान के प्रति उत्साह की भावना के आधार पर ही यह विभाजन है। इसके अतिरिक्त भी अन्य गुणों के आधार पर इसके अन्य रूपों की भी कल्पना की जाती है। यही कारण है कि इसकी संख्या में अन्तर है[३]। किन्तु वीरता, वीर भावना, उत्साह का सही अर्थ युद्ध के सन्दर्भ में ही

---

१. महावीर० ६.७

२. महावीर० १.२, ३

३. (क) वीरः प्रतापविनयाध्यवसायसत्त्वमोहाविषादनयविस्मयविक्रमाद्यः।
उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात् त्रेधा किलात्रमतिगर्वधृतिप्रहर्षाः॥
—द० रू० ४.७२

(ख) नयादिविभावः स्थैर्याद्यनुभावो धृत्यादिव्यभिचारि उत्साहो धर्मदान युद्धभेदो वीरः। —काव्यानुशासन

(ग) निरायुधस्याप्येकस्य हीनस्यापि परिच्छदैः। अभीतिर्बहुभिर्युद्धं व्यवसायो रणे मदः॥ हर्षशस्त्रास्त्रघातेषु समरादपलायनम्। भीताभयप्रदानं च प्रपन्नस्यार्तिभाजनम्॥ एवं युद्धात्मको वीरस्तज्ज्ञैकविभिरीरितः। अर्थिनामीप्सितादर्थात् प्रदायेभ्योऽधिकं बहुः॥ अर्थिनः पुनरायातान् स्वजनानितरानपि। यन्मानयति दानेन वाक्येन मधुरेण च॥ एतद्दानात्मको वीरः कथ्यते दानशीलिभिः। व्याधिदारिद्र्य शस्त्रास्त्रक्षुत्पिपासादिपीडितान्। अनुगृह्णयति यः प्रीत्या स वीरः स्याद् दयात्मकः॥—भावप्रकाशन, तृतीय अधिकार

(घ) स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितः चतुर्धा स्यात्।—सा० द० ३.२३४

करना उचित है। विरोधियों के हनन और उच्छेद के ही सन्दर्भ में वीर का प्रयोग न्यायसंगत है 'विरुद्धान् राति लाति हन्ति छिनत्ति' ही वीर की उचित व्याख्या है।

भवभूति ने 'महावीर' इस विशेषण द्वारा राम के प्रत्येक महान् गुण को वीरता का पर्याय माना है, किन्तु नायक राम के चरित में अपने शत्रु के उच्छेद के प्रति कितना उत्साह है और इस उत्साह का वे किस प्रकार प्रदर्शन कर पाते हैं यही विवेचना यहाँ अपेक्षित है। प्रताप से विभावित युद्ध आदि से अनुभावित गर्व आदि से युक्त स्थायीभाव उत्साह के माध्यम से वीररस की निष्पत्ति होती है[१]। भवभूति ने राम के ऐसे वीर रूप को उभारने में कुछ शीघ्रता की है और आरम्भ में ही वे उन्हें वन में धर्मद्रोहियों के संहारक रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। विश्वामित्र यद्यपि उन्हें ले ही गए हैं, इसी उद्देश्य से, किन्तु इसे ही उन्होंने अत्यन्त अनाटकीयता से प्रस्तुत कर दिया है। राम का जो वीर-रूप कुशध्वज को दिखाई पड़ता है[२], उसका सर्वप्रथम दर्शन अहल्या के उद्धार में होता है, जो राम के पौराणिकरूप-धर्मोद्धारक, धर्मवीर रूप को ही प्रकट करता है।

उनके धर्मवीर रूप को नाटककार ने स्थान--स्थान पर प्रस्तुत किया है। अपने समक्ष जामदग्नि को देखकर राम की प्रतिक्रिया अत्यन्त धीर-वीर एवं एक शिष्य के समान प्रकट होती है। वे कहते हैं, उनका हाँथ नव-शिक्षित धनुर्विद्या को कार्य रूप में परिणत करने के साथ ही परशुराम को चरण-वन्दना को व्याकुल हो रहा है[३]। परशुराम की यशोगाथा के व्याज से भी राम के चरित्र का यही रूप उभरता है। वे बार-बार उनकी वन्दना करते हैं[४]। किन्तु परशुराम की गर्वोक्तियों, क्षात्रवध की प्रतिज्ञा और परशुराम के आगमन से संत्रस्त नृप-नृपपुरोहित-अन्तःपुर-पौर एवं परिजन यहाँ तक कि विश्वामित्र एवं वसिष्ठ द्वारा भी व्यक्त की गयी अनिष्ट सम्बन्धी आशङ्काएँ परशुराम के चरित्र को नक्षत्राकाश तक पहुँचा देती हैं। उनकी तुलना में राम का व्यक्तित्व एकबार सभी को बौना लगने लगता है[५]। नाटककार द्वारा राम की तुलना में परशुराम के चरित्र को इतना उठाना और फिर उनके गर्व को राम द्वारा ही खण्डित कराना, राम के चरित्र को, उनकी धीरता को उनकी उदारता, औदात्त्य और उनकी वीरता को, उनके पराक्रम को, निःसीम बनाता है। यह 'नायक चरित्र' को उठाने-उभारने की सर्वश्रेष्ठ तकनीक है[६]।

---

१. प्रतापविनयादिभिर्विभावितः, करुणायुद्धदानैरनुभावितः, गर्वधृतिस्मृतिहर्षामर्ष-मतिवितर्कप्रभृतिभिर्भावितः उत्साहः स्थायी स्वदते भावकमनोविस्तारानन्दाय भवतीत्येष वीरः--द० रू० ४.७२ वृत्ति भाग

२. महावीर० १.१८
३. महावीर० २.३०
४. महावीर० २.४५
५. महावीर० ३.३
६. काव्यादर्श १.२२

राम की दृष्टि में वध्य होते हुए भी रावण गुणी है । लक्ष्मण को वे आरम्भ में ही समझाते हुए कहते हैं—वह ब्रह्मा का प्रपौत्र है । रावण को अधार्मिक प्रवृत्ति का उल्लेख करने पर राम लक्ष्मण से कहते हैं—'कामं शत्रुरिति वध्यः स्यात् । न पुनरतिवीर्यमप्रमेयतपसमप्राकृतं प्राकृतवदर्हसि व्यपदेष्टुम् ।' वह वध के योग्य तो है शत्रु होने के कारण, किन्तु अप्रमेय पराक्रम एवं तप से युक्त है, अतः असाधारण चरित्र तो वह है ही । राम रावण के पराक्रम से कितने अभिभूत हैं इसका अनुमान इसी से हो जाता है कि वे कहते हैं स्कन्द को पराजित करने वाले परशुराम के अतिरिक्त उससे बड़ा पराक्रमी दूसरा कोई नहीं है[१] । रावण के प्रति राम के हृदय में यह सम्मान शत्रु सम्मान, नायक के चरित्र को—चरित्र के औदात्त्य को द्विगुणित करता है और दूसरी ओर इसके माध्यम से राम के वीरोचित गुणों के प्रकर्ष का दिग्दर्शन भी कराता है ।

राम एवं बालि का प्रसंग 'महावीरचरित' में व्यापकरूप से उठाया गया है । बालि को राम के मार्ग में बाधक एवं रामवध की योजना के नायक-रूप में नियुक्त किया गया है । राम द्वारा बालि जैसे महावीर के दर्शन का उत्साह, प्रतिस्पर्धी के प्रति उनके वीरोचित व्यवहार का परिचायक है । स्थान-स्थान पर नाटकीय-अनाटकीय ढंग से राम के चरित्र की उनके प्रतिस्पर्धी चरित्रों से तुलना की प्रक्रिया चलती रहती है[२] । राम प्रकट रूप में मात्र-प्रदर्शन के लिए ही बालि के प्रशंसक नहीं हैं[३] । इसके विपरीत बालि भी राम की वीरता और पराक्रम से अभिभूत है । ऐसा ही परशुराम भी कहते हैं । वीर तो वही है कि शत्रु भी, प्रतिस्पर्धी भी, उसकी प्रशंसा करे; इसी मर्यादा का पालन सर्वत्र किया गया है । राम पुरुष-श्रेष्ठ हैं जो अपने से श्रेष्ठ वीरों के चरित्रों को अपने चारित्रिक गुणों से जीतते रहते हैं । राम के इस गुण की सत्यापना तुरत ही होती है जब बालि राम से कहता है, 'राम तुम मुझे अत्यन्त प्रिय हो, किन्तु अब तुम युद्ध के लिए उन हाँथों में शस्त्र ग्रहण करो जिनसे तुमने परशुराम को जीता है[४] । जिस पर राम की त्वरित प्रतिक्रिया बालि की वीरता को ध्वस्त करती हुई प्रतीत होती है, राम कहते हैं—'आपको देखने की इच्छा आज पूरी हुई किन्तु जब तक आपके हाँथ में शस्त्र न हो मैं शस्त्र कैसे ग्रहण कर सकता हूँ[५] । राम की इस वीरता मिश्रित विनम्रता की तुलना में बालि की गर्वोक्ति देखने योग्य है—'भो महाक्षत्रिय, किमित्यननुकम्पनीनयाप्येवमस्माननुकम्पसे' अर्थात् 'मैं दया का पात्र नहीं हूँ फिर भी मुझ पर दया क्यों कर रहे हो । मेरी चारित्रिक वीरता को सकल लोक जानता है, शस्त्र द्वारा युद्ध करना मेरे लिए आवश्यक नहीं है और यदि आवश्यक ही है तो यह गिरि ही हम

१. महावीर० १.३३ २. महावीर० ५.३९
३. रामः (स्वगतम्)-महावीरः सः । —महावीर० पाँचवाँ अङ्क
४. महावीर० ५.४९ ५. महावीर० ५.५०

वानरों के लिए शस्त्र हैं[1]।' यह गर्वोक्ति निश्चय ही राम के चरित्र को उभारती है, वस्तुतः यहीं से बालि के चरित्र का पतन आरम्भ हो जाता है।

राम वीर होते हुए भी विनम्र हैं, यह भी उनकी धर्मवीरता है, औदात्त्य है, प्रतिस्पर्धी चाहे रावण हो अथवा बालि अथवा परशुराम सभी उद्धत हैं, वीर हैं, महावीर हैं और विकत्थन हैं। राम में शिष्टता, सदाचार, विनम्रता के साथ वीरता और पराक्रम है किन्तु उस पर उन्हें कहीं भी गर्व नहीं है। युद्ध में, वाक्–युद्ध एवं शस्त्र-युद्ध दोनों में ही वे अपनी शिष्टता का परित्याग नहीं करते। अपने प्रतिस्पर्धियों की तुलना में उनकी यह महानता ही उनकी वीरता को उन्नति के शिखर पर पहुँचाती है। जहाँ से परशुराम, बालि एवं रावण के चरित्र लघु से लघुत्तम होते हुए प्रतीत होते हैं। भवभूति ने राम की दया, करुणा और मर्यादा के चित्रण का भलीभाँति निर्वाह किया है। ताटका के वध की बात उनके मन को उचित प्रतीत नहीं होती, वे कहते हैं— 'भगवन् स्त्री खल्वियम्' उनकी यह दया वीरोचित है। नाटक का अङ्गीरस वीर होते हुए भी स्थान-स्थान पर करुणा और दया के अनेक स्थल हैं। वे उपयुक्त हैं, राम के दयावीररूप को उभारने के लिए जो जटायु की मृत्यु से भी खिन्न होते हैं और सीता के शोक से भी अभिभूत होते हैं।

राम के धर्मवीर रूप के लिए वैसे तो सम्पूर्ण नाटक ही है किन्तु उनकी धर्म-वीरता मन्थरा से माँ कैकेयी का संवाद पाने के बाद भी देखने योग्य है। वे माँ की इच्छा के लिए दशरथ को भी मर्यादा-वचन के पालन की बात का ध्यान दिलाते हैं। वे न तो विचलित होते हैं न ही विवाद करते हैं। वे माँ की 'शीघ्रवनगमन' की इच्छा को शीघ्र ही पूर्ण करना चाहते हैं। युधाजित से उनके सम्वादों में भी कर्तव्य-पालन की भावना प्रबल है। वस्तुतः पौराणिक दृष्टि से रामवनगमन का जो कारण है, कवि ने उसे अस्वीकार करते हुए नवीनता लाने का प्रयास किया है। अतः यदि कवि की कल्पना के ताने बाने में रहकर ही देखा जाए तभी राम के उस रूप को समझा जा सकता है। सब कुछ केवल ईश्वराधीन है ऐसा मानकर यह सब समझना सरल नहीं है। कवि भी सामाजिक को यह बताना चाहता है कि राम के चरित्र में भी वे दोष हैं जो एक मनुष्य में होते हैं। वे भी अपने प्रतिद्वन्द्वी के षड्यन्त्र से अपरिचित हैं, और रावण के मन्त्री माल्यवान् के षड्यन्त्र में फँस जाते हैं। इस व्याज से रावण की, उसके पक्ष की विजय का यह प्रसंग अकृत्रिम है।

---

१. ज्ञाता एव वयं जगत्सु चरितैर्वाग्भिः किमाख्यायते
संयत्तो भव सत्यमस्ति भवतः सत्यं मनुष्यो भवान्।
शस्त्रैरव्यवधीयमानविजयाः प्रायो वयं तेषु चेद्
ग्राहस्ते सुखमाश्वसन्ति गिरयो यैः वानराः शस्त्रिणः॥ —महावीर० ५.५१

कान्तिहीन रावण की प्रतिद्वन्द्विता

नायक प्रतिनायक पक्ष के मध्य अन्तररेखा खींचते हुए माल्यवान् स्वयं कहता है, 'राम तो स्वभावतः धर्म के रक्षक हैं और हम सब धर्म द्रोही हैं, अतः सशक्त प्रतिपक्षी के साथ हमारा विरोध है[1] ।' इस विरोध के मूल में एक दूसरे कारण की ओर संकेत करते हुए वह कहता है—रावण द्वारा सीता की याचना करने पर भी उसकी कामना पूर्ण नहीं हुई, इसके विपरीत राम जैसे शत्रु को वह कन्या दे दी गयी, अतः शत्रु के सम्मान और यश का उत्कर्ष और रावण का अपमान और उस पर भी सीता जैसे रत्न का हाँथ से निकल जाना स्वभाव से क्रोधी रावण कैसे सह सकता है[2] ।

प्रतिद्वन्द्वी रावण साक्षात् मञ्च पर छठे अङ्क में ही आता है और उस समय भी वह सीता के रूप पर मोहित एक कामुक से अधिक कुछ भी नहीं है । अपने दर्प-अहङ्कार के मद में चूर उसकी विकत्थना मृच्छकटिक के शकार की गर्वोक्तियों से पर्याप्त मिलती-जुलती है[3] । 'महावीरचरित' में रावण का चरित्र किसी हारे हुए सेनापति के सदृश है । मन्दोदरी द्वारा रिपुपक्षाभियोग की बात उठाना, स्त्री द्वारा पति को युद्ध के प्रति प्रेरित करना, किसी वीर और स्वाभिमानी के अनुरूप नहीं है । परन्तु रावण को यह अपमानजनक नहीं प्रतीत होता । वह तो कहता है—कथं रिपुः ? (कथं) तत्पक्षः (कथं) अभियोगः ? अर्थात् माल्यवान् की चिन्ता व्यर्थ है, शूर्पणखा का प्रयास निरर्थक है; ऐसा है रावण, जो शक्ति के मद में अपने प्रतिद्वन्द्वी की शक्ति का अनुमान नहीं कर पा रहा है । मन्दोदरी द्वारा बार-बार उत्तेजित करने पर भी उसमें उत्साह उदित नहीं होता । अतएव उसकी विकत्थना मात्र गर्वोक्तियाँ है उनमें वीर रस का परिपाक नहीं हो पाता है ।

---

१. निःसर्गेण स धर्मस्य गोप्ता धर्मद्रुहोवयम् ॥ –महावीर २.७

२. महावीर० २.६

३. मृच्छकटिक० ८।१८, १६, ३१, ३४, ३५ तथा देखें :

'It is notable that in by far the greatest of the Rama plays, Bhavabhuti's mosterpiece, Ravana dose not appear. In the works where he does appear he more nearly resembles a hostile force in nature than a hostile force in society or an enemy of the people. Significantly, during the long centuries of decline in Hindu stage, Ravana became in popular presentations a god to be placated or even a half-humorous figure.'

—CDI Page 83

इतना ही नहीं राम की वानर-सेना जब समुद्र को लाँघ कर लङ्का में प्रविष्ट हो चुकी है तब भी कामुक रावण अशोक वन में मन्दोदरी को पार्श्व में बिठाकर अपनी शक्ति का व्याख्यान करता नहीं थकता, तभी तो सेनापति प्रहस्त भी दुखी होकर कहता है 'कथं अद्यापि अनभिज्ञ एव देवः'। यह रावण की निश्चिन्तता किंवा आलस्य की दिशा में भी संकेत है। इसी प्रकार अङ्गद द्वारा राम का सन्देश पाकर भी वह अपने स्थान से नहीं उठता। सेनापति प्रहस्त को वहीं से आदेश देता है कि राक्षसगण जाकर राम के वानरों के खण्ड-खण्ड कर दें। युद्ध में राक्षसों के पुनः विनाश की नेपथ्य-सूचना के बाद ही वह मन्दोदरी को अन्तःपुर में भेजकर वहाँ से उठता है। इसके बाद रावण पुनः मञ्च पर नहीं आता और उसकी युद्ध-वीरता को वर्णन द्वारा ही, मातलि-इन्द्र एवं चित्ररथ के वार्तालाप के माध्यम से बताया गया है। तात्पर्य यह कि रावण के चरित में न तो उत्साह है न ही औद्धत्य का विकास। वह पीला-पीला मृतप्राय है। भवभूति ने ऐसा क्यों किया कह पाना कठिन है। किन्तु ऐसा लगता है माल्यवान् के रूप में उन्होंने जिस नवीन चरित्र की कल्पना की है, सारी राज्य चिन्ता उन्होंने उसी पर छोड़ दी है। रावण के इस रूप को देखकर एक शङ्का उठती है कि कहीं भवभूति ने रावण को 'धीरोद्धत' प्रतिनायक के स्थान पर एक सचिवायत्त राजा के रूप में चित्रित करने का प्रयास तो नहीं किया है? जिससे कि उसे धीरललित प्रतिनायक के रूप में प्रस्तुत किया जा सके। सत्य जो भी हो रावण का जो रूप होना चाहिए था वह बन नहीं सका है।

राम के चरित्र के लिए रावण-चरित्र की उपादेयता को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि भवभूति ने अपनी प्रतिज्ञा के अनुरूप राम को धर्म का गोप्ता और रावण को धर्म का उच्छेदक मानकर राम के समक्ष उसे महाप्रमादी दिखा कर दोनों की तुलना की भावना का तिरस्कार किया है। वे रावण में ऐसा कुछ नहीं पाते कि उसे राम के समक्ष प्रस्तुत करें। इसीलिए वे उसे मञ्च पर; सामाजिक के समक्ष भी प्रस्तुत करने में संकोच का अनुभव सा करते हैं। तात्पर्य यह कि रावण राम के चरित्र के विकास में प्रत्यक्षतः कोई योगदान नहीं करता और जो कुछ भी उसकी प्रति-द्वन्द्विता उभरती भी है वह उसके अन्य सहायकों-माल्यवान्, शूर्पणखा, बालि एवं परशुराम के माध्यम से ही उभरती है।

प्रतिनायक माल्यवान् और नायकोत्कर्ष

रावण के इस सचिवायत स्वरूप के परिप्रेक्ष्य में माल्यवान् की भूमिका स्वतः महत्त्वपूर्ण हो उठती है। सीता की याचना से लेकर राम को लङ्का में प्रवेश के लिए बाध्य करने तक की योजना को माल्यवान् ने भलीभाँति निभाया है। उसने एक सफल कूटनीतिज्ञ की भाँति अपने स्वामी के लिए सब कुछ किया, फिर भी यदि रावण पराजित

होता है तो माल्यवान् का क्या दोष—'यत्ने कृते यदि न सिद्धयति कोऽत्रदोषः' । इस रूप में देखा जाए तो 'मुद्राराक्षस' के राक्षस की भाँति यहाँ माल्यवान् ही मुख्य प्रतिनायक है जो रावण के लिए हर प्रकार के कार्य करता है । मारीच, सुबाहु एवं ताटका के पराजय एवं संहार की सूचना से भी माल्यवान् विचलित नहीं होता, किन्तु राम की यह विजय उसके हृदय को शालती अवश्य है । शिवधनु का भङ्ग, मुनि विश्वामित्र द्वारा प्रदत्त ब्रह्मास्त्रों की शक्ति, महर्षि अगस्त द्वारा माहेन्द्र धनुष का दान यह सब मिलकर राम की शक्ति को बढ़ाते हैं, इसे जानकर उसके मन में शङ्का अवश्य उत्पन्न होती है[1] । किन्तु एक विश्वास के साथ वह विशाखदत्त के राक्षस की तरह[2] अपने कार्य में लग जाता है । उसे विश्वास है कि उसकी विजय होगी । यही उसका साचिव्य है, उसकी निष्ठा है ।

माल्यवान् ही वह चरित्र है जो रावण की विजय के लिए सतत प्रयास करता है । इस निमित्त न तो रावण का स्वयं कोई प्रयास है न ही बालि का कोई महत्त्व है । राम को वश में करने की उसकी योजना के कारण राम के चरित्र को बल मिला है । क्योंकि राम की शक्ति से लोहा लेने के लिए ही तो माल्यवान् सारी व्यूहरचना करता है । माल्यवान् की इस व्यूह-रचना में परशुराम तथा बालि का महत्त्वपूर्ण स्थान है । उसकी योजना के अङ्ग होते हुए भी दोनों इससे अपरिचित हैं ।

परशुराम को राम के विरुद्ध उत्तेजित करके वह कई लाभ उठाना चाहता है । (क) राम का संहार,[3] (ख) अथवा दोनों का ही विनाश,[4] (ग) अन्यथा राम से पराजित हो, अस्त्रों का त्याग कर, परशुराम का वनगमन और भविष्य में राक्षसों की स्वतंत्रता के विरुद्ध परशुराम द्वारा शस्त्र उठाने की सम्भावना की समाप्ति । यद्यपि तीसरी स्थिति को वह हितकर नहीं मानता है[5] । यह उसकी रक्षात्मक नीति है । किन्तु परशुराम की पराजय के बाद माल्यवान् की कूटनीति आक्रामक हो जाती है । क्योंकि उसकी धारणा के अनुरूप[6] ही इन्द्रादि देवता राम का यश गाने में चारणों का सा आचरण करने लग जाते हैं[7] ।

---

१. 'सर्वं प्रायो भजति विकृतिं भिद्यमाने प्रतापे' महावीर० २.४

२. तुलना करें :—'प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेव्यमाना'
—मुद्रा० ४.२२

३. अन्यतर विजयेऽपि ·········· ततश्च नोऽभीष्टं स्यात् । महावीर अङ्क २ पृ० ६७

४. महावीर० २.१२

५. महावीर० अङ्क २ पृ० ६७

६. माल्यवान्··· ·····तदैव रावणपराक्रान्तिनिभृततूर्या देवाः प्रसह्य नमधिकुर्युः ।
—महावीर० अङ्क २ पृ० ६८

७. माल्यवान्—दृष्टस्त्वया दिवौकसामेकायनीभावः, यदिन्द्रादयः स्वतो वन्दित्वमुपागताः । —महावीर० अङ्क ४, पृ० १४३

उसकी इस आक्रामक नीति के अनेक भाग हैं :—

(क) शूर्पणखा को मन्थरा के रूप में जनकपुरी भेजकर सीता एवं लक्ष्मण सहित राम को वन में लाने की योजना, (ख) वन में लाकर सीता का हरण करवा कर (i) रावण को प्रसन्न करना (जो कि उसके साचिव्य की विवशता है क्योंकि रावण उससे विरत नहीं हो सकता) तथा (ii) राम को निस्तेज करना, (ग) दण्डकारण्य में विराध का माया द्वारा राम की शक्ति को क्षीण करना, उन्हें हतोत्साहित करना (घ) राम के साथ ही लक्ष्मण को भी नष्ट करने की योजना, जिससे निकट भविष्य में रघुवंशियों की शक्ति फिर न पनप सके। (च) इस प्रकार सुबाहु तथा ताटका के वध एवं मारीच की पराजय का भी प्रतिशोध ले लेना[१]।

माल्यवान् साम, दाम, दण्ड, भेद सभी नीतियों पर गम्भीरता पूर्वक सोचकर अपनी योजनाएँ बनाता है[२]। उसे यह भी आशा है कि सम्भव है सीताहरण के बाद राम मृत्यु का वरण करें अथवा अपमानित होकर, निस्तेज होकर, सन्धि करने की सोचें[३]। इस पर भी राम के हतोत्साहित न होने पर अथवा हतोत्साह न होकर सन्धि न करने पर और युद्ध के लिए तत्पर हो जाने की स्थिति में अपने अन्तिम अस्त्र के रूप में वह बालि को रख छोड़ता है।

उसकी योजना का एक सूत्र विभीषण भी है जो रावण का सहजशत्रु है[४]। उसमें आभिगामिकता[५] का महान् गुण है। वह जनप्रिय भी है अतः रावण के लिए विभीषणरूपी काँटे को निकालना भी माल्यवान् की योजना का ही एक अङ्ग है। खरदूषण को राम की क्रोधाग्नि में भस्म होने के लिए झोंक देने की योजना के पीछे माल्यवान् का मुख्य उद्देश्य विभीषण को शक्तिहीन करना है। क्योंकि खरदूषण दोनों ही विभीषण के कृपापात्र हैं। अतः विभीषण जब रावण द्वारा अपने प्रियजनों को नष्ट किया जाता

---

१. महावीर० अङ्क ४, पृ० १४६

२. महावीर० ४.३, ४

३. महावीर० ४.५

४. महावीर० ४.७

५. सुशीलत्वं वयस्यत्वं दाक्षिण्यं क्षिप्रकारिता।
अविसंवादिता सत्यं वृद्धसेवा कृतज्ञता॥
देवसम्पन्नता बुद्धिरक्षुद्रपरिवारता।
शक्यसामन्तता चैव तथैव दृढभक्तिता॥
दीर्घदर्शित्वमुत्साहः शुचितास्थूललक्षता।
विनीतता धार्मिकता गुणाः साध्वाभिगामिकाः॥
—कामन्दकीय नीतिशास्त्र

हुआ देखेगा तो स्वयं ही रावण का साथ छोड़ देगा जिससे (i) जनता रावण के विरुद्ध भी नहीं होगी और (ii) विभीषण अपने मित्र सुग्रीव के समीप पहुँचकर बालि का कोप-भाजन बनकर मारा जाएगा।

राम और बालि के मध्य युद्ध की उसकी योजना अन्तिम योजना है जिसमें राम को नष्ट हो जाना है। बालि के हाँथों विभीषण और राम दोनों का नाश अनिवार्य है। विभीषण को रावण का राज्य छोड़ने के सम्बन्ध में उसकी मन्त्रणा उसकी विचार शक्ति की सूक्ष्मता का परिचायक है। प्रकाश-प्रकटदण्ड, छद्‌मदण्ड, संरोधन एवं अपसारण प्रभृति कूटनीतिक मन्त्रों पर विचार करके ही वह विभीषण को बाली के मुख में जाने को बाध्य करने की योजना बनाता है। क्योंकि वह जानता है, बालि से इन दोनों का ही बच पाना असम्भव है और यदि बालि भी राम को नष्ट नहीं कर पाया तो भी उसमें लंका महानगरी का ही भला है।

माल्यवान् की इस योजना के भी अनेक पक्ष हैं :—

(क) बालि द्वारा राम और विभीषण का विनाश, (ख) शत्रु के पक्ष से मिले हुए जनप्रिय विभीषण के नष्ट होने पर भी जनता के विद्रोह का न होना, (ग) सुग्रीव से मैत्री होने से राम सुग्रीव के साथ विभीषण की भी रक्षा करेंगे ही (घ) और यदि राम-बालि युद्ध में बालि मारा गया तो रावण की पराजय पर महानगरी लंका के उत्तराधिकारी के रूप में विभाषण की ही नियुक्ति निश्चित हो जाती है। अर्थात् लंका पर पुनः स्वजातीय राजा की नियुक्ति हो यह भी उसका अभीष्ट है। माल्यवान् की दूरदर्शिता ही है यह कि वह बालि और राम के युद्ध को ही निर्णायक मानता है। क्योंकि बालि जिसने रावण को अपने बाहुपार्श्व में दबाकर सन्ध्या-पूजन किया वह रावण से अधिक शक्तिशाली तो है ही, यदि वह भी राम से पराजित हो जाता है तो रावण का पतन होना ही है। अतः वह रावण के बाद भी अपने किसी वंशज को ही अपनी नगरी पर अधिष्ठित देखना चाहता है। उसका मोह रावण से इतना ही है कि वह उस समय लंकाधीश है। अन्यथा वह एक देशभक्त अमात्य की भाँति अपनी कूटनीतिक मन्त्रणा पर विश्वास करने वाला चरित्र है।

माल्यवान् की इस सम्पूर्ण मन्त्रणा का तत्त्व है राज्यसत्ता को अपने ही अधीन रखना। जिसके लिए वह खरदूषण और विराध, दनु, कबन्ध आदि के प्राणों की बलि चढ़ाने में नहीं हिचकिचाता यहाँ तक कि प्रकारान्तर से वह रावण और विभीषण में से भी एक की बलि चढ़ाने में संकोच नहीं करता और अन्त में वह अपनी इस योजना में सफल भी होता है।

वह राम का सफल प्रतिरोद्धा है। उसकी इन सारी योजनाओं का प्रमुख उद्देश्य राम का प्रतिरोध करना है और किसी भी रूप में अपने राज्य को राम के

हाथों से बचाना है। उसकी नीति के सुरक्षा और आक्रमण दोनों ही पक्ष राम के चारों ओर केन्द्रित हैं। इससे राम का चरित्र स्वतः विकास पाता है। माल्यवान् द्वारा राम के मार्ग में अवरोध डालने से राम की गति स्वतः बढ़ती जाती है। उनका चरित्र उभरता जाता है। माल्यवान् की विशेषता यही है कि वह जिधर चाहता है राम को ले जाता है, और राम की विशेषता यह है कि वह उसके अभीष्ट मार्ग पर चलते हुए ही उसके नीतिपाशों को छिन्न-भिन्न करते हैं।

महावीरचरित में माल्यवान् के होने से राम के वीर रूप को उभारने में भरपूर सहायता मिली है। इतना ही नहीं राम के प्रत्येक आचरण को माल्यवान् के माध्यम से ही तर्क संगत बनाया गया है। राम व्यर्थ ही वीर नहीं हैं, वे माल्यवान् और उसके द्वारा प्रयुक्त महावीर परशुराम[1] और महावीर बालि[2] जैसे प्रतिद्वन्द्वियों को पराजित करने वाले महावीर हैं। रामवनवास, सीताहरण, बालिवध, विभीषण की मैत्री, यहाँ तक कि शिवधनु के भंग होने पर परशुराम के क्रोध को भी माल्यवान् की योजनाओं के माध्यम से तर्कसम्मत बनाकर भवभूति ने राम, परशुराम और बालि तीनों को ही महावीर रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यदि माल्यवान् के चरित्र से कर्त्तव्य-निष्ठा के कारण किए जाने वाले षड्यन्त्रों को हटा लिया जाए तो वह एक धीरशान्त प्रतिनायक प्रतीत होता है।

नायकोत्कर्ष के लिए जामदग्नि का प्रतिनायकत्व

दुर्वासा और परशुराम पौराणिक दृष्टि से क्रोध की साक्षात् मूर्ति हैं। महावीरचरित में भी परशुराम उग्रता, क्रोध और औद्धत्य के पर्याय हैं। वे क्षत्रियहन्ता तो हैं ही रावण भी उनसे पराजित हुआ है— वही रावण जो आगे चलकर राम का मुख्य प्रतिद्वन्द्वी बनता है। राम की प्रतिद्वन्द्विता में आने वाले परशुराम में किसी वीर के उपयुक्त सभी गुण विद्यमान हैं—उनके पराक्रम से रावण और कार्तवीर्य दोनों ही पराजित हो चुके हैं। उन्होंने २१ बार क्षत्रियों का विनाश किया है, वे क्रौंच पर्वत के उद्भेदक होने के कारण एवं स्कन्द की सेना को पराजित करने के कारण लोक विश्रुत हैं। अर्थात् परशुराम की कीर्ति गाथाएँ लोक-कथाओं की भाँति सभी के मुख पर हैं। सीता के अन्तःपुर की सखियाँ भी इसे जानती हैं। अपने इन गुणों के कारण उनका चरित्र ऋग्वेद के महान् नायक इन्द्र के पर्याप्त निकट है। परशुराम का यह रूप तो उनकी पौराणिक ख्याति पर आधृत है। प्रस्तुत रूपक में उनका चरित्र किस प्रकार का है यह देखना अधिक न्याय संगत होगा। वे विकत्थन हैं, वे उद्धत हैं, दर्प से संपृक्त हैं

१. महावीर० २.१६

२. रामः –(स्वगतम्) महावीरः सः। —महावीर० पाँचवाँ अङ्क पृ० २२७

वे वीर हैं, अर्थात् राम की वीरता के प्रशंसक होते हुए भी उसके संहार में समर्पित हैं। गुरुभक्ति चाहे शिवधनु के सन्दर्भ में हो अथवा वसिष्ठ के प्रति, उससे वे ओत-प्रोत हैं। इस सन्दर्भ में सबसे बड़ी विशेषता है उत्साहपूर्वक उनका रङ्गमञ्च पर प्रवेश और उत्साहपूर्वक ही निर्गमन। वे राम को जिस उत्साह के साथ निगृहीत करने आते हैं— राम से स्वयं निगृहीत होकर वे राम को अपना धनुष भी देने में संकोच नहीं करते, यह उनकी वीरता और उनके प्रायश्चित्त के अनुकूल है।

राम की वीरता को, धीरता को, नम्रता को, दर्शाने के लिए उनके प्रतिद्वन्द्वी परशुराम के चरित्र में भी ऐसे ही गुणों को दिखाना आवश्यक है। किन्तु दोनों की वीरता में अन्तर है, एक में गर्व का मिश्रण है तो दूसरे में शिष्टता और विनम्रता का। एक का उत्साह धर्ममूलक है तो दूसरे का क्रोधमूलक। राम में धैर्य और उदारता, औदात्त्य और गुरुभक्ति कूट-कूट कर भरी है तो परशुराम में शिव और वसिष्ठ के प्रति व्यक्त श्रद्धा उनके गर्व के साथ प्रतिष्ठित है। फिर भी दोनों के चरित्रों की तुलना करते हुए परशुराम अधिक वीर, दृढ़, परिपक्व और सशक्त लगते हैं। नायक के समक्ष प्रतिद्वन्द्वी के ऐसे चरित्र का विकास ही नाटककार की सफलता है। क्योंकि नायक से शक्तिशाली लगने वाले प्रतिनायक का दमन नायक को उस शक्ति रेखा से ऊपर प्रतिष्ठित करता है। यह दो महावीरों के बीच प्रतिद्वन्द्विता का प्रसंग है और इस रूप में महावीरचरित का नामकरण उचित है।

वसिष्ठ, विश्वामित्र, शतानन्द, जनक एवं दशरथ सभी से उनका विवाद होता है जिसमें स्पष्टरूप से वे वसिष्ठ की विद्वत्ता के प्रति किसी सीमा तक नतमस्तक हैं, अवशिष्ट सभी चरित्र उनके लिए अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है, कम से कम शतानन्द, जनक एवं दशरथ तो उनकी दृष्टि में तुच्छ प्राणी ही हैं।

परशुराम का सही मूल्याङ्कन वसिष्ठ ही करते हैं। वे सोचते हैं—'गुणों से महान् होते हुए भी स्वभाव से यह असुर है और सभी प्रकार के उत्कर्ष के कारण इसका दर्प भी बढ़ गया है'[1]। जामदग्नि के क्रोध के मूल में जो जाति-गत घृणा है[2] वह उनका कलङ्क है पर अपने को क्षत्रियहन्ता कहलाने में उन्हें गर्व का अनुभव होता है[3]। उनके गर्व से विश्वामित्र भी रोमाञ्चित हो उठते हैं[4]। राम को उनका गर्वपूर्ण

---

१. वसिष्ठ (स्वगतम्) कामं गुणैर्महानेष प्रकृत्या पुनरासुरः।
उत्कर्षात्सर्वतावृत्तेः सर्वाकारं हि दृप्यति। महावीर० ३.१२

२. जनक के प्रति—'सद्वृत्त एषः। तथापि क्षत्रिय इति शिरःशूलमुत्कोपयति।
—महावीर० द्वितीय अङ्क पृ० ९७

३. महावीर० २.२९, ४८, ३.१४, २४, २८, ३७, ४१, ४४, ४८

४. विश्वामित्रः (स्वगतम्) संपूजितं हि माहात्म्यमुद्गिरन्त्यः पदे पदे।
अपि मर्मावधो वाचः सत्यं रोमाञ्चयन्ति माम्॥
महावीर० ३.१०

घोषणाओं में अत्युक्ति लगती है[१]। ध्यान देने की बात यह है कि राम हों अथवा वसिष्ठ अथवा विश्वामित्र सभी के कान उनकी गर्वोक्तियों से पक गए हैं फिर भी सभी उनसे भयभीत हैं, अतः उनकी प्रतिक्रियाएं स्वगत कथनों के रूप में ही अभिव्यक्ति पाती है।

संक्षेप में उनकी विकत्थनाएं[२] हो अथवा गर्व[३] अथवा क्रोध[४] अथवा वीरता[५] सभी का पर्यवसान राम की विजय में और परशुराम के दर्प के विखण्डन में होता है[६]। अन्त में अपने उद्दण्ड और उद्धत स्वभाव के कारण, वसिष्ठ विश्वामित्र प्रभृति महर्षियों को अपमानित करने के कारण तथा जनक जैसे राजर्षि तथा दशरथ जैसे लोकविश्रुत राजा को तिरस्कृत करने के कारण, आत्मग्लानि का अनुभव करते हुए इस पाप की भावना का प्रायश्चित्त करते हैं[७]।

अपने उपर्युक्त गुणों के आधार पर परशुराम एक सशक्त प्रतिद्वन्द्वी हैं। उनमें माल्यवान् द्वारा अपने कार्य के लिए उत्तेजित व्यक्तित्व के अनुरूप सभी कुछ है। फिर भी वे माल्यवान् के षड्यन्त्र से अपरिचित हैं और इस प्रकार माल्यवान् के अस्त्र के रूप में, उन्हें राम की प्रतिद्वन्द्विता में प्रस्तुत करते हुए भवभूति भी उन्हें जामदग्नि की ही इस उक्ति के माध्यम से प्रतिनायक मानते हैं—

> रामः कर्मभिरद्भुतैः शिशुरपि ख्यातस्ततोभार्गवः
> कस्मात्प्राप्य तिरस्क्रियामसहनोऽप्यस्थादिति प्रस्तुते।
> को विद्याद्गुरुगौरवादिति भवेज्ज्ञातापि वक्ता पुनः
> नत्वेवास्ति तथास्थितस्य सुलभद्वेषं हि वीरव्रतम्॥—महावीर० ३.३

अर्थात् 'महान् महत्स्वेव करोति विक्रमम्' राम शिशु होते हुए भी वीर हैं

---

१. रामः (स्वगतम्) अहो गर्वगौरवस्याभोगः।—महावीर० द्वितीय अङ्क पृ० ९१

२. महावीर० २.२८, २.३३, ३४, ३७, ४८

३. महावीर० २.४७, ३.१४, २४, ३७,

४. महावीर० पृ० १०१, ११८, २.४६, ४९ ३.२८, २९, ३२, ४०, ४१

५. महावीर० २.३२, ३७, ४९, ३.३,६

६. जामदग्न्य :—अपराद्धं किं त्वया। ननूपाकृतम्।
पुण्या ब्राह्मणजातिः…………दर्पामयः॥ महावीर० ४.२२
अनतिक्रमणीयो रामनिदेशः।
स एष रामः सौम्यत्वादचण्डश्चण्डशासनः।
यस्य प्रतिष्ठितं जैत्रं जामदग्न्येऽपि शासनम्॥ महावीर० ४.२४

७. महावीर० ४.२५

इसीलिए परशुराम उनसे युद्ध करना चाहते हैं, यही वीरों का व्रत है। किन्तु उनका यह व्रत पूर्ण नहीं हो पाता।

अन्त में, वे राम से पराजित होकर प्रायश्चित्त करते हैं और वह भी उत्साह-पूर्वक। यही तो संस्कृत साहित्य के प्रतिनायकों का महनीय गुण है। अन्त में अपने धनुष का दान करते समय[1] वे उत्साहपूर्वक कहते हैं कि इसका उपयोग ऋषियों को सताने वाले राक्षसों के विनाश के लिए हो[2]। यह कथन माल्यवान् की कूटनीति की असफलता के कारण राम के पक्ष में है। यह राम की द्विगुणित विजय है। माल्यवान् अपने अनुचरों और वंशजों की रक्षा के लिए जिस अस्त्र का प्रयोग करता है वह खण्डित हो जाता है। माल्यवान् निर्बल पड़ जाता है, रावण का पक्ष दुर्बल पड़ जाता है और राम सशक्त हो जाते हैं। परन्तु माल्यवान् ने उसका भी उपाय सोच लिया है[3]। यह उपाय है राम का बनवास, उन्हें दण्डकारण्य में खींच लाना, सीताहरण द्वारा उन्हें निस्तेज बनाकर विराध, दनु, कबन्ध की माया के माध्यम से राम को भयभीत करना और अन्त में उन्हें शक्ति-स्रोत बालि के मुख में झोंक देना[4]। अतः राम के एक अन्य प्रतिद्वन्द्वी की अवतारणा होती है। वह प्रतिद्वन्द्वी है एक अन्य वीर; महावीर बालि।

नायकोत्कर्ष हेतु महावीर बालि के प्रतिनायकत्व का उपयोग

बालि के प्रताप को समझने के लिए आवश्यक है कि चतुर्थ अङ्क के विष्कम्भक को देखा जाए जहाँ माल्यवान् अपनी कूटनीति की तार्किक व्याख्या करता है और शूर्पणखा को समझाता है कि बालि के हाथों उसके दो कार्य सिद्ध हो सकते हैं (क) रावण का परित्याग करके अपने बालसखा सुग्रीव के पास जाकर विभीषण बालि के हाथों मारा जाएगा[5]। (ख) परशुराम की क्रोधाग्नि में भस्म होने से बचे हुए राम को दण्डकारण्य में लाकर सीताहरण द्वारा निस्तेज करके बालि के हाथों मृत्यु का ग्रास बना दिया जाएगा[6]। अर्थात् माल्यवान् के पास बालि ही वह अमोघ-अस्त्र है जिससे राम और उनके पक्ष को समाप्त हो जाना है।

शूर्पणखा के यह पूछने पर कि यदि राम ने परशुराम की तरह ही बालि को भी पराजित कर दिया तो क्या होगा? माल्यवान् कहता है, 'जिसने बालि को मार दिया उसके हाथों हम सबका विनाश अवश्यम्भावी है। ऐसी स्थिति में हमारे कुल का दीपक विभीषण ही जीवित रहे और धर्मात्मा राम उसे ही राज्य दें यही अभीष्ट होगा।' इस कथन में जहाँ रावण और बालि की तुलना है वहीं बालि का रावण से

१. महावीर० ३.३७ २. महावीर० ३.३८
३. माल्यवान्––तत्रापि शक्तितः प्रतिविधास्यते। महावीर० द्वितीय अङ्क, पृ० ६९
४. देखें : महावीर० अङ्क—४ का मिश्र-विष्कम्भ।
५. महावीर० अङ्क चार, पृ० १५४ ६. महावीर०, पृ० १४६, तथा ४.६

अधिक शक्तिशाली होना सिद्ध होता है। इसके साथ ही प्रतिनायक माल्यवान् का आत्मसमर्पण भी इस कथन से ध्वनित होता है।

लक्ष्मण की जिज्ञासा की शान्ति के लिए श्रमणा बालि को जिस वीरता का व्याख्यान करती है[1], वह उसका पौराणिक रूप है। उसकी वास्तविकता को परखने को राम स्वयं व्याकुल हैं[2]। यह राम की चारित्रिक विशेषता है। फिर भी राम की वीरता का चित्र फलक बनाते हुए भवभूति ने बालि की तुलना बड़ी अनाटकीयता के साथ की है। श्रमणा कहती है 'बालि ने जिस दुन्दुभि राक्षस की अस्थियों के अम्बार को दो हाँथ लगाकर हटाया उसे राम ने मात्र अंगूठे से हटा दिया[3]। बालि के मञ्च पर प्रवेश में नाटकीयता है, वह नेपथ्य में माल्यवान् को सम्बोधित करके कहता है, 'मातामह तुम जाओ मैं तुम्हारे आग्रह पर राम जैसे साधु का भी वध करूंगा।'

बालि के चरित्र की यह विशेषता है कि वह अपने मित्र रावण के मातामह को अपना मातामह मानकर उसकी आज्ञा पर राम को साधु मानते हुए भी उन्हें मारने की प्रतिज्ञा करता है। वह माल्यवान् की कूटनीतिक चालों से अपरिचित है अतएव मित्र के गुरू होने के कारण उसे अपना भी गुरू कहकर उसकी अभ्यर्थना करता है।

अदूरदर्शी होते हुए भी वह वीर है, उद्धत है, विकत्थन है और राम का प्रतिद्वन्द्वी है। वह ब्रह्माण्ड को एक झाड़ी, पर्वतों को सभी लोकों का आलबाल तथा सूर्य और चन्द्र को पुष्प गुच्छ एवं तारामण्डल को बिखरे हुए फूलों के रूप में मानता है[4], उसकी यह विकत्थना सार्थक है। वह माल्यवान् के आग्रह को अनुचित मानकर भी अपनी विवशता की घोषणा करता है। जिसमें माल्यवान् की सार्थक योजना तथा उसके कठिन श्रम का परिचय प्राप्त होता है[5]।

उसकी वीरता का परिचय पग-पग पर मिलता है। राम स्वयं उसे मन ही मन महावीर स्वीकार करते हैं[6]। परन्तु नाटकीय परिवेश में बालि को अभिनय के लिए अल्प-अवकाश ही मिला है। राम-बालि के संक्षिप्त से विवाद किंवा वीरोचित प्रशस्तियों के पश्चात् दोनों नेपथ्य में चले जाते हैं और तुरन्त ही उनके बीच युद्ध और

---

१. महावीर० ५.३७ २. महावीर० ५.३६

३. महावीर० ५.३९ ४. महावीर० ५.४५

५. बालिः—एवं नामायुक्तमनुरुध्यमानाः पुमांसो महत्ययुक्तकरे गह्वरे निपात्यन्ते। यदनेन माल्यवता प्रौलस्त्यमैत्रीप्रतिश्रवमनुस्मार्य तत्र भवतो रघूद्वहस्य निधने नियुक्तोऽस्मि। अहो ग्रहः। प्रातरारम्य मामनुबन्धन्किष्किन्धायाः प्रस्थाप्य प्रतिनिवृत्तः। अङ्क ५, पृ० २२८

६. रामः—(स्वगतम्) महावीरः सः। अङ्क ५, पृ० २२७

राम द्वारा बालि को परास्त कर देने की सूचना मिल जाती है। दो महावीरों के मध्य निर्णायक युद्ध का इतनी शीघ्र समाप्त हो जाना न तो नाटकीय ही है न युक्तिसंगत। इतना ही नहीं माल्यवान् की सुनियोजित कूटनीति इतनी शीघ्र ध्वस्त हो जाएगी यह अनुमान भी नहीं हो सकता।

बालि के चरित्र में औद्धत्य पर्याप्त सीमित है। वह व्यसनी भी नहीं है और महावीरचरित की सीमाओं में वह धीर गम्भीर और औदात्त्य से युक्त है। वह राम को साधु कहता है किन्तु अपने पौराणिक स्वरूप में वह राम से अधिक साधु है। उसकी किंचित् विकत्थना को छोड़ दें तो वह नितान्त सभ्य, सच्चा मित्र, सुशील एवं सच्चरित्र है। रावण का साथ छोड़ने पर भी विभीषण से वह अप्रसन्न नहीं है। अपने पुत्र अङ्गद को युवराज और सुग्रीव को राज्य देकर ही वह सन्तुष्ट नहीं है। वह सुग्रीव, विभीषण और अङ्गद को मैत्री की परिभाषा समझाता है तथा राम को मैत्री का भेद समझाकर वह उनसे (सुग्रीव, अङ्गद तथा विभीषण से) समर्पण की भावना से राम की सहायता का वचन लेता है। तात्पर्य यह यद्यपि उसकी वीरता का, उसकी सही प्रतिद्वन्द्विता का वास्तविक स्वरूप नहीं उभर सका, जो भवभूति की लेखनी के लेखन-संकोच का प्रमाण है, फिर भी उसके माध्यम से राम के चरित्र का विकास हुआ है। श्रृङ्गारप्रकाशकार के प्रतिनायक विभाजन की दृष्टि से बालिको धीरोदात्त प्रतिनायक माना जा सकता है।

प्रतिनायिका शूर्पणखा

रावण के अन्य पक्षधरों में शूर्पणखा ही एक ऐसा चरित्र है जो उपर्युक्त प्रतिनायकों के अतिरिक्त दृष्टि-सापेक्ष है। वह माल्यवान् की शिष्या है और उसकी सारी योजनाओं से परिचित है। उसका पौराणिक रूप यहाँ नहीं मिलता वरन् वह रावण की पक्षधर होते हुए भी माल्यवान् के प्रति अधिक समर्पित है। खरदूषण को बलि का बकरा बनाने की योजना से किंचित् व्याकुल होकर भी वह माल्यवान् से कुछ नहीं कहती क्योंकि वह जानती है कि माल्यवान् से अधिक सशक्त कूटनीतिज्ञ रावण के पक्ष में कोई नहीं है और माल्यवान् के शस्त्र डाल देने पर तो रावण को कोई बचा ही नहीं सकता।

भवभूति की प्रतिनायक योजना

भवभूति ने 'महावीरचरित' की प्रस्तावना में ही इस रूपक में 'महापुरुषसंरम्भः' की योजना की प्रतिज्ञा की है। तदनुरूप उन्होंने जामदग्नि, बालि एवं रावण के साथ ही माल्यवान् की कूटनीतिक को इस ढंग से नियोजित किया है कि नायक राम का पौराणिक धीरोदात्त—धर्मवीर रूप तो उभरता है उनका युद्धवीर रूप भी उत्कर्ष को

प्राप्त करता है। महावीरचरित में राम, रावण, जामदग्नि एवं बालि सभी महावीर हैं यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है। रावण का स्वरूप उसके पौराणिक एवं वर्णनात्मक अवतरणों के कारण सीमित हो गया है किन्तु जामदग्नि एवं बालि के माध्यम से नाटककार ने नायकोत्कर्ष का अभीष्ट फल प्राप्त किया है। परशुराम, जिन्होंने रावण को जीता है उन्हें पराजित कर राम प्रथम विजय-स्तम्भ की प्रतिष्ठा करते हैं इसीलिए विश्वामित्र राजा दशरथ से कहते हैं कि जिस राम ने रावणविजयी जामदग्नि को पराजित कर दिया है उस राम ने सब कुछ जीत लिया।

किन्तु भवभूति राम की इस जय को उनके उत्कर्ष के लिए पर्याप्त नहीं मानते और तब उनकी प्रतिद्वन्द्विता बालि से होती है। बालि भी महावीर है और उसने रावण को वाम पार्श्व-भाग में दबाकर संध्यावन्दनादि सम्पादित किया था। ऐसे महावीर को पराजित कर राम दूसरे कीर्तिस्तम्भ की प्रतिष्ठा करते हैं। इन दोनों के पराजित हो जाने से मुख्य प्रतिनायक, जोकि इन सभी से राम की प्रतिद्वन्द्विताओं की योजना का कर्णधार है, वह माल्यवान् स्वतः पराभूत हो जाता है। उसकी सारी कूट-नीति ध्वस्त हो जाती है, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य रावण की रक्षा अवश्य है किन्तु दूसरी ओर वह लंका पर किसी स्वजातीय को ही राजा बनाये रखना चाहता है। तदर्थ विभीषण को वह रामपक्ष में भेजकर एक ही बाण से दो लक्ष्य भेदना चाहता है जिसमें प्रथम लक्ष्य; रावण की रक्षा में असफल होकर भी वह विभीषण को राजा बनवाकर, दूसरा लक्ष्य प्राप्त कर लेता है।

जैसाकि कहा जा चुका है राम का लक्ष्य धर्म की रक्षा है तदर्थ रावण-वध और प्रकारान्तर से सीता की प्राप्ति पर उनका लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। इस लक्ष्य की प्राप्ति को, राम के चरित्र की महत्ता को, उनके चारित्रिक उत्कर्ष को प्रदर्शित करने के लिए जो साधन भवभूति ने चुने हैं, उन्होंने उन साधनों के भी उत्कर्ष द्वारा नायक का उत्कर्ष दिखाया है, यही उनकी सफलता है। शृङ्गारप्रकाश की दृष्टि से देखा जाए तो महावीरचरित के प्रतिनायक जामदग्नि को धीरोद्धत प्रतिनायक कहा जाएगा। उधर रावण का स्वरूप सचिवायत होने से लगभग धीरललित है, सचिव माल्यवान् धीरशान्त प्रतिनायक है और महावीर बालि का चरित्र धीरोदात्त-प्रतिनायक के रूप में स्वीकार किया जा सकता है।

जयदेव कृत प्रसन्नराघवम्

जयदेव कवि के इस उत्तरकालीन नाटक की कथावस्तु वाल्मीकि रामायण की राम कथा पर ही आधृत है। किन्तु नाटक में काव्यत्व की प्रधानता के कारण उसका अभिनय पक्ष क्षीण हुआ है। कवि ने रावण-वाणासुर, राम-लक्ष्मण और परशुराम के संवादों के माध्यम से अभिनय पक्ष को उठाने का असफल प्रयास किया है। जैसाकि

'प्रसन्नराघव' इस नाम से ही स्पष्ट है, कवि रामकथा के कोमलपक्ष से अभिभूत है किन्तु उसने सम्पूर्ण कथानक को लेकर अपनी सफलता पर स्वयं ही प्रश्न चिह्न लगा दिया है। सूत्रधार के माध्यम से कवि नाटककार स्वयं कहता है :—

चन्द्रे च रामचन्द्रे च नारीणां च दृगञ्चले।
नीलोत्पलसुहृत्कान्तौ कस्य नामोदते मन:। —प्रसन्न० १.१०

तात्पर्य यह कि नाटककार का मन काव्यरस के प्रति अधिक आकृष्ट है। नाटकीयता, नाट्यरस अथवा नाटक के अभिनय पक्ष की ओर उसका ध्यान अपेक्षाकृत न्यून है।

कथावस्तु

नाटक का आरम्भ अवश्य नाटकीय ढंग से होता है किन्तु उसकी अनाटकीयता एवं काव्यतत्त्व की प्रधानता स्थान-स्थान पर मुखर हो उठती है। सीता के प्रति लालायित रावण धनुष उठाकर अथवा बलात् सीता को ले जाने के लिए आता है। अपने चन्द्रहास का भरोसा करके वह सीता का अपहरण करना चाहता है तभी वाणासुर का प्रवेश होता है और दोनों में शक्ति परीक्षण के लिए धनुष ही मापदण्ड बनता है। दोनों के बीच वादविवाद होता है। वाणासुर तो बड़े अनाटकीय ढंग से चला जाता है किन्तु रावण, मारीच का आक्रन्दन सुनकर जाता है। मारीच के आक्रन्दन द्वारा नाटककार ने कथानक को विश्वामित्र के आश्रम की ओर मोड़ा है। जहाँ राम ने सुबाहु और ताटका का वध कर दिया है और मारीच को प्रताड़ित कर सागर की ओर प्रक्षिप्त कर दिया है। राम यह सब करने के बाद विश्वामित्र के साथ जनकपुरी पहुँचते हैं।

राम एक तरुण नायक हैं जो प्रकृति की मधुरिमा से आप्यायित हैं और उसी समय राजकुमारी सीता को देखकर वे कौतुकाधीन उसके अङ्गों की कोमलता, अधरों और दन्तावली की कमनीयता तथा कपोलों की मधुरता में रम जाते हैं। यहाँ वे एक धीरललित नायक की भाँति सीता के अङ्गों प्रत्यङ्गों की सूक्ष्म विवेचना करते हुए देखे जाते हैं। सीता की वयः सन्धि के ज्ञाता राम का यह रूप दुष्यन्त और उदयन का स्मरण करा देता है। सीता भी राम को देखकर, उनके रूप पर मोहित हो उठती हैं। अन्तर इतना ही है कि उनके बीच मिलन नहीं होता है यद्यपि सीता को माताओं द्वारा बुलाए जाने पर सीता[1] एवं सीता के चले जाने पर राम[2] इन दोनों के ही हृदयों की पीड़ा उनकी चित्तवृत्ति का परिचय दे देती है। नाटककार राम के ऐसे ही रूप को उभारना चाहता है जो उसकी प्रतिज्ञा के अनुरूप है।

---

१. सीता—कथं पुनर्मुग्धा ममाम्बाः।—प्रसन्न० द्वितीय अङ्क पृ० ३२
२. कथं नयनपथमतिक्रान्तैव कान्ता।—प्रसन्न० द्वितीय अङ्क पृ० ३२

तृतीय अङ्क में विश्वामित्र, जनक एवं शतानन्द के परस्पर प्रशंसात्मक संवादों के मध्य और राम के संवादों में भी एक बार पुनः राम का कोमल, निर्मल, शालीन और शिष्ट रूप ही उभरता है। इतना ही नहीं धनुर्भङ्ग द्वारा सीता-विवाह की वार्ता और राम द्वारा धनुर्भङ्ग करने का विस्मयकारी कार्य बड़े अनाटकीय ढंग से इसी अङ्क में सम्पादित हो जाता है। विश्वामित्र यहीं राम के साथ उर्मिला, माण्डवी और श्रुत-कीर्ति के परिणय पर भी जनक की सामान्य-सहमति प्राप्त कर लेते हैं। यह सब जितना अनाटकीय है उतना ही काव्यात्मक अथवा प्रशस्तिमूलक। यही कारण है नाटक में राम के तीन-तीन विरोधी हैं किन्तु राम का साक्षात्कार केवल जामदग्न्य परशुराम से ही होता है।

चतुर्थ अङ्क में पुनः राम की कोमलता ही मुखर है उनको क्रोध तो तब आता है जब परशुराम विश्वामित्र के प्रति कठोर भाषण करते हैं। राम की विनम्रता को उभारने के लिए नाटककार ने लक्ष्मण के चरित्र का पर्याप्त उपयोग किया है। वे परशुराम की क्रोधाग्नि में अपने व्यंग्यों के माध्यम से घृताहुति डालते हैं और राम उन दोनों के कलह को रोकते हैं—अपनी शालीनता के माध्यम से।

परशुराम को पराजित करने के बाद रामकथा के शेष अंश (राम वनवास के कारण दशरथ, भरत तथा माताओं आदि की दशा के वर्णन से लेकर बालि वध तक) गङ्गा, यमुना, सरयू, हंस, गोदावरी, तुङ्गभद्रा एवं सागर के मध्य, वार्तालाप के रूप में वर्णनात्मक होकर रह गए हैं। जिससे सम्पूर्ण पाँचवा अङ्क चुक जाता है।

तदनन्तर छठे अङ्क में सीता-वियोगी राम, चन्द्रमा, नदी, चक्रवाक, कलहंस प्रभृति प्राकृतिक उद्दीपन विभावों में सीता के अङ्गों और गुणों के दर्शन कर विक्षिप्त से हो उठते हैं। यहाँ यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि छठे अङ्क का यह अंश भी अनाटकीय है। क्योंकि लक्ष्मण द्वारा राम का मन बहलाने का ढंग उचित नहीं प्रतीत होता। इसके पश्चात् चम्पकापीड के माध्यम से इसी अङ्क में एक अन्य नाटक आरम्भ हो जाता है जिसके द्वारा त्रिजटा की सीताभक्ति, रावण की सीतानुरक्ति, सीता की रामभक्ति और राम की विक्षिप्तता का चित्र खींचते हुए रामकथा के शेष अंश, हनुमान द्वारा लङ्का में सीता से मिलना, सीता-समाश्वासन, अक्षयकुमार का वध तथा लङ्कादहन करके सीता का सन्देश लेकर हनुमान के रामदल में लौटने तक की कथा को निबद्ध किया गया है।

तत्पश्चात् सातवें और अन्तिम अङ्क में एक अन्य नाटकीय चित्र के माध्यम से कथा को आगे बढ़ाया गया है। यह उपसंहृति रावण द्वारा देखे जा रहे चित्र में निहित है। जिसकी व्याख्या प्रहस्त कर रहा है और इसके द्वारा वह रावण को उत्तेजित करता है। फिर भी उसकी उत्तेजना के विशेष स्वरूप ग्रहण करने के पूर्व ही सारी कथा

नेपथ्य में चली जाती है। तदनन्तर सारा युद्ध-वृत्तान्त रावण-वध एवं सीता की अग्नि-परीक्षा की सूचना, विद्याधर एवं विद्याधरी द्वारा दी जाती है और अन्त में राम-लक्ष्मण, विभीषण एवं सुग्रीव मञ्च पर आते हैं जहाँ पुनः काव्यात्मक ढंग से नाटक समाप्त होता है।

आलोचना

गङ्गा प्रभृति नदियों का मानवीकरण, चम्पकापीड का इन्द्रजाल, विद्याधर एवं विद्याधरी द्वारा युद्ध का वर्णन यह सभी स्थल नाटक के स्वरूप को ह्रासोन्मुख बनाते हैं। राम के चरित्र में न तो औदात्त्य ही उभरा है न ही वीरता। इसके विपरीत कवि की प्रतिज्ञा—'चन्द्रे च रामचन्द्रे' अवश्य पूर्ण होती परिलक्षित होती है जिसके कारण प्रसन्नराघव में जयदेव की काव्यप्रतिभा के भी दर्शन होते हैं। प्रतिज्ञा के अनुसार रसों की अवतारणा और वक्रोक्तियों के प्रति आग्रह को भी उन्होंने निभाया है[1]। यही कारण है प्रसन्नराघव एक नाट्य कृति होते हुए भी अभिनय दृष्टि से अधूरी प्रतीत होती है। जयदेव ने तो नाटक को भी कविता का ही पर्याय बना डाला है और चमत्कार के लिए जहाँ कोमलकान्त पदावली का प्रयोग किया है वहीं नाटक में ही उपरूपक की कल्पना, इन्द्रजाल, लम्बे-लम्बे सम्वादों पथा वर्णन की बहुलता के माध्यम से, वाग्वैदग्ध्य के माध्यम से कविता कामिनी का शृङ्गार किया है। वे स्वयं कहते हैं, 'केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय' अतः वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि जैसे वे कोई काव्य लिख रहे हैं नाटक नहीं। यह काव्य का विलास भले ही रहा हो किन्तु अभिनय की दृष्टि से यह नाटक के ह्रास का लक्षण है। कीथ महोदय ने इसी कारण उसमें नाट्य की अवनति के लक्षण के दर्शन किए हैं[2]।

राम का नायकत्व

राम का रावण से साक्षात्कार भले ही न हुआ हो किन्तु सीता के विवाह के लिए उत्सुक दो प्रत्याशियों के मध्य प्रतिद्वन्द्विता की योजना द्वारा कवि ने आरम्भ से ही कौतुक का, चमत्कार का, आयोजन कर दिखाया है। इन दोनों की प्रतिद्वन्द्विता के अतिरिक्त राम और परशुराम के अपमान से क्षुब्ध राम[3] जामदग्नि से (नेपथ्य में)

---

१. प्रत्यङ्कमङ्कुरितसर्वरसावतारं
   नव्योल्लसत्कुसुमराजिविराजिबन्धम्।
   घर्मेतरांशुरिव वक्रतयातिरम्यं
   नाट्यप्रबन्धमतिमञ्जुलसंविधानम् ॥—प्रसन्न० १.७

२. सं० ना० पृ० २५७

३. रामः—(स्वगतम्) कथं भगवन्तं विश्वामित्रमधिक्षिपति। तदतः परं न सहिष्ये।
   —प्रसन्न० अङ्क ४, पृ० ६१

संघर्ष अवश्य करते हैं, वहाँ उनमें वीरता के भी दर्शन होते हैं, उनके क्रोध का भी आभास मिलता है किन्तु इस अवसर पर नायक राम की अपेक्षा उपनायक लक्ष्मण अधिक मुखर हैं। उनकी वाणी में मर्मान्तक प्रहार की क्षमता है, जामदग्नि स्वयं कहते हैं 'अहो अस्य क्षत्रियवटोर्वाक्परिपाटी पाटवम्'। लक्ष्मण बात-बात में वक्रोक्तियों के माध्यम से उनके अहं को चोट पहुँचाते हैं किन्तु राम उसे बार-बार शालीनता और शिष्टता का पाठ पढ़ाते हुए अपने विनय, शिष्टाचार और शालीनता का परिचय देते हैं[1]।

जहाँ तक राम के चरित का प्रश्न है वह भी कवि की उक्ति के अनुरूप है, क्योंकि वे मानते हैं कि उसके बिना कवित्वरूपी पौधा पुष्पित, पल्लवित हो ही नहीं सकता। उनका मन राम के प्रति समर्पित है वे कहते हैं,—'रामचन्द्रपदाम्भोजे भ्रमद् भृङ्गायते मनः' उनका यह समर्पण ऐसा है कि उन्हें राम के चरित के विकास के लिए किसी अन्य प्रतिद्वन्द्वी के चरित की कोई आवश्यकता ही नहीं है। अतएव राम के चरित में उनकी वीरता की अपेक्षा कमनीयता, कोमलता और कौमार्य के दर्शन होते हैं। उनकी वीरता के उद्घाटन के लिए ही जामदग्नि की योजना की गयी है अथवा लक्ष्मण की वाकपटुता के प्रदर्शन के लिए, कुछ निश्चित नहीं कहा जा सकता। किन्तु नाट्यदृष्टि से राम की अपेक्षा लक्ष्मण की योजना निश्चय ही सफल रही है। लक्ष्मण के चरित्र से राम की कोमलता को, उनके प्रणय प्रसंग में भी सहायता मिली है[2] और उनकी करुणा को भी सान्त्वना मिली है[3]। अतः राम के चरित में वीरता की अपेक्षा कोमलता की प्रधानता है। द्वितीय अङ्क में उनका ललित रूप और छठे अङ्क में उनका करुण रूप इसी तथ्य का समर्थन करता है।

अतएव रावण और वाणासुर की योजना करके भी नाटककार न तो राम के चरित्र को उभार सका है न ही उससे नाटक को अधिक सार्थक बना सका है। वाणासुर एवं रावण के वाग्युद्ध के मध्य के क्रन्दन पर रावण की प्रतिक्रिया ने भी राम की वीरता को किंचिद् ही उद्भासित किया है। राम ने जिस धनुष को क्रीड़ापूर्वक तोड़ा है[4] अथवा जिसके तोड़ने का वर्णन[5] किया गया है उसे ही रावण और वाणासुर का उठा पाने में असमर्थ होना भी प्रकारान्तर से राम की शक्ति का परिचय देता है। इसी प्रकार बालि आदि के वध, रावण के संहार आदि के वर्णन भी उद्धृत किए जा सकते हैं। रावण और वाणासुर के मञ्च पर आने की नाटकीय रूपान्विति का अन्य कोई औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। परशुराम से उनके विवाद के अन्तिम क्षणों को

१. रामः—वत्स ! अलमिह माननीये मुनौ दुर्विनयवैदग्ध्येन। प्रसन्न० अङ्क ४ पृ० ५८

२. द्रष्टव्य, प्रसन्न० अङ्क २

३. द्रष्टव्य, प्रसन्न० अङ्क ६

४. प्रसन्न० ३.४७

५. प्रसन्न० ३.४८

छोड़कर संघर्ष की स्थिति स्वतः में अत्यन्त सीमित है। परशुराम के साथ उनके विवाद में उनकी धीरता से ही परिचय होता है। तात्पर्य यह कि कवि ने राम के चरित्र को स्वयं नहीं गढ़ा है अपितु वाल्मीकि की परम्परा में ढले हुए चरित्र को ही उन्होंने यहाँ प्रस्तुत कर दिया है।

प्रतिनायक की योजना

प्रतिनायकों की दृष्टि से वाणासुर एवं रावण का योगदान भी नहीं के समान है। रावण तो राम का प्रतिद्वन्द्वी होने से अप्रत्यक्ष ही .सही राम की करुणा, उनके विप्रलम्भ का कारण है किन्तु वाणासुर की कल्पना मात्र नाटकीय है। जो एक अद्भुत मनोरंजन प्रस्तुत करके चला जाता है।

सातवें अङ्क में रावण और प्रहस्त के माध्यम से रावण की कुबुद्धि, गर्व, विकत्थना के प्रसंगों की योजना की गयी है। जहाँ वीररस की भी असफल चेष्टा है। किन्तु नाटकीयता का अभाव और काव्यात्मक सृष्टि ही इस प्रसंग की अन्तिम परिणति है। विद्याधर एवं विद्याधारी के माध्यम से जिस युद्ध का चित्र बनाया गया है उसमें भी राम की शक्ति के समक्ष रावण की लघुता, नाटककार के पूर्वाग्रह का परिचायक है। रावण के साथ युद्ध करते हुए भी राम प्रसन्न ही हैं। वे क्रुद्ध होते ही नहीं। होते भी हैं तो क्षणमात्र के लिए और उनके क्रुद्ध होते ही रावण धूलधूसरित हो जाता है[१]। ऐसा है प्रतिनायक रावण जो राम के किंचित् क्रोध से ही नष्ट हो जाता है। उसमें न तो प्रतिस्पर्धा की भावना है और न ही राम को पराजित कर पाने का सामर्थ्य। राम के चरित्र के सम्बन्ध में कवि के पूर्वाग्रह के कारण ही यह स्थिति उत्पन्न हुई है। वस्तुतः राम रावण प्रतिद्वन्द्विता कवि को रुचिकर नहीं है। कवि की दृष्टि में रावण से राम का युद्ध तो मात्र क्रीड़ा है, लीला है[२]।

परशुराम का जो रूप हमें महावीरचरित में मिल जाता है वह सम्भवतः संस्कृत के किसी भी नाटक में दुर्लभ है। अतः प्रसन्नराघव में इस प्रसंग को उसकी तुलना में प्रस्तुत करना अनुपयुक्त ही है। लक्ष्मण की वक्रोक्तियों के माध्यम से इस प्रसंग को रोचक बनाया गया है जो कालान्तर में परशुराम प्रसंग में लक्ष्मण की भूमिका को उपबृंहित करने की परम्परा का बीज माना जा सकता है।

तात्पर्य यह कि कवि राम के प्रसन्न रूप को प्रस्तुत करना चाहता है। अतएव उसने राम के उस पक्ष को अधिक उभारा है जिसकी अन्यत्र उपेक्षा हुई है। राम का वह

---

१. अयमयमसौ रोषारुढे क्षणं रघुनन्दने।
भुवि दशमुखः शेते धूलिच्छटापरिधूसरः ॥—प्रसन्न० ७.५२

२. विद्याधर :—क्रीडति खुल रामः सह रावणेन। न पुनरद्यापि कुप्यति।
—प्रसन्न, सप्तम अङ्क पृ० ११२

रूप है विवाह के पूर्व ही राम का सीता के प्रति अनुराग जिसके चित्रण में कवि ने निश्चय ही प्रयास किया है और सफलता भी प्राप्त की है भले ही वह राम के धीरोदात्त स्वरूप के अनुरूप प्रतीत न हो। अतएव प्रकृत प्रसंग में वह अधिक उपयोगी नहीं है। प्रतिनायक के रूप में रावण, बालि, मारीच, बाणासुर और जामदग्नि सभी की योजना है किन्तु उनमें से अधिकांश नेपथ्य से बाहर नहीं लाए गए हैं। जो प्रतिद्वन्द्वी बाहर आए भी हैं उन्हें राम के साक्षात्कार का अवसर नहीं मिला और जिन्हें अवसर भी मिला उन्हें इस रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया कि वे राम से संघर्ष करें। जहाँ संघर्ष की स्थिति आयी भी है तो नाटककार ने उसे शीघ्र ही हटा लिया है। अतः राम का चरित्र तो विकसित हुआ ही नहीं और रावण तो विकसित होते ही म्लान हो गया।

इस प्रकार रामकथामूलक उपर्युक्त चारों रूपकों को देखने से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि नायक राम का विरोध तो प्रत्येक रूपक में होता है किन्तु इस विरोध का प्राणवान् अथवा निष्प्राण होना दूसरी बात है। कभी-कभी ऐसा संदेह होता है कि नाटककारों ने रावण की भूमिका को जैसे राम की प्रतिद्वन्द्विता के योग्य ही नहीं माना है। करुणरस के सन्दर्भ में चाहे रामकथा का पूर्व भाग हो अथवा उत्तर भाग दोनों में ही राम का विरोध भावनात्मक स्तर पर ही अधिक उभारा गया है। प्रतिमानाटक में भास ने इसी कारण राम की अपेक्षा भरत को नायक चुना है। वहाँ रावण की भूमिका अतिसंक्षिप्त है तथापि उसमें रावण के माध्यम से भरत की करुणा को बल मिला है। अभिषेक में रावण की अपेक्षा बालि का प्रतिनायकत्व अधिक सजीव है और इसी प्रकार महावीरचरित में रावण उतना प्राणवान् नहीं है जितने कि राम के अन्य प्रतिद्वन्द्वी; बाली, माल्यवान् और परशुराम। यहाँ (महावीरचरित में) यह भी ध्यान देने योग्य है कि इतने इतने प्रतिद्वन्द्वियों की योजना इसीलिए करनी पड़ी है कि परम्परा से धीर और उदात्त राम को महावीर बनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है। इसी कारण राम के लिए जामदग्नि का इतना विकराल रूप नियोजित किया गया और बालि तथा माल्यवान् के साथ ही उपप्रतिनायिका के रूप में शूर्पणखा की भी योजना की गयी है। प्रसन्नराघव में यद्यपि राम के आह्लादक रूप को ही उभारना नाटककार का उद्देश्य है तथापि जामदग्नि और उपनायक लक्ष्मण के माध्यम से राम के विरोध की ऐसी योजना है जो अन्त में प्रसन्न राम को अप्रसन्न किंवा क्रुद्ध करके छोड़ती है। (भले ही वह क्षणिक हो)। सीताहरण के कारण यहाँ भी राम की करुणा ही अधिक उभरती है क्योंकि वह भी राम के वीर रूप की अपेक्षा उनकी कोमलता और कमनीयता के अनुकूल है। अतः राम के विरोध की योजना अधिक स्पष्ट न होते हुए भी कहीं भी उपेक्षित नहीं है। इसी कारण जहाँ रावण सशक्त नहीं है वहाँ इस विरोध की अग्नि में किन्हीं अन्य भूमिकाओं की समिधाएं और आहुतियाँ दी गयी हैं।

षष्ठ परिच्छेद

महाभारतकथामूलक रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका *

बालचरितम्

बालचरित में कृष्ण के बाल्यकाल की घटनाओं का सम्बन्ध यद्यपि महाभारत से नहीं है तथापि इस परिच्छेद के अधिकांश रूपकों से, बालचरित के नायक दामोदर श्री कृष्ण, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित हैं। उनमें से भी दूतवाक्य के उत्तरार्ध में कृष्ण का जो रूप है उसका मूल बालचरित में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। इन्हीं कारणों से इस पौराणिक[1] रूपक को भी इसी अध्याय में सम्मिलित कर लिया गया है। भास के रामकथामूलक तथा कृष्ण से सम्बन्धित अन्य रूपकों की अपेक्षा बालचरित अधिक रूढ़ तथा कृत्रिम उपादानों से युक्त रूपकप्रबन्ध है। इस रूपक में भास ने जन्म से लेकर कंसवध तक के कृष्ण के बाल्यकाल की घटनाओं का चित्रण किया है। जिनके कारण कृष्ण का यश ग्राम-सीमा को पार कर दूर-दूर नगरों तक जा पहुँचता है। 'बालचरित' में मधूक ऋषि के शाप (मानवीकृत) से कंस की राजलक्ष्मी का संवाद, पञ्चायुधों की उपस्थिति, यमुना का सूख जाना, कालिय का दर्पशमन, फिर कालिय की गरुड के भय से मुक्ति प्रभृति कर्मों के आधार पर श्रीकृष्ण के भगवद्रूप का दर्शन कराया गया है।

प्रकृत स्थल पर बालचरित में गृहीत कथावस्तु के सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उसमें कृष्णचरित (बाललीला) की तीन झांकियां दिखायी गयी हैं। (क) वसुदेव की सातवीं सन्तान (पौराणिक आधार पर वसुदेव की आठवीं सन्तान) के रूप में कृष्ण का जन्म और वसुदेव द्वारा मथुरा जाकर नन्द के घर उत्पन्न मृत पुत्री से उसका विनिमय[2], जो वसुदेव के पास आते ही जीवित हो जाती है (ख) चाण्डाल युवतियों और शाप के रूप में अलक्ष्मी (राज्यश्री का अभाव) दुष्टता, कालरात्रि

---

१ डॉ० बलदेव उपाध्याय, सं० सा० इ० पृ० ९७, ५२० तथा कीथ, सं०ना० पृ०९४

२. बालचरित-प्रथम अङ्क

* यत्कृष्टा करनिग्रहाञ्चितकचा द्यूते तदा द्रौपदी
यद् बालोऽपि हतस्तदा रणमुखे पुत्रोऽभिमन्युः पुनः।
अक्षव्याजजिता वनं वनमृगैर्यत्पाण्डवाः संश्रिताः
नन्वल्पं मयि तैः कृतं विमृश भो ! दर्पाहृतं दीक्षितैः ॥
—ऊरुभङ्ग

महानिद्रा एवं पिङ्गलाक्षि तथा कंस को कभी दिए गए मधूक ऋषि के शाप के माध्यम से कंस को अपने पतन का आभास कराना और वसुदेव-देवकी के घर में लालित कन्या का वध करते हुए उसके एक भाग का पृथ्वी पर रह जाना और दूसरे भाग का स्वर्गारोहण, जिससे कंस को अपनी कालरात्रि का आभास होता है[1]। (ग) सङ्कर्षण, दामक प्रभृति गोपों एवं गोपिकाओं के साथ[2] दामोदर की बाललीला एवं अरिष्टर्षभ प्रभृति दैत्यों[3] के अतिरिक्त कालिय नामक सर्पराज का दर्पशमन[4] तथा चाणूर-मुष्टिक के साथ कंस का वध[5]। प्रकारान्तर से भास ने बालचरित में कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित पाँच घटनाओं को पाँच अङ्कों में विभक्त कर लिया है। प्रथम अङ्क में कृष्ण जन्म एवं नन्द पुत्री से उनका विनिमय, द्वितीय अङ्क में वसुदेव की सातवीं सन्तान के रूप में नन्द पुत्री कात्यायिनी की हत्या का असफल प्रयास, तृतीय अङ्क में अरिष्टर्षभ नामक दैत्य के गर्व का खण्डन, चतुर्थ अङ्क में कालिय सर्प का दर्पशमन एवं पंचम अङ्क में कंसवध की कथा को नाटकीय रूप में प्रस्तुत किया गया है।

नायक दामोदर

नाट्यशास्त्रीय परिवेश में चारों प्रकार के नायकों के लिए निर्धारित गुण किसी वयस्क व्यक्ति में ही हो सकते हैं अतः कोई बालक कभी धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित या धीरप्रशान्त नायक हो सकता है यह सोचना न केवल व्यामोह है प्रत्युत कल्पना मात्र है। रूपक की दृष्टि से ऐसे कर्मों का रङ्गमञ्चीय प्रस्तुतीकरण भी अधिक हृदयावर्जक नहीं हो सकता। अतः महाकवि भास का यह आयास अपने पौराणिक आयाम में सत्य होता हुआ भी, सत्य, यथार्थ अथवा औचित्य की कोटि में नहीं आता, किन्तु 'यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते' की मान्यता को स्वीकारते हुए ही हमें बालक-कृष्ण के नायकत्व का मूल्याङ्कन करना होगा। फिर भी कवि मुख्य प्रतिनायक से उनके युद्ध के लिए उनके वयः विकास के सम्बन्ध में पूर्ण जागरूक है।

आरम्भिक दोनों अङ्क कृष्ण के जन्म, उनके विनिमय एवं कात्यायनी से सम्बद्ध हैं। अतः उनमें कृष्ण के चरित की नाटकीयता, वसुदेव एवं नन्द तथा राजा कंस की क्रूरता तक ही सीमित है। तृतीय अङ्क के आरम्भ में प्रवेशक के माध्यम से कृष्ण की बाललीलाओं में उनके जिन कर्मों का वर्णन है वह उनके बाल सुलभ व्यापारों में उनकी चञ्चलता की और पूतना तथा यमलार्जुन के वध के रूप में उनके भावी स्वरूप की प्रस्तावना है। इसे उनका वीर कर्म भी कहा जा सकता है किन्तु तभी जब उन्हें अवतारी पुरुष मान लिया जाए। पूतना का स्तनपान करते हुए उनकी जिस वयः सन्धि का आभास होता है, यमलार्जुन के वध के समय वे उसे पार कर चुके हैं, यह भी

---

१. बाल० द्वितीय अङ्क २. बाल० ३.२,३ ३. बाल० तृतीय अङ्क
४. बाल० चतुर्थ अङ्क ५. बाल० पञ्चम अङ्क

स्पष्ट समझना चाहिए। तदनन्तर अरिष्टर्षभ से उनका युद्ध, उनको किशोरावस्था में आयोजित किया गया है।

अरिष्टर्षभ जैसे प्रतिद्वन्द्वी से उनके युद्ध में नाटकीयता का अभाव होते हुए भी उनका धीरोद्धत स्वरूप अभिव्यक्ति पाता है। श्रीकृष्ण के साथी, उन्हें सिंह तथा अरिष्टर्षभ को वृषभ (जोकि वस्तुतः वृषभ रूप है ही) कहकर उनके ऐसे ही चरित्र की ओर संकेत करते हैं। कृष्ण अपने प्रतिद्वन्द्वी के लिए मूर्ख, 'दुरात्मा, अरिष्टर्षभ, गोवृषाधम' जैसे सम्बोधनों एवं विशेषणों के माध्यम से अपने क्रोध, मात्सर्य किंवा असूया को ही व्यक्त करते हैं। अरिष्टर्षभ के साथ सम्वादों में भी उनका क्रोध अभिव्यक्ति पाता है जिसमें उनका अहङ्कार और दर्प भी मुखर है[1]। अरिष्टर्षभ के यह कहने पर कि 'अब तुम अपनी जाति के अनुकूल शस्त्र उठाओ' दामोदर जो उत्तर देते हैं उसमें दर्प और अहङ्कार के साथ ही उनका प्रचण्ड रूप भी स्पष्ट होता है और उनकी विकत्थना के भी दर्शन होते है। वे कहते हैं 'पर्वत के तटों के समान मेरी कठोर भुजाएँ ही मेरे आयुध हैं और यदि इन भुजदण्डों से ही तुम्हें मैं भूमि न चटा दूँ तो मेरा नाम दामोदर नहीं[2]।' शक्ति परीक्षण के लिए दामोदर का प्रस्ताव कि 'मैं एक पैर पर ही खड़ा हूँ मुझे हिला दो तो मै जानू[3]' भी उनके ऐसे ही स्वभाव का द्योतक है। इतना ही नहीं अरिष्टर्षभ द्वारा फिर बढ़-बढ़ कर बात करने पर वे क्रुद्ध हो उठते हैं और कहते हैं 'वर्षा ऋतु के मेघ के समान व्यर्थ क्यों गरज रहा है, ठहर, अभी तुझे पृथ्वी पर पटकता हूँ[4]।' यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि दामोदर-कृष्ण का यह रूप (धीरोद्धत स्वरूप) रूपक के चतुर्थ और पञ्चम अङ्क में कवि को अभीष्ट नहीं है।

इन दोनों परवर्ती अङ्कों में युद्ध के स्थल तो अनेक हैं। चतुर्थ अङ्क में कालियनाग से तथा पञ्चम अङ्क में चाणुर, मुष्टिक, तथा कंस से उनका साक्षात् युद्ध होता है किन्तु उन सभी स्थलों पर उनका धैर्य, उनका गाम्भीर्य और किंचित् औदात्त्य ही प्रकट होता है। अतः इस रूपक में कवि को उनका धीरोदात्त नायकत्व ही अभीष्ट है ऐसा माना जा सकता है। इस वैविध्य का कारण जो भी रहा हो नाटकीयता की दृष्टि से उनके दोनों रूपों में हृदयावर्जकता का अभाव है और उसका कारण है कथानक में विविधता किन्तु संक्षिप्तता।

बालचरित के प्रतिनायक

कृष्ण की प्रतिद्वन्द्विता में साक्षात् उपस्थित होने वाले तीन पात्र मुख्य हैं। मुख्य से है उनका परस्पर सहयोगी अथवा सहकारी न होना। ये प्रतिनायक हैं—

---

१. बाल० ३.६, १०   २. बाल० ३.११

३. 'भो गोवृषाधम! यदि ते शक्तिरस्ति, मां पादेनैकेन स्थितं स्थानात् कम्पय।'
—बाल० तृतीय अङ्क

४. बाल० ३.१४

अरिष्टर्षभ, कालिय एवं कंस। कंस के चाणूर एवं मुष्टिक नाम के दो क्रीत सेवक अथवा मल्ल भी उनकी प्रतिद्वन्द्विता में आते हैं। किन्तु जैसा कि स्पष्ट है कवि नायक कृष्ण के 'बालचरित' को समर्पित है अतः वह नायक को उस सीमा तक नहीं उठा सका है कि उन्हें एक समर्थ-नायक माना जाए अतएव उसके प्रतिद्वन्द्वी भी बौने हो रह गए हैं। अरिष्टर्षभ एवं कालिय के औद्धत्य में प्राण नहीं है विशेषकर यह जानकर कि वे मानवेतर प्राणी हैं उनके प्रति अधिक उत्साह का अवकाश भी नहीं है। प्रतिनायक कंस भी अधिक सशक्त नहीं है फिर भी उसकी भूमिका, अन्य प्रतिनायकों, अपितु किसी सीमा तक नायक कृष्ण, से भी अधिक प्रभाव छोड़ती है। इसका प्रत्यक्ष कारण प्रति-नायक का औद्धत्य नहीं अपितु कथावस्तु में अद्‌भुतरस की योजना के निमित्त कुछ नवीन उद्‌भावनाएँ हैं। द्वितीय अङ्क में कात्यायनी का असफल वध उतना चमत्कारी नहीं है जितनी कि उसकी पूर्व पीठिका के रूप में कंस के प्रासाद में चाण्डाल युवतियों एवं मधूक ऋषि के शाप के प्रवेश तथा राज्यश्री द्वारा कंस के परित्याग के रूपक के माध्यम से चमत्कार की सृष्टि की गयी है। इन स्थानों पर कंस का स्वरूप पापी है, मात्सर्य एवं किंचिद् अहङ्कार से संपृक्त है किन्तु उसका औद्धत्य आरम्भ से अन्त तक कहीं भी उभर नहीं पाया है।

बालचरित का मूल्याङ्कन

वस्तु नेता एवं रस तीनों ही दृष्टि से महाकवि भास की यह कृति कहीं भी प्रभावोत्पादक नहीं है फिर भी उसकी प्रकृत विवेचना का कारण यही प्रदर्शित करना है कि जहाँ नाटककार किसी व्यामोह अथवा पूर्वाग्रह में फँसता है और अपने नायक को मात्र पौराणिक आयाम में प्रस्तुत करता है वहाँ सफलता के अवसर नष्टप्राय हो जाते हैं। ऐसे ही व्यामोह के कारण अनेक परवर्ती नाटककारों की कृतियाँ मात्र काव्य होकर रह गयी हैं और उनमें भी वर्णनबाहुल्य है, रस का अभाव ही है। प्रसन्नराघव जैसे अनेक रूपक संस्कृत साहित्य के आगार में अब भी जीवित हैं। बालचरित इसी कोटि के अन्य रूपकों की अपेक्षा यत्किंचित् महत्त्वपूर्ण इसीलिए है कि उसमें कृष्ण की बाल-लीला के प्रति अपने व्यामोह का संवरण न कर पाने पर भी नाटककार ने कुछ मौलिक प्रयोग किए हैं। गति-क्षिप्रता, कालान्विति का निर्वाह एवं पशुओं का मानवीयकरण तथा मञ्च पर मृत्यु के प्रदर्शन; इनमें से अधिकांश विशेषताएँ भास की मौलिक विशेष-ताएँ हैं। मञ्च पर मृत्यु, वध एवं हत्या का प्रदर्शन करने वाले वे प्रथम तथा अन्तिम नाटककार हैं। गतिक्षिप्रता का गुण उनके रूपकों में कहीं-कहीं अत्यन्त अनाटकीयता का कारण भी बनता है[1] फिर भी यह उनके सभी रूपकों में प्रायः विद्यमान् है; बालचरित भी उसका अपवाद नहीं है।

---

१. सं० ना० पृ० १०६

कृष्ण की बाल्यावस्था में ही इन कार्यों को सम्पादित कराता हुआ नाटककार उसकी अनाटकीयता से भी परिचित है और ऐसे कार्यों की असम्भाव्यता से भी परिचित है। इसी कारण वह कृष्ण के मुख से उसका स्पष्टीकरण देते हुए कुछ प्रमाण भी देता है[१], किन्तु इन तर्कों में जीवन नहीं है। तथापि मञ्च पर मृत्यु, हत्या, वध एवं युद्ध के प्रदर्शनों में मौलिकता है। यहाँ चाणूर, मुष्टिक तथा कंस का वध मञ्च पर ही होता है जो शास्त्रीय दृष्टि से निषिद्ध है। भास ऐसी योजनाएँ प्रायः करते हैं, दशरथ एवं बालि की मृत्यु के प्रसंग हम देख चुके हैं और आगे हम 'ऊरुभङ्ग' में भी ऐसी ही योजना के दर्शन करेंगे। कृष्ण के आयुधों की योजना तथा पशुओं का प्रतिनायकत्व अथवा प्रतिनायक की पशुरूप में योजना तथा उनके हन्ता के रूप में इन्द्र, रुद्र एवं विष्णु से कृष्ण की तुलना जहाँ आश्चर्यजनक प्रतीत होती है वहीं वह उस उत्स की ओर भी संकेत करती है जो अत्यन्त प्राचीन है।

इसी प्रकार कंस के पतन की पूर्वपीठिका के रूप में चाण्डाल युवतियों का प्रवेश कंस से विवाह हेतु उनका प्रस्ताव, उनका त्वरित प्रस्थान, तदनन्तर चाण्डालवेश में मधूक ऋषि के शाप का प्रवेश, उसका कंस से सम्वाद, उसके द्वारा अलक्ष्मी, खलति, कालरात्रि, पिङ्गलाक्षि एवं महानिद्रा का आह्वान, चाण्डाल का अन्तर्धान होना और कंस की क्षणिक निद्रा में स्वप्न दर्शन और स्वप्न में ही चाण्डाल (शाप) से राजलक्ष्मी का विवाद, विष्णु का आदेश सुनकर राजलक्ष्मी द्वार कंस का परित्याग, कंस द्वारा साम्वत्सरिक एवं पुरोहित से इस स्वप्न का फल पूछने पर अनिष्ट की सूचना; यह सभी योजनाएँ कवि के अद्‌भुत रस के प्रति आग्रह की परिचायक हैं। ऐसी ही योजना का दर्शन हमें शेक्सपियर के मैकबेथ में भी होता है जहाँ पिशाचिनियाँ नायक मैकबेथ के उत्थान पतन की सूचक हैं। उनकी योजना का मुख्य लक्ष्य मैकबेथ को पथभ्रष्ट करना है। वे मैकबेथ को तदर्थ प्रेरित करती हैं। उधर मैकबेथ इनसे प्रेरणा लेकर अपने मार्ग पर बढ़ता है और उसका भी पतन होता है। यहाँ कंस, स्वप्न के बाद ही वसुदेव की सातवीं सन्तान (जिसे अन्य पौराणिक आख्यानों में आठवीं सन्तान माना गया है) के वध की योजना बनाकर कात्यायनी की असफल हत्या का प्रयास कर अपने पतन का मार्ग प्रशस्त कर लेता है। मैकबेथ, बैंकों के भूत से भय खाता है। कंस को मधूक ऋषि के शाप से भय तो नहीं लगता किन्तु उसके कारण ही वह ऐसे कार्य करने को बाध्य होता है जो उसके कार्य को सरल बनाने के स्थान पर उसे पथ-भ्रष्ट कर उसके पतन का मार्ग-प्रशस्त कर देता है।

---

१. किं दष्टः कृष्णसर्पेण बालेन न निहन्यते।
बालेन हि पुरा क्रौञ्चः स्कन्देन निधनं गतः॥
अपीदं शृण मूर्ख! त्वं कठिनोपलसञ्चयः।
किं न पल्लवमात्रेण शैलो वज्रेण पातितः॥ बाल० ३.९,१०

कृष्ण की इन बाललीलाओं में गोपियों की रुचि भी महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण के हल्लीस नृत्य के अवसर पर गोपियाँ उनके साथ हैं[1]। घोषसुन्दरी वनमाला, चन्द्ररेखा, मृगाक्षी प्रभृति कन्याएँ अरिष्टर्षभ से उनके संघर्ष की साक्षी हैं[2]। दामोदर कृष्ण एवं सङ्कर्षण (बलराम) की उनमें रुचि भी है क्योंकि वे उनके नखशिख वर्णन में भी किञ्चिद् रुचि दिखाते हैं[3]। कालिय से उनके संघर्ष के अवसर पर भी गोपकन्याएँ उपस्थित हैं। वे कृष्ण को इस कर्म से रोकने का भरसक प्रयास भी करती हैं[4]। इस सभी उल्लेखों में शृङ्गार के अवसर नहीं हैं। कृष्ण एवं गोपियों का वह स्वरूप भी नहीं है जो भागवत में है। इससे भास की प्राचीनता पर जो प्रकाश पड़ता है यहाँ वह विवेच्य नहीं है अपितु गोपकन्याओं के माध्यम से नाटककार ने जिस चमत्कार को अभिसृष्टि करनी चाही है उसकी अनाटकीय योजना पर ही प्रकाश डालना अभीष्ट है। इस से नाटकीय दृष्टि से बालचरित की संदिग्ध सफलता में भी उसमें रोचकता है, यह स्वीकार किया जा सकता है।

पञ्चरात्रम्

महाकवि भास के महाभारत-कथा पर आश्रित रूपकों में प्रतिनायक का मूल्याङ्कन करते समय कथाक्रम की दृष्टि से उनके 'पञ्चरात्र' पर ध्यान जाना स्वाभाविक है। घटनाक्रम की दृष्टि से भास के अन्य पाँचों एकाङ्की रूपकों का कथावृत्त पञ्चरात्र के बाद की घटनाओं से सम्बद्ध है। पञ्चरात्र में महाभारत के दोनों पक्षों के अनेक मुख्य पात्र उपस्थित हैं। डा० बलदेव उपाध्याय इस रूपक के बीज महाभारत में नहीं पाते[5], अतः इसे भास की मौलिक कल्पना की उपज माना जा सकता है।

'पञ्चरात्र' की कथावस्तु का परिचय देने के पूर्व कवि के एक पूर्वाग्रह की ओर संकेत करना अनुचित न होगा कि उन्होंने अपने रूपकों में दुर्योधन को एक चरित्रप्रधान पात्र के रूप में भी प्रस्तुत किया है। उसके पौराणिक रूप को भी उन्होंने अपने अन्य रूपकों में यत्र तत्र ग्रथित किया है फिर भी वे उसके प्रति पर्याप्त उदार हैं

---

१. बाल० अङ्क ३, पृ० ५३६

२. बाल० अङ्क ३, पृ० ५३८

३. एताः प्रफुल्लकमलोत्पलवक्त्रनेत्रा गोपाङ्गनाः कनकचम्पकपुष्पगौराः।
नानाविरागवसना मधुरप्रलापाः क्रीडन्ति वन्यकुसुमाकुलकेश-हस्ताः॥
—बाल० ३.२ तथा ३.३ एवं पृ० ५४०

१. बाल० अङ्क ४, पृ० ५४४, ५४५

२. सं० सा० इ० पृ० ५२१

विवेच्य रूपक में उन्होंने दुर्योधन को एक न्यायप्रिय, उदार, आज्ञाकारी एवं शकुनि तथा दु:शासन के प्रभाव से मुक्त नायक के रूप में प्रस्तुत करते हुए उसके स्वतन्त्रचेता रूप को उभारा है।

ऐसे उदात्त और वीर दुर्योधन ने एक विशिष्ट यज्ञ का आयोजन किया। उसकी पूर्णाहुति के पश्चात् उसने पुरोहित द्रोणाचार्य से अभीष्ट दक्षिणा माँगने का आग्रह किया। द्रोणाचार्य ने इस आग्रह पर पाण्डवों के लिए आधे राज्य की याचना की। अपने वचनों पर दृढ़ दुर्योधन, शकुनि के मना करने पर भी एक शर्त के साथ द्रोणाचार्य को वचन देता है कि अज्ञातवासी पाण्डवों का पता यदि अज्ञातवास के उन अवशिष्ट पाँच दिनों के मध्य ही लग जाता है तो दुर्योधन उन्हें अपने वचन के अनुसार आधा राज्य दे देगा। द्रोणाचार्य इस शर्त को सुनकर किञ्चित् किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाते हैं। इस यज्ञ में विराट नगर के राजा उपस्थित नहीं हो पाते हैं जिसका कारण यह है कि उनके सम्बन्धी सौ कीचकों की हत्या हो गयी है। वधिक ने यह कर्म बिना किसी शस्त्र के ही किया है। भीष्म को इस हत्या के मूल में, भीम के होने का सन्देह होता है और इसी कारण वे द्रोणाचार्य से दुर्योधन की शर्त स्वीकार करने को कहते हैं।

भीष्म, आशा की इस किरण के आधार पर एक नयी योजना बनाते हैं और दुर्योधन से कहते हैं कि वस्तुत: विराट नरेश उनके कारण नहीं आया है और यह कौरवों का अपमान है। अत: दुर्योधन विराट नगरी पर आक्रमण करता है। इस आक्रामक युद्ध में दुर्योधन के पक्ष से अभिमन्यु भी भाग लेता है, क्योंकि अज्ञातवास पर जाते समय पाण्डव उसे कौरवों के समीप ही छोड़ गए हैं। किन्तु युद्ध में दुर्योधन की पराजय होती है और अभिमन्यु बन्दी बना लिया जाता है। जिससे भीष्म तथा द्रोणाचार्य के सन्देह की पुष्टि हो जाती है कि भीम सहित सभी पाण्डव विराट नगर में ही विद्यमान् हैं। उधर विराट नरेश को अपनी अप्रत्याशित विजय पर आश्चर्य होता है। बन्दी अभिमन्यु एवं पुत्र उत्तर के माध्यम से उन्हें अपने पक्ष की विजय के मूल मे पाण्डवों की उपस्थित को सूचना मिलती है। वहीं अभिमन्यु के साथ उत्तरा का विवाह निश्चित होता है जिसकी सूचना कौरवों को भी भेजी जाती है। द्रोण एवं भीष्म को इस रूप में अपनी शर्त पूरी करने का अवसर मिलता है और दुर्योधन भी अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करता है।

नायक प्रतिनायक निर्धारण

कीथ महोदय ने 'पञ्चरात्र' को समवकार रूपकभेद माना है[1]। अभिनवगुप्त कृत समवकार की व्याख्या के अनुसार इसके प्रत्येक अङ्क में दो नायक दो प्रतिनायक के

१. सं० ना० पृ० ६०

रूप में कुल बारह नायकों की योजना महत्त्वपूर्ण है[1]। इस दृष्टि से नायक प्रति-नायक का निर्धारण करते समय हमें भास की क्रान्ति दृष्टि की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जैसाकि कहा जा चुका है नाटककार ने यहाँ दुर्योधन के चरित्र में ऐसे किसी भी दुर्गुण का समावेश नहीं किया है जो उसे प्रतिनायक सिद्ध करने के लिए उद्धृत किया जा सके। प्रत्युत उसकी गुरुभक्ति, शकुनि द्वारा उसे बहकाने पर भी उसकी दृढता तथा कर्ण से भी उसकी सलाह, अभिमन्यु के प्रति उसका अनुराग आदि ऐसे कारण हैं जो उसके नायकत्व को सिद्ध करते हैं।

कथा का मुख्य फल—अर्धराज्य की प्राप्ति न होकर दुर्योधन द्वारा इस दान के माध्यम से गुरुदक्षिणा के ऋण से मुक्ति है। इस सत्य की स्थापना ही रूपक का मुख्य फल और उद्देश्य है[2]। अतः दुर्योधन को नायक मानने में आपत्ति नहीं हो सकती। हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दुर्योधन की नायक के रूप में योजना कवि को प्रिय है इसी कारण वह 'ऊरुभङ्ग' में भी उसे ही नायक बनाता है। अतः प्रथम अङ्क में दुर्योधन नायक है ऐसा माना जा सकता है, उपनायक के रूप में शकुनि को स्वीकार किया जा सकता है। द्रोणाचार्य उसके साम्राज्य को बँटवा देते हैं, उसे अपनी नीति में फँसाते हैं। भीष्म उनके सहायक हैं। अतः द्रोणाचार्य को प्रतिनायक मानने में कोई अनौचित्य नहीं है। द्वितीय अङ्क में एक ओर अभिमन्यु, अकेला नायक है किन्तु उसके तीन प्रतिद्वन्द्वी हैं—भीम, अर्जुन तथा कुमार उत्तर, तृतीय अङ्क में हम पुनः दुर्योधन शकुनि का नायकत्व उपनायकत्व देखते हैं तथा द्रोण एवं भीष्म प्रतिनायक यहाँ भी उपस्थित हैं। अतः इसे अभिनवगुप्त की व्याख्यानुसार समवकार रूपक भेद माना जा सकता है। जिसका नायक दुर्योधन है।

इस विचार से असहमत होते हुए इसके विपरीत नायकत्व प्रतिनायकत्व स्वीकार करने पर भी यह तो निर्विवाद रूप से स्वीकार करना ही होगा कि दोनों ही स्थितियों में नाटककार अपने कर्म में, प्रत्येक पात्र के चरित्र निर्माण में पूर्ण सजग है। सभी भूमिकाएँ एक दूसरे से गुथी हुई हैं।

द्रोण के चातुर्य ने जितनी सरलता से दुर्योधन को घेरा है शकुनि की सहायता से दुर्योधन ने उन्हें उतनी ही सरलता से किंकर्त्तव्यविमूढ किया है। भीष्म ऐसे ही समय पर द्रोणाचार्य को उस स्थिति से उबारते हैं और दुर्योधन को युद्ध के लिए तत्पर

---

१. द्वादशनायकबहुल इति प्रत्यङ्कमिति केचित्। अन्ये तु नायक-प्रतिनायकौ तत्सहायौ चेति चतुराहुः, समुदायापेक्षया द्वादशेति।

—भरत १८.११४-११५. अभि० (द्रष्टव्य—प्रबन्ध परिच्छेद २)

२. दुर्योधनः—बाढं दत्तं मया राज्यं पाण्डवेभ्यो यथापुरम्।

मृतेऽपि हि नराः सर्वे सत्ये तिष्ठन्ति तिष्ठति ॥ पञ्च० ३.२५

करते हैं। यहाँ शकुनि की कपट बुद्धि, कर्ण में उसकी (दुर्योधन की) विश्वसनीयता एवं सच्चे मित्र की भाँति सर्वत्र तत्परता, नीतिनिपुणता एवं कर्त्तव्यपरायणता सभी के एक साथ दर्शन होते हैं।

दुर्योधन का नायकत्व प्रतिनायकत्व

भास का दुर्योधन यथार्थ की धरती पर जीनें वाला प्राणी है और 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्'[1] में उसका विश्वास नहीं है। वह तो मानता है कि मनुष्य के शुभ कर्मों का फल इसी जीवन में मिल जाता है, वह कहता है—

> **कृतश्रद्धो ह्यात्मा वहति परितोषं गुरजनो**
> **जगद् विश्वस्तं मे निवसति गुणो नष्टमयशः ।**
> **मृतैः प्राप्यः स्वर्गो यदि कथयत्येतदनृतं**
> **परोक्षो न स्वर्गो बहुगुणमिहैवैष फलति ।। पञ्च० १.२१**

अर्थात्, स्वर्ग, कहीं परोक्ष में नहीं है सब यहीं हैं। द्रोण के सम्बन्ध में वह अधीर है कि गुरू द्रोण अपनी दक्षिणा शीघ्र क्यों नहीं माँगते। अपनी क्रूरता, जिह्मता को वह अतीत की कथा मानता है, मानता ही नहीं उसकी निन्दा भी करता है[2]।

द्रोण द्वारा दक्षिणा माँगने पर एवं शकुनि के उकसाने तथा द्रोण एवं भीष्म द्वारा शकुनि की कदर्थना के प्रसंग में दुर्योधन के तर्कों में प्राण है। वह भीष्म से न पूछ कर, सीधे अपने प्रतिद्वन्द्वी द्रोणाचार्य पर तर्क के बाणों का प्रहार करता है। वह पूछता है यदि पाण्डवों के साथ उसने अन्याय किया है तो उसी दिन सभा में द्रोणाचार्य ने उसका प्रतिवाद क्यों नहीं किया[3]। द्रोणाचार्य को इसका कोई उत्तर नहीं सूझता वे कहते हैं इसका उत्तर तो युधिष्ठिर से पूछो। दुर्योधन तो शान्त है किन्तु द्रोण के वचनों में क्रोध भी झलकता है इसी कारण भीष्म मध्यस्थता करते हुए 'अन्यत् प्रस्तुतमन्यद् आपतितम्' कहकर कथावस्तु को बिखरने से रोकते हैं। किन्तु यही वह महत्त्वपूर्ण स्थल है जो दुर्योधन के चरित्र को बदल देता है।

शकुनि और कर्ण से मन्त्रणा करते समय भी वह शकुनि को मनाने का ही प्रयास करता है. 'न दातव्यमिति मे निश्चयः' शकुनि के इस कथन पर दुर्योधन की

---

१. गीता २.३७

२. यदि विमृशसि पूर्वजिह्मतां मे
यदि च समर्थयसे न दास्यतीति ।
शरशतकठिनं प्रयच्छ हस्तं
सलिलमिदं करणं प्रतिग्रहाणाम् ।। पञ्च० १.३०

३. पञ्च० १.३५

मनुहार में बल है, वह कहता है—'दातव्यमिति वक्तुमर्हति मातुलः' दुर्योधन का विचार है। चूँकि द्रोणाचार्य दक्षिणा लेंगे ही क्यों न ऐसे स्थानों का राज्य पाण्डवों को दे दिया जाए जिन्हें वह कुदेश मानता है। शकुनि के अवरोधों से भी दुर्योधन के चरित्र को शक्ति मिलती है। शकुनि तो जानता है यदि ऊसर में भी युधिष्ठिर राज्य करेंगे तो वह भूमि भी शस्य-श्यामला हो उठेगी[1]। अतः शकुनि के सशर्त दक्षिणा में, राज्य के बटवारे के प्रस्ताव से वह सहमत हो जाता है। किन्तु शकुनि की चतुराई से विचलित द्रोण एवं भीष्म के गिड़गिड़ाने पर दुर्योधन की अपनी दृढ़ता दर्शनीय है। अन्ततोगत्वा प्रतिद्वन्द्वी द्रोणाचार्य के सहायक भीष्म अपनी कूटनीति में सफल होते हैं और वे दुर्योधन को विराट नगर पर आक्रमण के लिए बाध्य करके पाँच रात्रियों में ही पाण्डवों के अस्तित्व का बोध कराने की भूमिका तैयार कर देते हैं।

दुर्योधन के चरित्र की महानता का बोध स्थान-स्थान पर होता है। पाण्डवों के अज्ञातवास के समय अभिमन्यु दुर्योधन के साथ ही रहता है। अभिमन्यु के प्रति उसका अपार प्रेम है। विराटनगर में अभिमन्यु के अपहृत होने सूचना पाकर वह कह उठता है—

कथय कथय, केनापनीतोऽभिमन्युः। अहमेवैनं मोक्षयामि। कुतः,
मम हि पितृभिरस्य प्रस्तुतो ज्ञातिभेदः
तदिह मम च दोषो वक्तृभिः पातनीयः।
अथ च मम स पुत्रः, पाण्डवानां तु पश्चात्
सति च कुल–विरोधे नापराध्यन्ति बालाः ॥ पञ्च० ३.४

अर्थात् वह उसे अपना पुत्र पहले मानता है पाण्डवों का बाद में। उसके बन्दी बनाने का समाचार सभी को पीड़ा पहुँचाता है[2] किन्तु दुर्योधन की पीड़ा और उसकी अभिव्यक्ति दोनों मार्मिक है। द्रोणाचार्य शकुनि और भीष्म के मध्य तृतीय अङ्क में होने वाले सम्वादों के समय दुर्योधन तटस्थ बना रहता है। उसे अभिमन्यु के बन्दी हो जाने पर भी उनके विवाद में उलझे रहने पर तथा सूत द्वारा घटना के वर्णन को लम्बा खींचने पर कुछ खीझ हो जाती है। अभिमन्यु को बन्दी बनाने वाले व्यक्ति के बारे में जानने को वह इतना उत्सुक है कि सूत और भीष्म के संवादों पर ध्यान न देकर अपना अर्थ व्यक्त कर देता है[3]। वह शकुनि के प्रपंचों से भी उद्विग्न हो उठता और जब विराट नगर स्थित पाण्डवों (युधिष्ठिर) द्वारा प्रेषित अभिमन्यु-उत्तरा विवाह के निश्चय का

---

१. शून्यमित्यभिधास्यामि कः पार्थाद् बलवत्तरः।
ऊषरेष्वपि सस्यं स्याद् यत्र राजा युधिष्ठिरः ॥ पञ्च० १.४४

२. पञ्च० ३।५,६ कर्ण तथा शकुनि के कथन, ३. पञ्च० ३.६

समाचार भी आ जाता है तो द्रोणाचार्य की प्रार्थना पर वह एक सत्यसन्ध की भाँति कह उठता है :—

> बाढं दत्तं मया राज्यं पाण्डवेभ्यो यथापुरम् ।
> मृतेऽपि हि नराः सर्वे सत्ये तिष्ठन्ति तिष्ठति ।। पञ्च० ३.२५

तात्पर्य यह कि पञ्चरात्र का दुर्योधन एक सत्यसन्ध, दृढ़प्रतिज्ञ, नीतिनिपुण, सदाचारी एवं शिष्ट नायक है। यदि दुर्योधन को प्रतिनायक मान लिया जाए तो वह एक धीरोदात्त प्रतिनायक है। एक ऐसे प्रतिनायक की महानता ओर क्या हो सकती है कि उसमें किसी नायक के गुण मिलने सुकर हों। अतः यदि उसे प्रतिनायक भी मान लिया जाए तो भी उसकी भूमिका और उसके चरित्र चित्रण के लिए नाटककार को सफलता निःसन्दिग्ध है।

द्रोणाचार्य

इसके विपरीत द्रोणाचार्य में कुटिलता है किन्तु चातुर्य का, वाक्पटुता एवं स्थिरता का अभाव है। उन्हें प्रकारान्तर से कलहप्रिय भी कहा जा सकता है[1] जिनमें क्रोध का भी प्राचुर्य है[2]। जिसे उनके औद्धत्य के रूप में देखा जा सकता। उनके इस क्रोध की शान्ति के लिए कर्ण, दुर्योधन एवं भीष्म को सामूहिक प्रयास करना पड़ता है[3]। शास्त्रीय विधानों के विपरीत उनका चरित्र पूर्णतया उद्धत नहीं है। वे शीघ्र ही प्रसन्न हो जाने वाले ब्राह्मण हैं, गुरु है। न तो वे क्रोध में जामदग्नि के समान है न ही शकारवत् उच्छृङ्खल। वे एक आदर्श प्रतिनायक हैं, जो दुर्योधन की भक्ति से अभिभूत हैं[4]। उनका कपट इतना मुखर है कि शकुनि सरलता से समझ जाता है[5]। प्रतिनायक की भूमिका में भी वे अपने गौरव को नहीं भुला सके हैं। वे यहाँ भी अपने प्रिय शिष्यों के उतने ही पक्षपाती हैं जितने कि वे पौराणिक कथानकों में प्रसिद्ध हैं[6]। फिर भी नायक चरित्र के निर्माण में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान।

---

१. द्रोण :—मा अत्र कदर्थनम् कार्यं, कलहः एव भवतु। पञ्च० अङ्क १, पृ० ३८३

२. पञ्च० १.३६ तथा : द्रोण :–वत्स कर्ण ! तेजस्वि ब्राह्मण्यम् । कालेसम्बोधितोऽस्मि
पञ्च० अङ्क-१, पृ० ३८३

३. पञ्च० प्रथम अङ्क पृ० ३८३

४. द्रोण :–पुत्र दुर्योधन ! अहं तव प्रभावी ननु। पञ्च, अङ्क १, पृ० ३८३ एवं १.३९

५. शकुनि :–(आत्मगतम्) अहो शठः खल्वाचार्यः स्वकार्यलोभान्मां सान्त्वयति।
–पञ्च, अङ्क-१, पृ० ३८४

६. पञ्च, ३.२, १२, १६, १९

अन्य सहायक भूमिकाएँ

नायक दुर्योधन का चरित्र जितना निर्मल है उपनायक **शकुनि** का रूप उतना ही कुटिल है। उसका पौराणिक रूप ही यहाँ भी उभरता है जो नायक एवं प्रतिनायक दोनों के ही चरित्र निर्माण में सहायक है। एक ओर जहाँ वह दुर्योधन की नीतियों का निर्धारण करता है वहीं वह द्रोणाचार्य एवं भीष्म को भी उत्तेजित करता है। इसी प्रकार प्रतिनायक द्रोणाचार्य की अपेक्षा **भीष्म** की भूमिका में उचित अनुचित का विवेक, त्वरित बुद्धि एवं वाक्‌पटुता के दर्शन होते हैं। उन्हें उप-प्रतिनायक के रूप में देखते समय पग-पग पर द्रोणाचार्य के प्रयासों में उनकी सहायता को देखना चाहिए, शकुनि की चालों का सही उत्तर पितामह भीष्म के पास ही है जो द्रोणाचार्य का हर दृष्टि के मार्गदर्शन करते हैं।

संक्षेप में द्रोणाचार्य के माध्यम से, दुर्योधन से पाण्डवों के लिए राज्य सम्भाग के प्रस्ताव को कथा द्वारा नाटककार दुर्योधन के एक अपौराणिक स्वरूप को उभारने में सफल रहा है। किसी कवि, नाटककार या लेखक की यही सफलता होती है कि वह कथानक अथवा विषय के मार्मिक स्थल को पहचाने। महाभारत की कथा के इस अंश को नाटककार ने जिस प्रकार की कल्पना द्वारा गढ़ा है वह प्रशंसनीय हैं। 'पाण्डवों को मैं सुचिकाग्र भर भी भूभाग न दूँगा' दुर्योधन के इस कलङ्क को मिटाने के लिए सामाजिक के मस्तिष्क को कितना तैयार किया है कवि ने, और उसमें कवि कितना सफल रहा है, इसे कहने की आवश्यकता नहीं है। भीष्म, द्रोण, शकुनि एवं कर्ण तथा अभिमन्यु के चरित्र के सहारे नाटककार ने अपना अभीष्ट जिस प्रकार सिद्ध किया है उसके निमित्त 'पञ्चरात्र' स्वयं परीक्षणभूमि है, जहाँ कलहप्रिय, दम्भी, दुर्व्यसनी एवं क्रूर दुर्योधन का कहीं नाम भी नहीं है और दर्शक को एक नवीन, सच्चरित्र सुयोधन के दर्शन होते है जो सत्यसन्ध है, दृढ़प्रतिज्ञ एवं पूर्णत: शिष्ट है।

भास के पाँच एकाङ्की

पाश्चात्त्य नाट्यपरम्परा में एकाङ्की रूपकों का विकास एक पूरक विधा के रूप में हुआ है क्योंकि 'कर्टेनरेजर' जैसा कि इस अभिधान से ही स्पष्ट है इनका प्रयोग रूपकों के आरम्भ अथवा मध्य में दृश्य-परिवर्तन आदि समयसापेक्ष अवसरों पर दर्शकों का मनोरञ्जन करने के उद्देश्य से किया जाता था। इसके विपरीत संस्कृत की नाट्यशास्त्रीय परम्परा में एकाङ्की विधा नितान्त स्वतन्त्र विधा है। जिसकी मौलिकता, उनके नाना भेदों-उपभेदों (उप रूपकों) में कथावस्तु, नेता एवं रस को भेदक धर्म के रूप में स्वीकारने से स्वत: स्पष्ट है। इसी सन्दर्भ में, ईसा के जीवन-प्रसंगों को रूपायित करके उन्हें एकाङ्कियों के रूप में प्रस्तुत करने की परम्परा को ही एकाङ्की विधा का उत्स मानना न तो उचित है, न ही तर्कसम्मत।

प्रकृत सन्दर्भ में महाकवि भास के एकाङ्की रूपकों का स्वरूप; उनकी प्राचीनता और विविधता की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाता है। महाकवि भास के मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार तथा ऊरुभङ्ग इन पाँचों एकाङ्कियों का सम्बन्ध महाभारत के प्रसिद्ध पात्रों से हैं। इन के कथांशों का भी मूल महाभारत है, किन्तु उनके निरूपण एवं प्रस्तुत करने की विधा के कारण उनकी मौलिकता सर्वतोग्राही है। मध्यमव्यायोग की कथा पांडवों के वनवास के समय की है जिसमें भीम और घटोत्कच के मध्य संघर्ष और घटोत्कच की शक्ति के प्रदर्शन के साथ वन में भीम की प्रेयसी हिडिम्बा और ब्राह्मणों के कार्य के लिए समर्पित भीम के चरित्र की कथा ग्रथित है। 'दूतवाक्य' महाभारत युद्ध के आरम्भ में कृष्ण के दौत्य से सम्बद्ध है। अभिमन्यु-वध के उपरान्त कृष्ण द्वारा पुनः इस महायुद्ध की विभीषिका को रोकने के प्रयास में 'घटोत्कच' को दूत के रूप में भेजने की कथा का उपगूहन 'दूतघटोत्कच' का विषय है। 'कर्णभार' में कर्ण की दानवीरता (ब्राह्मण रूपी इन्द्र को कवच कुण्डल का दान) की कथा है तो गदायुद्ध में पराजित दुर्योधन की जंघाओं के साथ उसके मनोरथ के भी भग्न हो जाने से उत्पन्न दुर्योधन की वेदना को 'ऊरुभङ्ग' में प्रस्तुत किया गया है।

महाभारत की विस्तृत कथावस्तु से इन छोटे-छोटे प्रसंगों को रूपकों की परिधि में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया में भास पुनः अग्रणी एवं सम्भवतः प्रथम नाटककार हैं।

भासकृत मध्यमव्यायोग

'मध्यमव्यायोग' इस एकाङ्की में कवि ने 'मध्यम' इस श्लिष्ट प्रयोग द्वारा भीम द्वारा घटोत्कच की वीरता की परीक्षा एवं कथावस्तु में गृहीत ब्राह्मण पुत्र मध्यम (मझले) के त्याग की कथा को प्रस्तुत किया है। किन्तु उनका उद्देश्य भीम द्वारा ब्राह्मण परिवार की रक्षा और घटोत्कच की मातृभक्ति को प्रदर्शित करना मुख्य रहा है।

कथानक में नवीनता होते हुए भी गति का अभाव है। ब्राह्मणों की दीनता, मध्यम ब्राह्मण की त्याग-भावना और उससे सम्बन्धित विवाद में कुछ रोचकता है। भीम और घटोत्कच के विवाद में यद्यपि रोचकता उत्पन्न करने का प्रयास स्पष्ट परिलक्षित होता है किन्तु कवि उसमें अधिक सफल नहीं रहा है।

नायक-प्रतिनायक योजना

जहाँ तक नायक-प्रतिनायक का प्रश्न है सम्पूर्ण कथातन्तु घटोत्कच को आवेष्टित किए हुए है और वह भी उसकी मातृभक्ति के कारण। अतः उसे नायक माना जा सकता है। वह एक धीरोद्धत नायक है। ब्राह्मणों और भीम के साथ प्रारम्भिक विवाद में उसकी धीरता के स्पष्ट लक्षण भी मिल जाते हैं। किन्तु भीम के साथ शक्ति परीक्षण में उसका औद्धत्य परिलक्षित हुए बिना नहीं रहता। अपनी कर्तव्यनिष्ठा के परिप्रेक्ष्य में ब्राह्मण पुत्र के बलिदान की सम्भावित पीड़ा से वह भी प्रताडित है। यह भी उसकी

वीरता का ही पर्याय है। उसका यह स्वरूप उसके नायकत्व का भी समर्थन करता है[1]। गुणतस्कर घटोत्कच की मातृभक्ति ता भीम के भी मन में स्पृहा उत्पन्न कर देती है[2]।

दूसरी ओर भीम (प्रतिनायक) की योजना का उद्देश्य ही घटोत्कच की शक्ति परीक्षा मे निहित है ऐसा प्रतीत होता है[3]। यद्यपि भीम की आरम्भिक मनःस्थिति मात्र ब्राह्मणों की रक्षा है। कीथ महोदय का अनुमान भी सत्य हो सकता है कि हिडिम्बा ने भीम से भेंट करने का यही सरल उपाय सोचा है क्योंकि उस वन मे पाण्डवों की उपस्थिति से वह परिचित है। इसे ही सम्भवतः उसने भीम के कान में कहा है। तदनन्तर भीम का कथन, 'जात्या राक्षसी न समुदाचारेण' से भी इसी का समर्थन होता है।

भीम के कार्य-कलापों में, सम्वादों में, सर्वत्र घटोत्कच को उत्तेजित करने और उसके वीर रूप को उभारने की प्रक्रिया के दर्शन होते हैं। दोनों के सम्वादों मे गति एवं गम्भीरता के अभाव में भी संघर्ष को स्थान दिया गया है तथा यह वह युद्ध है जो कि मात्र वाक्युद्ध तक सीमित नहीं रहता।

घटोत्कच को नायक एवं भीम को प्रतिनायक मानने में किंचिद् विवाद हो सकता है किन्तु भास की क्रान्ति-दृष्टि, घटोत्कच के औद्धत्य का स्वरूप, कथानक की पृष्ठभूमि एवं घटोत्कच सम्बन्धी अप्रस्तुतप्रशंसा यह सभी मिलाकर घटोत्कच को नायकत्व प्रदान करने के लिए पर्याप्त हैं। जहाँ तक इस सम्बन्ध में भास की क्रान्ति दृष्टि का प्रश्न है भास द्वारा नाट्यशास्त्रीय नियमों[4] के विरुद्ध यहाँ स्त्री हिडिम्बा के कारण उत्पन्न इस संग्राम की योजना स्वतः में प्रमाण है। अतः भास ने प्रकृत प्रसंग में पुत्र एवं पिता को यदि क्रमशः नायक-प्रतिनायक की भूमिका में प्रस्तुत किया है तो कोई अनौचित्य नहीं है। कीथ महोदय भी इस एक एकाङ्की में घटोत्कच की प्रमुखता को स्वीकार करते हैं[5]।

पौराणिक संस्कारों एवं परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में किसी भी आदर्श पुरुष को प्रतिनायक मानने में हमारा अभिमान डोल जाता है। यही कारण है गहराई से देखें

१. मध्यम० श्लोक ३२

२. माता किल मनुष्याणां दैवतानां च दैवतम् ।
मातुराज्ञां पुरस्कृत्य वयमेतां दशां गताः ॥ मध्यम० ३७

३. भीम :—यदि ते शक्तिरस्ति बलात्कारेण मां नय। मध्यम० पृ० ४३३

४. अस्त्रीनिमित्तसाङ्ग्रामो। द० रू० ३.६१ ५. सं० ना० पृ० ८६, १००

बिना घटोत्कच को नायक मान पाना कठिन है। वह भी मानुषभक्षी राक्षस को संस्कृत के एक रूपक का नायक बनाना उचित प्रतीत नहीं होता। किन्तु भास के अन्य नाटकों का अध्ययन करने पर उनकी क्रान्ति दृष्टि का ज्ञान होता है। और तब घटोत्कच को नायक रूप में स्वीकार करना कठिन प्रतीत नहीं होता है। यह मान लेने पर भीम का प्रतिनायकत्व भी स्वतः स्थिर हो जाता है। इस दृष्टि से भीम घटोत्कच को उत्तेजित कर उसके शौर्य, पराक्रम एवं शक्ति का बोध कराता है। प्रतिनायक भीम के अभाव में संघर्ष की स्थिति उत्पन्न ही नहीं होती क्योंकि मध्यम ब्राह्मण तो पहले ही आत्मार्पण कर चुका था। घटोत्कच की माया का उत्तर देते हुए उसका प्रतीकार, युद्ध में उसके प्रहार और अन्त में उसका आत्मसमर्पण सभी मिलाकर जहाँ भीम, प्रतिनायक की भूमिका को क्षमतापूर्वक प्रस्तुत करता है, वहीं वह नायक घटोत्कच के नायकत्व को उस सीमा तक पहुँचाता है जहाँ उसे (भीम को) स्वयं भी अनुभव होने लगता है कि अब उसके मुख्य प्रतिद्वन्द्वी दुर्योधन की पराजय अवश्यम्भावी है[१]। यही किसी प्रतिनायक की सफलता है।

दूतवाक्यम्

महाभारत युद्ध के आरम्भ में ही, दुर्योधन को युद्ध से रोकने की भावना से श्री कृष्ण को दूत के रूप में प्रस्तुत करते हुए भास ने महाभारत के इस कथांश को एक नवीन आयाम दिया है। नाटकीयता की दृष्टि से यह रूपक अत्यन्त सुन्दर है। दुर्योधन का एकालाप, द्रौपदी-चीरहरण के चित्र पर उसकी भावाभिव्यक्ति एवं कृष्ण-दुर्योधन के सम्वाद, हृदयावर्जक हैं। पात्रों की योजना की दृष्टि से भी यह रूपक सफल है जिसका अधिकांश दुर्योधन के एकालाप अथवा कृष्ण से उसके सम्वाद में समाप्त होता है। दिव्यास्त्रों की अवतारणा की पुनरावृत्ति में उनका मानवीकरण और अन्त में धृतराष्ट्र द्वारा क्रुद्ध कृष्ण को प्रसन्न करने के प्रयास में भास की नारायण भक्ति भी प्रकट होती है।

'दूतवाक्य' में कृष्ण के नायकत्व की स्थापना के लिए हमारे पास मुख्य तर्क उनके द्वारा दौत्य कर्म की स्वीकृति, उनका नारायण रूप, उनके अस्त्रों का मानवीकरण, धृतराष्ट्र द्वारा उनके लिए अर्घ्य-पाद्य आदि का लाया जाना माना जा सकता है। प्रकारान्तर से दुर्योधन को मृत्यु के सन्निकट पहुँचाने के लिए उसे युद्ध के लिए उत्तेजित करने को भी इसी दृष्टि से देखा जा सकता है।

जैसा कि मध्यमव्यायोग में हमने देखा है—भीम, घटोत्कच किसी को भी नायक-प्रतिनायक माना जा सकता है और दोनों अवस्थाओं में अपने पूर्वाग्रह को तर्कों से

---

१. भीम :—(आत्मगतम्) भोः सुयोधन ! वर्धते ते शत्रुगणः। कृतरक्षो भव।
—मध्यम० पृ० ५३४

सिद्ध किया जा सकता है। यही बात 'दूतवाक्य' पर भी लागू होती है और यही बात 'दूतघटोत्कच' में भी देख सकते हैं। इसका एक मुख्य कारण यह भी है कि प्रतिनायक सम्बन्धी उपलब्ध लक्षण भास के बहुत परवर्ती हैं और उनके प्रतिनायकों को किसी भी प्रकार से लक्षणों की सीमा में बाँध पाना कठिन है।

नायक प्रतिनायक निर्धारण

हम देख चुके हैं भरत, प्रतिनायक के लक्षण पर मौन हैं। शकार सम्बन्धी उनका लक्षण 'चारुदत्त' तथा 'मृच्छकटिक' के 'शकार' को छोड़कर किसी भी नायक विरोधी चरित्र पर चरितार्थ नहीं होता ऐसी परिस्थिति में भास के प्रतिनायकों को व्याख्यायित करने के लिए कहीं-कहीं नये लक्षण की आवश्यकता होती है। विशेषकर महाभारत सम्बन्धी कथानकों पर आधृत उनके रूपकों के प्रसंग में दुर्योधन की अहं भावना को लेकर चित्र फलक के प्रसंग में उसकी अभिरुचि और उसके द्वारा कृष्ण को बन्दी बनाने के उपक्रम के आधार पर उसे प्रतिनायक कोटि में रखा जा सकता है जिसके समर्थन में कृष्ण के कथन को भी उद्धृत किया जा सकता है। जो कहते हैं:—

दुष्टवादी गुणद्वेषी शठः स्वजननिर्दयः।
सुयोधनो हि मां दृष्ट्वा नैव कार्यं करिष्यति॥
—दूतवाक्य १६

ये विशेषण प्रतिनायक के उतने निकट नहीं हैं जितने कि धीरोद्धत नायक के गुणों के निकट है। किन्तु कृष्ण द्वारा दुर्योधन को उत्तेजित करने के निमित्त प्रयुक्त यह शब्दावली कृष्ण के नायकत्व की दृष्टि से अधिक उपयुक्त नहीं है, यद्यपि उसे यथार्थ एवं कृष्ण के उद्देश्य के निकट माना जा सकता है।

भास यहाँ कृष्ण के नारायण रूप को उभारना चाहते हैं। किन्तु क्या वे कृष्ण को ही इस रूपक का नायक भी मानते हैं? यह एक मौलिक प्रश्न हो सकता है। क्योंकि ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने नारायण को प्रतिनायकत्व प्रदान कर प्रतिनायक भूमिका (जिसे नायक ही माना गया है) को भी गौरवान्वित (आदर्श) करना चाहते हैं। ऐसा करने से उनके नायकत्व को क्षति हो सकती है किन्तु उनका नारायणत्व अखण्डित ही रहता है। अस्तु, भास का दृष्टिकोण जो भी रहा हो इतना तो स्पष्ट ही है कि नाटककार दुर्योधन को पापी, व्यसनी और लोभी तो सिद्ध नहीं ही करना चाहता इसके लिए प्रमाणों का अभाव नहीं है। रूपक का आरम्भ होते ही दुर्योधन का एकालाप संयोजित किया गया है। वह सभी के प्रति जितना नम्र है उतना ही अपने आदेशों के परिपालन कराने में कठोर। जिसके पीछे उद्देश्य है कृष्ण को नीचा दिखाना किन्तु दुर्योधन का यह कुचक्र धूलधूसरित हो जाता है, क्योंकि कृष्ण के अद्भुत चरित्र,

उनके मायावी रूप एवं चमत्कारी स्वरूप से अभिभूत सभी जन प्रभावित हो उठते हैं और कृष्ण के प्रवेश करते ही सभी उठकर खड़े हो जाते हैं। यहाँ तक कि दुर्योधन स्वयं अपने सिंहासन से गिर पड़ता है।

नाटककार ने दोनों ही भूमिकाओं को अभिनय के लिए पर्याप्त अवसर दिया है, दोनों ही पूर्वाग्रही हैं। यदि नायक कृष्ण यह मानकर चलते हैं कि उनका मिशन सफल नहीं होगा[१] तो प्रतिनायक दुर्योधन यह ठानकर बैठा है कि आज कृष्ण का सारा दम्भ वह दूर कर देगा। नायक कृष्ण असफलता की सम्भावना को देखते हुए भी धैर्य धारण किए हैं किन्तु प्रतिनायक दुर्योधन आरम्भ से ही आक्रामक रूप से व्यूह रचना कर लेता है जिससे कि वह कृष्ण को अपमानित कर सके[२]। दृष्टिभेद से यह भी कहा जा सकता है कि दुर्योधन की भूमिका का आरम्भ उसके नायकत्व के अनुकूल है। वह अपनी राज्य सभा में मन्त्रणा करता है सेनापति की नियुक्ति के लिए, किन्तु कृष्ण के पाण्डव पक्षपात से, वह क्रुद्ध है। सोचता है यदि कृष्ण नारायण हैं तो उन्हें तटस्थ होना चाहिए और यदि शत्रु पक्ष में हैं तब तो उन्हें बन्दी बनाने का औचित्य स्वतः सिद्ध है।

पाण्डवों के लिए उनका अंश माँगते हुए कृष्ण की उक्तियों में दूत–समुदाचार का परिपालन है और वे युधिष्ठिरादि पाण्डवों की याचना को दुर्योधन के समक्ष स्पष्ट शब्दों में प्रकट करते हैं। किन्तु 'दायाद्य' के आधार पर अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नायक की भाँति दुर्योधन इस पर एक लम्बे विवाद का आरम्भ कर देता है। दोनों के वाग्युद्ध में कवि ने तर्क के साथ औचित्य अनौचित्य की व्याख्या करने का प्रयास किया है जिसमें पाण्डवों और कौरवों के मध्य राज्य के वास्तविक अधिकारी होने के बारे में दुर्योधन के तर्कों में बल है[३]। जबकि निःसन्दिग्धरूप से पाण्डवों के पक्ष में कृष्ण के तर्क अधिक सक्षम नहीं है[४]। इसी कारण कृष्ण इस विवाद को टालना चाहते हैं और दुर्योधन को रोष रहित होकर युधिष्ठिर प्रभृति पाण्डवों की प्रणयपूर्ण याचना पर ध्यान देने का आग्रह करते हैं[५]। कृष्ण की इस कूटनीति पर दुर्योधन एक धीर, वीर (धीरोद्धत) नायक की भाँति कहता है:—

---

१. दूतवाक्य० १६

२. दुर्योधन—मा तावद् भो वादरायण ! किं किं कंसभृत्यो दामोदरस्तव पुरुषोत्तमः।
·················आ अपध्वंस।
तथा—योऽत्र केशवस्य प्रति उत्थास्यति, स मया द्वादशसुवर्णभारेण दण्ड्यः।
—दूतवाक्य पृ० ४४३, ४४४

३. दूतवाक्य २१

४. दूतवाक्य २२

५. दूतवाक्य २३

राज्यं नाम नृपात्मजैः सहृदयैर्जित्वा रिपून् भुज्यते
तल्लोके न तु याच्यते न तु पुनर्दीनाय वा दीयते ।
काङ्क्षा चेन्नृपतित्वमाप्तुमचिरात् कुर्वन्तु ते साहसं
स्वैरं वा प्रविशन्तु शान्तमतिभिर्जुष्टं शमायाश्रमम् ॥ दूतवा० २४

अर्थात् राज्य न तो माँगा जाता है न ही दीन याचकों को दिया जाता है। हाँ, यदि पाण्डवों में शासन की क्षमता है तो साहसपूर्वक युद्ध करके उसे छीन लें अन्यथा वन में जाकर तपस्या करें।

कथानक किंवा विवाद को बार-बार बढ़ाने का उपक्रम कृष्ण ही करते हैं, कौरव कुल की निन्दा[1] एवं उसके नाश[2] की बात कहना तथा दुर्योधन को व्यक्तिगत रूप से अन्योक्ति द्वारा 'वञ्चक' कहना[3] इसका प्रमाण है। जिसके विपरीत दुर्योधन में युधिष्ठिरादि सभी पाण्डवों के प्रति शिष्टता के दर्शन होते हैं[4]। कृष्ण के व्यक्तिगत आरोपों को भी उसी भाषा और विधा में उत्तरित करते हुए दुर्योधन कृष्ण को अनुत्तरित कर देता है[5]। दुर्योधन के तर्कों (जिन्हें तार्किक आक्रमण कहना अधिक उचित होगा) द्वारा कृष्ण क्षतविक्षत हो जाते हैं। कंस-वध एवं जरासन्ध-वध के सन्दर्भ में दुर्योधन के तर्कों एवं प्रश्नों पर कृष्ण के उत्तर सुरक्षात्मक हैं, निष्प्राण हैं[6]। पराजित कृष्ण द्वारा दुर्योधन से यह कहने पर कि 'दूसरों के गुण-अवगुणों को भूलकर भाइयों से स्नेह करना चाहिए' दुर्योधन कृष्ण को पुनः निरस्त्र करते हुए कहता है 'पाण्डव तो देवपुत्र हैं (जैसाकि आप कहते हैं), और हम मनुष्य हैं, हम दोनों बन्धु कैसे हो सकते हैं—

देवात्मजैर्मनुष्याणां कथं वा बन्धुता भवेत् ।
पिष्टपेषणमेतावत् पर्याप्तं छिद्यतां कथा ॥—दूतवाक्य ३०

अन्त में कृष्ण जब तर्क द्वारा दुर्योधन को नहीं समझा पाते हैं तब वे उसे उत्तेजित करते हैं। कृष्ण की पराजय एवं दुर्योधन को उत्तेजित करना यह दोनों कर्म भी

---

१. वासुदेवः—पुराविदं भवन्तं पृच्छामि,
विचित्रवीर्यो विषयी विपत्तिं क्षयेण यातः पुनरम्बिकायाम् ।
व्यासेन जातो धृतराष्ट्र एष लभेत राज्यं जनकः कथं ते ॥ दूतवाक्य २२

२. शीघ्रं भवेत् कुरुकुलं नृप! नामशेषम् । दूतवाक्य २३

३. दूतवाक्य २५

४. दुर्योधनः—भो दूत !
धर्मात्मजो वायुसुतश्च भीमो भ्राताऽर्जुनो मे त्रिदशेन्द्रसूनुः ।
यमौ च तावश्विसुतौ विनीतौ सर्वे सभृत्याः कुशलोपपन्नाः ॥ दूतवाक्य १९

५. वासु०—अलं तन्मद्दोषतो ज्ञातुम् । दूतवाक्य पृ० ४४९

६. द्रष्टव्य दूतवाक्य २६, २७ एवं २८, २९

कृष्ण की अपेक्षा दुर्योधन के नायकत्व की पुष्टि में प्रस्तुत किए जा सकते हैं, क्योंकि इस दृष्टि से जहाँ कृष्ण का उद्देश्य दूषित हो गया है वहीं उसकी विधा भी ठीक नहीं है। प्रथमतः अर्जुन की यशोगाथा[1] फिर दुर्योधन पर अर्जुन के अनुग्रह[2] और फिर धमकी[3] सभी का युक्तिपूर्ण एवं वीरोचित उत्तर देने में दुर्योधन पीछे नहीं रहता[4]। कृष्ण के कुरुकुलकलङ्क, अयशोलुब्ध, शठ, बान्धवनिःस्नेह, काक, केकर, पिङ्गल प्रभृति सम्बोधनों से[5] सुयोधन घबड़ाता नहीं है। अपितु, उन्हें गोपाल जैसे छोटे सम्बोधन द्वारा धराशायी करता है और अवध्या स्त्री (पूतना) हाथी, घोड़े (तुरङ्गवेष केशीराक्षस) तथा पशुओं को (पशुवेश में राक्षसों को) मारने तक सीमित तथा पशुप (ग्वालों) के बीच जीने वाले कृष्ण की वीरता के समक्ष प्रश्नचिह्न लगता है[6]। और कृष्ण द्वारा जाने का उपक्रम करते ही दुर्योधन उन्हें बन्दी बनाने के प्रयास करता है। दुर्योधन उनपर बहुत भारी पड़ता है और कृष्ण इस सीमा तक उत्तेजित हो उठते हैं कि वे पाण्डवों का कार्य (दुर्योधन-वध) स्वयं करने का उपक्रम करने लगते हैं, यह उनकी पराजय है और तभी उनकी सहायता के लिए उनके आयुध आ उपस्थित

---

१. कैरातं वपुरास्थितः पशुपतियुद्धेन संतोषितो
वह्निः खाण्डवमश्नतः सुमहती वृष्टिः शरैश्छादिता।
देवेन्द्रार्तिकरा निवातकवचा नीताः क्षयं लीलया
नन्वेकेन तदा विराटनगरे भीष्मादयो निर्जिताः॥ दूतवाक्य ३२

२. अपि च, तवापि प्रत्यक्षमपरं कथयामि—
ननु त्वं चित्रसेनेन नीयमानो नभस्तलम्।
विक्रोशन् घोषयात्रायां फल्गुनेनैव मोक्षितः॥ दूतवाक्य ३३

३. दातुमर्हसि मद्वाक्याद् राज्यार्धं धृतराष्ट्रज !।
अन्यथा सागरान्तां गां हरिष्यन्ति हि पाण्डवाः॥ दूतवाक्य ३४

४. प्रहरति यदि युद्धे मारुतो भीमरूपी
प्रहरति यदि साक्षात् पार्थरूपेण शक्रः।
परुषवचनदक्ष ! त्वद्वचोभिर्न दास्ये
तृणमपि पितृभुक्ते वीर्यगुप्ते स्वराज्ये॥ दूतवाक्य ३५

५. शठ ! बान्धवनिःस्नेह ! काक ! केकर ! पिङ्गल !।
त्वदर्थात् कुरुवंशोऽयमचिरान्नाशमेष्यति। दूतवाक्य ३८

६. करितुरगनिहन्ता कंसहन्ता स कृष्णः
पशुपकुलनिवासादानुजीव्यानभिज्ञः।
हृतभुजबलवीर्यः पार्थिवानां समक्षं
स्ववचनकृतदोषो बध्यतामेष शीघ्रम्॥ दूतवाक्य ३९

होते हैं। जो कृष्ण के नारायणत्व के परिचायक एवं अद्‌भुतरस की दृष्टि से भले ही उपयोगी हों किन्तु उनकी पराजय के भी परिचायक हैं।

कृष्ण एवं दुर्योधन के इस तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों को ही नायकत्व से अलङ्कृत किया जा सकता है किन्तु औद्धत्य एवं गम्भीरता की दृष्टि से दुर्योधन का चरित्र अधिक सशक्त है। कृष्ण के नाना कथनों से दुर्योधन के औद्धत्य को बल मिलता है जिसे वह धीरता गम्भीरता के साथ निभाता है।

'लुब्धः धीरोद्धतः स्तब्धः पापकृद् व्यसनी रिपुः' की उत्तरकालिक परिभाषा के साँचे में न तो कृष्ण ही ढले हैं न ही दुर्योधन। फिर भी उनके बीच प्रतिद्वन्द्विता है, अतः किसी न किसी को प्रतिनायकत्व दिया जाना चाहिए। इस पूर्वपक्ष के साथ कृष्ण को प्रति-नायकत्व देने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए। विशेषकर इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि कृष्ण के चरित्र के माध्यम से ही दुर्योधन का उत्साह और उस उत्साह की अभिव्यक्ति का अवकाश, मिल पाता है; दुर्योधन की भूमिका का आरम्भिक स्वरूप तो उसे नायकत्व देने में स्वतः पर्याप्त है, जबकि कृष्ण के चरित्र को उठाने के लिए दुर्योधन के चरित्र का उपयोग भास को अभीष्ट रहा होगा ऐसा लगता नहीं है।

दूसरी ओर यदि कृष्ण को नायक मान लिया जाए तो यही कहा जा सकता है कि प्रतिनायक दुर्योधन नायक पर भारी पड़ता है और यदि कृष्ण का नारायण रूप न ग्रथित किया गया होता तो उसका स्वरूप नितान्त पाण्डु होता। नारायणत्व के होने पर भी कृष्ण के कथनों में तर्क का अभाव एवं प्रतिनायक दुर्योधन के तर्कों के समक्ष बार-बार निस्तेज होकर अन्त में उनका विश्वरूप-विराटरूप धारण करना अनाटकीय प्रतीत होता है।

इसके विपरीत कृष्ण का प्रतिनायकत्व दुर्योधन की भूमिका की दृष्टि से अधिक सशक्त है। अतः तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यही प्रतीत होता है कि भास ने नर दुर्योधन के रूप में लोक-विश्रुत प्रतिनायक को पुनः नायकत्व देकर तथा नारायण कृष्ण को प्रति-नायकत्व प्रदान कर एक क्रान्ति दृष्टि का परिचय दिया है। यह क्रान्ति-दृष्टि उत्तर-कालिक लक्षण ग्रन्थों के ही नहीं अपितु प्राचीन परम्पराओं, महाभारत एवं पौराणिक परम्पराओं के परिप्रेक्ष्य में भी महत्त्वपूर्ण है। नारायण के प्रतिद्वन्द्वी के चरित्र को इस कोटि तक उठाने में ही नाट्यकर्म की चरितार्थता है। दुर्योधन को यदि प्रतिनायक माना जाए तो भी कहा जा सकता है कि उसका चरित्र बहुत श्रम के साथ ग्रथित हुआ है। वह इतना तेजस्वी है कि कृष्ण को बार-बार आत्मसमर्पण करने को विवश कर देता है और अन्त में उन्हें अपने सभी शस्त्रास्त्रों के आह्वान की आवश्यकता का अनुभव होने लगता है।

दूतघटोत्कचम्

भास के एकाङ्की रूपकों में 'दूतघटोत्कच' का स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। प्रसिद्ध कथावस्तु, उद्धत नायक (पात्र), वीर रस एवं अभिनय का अवकाश, चुभते हुए सम्वाद और करुणरस का समावेश यह ऐसे तत्त्व हैं जिनकी योजना में कवि अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर सका है।

अभिमन्यु-वध की भयंकर परिणति के ज्ञाता, कृष्ण, एकबार पुनः कौरवों-पाण्डवों में सन्धि का प्रस्ताव लेकर घटोत्कच को धृतराष्ट्र के समीप भेजते हैं। जिसके श्रोता एवं साक्षी हैं दुर्योधन, दुःशासन एवं शकुनि। दुःशला एवं गान्धारी की भूमिकाएँ करुणरस की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। अभिमन्यु-वध की पीड़ा को सह पाना ही धृतराष्ट्र के लिए कठिन है उस पर अर्जुन प्रतिज्ञा 'जिसने भी अभिमन्यु का वध किया है उसे कल सूर्यास्त तक मैं मार डालूँगा' को सुनकर दुःशला की पीड़ा ने, उत्तरा के वैधव्य ने और धीरे-धीरे संपूर्ण कौरवों के विनाश के भय ने धृतराष्ट्र की करुणा को बल दिया है।

करुणरस के इन स्थलों एवं स्त्री पात्रों की उपस्थिति के कारण इस रूपक को 'अङ्क' या 'उत्सृष्टिकाङ्क' मान लेना[1] उचित नहीं है। लीक से हटकर चलने वाले भास से ऐसी अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए।

अस्तु, कृष्ण के सन्धि प्रस्ताव से प्रत्यक्षतः धृतराष्ट्र, दुर्योधन एवं घटोत्कच सम्बद्ध हैं। यह प्रस्ताव धृतराष्ट्र को सम्बोधित है अतः वे तथा सन्देश वाहक घटोत्कच एवं उन्हीं के समक्ष कृष्ण को भला बुरा कहकर घटोत्कच को उत्तेजित करने एवं उसके साथ विवाद में उलझने के कारण दुर्योधन यह तीन पात्र इस रूपक में मुख्य हैं।

करुण वातावरण में आरम्भ यह रूपक वीर रस प्रधान है। जिसके लिए दुर्योधन घटोत्कच के सम्वाद एवं शकुनि तथा दुःशासन की कटूक्तियों इस रस में घृताहुति बनी हैं।

घटोत्कच का नायकत्व

'दूतघटोत्कच' में भास ने एकबार पुनः राक्षसीपुत्र घटोत्कच को नायकत्व प्रदान करते हुए उसे वीरता की साक्षात् प्रतिमा के रूप में प्रस्तुत किया है। उसमें किसी नायक के सभी आवश्यक गुण विद्यमान् हैं। वह मध्यमव्यायोग से अधिक प्रभावशाली ढंग से अपनी भूमिका निभाता है। वह दुर्योधन, शकुनि एवं दुःशासन की कटूक्तियों का मुहतोड़ उत्तर देता है। दुर्योधन के तर्कों के समक्ष 'दूतवाक्य' के कृष्ण के समान उसके तर्क असंगत, निर्बल अथवा सुरक्षात्मक नहीं हैं। शकुनि के यह कहने पर कि जिह्वा

१. देखें : पूना से प्रकाशित भासनाटकचक्र में 'दूतघटोत्कचम्' की भूमिका में श्री देवधर का मन्तव्य ।

संचालन से यह पृथ्वी नहीं जीती जा सकती[1], घटोत्कच शकुनि को ललकारते और धिक्कारते हुए कहता है:—

अक्षान्विमुञ्च शकुने ! कुरु बाणयोग्यम्
अष्टापदं समरकर्मणि युक्तरूपम् ।
न ह्यत्र दारहरणं न च राज्यतन्त्रं
प्राणाः पणोऽत्र रतिरुग्रबलैश्च बाणैः ॥ दूतघटोत्कच ४५

अर्थात् 'ओ जुआड़ी, पाँसों को छोड़कर युद्ध की तैयारी करो, यह युद्धभूमि है, यहाँ न तो स्त्रियों का हरण करना है न ही यह कूटनीति की लड़ाई है, यहाँ तीखे बाणों से प्यार करना पड़ता है और प्राणों को पण पर लगाना होता है ।' घटोत्कच का यह कथन कितनी चोट करता है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण, क्रुद्ध दुर्योधन के उस कथन में मिलता है जहाँ वह अपने गौरव को भूलकर दूत घटोत्कच से कह उठता है—'तुम राक्षसीपुत्र हो अतएव इस प्रकार (मेरे मामा को) बुरा भला कह रहे हो, यह जान लो कि हम भी बहुत क्रोधी तथा राक्षसों के समान ही उग्र स्वभाव के लोग हैं[2] । दुर्योधन के इस प्रकार के आरोप (कि तुम तो राक्षसीपुत्र-स्वयं राक्षस हो) का जितना समीचीन उत्तर घटोत्कच देता है सम्भवतः उसका दूसरा उदाहरण सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में मिलना असम्भव है । वह कहता है—"शान्तं पापं शान्तं पापम् । राक्षसेभ्योऽपि भवन्त एव क्रूरतराः । कुतः—

न तु जतुगृहे सुप्तान् भ्रातॄन् दहन्ति निशाचराः
शिरसि न तथा भ्रातुः पत्नीं स्पृशन्ति निशाचराः ।
न तु सुतवधं संख्ये कर्तुं स्मरन्ति निशाचराः
विकृतवपुषोऽप्युग्राचाराः घृणा न तु वर्जिता ॥ दूतघटोत्कच ४७

अर्थात् 'आप लोग तो राक्षसों से भी क्रूर है क्योंकि लाक्षागृह में भाइयों को ज़ला डालना, भ्रातृ पत्नी के साथ कदाचार, युद्ध में पुत्र की हत्या जैसे जघन्य-कर्म तो राक्षस भी नहीं करते ।' घटोत्कच के इस कथन का कोई भी उत्तर दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि के पास नहीं है, तभी तो दुर्योधन कहता है—'आप दूत बनकर आए हैं और हम दूतवध को उचित नहीं मानते अतः आप सन्देश लेकर जाएँ, बस ।' किन्तु घटोत्कच न तो कायर है और न तो दुर्योधन की कृपा का आकांक्षी । अतः वह कहता है 'प्रहरध्वं समाहताः' आओ, तुम सभी मिलकर मुझपर प्रहार करो । मैं अभिमन्यु नहीं हूँ जो धनुष की डोरी टूट जाने से निहत्था हो चुका होऊँ ।' घटोत्कच के इस कथन में भी

---

१. यदि स्याद् वाक्यमात्रेण निर्जितेयं वसुन्धरा ।
वाक्ये वाक्ये यदि भवेत् सर्वक्षत्रवधः कृतः ॥—दूतघटोत्कच ४४

२. वयमपि खलु रौद्राः राक्षसोग्रस्वभावाः ।—दूतघटोत्कच ४६

कौरवों की कायरता, युद्धोचित मर्यादाओं के उल्लंघन की निन्दा है एवं स्वयं की शक्ति का उद्घोष है।

अपने सम्पूर्ण चरित्र में घटोत्कच एक वीर, युद्धप्रिय, तर्कपटु, उद्धत, किन्तु धीरनायक है। वह आज्ञापालक है और शिष्टाचार से पूर्णतः परिचित है। धृतराष्ट्र के समक्ष वह नतमस्तक है। उनके शान्त कराने पर वह शान्तचित होकर दुर्योधन के संदेश का वाहक बनता है। वह राक्षस होते हुए भी दुर्योधन से श्रेष्ठ है।

प्रतिनायक दुर्योधन

धृतराष्ट्र के साथ दुर्योधन के विवाद एवं बीच-बीच में शकुनि के आक्षेपों में चुभन है। 'दूतवाक्य' में कृष्ण के साथ विवाद में दुर्योधन का दुर्धर्ष रूप दिखायी देता है, यहाँ वह और भी प्रौढ़ता को प्राप्त होता है। यहाँ दुर्योधन दूत समुदाचार का भी पालन करता है[1] और एक वीर क्षत्रिय के समान कृष्ण के सन्देश का उत्तर देते हुए दो टूक शब्दों में कहता है 'तिष्ठ त्वं सह पाण्डवैः; प्रतिवचो दास्यामि ते सायकैः।' 'अर्थात्, कृष्ण ! तुम पाण्डवों के साथ ही रहो (मेरे या मेरे वंश के प्रति सद्भावना अपने पास ही रखो) मैं तुम्हें तुम्हारी सद्भावना का उत्तर अपने बाणों द्वारा युद्धभूमि में ही दूँगा।' इस सन्देश में दुर्योधन की निर्भीकता, औद्धत्य, दर्प, असहिष्णुता, प्रचण्डता और विकत्थना सभी की सामूहिक अभिव्यञ्जना है। अपनी संक्षिप्त भूमिका में भी घटोत्कच का चरित्र इतना प्रभावशाली है कि उसे नायक मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं हो सकती। इस दृष्टि से दुर्योधन का प्रतिनायकत्व स्वतः सिद्ध होता है।

दुर्योधन का नायकत्व

यह गुत्थी जितनी सरलता से सुलझती है, दुर्योधन को नायक मानने के विवाद के साथ उतनी ही शीघ्रता से उलझ जाती है। घटोत्कच की अपेक्षा दुर्योधन के गुणों की मौलिकता, उसके वीरोचित स्वभाव, उसके गाम्भीर्य एवं गौरव के सन्दर्भ में उसे नायक माना जा सकता है। सम्पूर्ण कथानक दुर्योधन के चारों ओर घूमता है इस कारण भी उसे नायक मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

अतः इस विवाद के निराकरण के लिए हम यदि इसे इस रूप में देखें कि कौन सी भूमिका पूरक है तो यह विवाद समाप्त किया जा सकता है। सम्पूर्ण कथानक जो अभिमन्युवध की प्रतिक्रिया के सम्बद्ध है उसे नाटककार ने दुर्योधन किंवा कौरवों के शीघ्र विनाश की सम्भावनाओं के सन्दर्भ में नियोजित किया है। दुर्योधन के चारित्रिक गुणों का प्रदर्शन, उसके औद्धत्य, उसकी महत्त्वाकांक्षा[2] उसका वीरोचित दर्प[3] शत्रुपक्ष

१. दूतघटोत्कच, ४८,

२. दूतघटोत्कच, ११,

३. दूतघटो० ५१

को हानि पहुँचाने पर उसकी प्रसन्नता[1], शकुनि की मन्त्रणा के विरुद्ध उसकी पितृभक्ति एवं शिष्टाचार[2], शिष्टाचार के साथ ही पिता के प्रश्नों का तर्कपूर्ण उत्तर[3], अपने पक्ष की रक्षा के लिए उसके द्वारा धीरोद्धतनायक के अनुकूल छलछद्‌न का आश्रय लेना और अर्जुन की प्रतिज्ञा को पूर्ण होने से रोकने का उसका प्रयत्न[4], उसके नायक होने की सम्भावनाओं को सशक्त करता है।

प्रतिपक्ष के विनाश के लिए व्यूहरचना तथा दूत को तर्क के साथ अनुत्तरित करते हुए उसके द्वारा बार-बार उत्तेजित किए जाने पर भी स्वयं पर सन्तुलन रखना और दूत के प्रति किसी राजा के आचरण के अनुकूल आचरण करते हुए दुर्योधन एक धीरोद्धत नायक का आदर्श प्रस्तुत करता है। उसके नायकत्व को घटोत्कच की प्रतिद्वन्द्विता एवं धृतराष्ट्र के तर्कों एवं दुःशासन एवं शकुनि की भूमिकाओं द्वारा भी उभारा गया है। धृतराष्ट्र के उपदेश तथा कृष्ण का शोकपूर्ण सन्देश सभी उसके वीरोचित चरित्र को उभारते हैं। घटोत्कच के चुभते हुए कथनों से उसकी उत्तेजना वीरोचित है, नायकोचित है। इस रूप में दूतघटोत्कच का नायक दुर्योधन है ऐसा माना जा सकता है।

घटोत्कच का प्रतिनायकत्व

प्रतिनायक की दृष्टि से घटोत्कच की भूमिका जितनी महत्त्वपूर्ण है उतनी ही संक्षिप्त। संक्षिप्त होते हुए भी उसमें अपने प्रतिपक्ष को उत्तेजित करने की अपूर्व क्षमता है। व्यापक रूप से देखा जाए तो कृष्ण का दायित्व है; अधर्म का नाश। कौरवों को धर्म-विमुख, धर्महन्ता मानने वाले कृष्ण द्वारा कौरवों, पाण्डवों में कभी स्वयं दूत बन कर तो कभी घटोत्कच को दूत बनाकर सन्धि का प्रस्ताव करने का औचित्य क्या है? वस्तुतः यह कूटनीतिक चाल है कौरवों को नत करने की और नतमस्तक न होने पर उन्हें उत्तेजित करके मृत्यु के निकट खींच लाने की। कभी स्वयं कृष्ण को तो कभी घटोत्कच को भास ने ऐसी ही भूमिकाओं में उतारा है। यह नाटककार की क्रान्ति-दृष्टि है। भले ही कृष्ण अथवा उनके दूत को प्रतिनायक बनाना पड़े।

---

१. दूतघटोत्कच, ११

२. मातुल ! मामैवम्। यथा तथा भवतु। तत्र भवन्तं तातमभिवादयिष्यामः।
—दूतघटोत्कच, पृ० ४६४

३. दूतघटोत्कच, १८

४. दुर्योधनः—'ननु सर्वाक्षौहिणीसन्दोहेनाच्छादयिष्ये जयद्रथम्। अपि च,
द्रोणोपदेशेन यथा तथाहं संयोजये व्यूहमभेद्यरूपम्।
खिन्नाशयास्ते सगजाः सयोधा अप्राप्तकामा ज्वलनं विशेयुः॥ दूतघटोत्कच, ३०

जैसाकि पहले ही कहा जा चुका है घटोत्कच के उत्तर अत्यन्त तर्कपूर्ण हैं। उनमें इतनी क्षमता है कि नितान्त शिष्ट एवं गम्भीर दुर्योधन भी उसके वाक्यवाणों से आहत होकर उसके राक्षसत्व के साथ स्वयं की प्रकृति से भी सामाजिक को परिचित करा देता है। इतना ही नहीं यह उसकी वाक्पटुता ही है कि वह दुर्योधन को यह कहने को बाध्य कर देता है कि यदि घटोत्कच दूत न होता तो दुर्योधन उसका वध कर देता। इस कृपा पर वह पुनः दुर्योधन को उत्तेजित करता है किन्तु धृतराष्ट्र के कारण वह दुर्योधन को पूर्णरूपेण युद्ध के लिए प्रतिनद्ध करके चला जाता है और कृष्ण का 'मिशन' अपनी मौत मर जाता है, ऐसा कहा जा सकता है।

तात्पर्य यह कि भास ने इस एकाङ्की द्वारा कृष्ण के 'मिशन' की सफलता असफलता के साथ दुर्योधन को युद्ध के लिए पुनः नियोजित किया है। इसके निमित्त दुर्योधन, धृतराष्ट्र, दुःशासन, शकुनि एवं घटोत्कच सभी को यथोचित भूमिकाएँ एवं अभिनय के अवसर देते हुए नायक प्रतिनायक के मध्य प्रतिस्पर्धा को पर्याप्त प्रौढ़ता प्रदान की है।

नायक चाहे घटोत्कच को माना जाए या दुर्योधन को दोनों की ही भूमिकाओं को अपने संक्षिप्त क्लेवर में इतनी क्षिप्रता, सघनता एवं प्रौढ़ता के साथ उभारने में भास ही एकमात्र सफल शिल्पी है। दूतघटोत्कच में न तो दूतवाक्यम् सी शिथिलता है न ही 'ऊरुभङ्ग' सी एकाङ्गिता (प्रतिनायकहीनता)। वीररस की अभिव्यक्ति में भी 'दूतघटोत्कच' की सफलता पर सन्देह नहीं किया जा सकता। शकुनि एवं दुःशासन तथा दुर्योधन के प्रहारों से घटोत्कच की वीरता जितनी अभिव्यक्ति पाती है, घटोत्कच के प्रहारों से विचलित-अविचलित दुर्योधन की भूमिका भी उतनी ही सशक्त है[1]। फिर भी अपने सम्पूर्ण कलेवर में 'दूतघटोत्कच' का नायक घटोत्कच है। कृष्ण का उद्देश्य (दुर्योधन को युद्ध के लिए उत्तेजित करना) चाहे सफल रहा हो अथवा (संधिप्रस्ताव) असफल किन्तु प्रस्ताव के वाहक घटोत्कच को नायक मानने में विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए। यह नाटककार की सफलता है, उसकी प्रतिभा का चमत्कार है कि वह नायक प्रतिनायक दोनों को ही इस रूप में प्रस्तुत करता है कि यह निर्णय कर पाना कठिन हो जाता है कि नायक कौन है और प्रतिनायक कौन ?

कर्णभारम्

भास के इस एकाङ्की की कथावस्तु भी महाभारत पर आधृत है। कर्ण द्वारा इन्द्र को कवच कुण्डल का दान कर्ण की दानप्रियता का तो द्योतक है ही उसकी शक्ति, उसके अहं और उसके वीररूप का भी परिचायक है।

नायक प्रतिनायक की दृष्टि से कर्ण का नायकत्व एवं इन्द्र का प्रतिनायकत्व स्वतः स्पष्ट है। जो भास की, प्रचलित परम्परा के विरुद्ध भी नायक चयन की उनकी

१. स० ना० पृ० १०० एवं १०२

मौलिक भावना का परिचायक है। यहाँ कर्ण और इन्द्र के मध्य किसी प्रतिस्पर्धा और संघर्ष के विना भी प्रतिनायक की योजना में मौलिकता है। दुष्यन्त के प्रसंग में दुर्वासा को अथवा पुरूरवा के प्रसंग में उर्वशी को दिये गये इन्द्र के आश्वासन को अथवा इन्द्र को प्रतिनायक माना जा सकता है, यद्यपि इनका स्वरूप पारिभाषिक प्रतिनायक की सीमा में नहीं आता। कर्ण के सन्दर्भ में इन्द्र को किसी सीमा तक उनके छलपूर्ण कार्य के कारण प्रतिनायक लक्षण की परिधि में रखा जा सकता है। अपने इस कार्य पर इन्द्र को पश्चात्ताप भी होता है और वह देवदूत को भेज कर अपने इस कर्म पर खेद व्यक्त करते हुए कर्ण को पाण्डवों में किसी भी एक के वध में समर्थ 'विमला' नामक 'शक्ति' देता है।

इन्द्र के छलपूर्ण कृत्य को समझते हुए शल्य द्वारा कवच-कुण्डल का दान न करने की सलाह के परिप्रेक्ष्य में कर्ण की दृढ़ता[1], दान देने के उपरान्त भी उसके लिए पश्चात्ताप का अभाव और उसके विपरीत इन्द्र को कृतार्थ करने के व्याज से स्वयं को विजयी मानने की उसकी भावना[2] उसके नायकत्व के अनुकूल है। प्रतिनायक इन्द्र अपने पौराणिक परिवेश में नायक के चरित को उभारता है। एक ओर तो कर्ण, क्रमशः अपने विभव का वर्णन करते हुए सहस्रों गाएँ, सूर्याश्वों के समान सहस्रों घोड़े, अगणित हाथी देने का प्रस्ताव करता है। दूसरी ओर इन्द्र द्वारा क्रमशः उन सभी को लेने की अस्वीकृति से कथानक के प्रति अभिरुचि और नायक के चरित्र में क्रमशः उभार आता जाता है। कर्ण की दानप्रियता की आधारशिला है—इन्द्र की अस्वीकृतियाँ।

इन्द्र के चरित्र के अभाव में कर्ण की दानप्रियता का परिचय ही नहीं मिलता, अथवा इन्द्र यदि हाँथी, घोड़ों अथवा गौओं के दान से सन्तुष्ट हो जाता तो भी कर्ण के चरित्र को वह महत्त्व न मिलता जो उसके द्वारा कवच-कुण्डल के दान पर मिलता है। नायक के चरित्र के लिए प्रतिनायक की यही वास्तविक उपयोगिता है।

ऊरुभङ्गम्

भास का यह एकाङ्की प्रबन्ध की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भग्न जंघाओं वाले दुर्योधन के मनोरथ भी भग्न हो जाते हैं। इस रूपक के विष्कम्भक के रूप में जो पूर्व कथा दी गयी है उसे दृष्टि में रखते हुए यह निर्णय थोड़ा कठिन हो जाता है कि इस रूपक का नायक कौन है। कहना न होगा कि मञ्च पर भीम का आगमन होता ही नहीं है। दुर्योधन, बलराम एवं धृतराष्ट्र, गान्धारी एवं दुर्जय यह भूमिकाएँ हैं जो रूपक में कौरवों के प्रति नाटककार के पक्षपात की परिचायक है।

---

१. कर्णभारम् २२ २. कर्णभारम् २३

दुर्योधनवध के लिए कृष्ण के संकेत को घृणास्पद एवं युद्ध-नियमों के विरुद्ध सिद्ध करते हुए भास की प्रतिक्रिया में भी यही भावना है। अतः भास की दृष्टि से रूपक का नायक है दुर्योधन। यह भास की क्रान्ति-दृष्टि भी है, रूपक का प्राण भी है। फिर भी रूपक की कथावस्तु की पृष्ठभूमि को ध्यान में रखते हुए भीम को नायक तथा दुर्योधन को प्रतिनायक मानने वालों का अभाव नहीं है। इस रूपक को दुर्योधन, दुर्जय एवं अन्य पात्रों के करुणालापों के परिप्रेक्ष्य में 'अङ्क' रूपक भेद की कोटि में भी रखा जा सकता है। किन्तु कृष्ण की घृणित नीति के परिप्रेक्ष्य में; भीम के कर्म को हेय मानकर तथा उसे प्रतिनायक मानकर दुर्योधन को नायक मानने में दोष नहीं है।

नायक प्रतिनायक विपर्यय

प्रकृत स्थल पर यह एक मौलिक प्रश्न उठता है, क्या पौराणिक नायक ही नायक हो सकते हैं ? क्या पौराणिक कथानकों के प्रतिनायक नायक की भूमिका में नहीं आ सकते क्या ? यह प्रश्न भी उठता है। इस सन्दर्भ में भारतीय संस्कृति, विशेषकर संस्कृत साहित्य एवं दर्शन की दृष्टि से साहित्यिक एवं मानवीय मूल्यों के सम्बन्ध में व्यापक विवेचना की अपेक्षा है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि काव्य संसार की संरचना में कवि ही प्रजापति है और उसे जैसा रुचिकर होता है वैसी ही रचना करता है[1]। महाकवि भास भी ऐसे ही कवि हैं जिन्होंने दुर्योधन एवं कर्ण जैसे ख्याति-प्राप्त पौराणिक प्रतिनायकों को नायक के रूप में प्रस्तुत किया है।

भारतीय कर्मवाद के परिप्रेक्ष्य में नाटककार भास ने ऐसे विषय उठाए हैं जिन पर अन्य रचनाकारों का ध्यान कम ही गया है। विशेषकर ऐसी रचनाएं यदि लिखी भी गयी हों तो अब उपलब्ध नहीं हैं। उपलब्ध रचनाओं में ऐसे प्रसंगों को उपेक्षित ही रखा गया है। कम से कम ऐसे स्थलों पर पौराणिक प्रतिनायकों का, छल बल, किसी भी प्रकार से; संहार हुआ हो उसे उचित सिद्ध करने के नाना प्रयत्न किये जाते रहे हैं। इसी कारण प्रतिनायक चाहे कितना ही गुणवान् क्यों न हो उसे प्रतिष्ठा नहीं दी गयी। रावण अपने समग्र गुणों के परिवेश में भी, कहीं भी राम की तुलना में नहीं आ पाया। किन्तु भास की रचना-पद्धति में दुर्योधन को पौराणिक दुर्योधन से इतर स्थान मिला है। इसी प्रकार पौराणिक आख्यानों में अपने कवच-कुण्डल का दान करके भी कर्ण अपेक्षित प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सका, किन्तु भास ने उसके इस सुकर्म के कारण एक पृथक् प्रसंग उठाकर उसे भी नायकत्व प्रदान किया है। 'ऊरुभङ्ग' का यह प्रसंग उत्तरकालीन नाटककार भट्टनारायण ने भी उठाया है किन्तु उस सम्पूर्ण

---

१. अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥ ध्वन्यालोक पृ० ३१२

प्रसंग में कृष्ण एवं भीम के इस जघन्य कर्म पर कूटनीति एवं अधर्म पर धर्म की विजय का आरोप कर लिया गया है।

अस्तु 'ऊरुभङ्ग' की कथावस्तु एवं उसके नाटकीय पक्ष की परीक्षा करते हुए हम पाते हैं कि नाटककार ने बड़ी चतुराई के साथ अपनी आलोच्य रचना के लिए एक मार्मिक प्रसंग चुना है। विष्कम्भक से ज्ञात होता है कि कृष्ण की चालाकी (गर्हित) से दुर्योधन की जंघाएँ भग्न हो चुकी है। तभी बलराम क्रोधावेश में अपने प्रिय शिष्य को आश्वासन देते हैं कि वे भीम का वध करके ही रहेंगे। दुर्योधन उन्हें समझाता है और कहता है 'विग्रह का नाश हो चुका है। हम सभी नष्ट हो चुके हैं[1]। अब वैर को बढ़ाने से कोई लाभ नहीं है[2]'। क्योंकि वह मानता है कि 'उसे भीम के छल ने नहीं अपितु जगत्प्रिय कृष्ण ने कृपाकर भीम को गदा में प्रवेश कर स्वयं मृत्यु के निकट पहुँचाया है[3]।' तत्पश्चात् गान्धारी, धृतराष्ट्र, पुत्र दुर्जय, एवं देवियाँ दुर्योधन को खोजती है। अन्धे धृतराष्ट्र उसकी दुरवस्था से अपरिचित हैं। दुर्जय को देखकर तथा धृतराष्ट्र एवं गान्धारी के दुःख के सम्बन्ध में सोच सोचकर दुर्योधन की व्यथा अपनी सीमा का अतिक्रमण कर जाती है। उसकी दुरवस्था एवं दुर्जय से उसके सम्वाद निश्चय ही अत्यन्त-मार्मिक हैं। दुर्योधन की निराशा-हताशा से बलदेव भी विचलित हो उठते हैं[4]। मालवि एवं पौरवि देवियों को उसकी सान्त्वना और दुर्जय के लिए उसके अन्तिम सन्देशों में भारतीय संस्कृति की आत्मा के दर्शन होते हैं[5]। सारा विग्रह शान्त हो चुका है तभी छलबलद-लितोरु[6] दुर्योधन का बदला लेने के लिए अश्वत्थामा का आगमन होता है किन्तु उनमें जितना रोष है, दुर्योधन उतना ही शान्त हो चुका है। वह अश्वत्थामा को भी कहता है—'वयं चैवं भूता गुरुसुत ! धनुर्गृह्णतु भवान्'—अर्थात् जब सारे भाई मर गए, भीष्म, कर्ण सभी दिवंगत हो चुके है तब धनुष उठाने से क्या ? बलराम और अश्वत्थामा कुरुराज दुर्योधन महाभारत युद्ध का सूत्रधार युद्ध

१. 'वैरं च विग्रहकथा च वयं च नष्टा'—ऊरुभङ्ग, श्लोक ३१

२. 'प्रतिज्ञावसिते भीमे गते भ्रातृशते दिवम् ।
मयि चैवं गते राम ! विग्रहः किं करिष्यति ॥'—ऊरु० ३३

३. तीव्रां भीमगदां प्रविश्य सहसा निर्व्याजयुद्धप्रियः
तेनाहं जगतः प्रियेण हरिणा मृत्योः प्रतिग्राहितः ॥ —ऊरु० ३५

४. ऊरु० ४६

५. राजा (दुर्योधन): अहमिव पाण्डवाः शुश्रूषयितव्याः, तत्र भवत्याश्चाम्बायाः कुन्त्याः निदेशो वर्त्तयितव्यः । अभिमन्योर्जननी द्रौपदी चोभे मातृवत्पूजयितव्ये ।'
—ऊरु० पृ० ५०४

६. ऊरु० ५७

के सम्बन्ध में अपना यही भरत वाक्य कहकर आकाश में उपस्थित, शन्तनु प्रभृति पितृ-पितामहों, कर्ण प्रभृति बन्धु-बान्धवों को प्रतीक्षारत देखते हुए, स्वर्गारोहण करता है।

महाभारत के इस कथानक के परिप्रेक्ष्य में नाटककार भास ने नायक-प्रतिनायक सम्बन्धों पर अप्रत्यक्षतः एक विवाद को उठाया और समाधान दिया है।

संस्कृत नाटकों का नायक, प्रकारान्तर से नायक के चारित्रिक गुण, अपनी महानता में अतुलनीय, अनुपम और अद्वितीय हैं। किन्तु भास के नायक यथार्थ का स्पर्श करते हैं। वे मृच्छकटिक के नायक के समान महामानव भी नहीं हैं। स्थापित प्रतिमानों के विरुद्ध पौराणिक प्रतिनायकों को नायक के चारित्रिक गुणों की परिधि में बाँधना कर्मवाद की धारणा के अनुरूप होते हुए भी परम्परा के विरुद्ध है। किन्तु भास ने इसके विपरीत अपनी रचनाओं के माध्यम से उन गुणोंका पुनमूंल्याङ्कन किया है। स्थापित प्रतिमानों किंवा युद्धादि के नियमों के विरुद्ध आचरण करने वाला नायक भी प्रतिनायक की कोटि में गिना जा सकता है; यही स्थापना है भास की। 'ऊरूभङ्ग' का नायक दुर्योधन है तो दूसरी ओर उसी दुर्योधन के समक्ष 'दूतघटोत्कच' में घटोत्कच नायक है। 'कर्णभार' में कर्ण अपने दानकर्म के कारण नायकत्व प्राप्त करता है वही कर्ण 'पञ्चरात्र' में धीरगम्भीर उपनायक के रूप में दृष्टिगत होता है; जबकि दुर्योधन के एक सहायक के रूप में वह सम्पूर्ण परम्परा में एक उप-प्रतिनायक ही है।

सरांश यह कि 'पञ्चरात्र' में द्रोणाचार्य और भीष्म जैसे चरित्रों को दुर्योधन के समक्ष प्रतिनायक के रूप में प्रस्तुत करना, 'मध्यमव्यायोग' में भीम को प्रतिनायक की भूमिका में उतारना, कर्ण की प्रतिद्वन्द्विता में, इन्द्र की प्रतिनायक के रूप में प्रस्तावना तथा 'ऊरूभङ्ग' में अप्रत्यक्षतः कृष्ण एवं भीम को प्रतिनायक के रूप में प्रस्तुत करना महाकवि भास की लेखनी द्वारा ही सम्भव था। इस विवेचना से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि नायक प्रतिनायक के मध्य प्रतिद्वन्द्विता का जो स्वरूप है उसके पीछे कवि अथवा रचनाकार, नाटककार की यह भावना अधिक महत्त्व रखती है कि उसके सोचने का ढंग क्या है? वह कथानक के किस स्थल को उभारना चाहता है? वह अपने श्रोता, पाठक अथवा सामाजिक तक क्या संप्रेषित करना चाहता है? वस्तुतः नायक प्रतिनायक एक दूसरे के पूरक हैं इस रूपक की दृष्टि से।

भट्टनारायण कृत वेणीसंहार

महाभारत की कथा पर आधृत रूपकों की परम्परा में भट्टनारायण के वेणी-संहार का महत्त्व किसी भी दृष्टि से न्यून नहीं है। दुःशासन द्वारा द्रौपदी का भरी सभा में अपमान, वह भी उसकी वेणी पकड़ कर खींचने का; दुःशासन का दुःसाहसिक कर्म, जहाँ द्रौपदी को प्रतिशोध की भावना को जन्म देता है वहीं उसके द्वारा उत्तेजित

भीम का प्रतिशोध हो इस साहित्यशास्त्रीय एवं नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में बहुचर्चित रूपक का मुख्य विषय है; जिसमें महाभारत को अति विस्तृत युद्ध कथा का संक्षेपण करने का प्रयास किया गया है। उसकी सफलता असफलता एक पृथक् आलोचना का विषय है। यहाँ पर उसकी कथा की अपेक्षा पात्रों की योजना पर प्रकाश डालना ही अभीष्ट है। कथावस्तु प्रसिद्ध है और वस्तु तथा फल को ध्यान में रखते हुए भीम का नायकत्व निःसन्दिग्ध है।

वैसे तो कुछ विद्वानों ने वेणी-संहार में युधिष्ठिर और यहाँ तक कि दुर्योधन को भी नायक के रूप में स्वीकार करने के पक्ष में तर्क दिए हैं। किन्तु जैसाकि कहा जा चुका है नायक, मुख्य नायक का, निर्णय कथावस्तु और रूपक के फल से जुड़ा होता है। अर्थात् कथावस्तु के अनुसार मुख्य फल से; मुख्य रूप से सम्बद्ध चरित्र को ही मुख्य नायक माना जा सकता है[1]। हेमचन्द्र मानते हैं 'समग्रगुणः कथाव्यापी नायकः अर्थात् 'नयति व्याप्नोति, इतिवृत्तं फलं चेति नायकः।' (काव्यानुशासन--७।१) यहाँ समग्रगुणों से तात्पर्य है, उसमें धीरोदात्तादि अवस्था के अनुकूल सभी गुणों को व्याप्ति हो। कथाव्यापी से तात्पर्य है, कथावस्तु जिसके चरित्र के चारों ओर घूमती हो अथवा जो स्वयं कथा को अपने चरित्र से आवेष्टित किए हुए हो। अपनी व्याख्या में हेमचन्द्र इसे ही स्पष्ट करते हुए इतिवृत्त के साथ ही फल का भी समाविष्ट कर लेते हैं[2]। अतः मुख्यनायक को फल से नितान्त; आत्यन्तिकरूपेण, सम्बद्ध होना चाहिए। इस दृष्टि से वेणीसंहार के सुख के रूप में मिलने वाला फल (जोकि नाटक के अभिधान के अनुसार नाटककार को भी अभिप्रेत प्रतीत होता है) वेणीसंहर्ता भीम से ही जुड़ा हुआ है; युधिष्ठिर से नहीं जुड़ा है; और दुर्योधन से ता कदापि नहीं। अतः युधिष्ठिर अथवा दुर्योधन को वेणीसंहार का मुख्य नायक कदापि नहीं माना जा सकता। जैसा कि पञ्चावस्थाओं और पञ्चसन्धियों के सन्दर्भ में हम देख चुके हैं, शास्त्रीय दृष्टि से भी भीम को ही मुख्य नायक मानना युक्ति संगत है[3]। उसके (भीम) चरित्र में नाट्यवस्तु के अनुरूप औद्धत्य तो है ही नायक के सामान्यगुण विनय आदि भी यत्र-तत्र मिल जाते हैं।

इसके विपरीत युधिष्ठिर में कथावस्तु के अनुरूप औद्धत्य तो है ही नहीं, न तो कथावस्तु उन्हें आवेष्टित करती है और नहीं वे उसे प्रभावित कर सकें; ऐसे चित्रित हुए हैं। दुर्योधन का पक्ष तो विरोध पक्ष है ही। यदि तत्कालीन शासक और नाटक में हस्तिनापुर में कौरव वंश के नृपति के रूप में और अपने पूर्व कर्मों के सन्दर्भ में तथा

१. द्रष्टव्य, प्रबन्ध : तृतीय परिच्छेद पृ० १२०, १२१
२. द्रष्टव्य; प्रबन्ध : चतुर्थ परिच्छेद पृ० १४२
३. द्रष्टव्य, प्रबन्ध तृतीय परिच्छेद पृ० ११३ से १२१ तथा १२८ से १३२

उससे प्रतिशोध लेने के लिए उद्धत भीम के चरित्र को लेकर दुर्योधन को नायक माना जाता है तो भीम एक सशक्त प्रतिनायक है और अपनी विजय के रूप में, नायक दुर्योधन के पतन के मूल में निहित अपनी भूमिका के कारण वह वेणी-संहार को एक त्रासदी बनाकर छोड़ देता है[1], किन्तु क्या दुर्योधन को नायक मानना नाटककार को अभीष्ट है ? यदि ऐसा होगा तो भीम प्रतिनायक होगा। वस्तुतः ऐसा न तो नाटककार को अभीष्ट है और न तो यह भारतीय सांस्कृतिक और पारम्परिक दृष्टि से उचित है। तात्पर्य यह कि दुर्योधन को नायक न मानने के तीन कारण हैं; सर्वप्रथम यह परम्परा के प्रतिकूल है और पौराणिक मान्यताओं के विरुद्ध है। दूसरे दुर्योधन को नायक मानकर उसका पराभव दिखाना नाट्यशास्त्रीय परम्पराओं के विपरीत है। तीसरे यह है कि सम्पूर्ण नाटक में वह एक नृपति-शासक के रूप में प्रतिष्ठित अवश्य है किन्तु वह एक ऐसा शासक सिद्ध होता है जो आक्रामक नहीं रक्षक है। आक्रान्ता है भीम जो अन्त में उसके राज्य को, उसके प्रभाव को, उसकी रक्षा व्यवस्था को, तहस-नहस करके रख देता है। अतः प्रश्न है वह विजयी रूप दर्शकों को अभिभूत करता है अथवा पराजित चरित्र ? यह सामाजिक की अनुभूति है, पाठक की प्रतीति है। परम्पराएँ भी इसी की स्थापना में समर्पित हैं। नाटककार भी इसी का समर्थक है क्योंकि वेणी के संहारक को ही वह नायक के रूप में चित्रित करना चाहता है। केवल शासक को ही नायक मानने से 'बालचरित' में बालक कृष्ण को तथा मुद्राराक्षस में चाणक्य को नायक नहीं माना जा सकता और वहाँ क्रमशः कंस और चन्द्रगुप्त को ही नायक मानना होगा जो कि उचित नहीं है। अतः 'नयति व्यप्नोति इतिवृत्तं फलं चेति' की मान्यता के अनुरूप भीम का ही नायकत्व सिद्ध होता है।

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है[2] प्रतिनायक के चरित्र की उपयोगिता नायक-चरित्र के उत्कर्ष में समर्पित हुआ करती है, इस दृष्टि से भी हम अगली पंक्तियों में देखेंगे कि भीम के चरित्र से, दुर्योधन के चरित्र को; चारित्रिक उत्कर्ष को, कोई भी बल प्राप्त नहीं होता है। इसके विपरीत दुर्योधन का चरित्र, उसका आचरण, उसके कर्म, उसके सहायकों के रूप में दुःशासन, शकुनि और कर्ण के व्यापार भीम के चरित्र को उभारते हैं—उसके वीररूप को मुखरित करते हैं, उसके औद्धत्य को सिद्ध

१. 'नायक के पतन की अनिवार्यता त्रासदी का महान् गुण है, प्रकारान्तर से इसके मूल में नायक के चरित्र में महान् त्रुटि का होना ही उसके पतन का कारण बनता है जिसका 'साधकतम कारण' खलनायक होता है।

—द्रष्टव्य अरस्तू का काव्यशास्त्र, डॉ नगेन्द्र की भूमिका पृ० ८१

२. वंशवीर्यश्रुतादीनि वर्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः॥ —काव्यादर्श १.२२

करते हैं । अतः नाटककार स्वयं इसी उद्देश्य में समर्पित प्रतीत होता है जिससे उसकी दृष्टि से भी, नायक भीम है; दुर्योधन नहीं, ऐसा कहा जा सकता है । वेणीसंहार की अपेक्षा मुद्राराक्षस के नाटककार की दृष्टि अधिक तीक्ष्ण है और उसमें नायक प्रतिनायक के चरित्रों में ऐसे विरोध को उभारा गया है कि वेणीसंहार के दुर्योधन की तुलना में, मुद्राराक्षस में राक्षस का चरित्र नायकत्व के अधिक योग्य प्रतीत होता है । इस विषय पर, प्रसंग आने पर ही विचार किया जाएगा, यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि यदि वेणीसंहार में भीम के स्थान पर दुर्योधन को नायक माना जाए तो उसकी मृत्यु ऐसी नाट्यविधा की भूमिका बन जाती है, जिसे नायक पतन के कारण त्रासदी मानना होगा ।

अतः नाट्यपरम्परा, कथावस्तु, उसके फल और प्रतिनायक के माध्यम से नायक चरित्र के उत्कर्ष चित्रण सदृश सिद्धान्तों और तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में भीम को ही नायक मानना अधिक उचित है ।

भीम का नायकत्व

नाटक का आरम्भ ही भीम की इस गर्जना से होता है कि भीम के जीवित रहते धृतराष्ट्र के पुत्र कौरवगण स्वस्थ एवं सकुशल नहीं रहने पाएँगे, क्योंकि उन्होंने द्रौपदी का अपमान किया है । भीम की दृष्टि में उसका यह क्रोध निरर्थक या आरोपित अथवा धर्माधर्म पर आधृत नहीं है, क्योंकि उसके पीछे अनेक कारण हैं :— (क) कौरवों ने पाण्डवों को मार डालने के लिए लाक्षाग्रह में जला डालने (ख) विष खिलाने, (ग) छलपूर्वक द्यूत में हराकर धन-धान्य एवं राज्य-सम्पति छीनने तथा (घ) द्रौपदी की भरी सभा में केश पकड़कर अपमानित करने की धृष्टता की है और इसी कारण उन्होंने सकुशल जीवित रहने का अधिकार खो दिया है। वह कहता है :–

लाक्षा–गृहानल–विषान्न–सभा–प्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्
स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्रा ?? वेणी० १।८

भीम के चरित्र का परिचय पाने के लिए उसका यह कथन ही पर्याप्त है । जहाँ उसमें एक उद्धत नायक के सभी मुख्य गुण मिल जाते हैं । उसके प्रकृत कथन में उसका दर्प है, मात्सर्य-असहनशीलता है, अहङ्कार है, तथा चण्ड अर्थात् स्वभाव से उसकी उग्रता भी व्यक्त हो रही है[1] । भीम के चरित्र के इस धूम्र से ही उसके अन्तःकरण में जाज्वल्यमान अग्नि का अनुमान हो जाता है । वह इतना क्रोधान्ध है कि सम्पूर्ण शिष्टाचार को तिलाञ्जलि दे डालता है[2] । प्रथम अङ्क में सहदेव के साथ उसके सम्वाद में इस तथ्य के स्पष्ट दर्शन हो जाते हैं[3] ।

१. देखें, प्रबन्ध का द्वितीय परिच्छेद तथा दशरूपक—२.५६ वृत्ति भाग
२. वेणी० १.१०, १२, ३. वेणी० १.२१, २२

भीम ऐसा नायक है जिसकी चर्चा मात्र से दुर्योधन भी शङ्कित हो उठता है[1]। फिर भी उसमें धीरता के दर्शन होते हैं भले ही वह क्षणिक हो। वह गम्भीर भी है। पाँचवे अङ्क में जब अर्जुन के साथ वह धृतराष्ट्र के समीप पहुँचता है तो वह अर्जुन को ही शिष्टाचार की शिक्षा देता हुआ कहता है–'जब हम आ ही गए हैं तो गुरुजनों (धृतराष्ट्र-गान्धारी) को प्रणाम किए बिना जाना उचित नहीं है[2]।, धृतराष्ट्र, अर्जुन, दुर्योधन एवं भीम के मध्य इस स्थल पर हुए सम्वादो में उसमें धीरोद्धत नायक के सभी गुण स्पष्ट देखे जा सकते हैं।

भीम का लक्ष्य है—जीवित दुःशासन के रक्त का पान तथा दुर्योधन की उस जङ्घा को भग्न करना जिस पर बलात् द्रौपदी को बिठाया गया था। अपनी प्रथम प्रतिज्ञा की पूर्ति पर उसके भयङ्कर रूप को देखकर चारों ओर भय का वातावरण बन जाता है। परन्तु दुःशासन के रक्तपान से मदोन्मत्त भीम के अन्तस् का अभिमान कहीं कम नहीं होने पाता। वह सब को सुनाकर कहता है कि उसने दुःशासन का रक्त पीकर अपने शरीर पर उसके रक्त का लेप किया है। उसे गर्व है कि उसने दुःशासन के शरीर में प्राणों के रहते हुए ही उसके वक्षस्थल को विदीर्ण करके यह कार्य सम्पादित किया है। इतना ही नहीं उसने यह सब दुर्योधन, शल्य एवं कर्ण जैसे महारथियों के समक्ष ही किया है[3] फिर भी वे सब, कुछ नहीं कर पाये।

उसकी दूसरी प्रतिज्ञा से दुर्योधन भयभीत है और अन्त में किसी तडाग् में जाकर शरण ले लेता है। किन्तु भीम अपने विश्वस्त लोगों की सहायता से इसे जान जाता है। वह अपनी प्रतिज्ञा पूरी करने के लिए तथा भगोड़े दुर्योधन को बाहर निकालने के लिए यथाशक्ति प्रयास करता है, वह दुर्योधन को नाना प्रकार के अपशब्द कहकर उत्तेजित करता है[4]। भीम जानता है कि दुर्योधन अन्त में युद्ध के लिए भीम को ही चुनेगा। फिर भी वह दुर्योधन को पाँचों पाण्डवों में से किसी भी वीर को युद्ध के लिए चुनने का अवसर देता है, जिससे उसकी नायकोचित वीरता के दर्शन होते हैं, (इस विषय पर युधिष्ठिर का स्पष्टीकरण अपूर्ण है।) अन्त में वह दुर्योधन का वध करके जब अपने शिविर में आता है तो कोई भी उसे पहचान नहीं पाता क्योंकि कौरव-पक्षपाती एक राक्षस द्वारा वहाँ एक अनिष्ट की रचना की जा चुकी है। ऐसे समय में भी (भीम के पहचाने जाने के बाद) वह द्रौपदी को अपनी प्रतिज्ञा[5] का स्मरण

१. देखें-वेणी प्रथम अङ्क, पृ० ८०–८१

२. भीम :—मूढ, अनुल्लङ्घनीयः सदाचारः, न युक्तमनभिवाद्य गुरून् गन्तुम्।
—वेणी अङ्क ५, पृ० २२८

३. वेणी० ४.१

४. वेणी० ६.७, ८, १०

५. वेणी० १.२१

कराकर ही विश्राम करता है। अपनी प्रतिज्ञा को दृढ़तापूर्वक पूरा करना नायक भीम के चरित्र का सबसे बड़ा गुण है।

प्रतिनायक दुर्योधन एवं नायकोत्कर्ष

भीम की सीधी प्रतिद्वन्द्विता दुर्योधन से है। अत: दुर्योधन का प्रतिनायकत्व स्वाभाविक एवं निःसन्दिग्ध है। यह सिद्ध करने के लिए कि उसमें प्रतिनायक के लक्षण किस सीमा तक प्राप्त होते हैं; किसी तर्क अथवा विशेष विवेचना की आवश्यकता नहीं है।

राज्यलिप्सा, औद्धत्य, यदाकदा गम्भीरता; धीरता, द्यूतक्रीड़ा एवं द्रौपदी के साथ उसके व्यवहार के परिप्रेक्ष्य में उसकी पापभावना के लिए अधिक कहने की भी आवश्यकता नहीं है। औद्धत्य के परिप्रेक्ष्य में भीम से उसकी प्रतिद्वन्द्विता, अश्वत्थामा की अपेक्षा कर्ण के प्रति उसका पक्षपात और उस प्रसंग में उसका सम्वाद, दूसरे अङ्क में अपनी पत्नी एवं नकुल के प्रति उसका शङ्कालु मन तथा अर्जुन एव भीम से उसका विवाद; इन सभी अवसरों पर उसके चरित्र के वे पक्ष उभर कर सामने जाते हैं जिनके कारण शास्त्रीय दृष्टि से उसका प्रतिनायकत्व स्वयं साकार हो उठता है।

इन प्रतिनायकीय गुणों की व्याख्या से अधिक, यह देखना उपयुक्त होगा कि प्रतिनायक दुर्योधन अथवा कर्ण तथा अन्य सहायक भूमिकाओं के माध्यम से नाटककार ने नायक के चरित्र के उत्कर्ष में क्या सहायता ली है तथा वह परमानन्द सहोदर रस को सामाजिक तक सम्प्रेषित करने की इस प्रक्रिया को कितना सार्थक कर सका है।

जहाँ तक **उपनायकों** की सार्थकता का प्रश्न है भीम, दुर्योधन एवं द्रौपदी के के चारों ओर घूमने वाला सम्पूर्ण घटनाचक्र अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ ग्रथित किया गया है। रूपक का आरम्भ अत्यन्त सजीव ढंग से होता है और आरम्भ से ही भीम सम्पूर्ण नाटक पर छा जाता है। उसके सम्वादों में चुस्ती, गति में क्षिप्रता और वाणी में ओज है। नाटककार ने भीम के चरित्र को इतना स्फूर्त रखा है कि उसे इस चरित्र के निर्माण के लिए किसी अन्य सहायक अथवा प्रतिद्वन्द्वी के चरित्र की आवश्यकता नहीं है। फिर भी सहदेव, द्रौपदी तथा युधिष्ठिर एवं अर्जुन के चरित्रों ने उसकी गम्भीरता को, गहराई को बढ़ाया है, जो मुख्य सरिता में मिलने वाली सरिताओं की भाँति है। किन्तु भीम की प्रतिद्वन्द्विता में दुर्योधन, कर्ण, कृपाचार्य प्रभृति पात्रों के चरित्र उसके मार्ग में आने वाली वे चट्टाने हैं जो उसे गति तो देती ही हैं साथ ही उसकी वीरता, उसकी शक्ति की गाथा को, ऊँची लहरों के समान सामान्य स्तर से ऊपर उछाल देती हैं।

द्रौपदी तो स्पष्ट रूप से भीम के मुख से उनकी प्रतिज्ञा को बार-बार सुनना चाहती है[१]। उधर सहदेव भी युधिष्ठिर के संदेशों की व्याख्या द्वारा उसके क्रोध में घृताहुति डालता है[२]। भीम एवं अर्जुन जब एक साथ कौरव शिविर में पहुँचते हैं, उस समय अर्जुन को भूमिका के माध्यम से भी भीम के चरित्र को उभारा गया है। यहाँ वह शान्त और गम्भीर है, इस गम्भीरता की पृष्ठभूमि में भीम को अपने क्रोध की अभिव्यक्ति का पर्याप्त अवकाश मिल जाता है।

इन उपनायकों की भूमिकाओं के विपरीत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका दुर्योधन की है, जो स्वतः में सम्पूर्ण है। दुर्योधन ने भीम को भीम की ही भाषा में उत्तर देते हुए दोनों के चरित्रों के तुलनात्मक अध्ययन के अवसर सुलभ कराये हैं। भीम एवं दुर्योधन के मध्य केवल एक बार ही सम्वाद होते हैं, किन्तु उसी स्थल पर दोनों के के चरित्र की तुलना द्वारा यह सिद्ध हो जाता है कि दोनों ही एक दूसरे से बढ़ कर उद्धत हैं। कौरव शिविर में पहुँचने पर अर्जुन-भीम संवाद में अर्जुन का पलायन एवं भीम द्वारा सदाचार की दुहाई आश्चर्यजनक है, किन्तु आगे के प्रसंग से स्पष्ट हो जाता है कि भीम का यह मर्यादित शिष्ट रूप; उसकी दुर्योधन से साक्षात्कार की यह अभिलाषा; उसकी वाक्-द्वन्द्व की बलवती इच्छा से प्रभावित है। क्योंकि धृतराष्ट्र एवं गान्धारी के प्रति शिर झुकाते समय ही उसकी सारी नम्रता नष्ट हो जाती है। वह शिर तो झुकाता है, किन्तु अपना परिचय यही कहकर देता है कि वह कौरवों का विनाशक और अपने शरीर पर दुःशासनः के रक्त का लेप करने वाला भीम है[३]। धृत-राष्ट्र के यह कहने पर कि जो युद्ध करते हैं उन्हें मरना ही पड़ता है, अतः उसे अपने मुँह से अपनी वीरता का बखान नहीं करना चाहिए। इसके उत्तर द्वारा भीम की विकत्थना का परिचय तो मिलता ही है, कौरवों के गर्हित कर्मों का भी स्मरण कराया गया है। तभी भीम के चरित्र पर सीधा आक्रमण करते हुए दुर्योधन कहता है कि भरी सभा में द्रौपदी का केश-कर्षण उसकी आज्ञा से हुआ था। अतः उस उघटना के साक्षी राजाओं के मर जाने पर भी जब तक वह जीवित है, भीम का गर्व व्यर्थ है[४]। प्रतिनायक के रूप में उसका यह कथन नितान्त सार्थक है। भीम नायक है और वह भी धीरोद्धत, अतः दुर्योधन के इस कथन पर उसका क्रोध सारे बन्धन तोड़ देता है और वह उसी स्थल पर दुर्योधन-वध के लिए उद्यत हो जाता है। प्रतिनायक चरित्र की उपयोगिता भी तो यही है कि उसके माध्यम से नाटककार, नायक के चरित्र का

---

१. द्रौपदी—नाथ ! अश्रुतपूर्वं खलु ते ईदृशं वचनम्। तत्पुनः तावद् भण।

—वेणी० ५.२८

२. देखें : वेणी० प्रथम अङ्क

३. वेणी० ५.२८

४. वेणी० ५.२६, ३०

उत्कर्ष दिखा सके। भीम का उत्कर्ष है—उसके औद्धत्य की अभिव्यक्ति, जो दुर्योधन के ऐसे उत्तेजक कथोपकथनों से उद्दाम हो उठता है। यही प्रतिनायक की सार्थकता और नाटककार की सफलता है[१]।

दुर्योधन वध से सम्पूर्ण समस्या का समाधान हो जाता, किन्तु भीम ऐसा नहीं करता। वह दुःशासन की हत्या करता है और वह भी इतने बीभत्स रूप में करता है कि सामाजिक भी जुगुप्सा से भर उठता है। इसका स्पष्टीकरण यही है कि भीम सीधे मूल पर आक्रमण करके खेल को शीघ्र समाप्त करने का इच्छुक नहीं है, एक के बाद एक; इस प्रकार दुःशासन प्रभृति दुर्योधन के भाइयों को मारकर वह दुर्योधन को भी स्त्रियों की भाँति रुला-रुलाकर मारना चाहता है। वह कहता है :—

शोकं स्त्रीवन्नयनसलिलैर्यत्वरित्याजितोऽसि
भ्रातुर्वक्षःस्थलविघटने यच्च साक्षीकृतोऽसि
आसीदेतत्तव कुनृपतेः कारणा जीवितस्य
युद्धे युष्मत्कुलकमलिनीकुञ्जरे भीमसेने ॥ —वेणी० ५.३३

अर्थात् भाइयों की मृत्यु से दुर्योधन पीड़ा का अनुभव करे तथा दुःशासन की बीभत्स हत्या का साक्षी बने; भीम द्वारा दुर्योधन को युद्ध के आरम्भ में ही समाप्त न कर देने के पीछे यही दो कारण हैं। भीम के इस कथन में उसका जो रूप उभरता है वह नितान्त मौलिक है। दुःशासन जैसे उप-प्रतिनायक तथा दुर्योधन जैसे प्रतिनायक की योजना की यही सार्थकता है।

भीम की उपर्युक्त विकत्थना (५.३३) पर दुर्योधन तिलमिला उठता है और रण में भीम को मार डालने का अपना निश्चय दुहराता है, किन्तु भीम उसका यह रूप देखकर किञ्चिद् भी क्रुद्ध नहीं होता, हँस देता है, और हँसते हुए ही कहता है, 'यदि ऐसा है तो आप की बात पर विश्वास करना ही होगा कि आप (?) शीघ्र ही मेरा वध करके मेरे भाइयों को आश्चर्यचकित कर देंगे और सम्पूर्ण रणभूमि को मेरी मज्जा तथा रक्त से अलङ्कृत कर देंगे'[२]। भीम का यह उद्धत किन्तु विनोदी रूप दुर्योधन की भूमिका के अभाव में उतना प्रभावशाली न हो पाता जितना कि दिखाई देता है। यही वे साधन हैं जिनके माध्यम से नाटककार ने अङ्गी रस वीर एवं रौद्र को सामाजिक तक सफलता पूर्वक संप्रेषित किया है।

---

१. अथवा प्रतिपक्षस्य वर्णयित्वा गुणान् बहून्।
तज्जयात् नायकोत्कर्षवर्णनं च मतं क्वचित् ॥ —विद्यानाथ (प्रतापरुद्र०)

२. वेणी० ५.३४

उपनायक एवं उप-प्रतिनायक योजना द्वारा नायकोत्कर्ष

उपनायक युधिष्ठिर एवं अर्जुन के चरितों के उत्कर्ष के निमित्त नाटककार ने चार्वाक नामक दुर्योधन के एक मित्र एवं कर्ण की भूमिकाओं की योजना की है। द्रौपदी के क्रोध एवं अमर्ष की अभिव्यक्ति के लिए दुःशासन एवं दुर्योधन के कर्म ही पर्याप्त थे किन्तु नाटककार ने भानुमती की कटूक्तियों की योजना द्वारा उन्हें और उद्दीप्त किया है[1]। यह सभी सम्मिलित रूप से भीम को भी उत्तेजित करते हैं[2]।

कर्ण एवं अश्वत्थामा के संघर्ष की योजना के माध्यम से, कौरव पक्ष की दुर्बलता के रूप में; सेनापति के प्रश्न पर आपसी फूट को, उभारकर कौरवों की प्रत्यासन्न पराजय का पक्ष स्पष्ट किया गया है। कृपाचार्य ने धृष्टद्युम्न द्वारा द्रोणाचार्य के वध एवं उनके केशकर्षण को द्रौपदी के केशकर्षण से जोड़ते हुए दुर्योधन एवं अन्य उपस्थित राजाओं को यहाँ तक कि युधिष्ठिर तक को धिक्कारा है[3]। अश्वत्थामा भी निरस्त्र द्रोण के हत्यारे एवं प्रत्यक्षदर्शी युधिष्ठिर, कृष्ण, अर्जुन, भीम सहित सभी की निन्दा करता है और उनके वध की प्रतिज्ञा करता है[4]। कृपाचार्य, इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए, अश्वत्थामा को सेनापति बनवाने की योजना बनाते हैं, किन्तु उधर कर्ण, दुर्योधन को अपने पक्ष में करके अश्वत्थामा को निराश कर देता है। कर्ण की इस विजय से कौरवपक्ष के एक अदम्य सेनापति का तो पतन होता ही है दुर्योधन की शक्ति भी क्षीण होती है। तत्काल ही दुःशासन के रक्षकों को (नेपथ्य से) ललकारते हुए भीम की योजना के माध्यम से एक ओर तो अश्वत्थामा को कर्ण और दुर्योधन के उपहास का अवसर मिला है[5] दूसरी ओर भीम के शौर्य एवं पराक्रम का उत्कर्ष दिखाया गया है। क्योंकि उधर रणभूमि में दुःशासन पर भीम बहुत भारी पड़ रहा है और रणभूमि में पहुँचकर भी कर्ण तथा दुर्योधन संयुक्त रूप से भी दुःशासन की रक्षा नहीं कर पाते हैं।

रस की दृष्टि से दूसरे अङ्क को छोड़कर सर्वत्र युद्ध एवं युद्ध की विभीषिका का वातावरण होने से अङ्गीरस के रूप में वीररस की योजना सुन्दर बन पड़ी है। इसके साथ ही अङ्ग रूप में रौद्र की प्रमुखता है। कभी-कभी तो उसकी प्रधानता का भी सन्देह होने लगता है वैसे इन दोनों का अङ्गाङ्गि भाव भी स्पष्ट ही है। इसी कारण आचार्यों ने ऐसे लक्ष्य स्थलों के रूप में वेणीसंहार को प्रमुखता देकर उद्धृत किया है। अपने इस उद्देश्य के निमित्त ही नाटककार ने भीम के साथ दुर्योधन एवं

---

१. वेणी० प्रथम अङ्क पृ० ३१-३२ २. वेणी० १.२१

३. वेणी० ३.१३ ४. वेणी० अङ्क ३, पृ० १२३ एवं ३.२४, ३४

५. अश्वत्थामा—अङ्गराज ! सेनापते !! रक्षैनं साम्प्रतं भीमाद् दुःशासनम्।
—वेणी० अङ्क ३, पृ० १४६

दुःशासन की तथा अर्जुन के साथ कर्ण की प्रतिद्वन्द्विता नियोजित की है। कर्ण के साथ अश्वत्थामा के मध्य कलह की योजना भी इस उद्देश्य में सहायक है। उधर दुःशासन एवं दुर्योधन के रक्त में स्नात भीम के माध्यम से भयानक एवं बीभत्सरस का भी स्पर्श किया गया है तथा युधिष्ठिर की सरलता एवं औदात्य के उत्कर्ष के निमित्त चावार्क की छलना का वैषम्य अद्भुतरस की दृष्टि से उपादेय है।

इस प्रकार वेणीसंहार को यदि दीप्तरसयोनिकाव्य माना जाए तो अनुचित न होगा क्योंकि नाटककार भट्टनारायण ने पूर्ण आयास के साथ युद्ध-नियुद्ध, क्रोध और संघर्ष, धीरता और वीरता के प्रसंगों की योजना के माध्यम से नायक प्रतिनायक और उनके सहायकों की भूमिकाओं को उस सीमा तक उभारा है कि काव्यशास्त्रियों और नाट्यशास्त्रियों के लक्षणों के उदाहरणों के रूप में इस रूपक के अधिकांश महत्त्वपूर्ण स्थल उद्धृत देखे जा सकते हैं।

सप्तम परिच्छेद

ऐतिहासिक, लोककथाश्रित तथा प्रतीक रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका *

संस्कृत के रूपकों में अभी भी ऐसे अनेक रूपक उपलब्ध हैं जिन्हें ऐतिहासिक अथवा लोककथाओं पर आश्रित रूपकों की कोटि में रखा जा सकता है। ऐसे रूपकों में देवीचन्द्रगुप्त के अवशेष, चारुदत्त, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्ता, अविमारक, मृच्छकटिक एवं मुद्राराक्षस की गणना सरलता से हो सकती है। इसी कोटि मे मालविकाग्निमित्र[1], विक्रमोर्वशीय को भी रखा जा सकता है। वासवदत्ता एवं उदयन की प्रेम कथा पर आश्रित रूपक तो अनेक हैं । किन्तु प्रकृत स्थल पर प्रतिनायक की भूमिका को ध्यान में रखते हुए कुछ प्रतिनिधि रूपकों की ही विवेचना अभीष्ट है। अतः भास के चारुदत्त, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, मृच्छकटिक एवं मुद्राराक्षस की ही आलोचना यहाँ की जा रही है, जिनमें प्रबन्ध की दृष्टि से नायक-विरोधी भूमिकाओं की योजना महत्त्वपूर्ण रही है।

इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि लोककथाओं पर आश्रित अधिकांश रूपकों में प्रेम कथाओं को ही नाटककारों ने चुना जिसमें संघर्ष का वह रूप तो नहीं मिलता जो प्रायः पाश्चात्त्य त्रासदियों में मिलता है फिर भी संघर्ष की स्थितियाँ तो आती ही हैं। उनके अधिकांश सूत्र राजमहिषी, महाराज्ञी आदि के हाथों में होते हैं और राजा अथवा नायक का प्रायः अपनी प्रेयसी की प्राप्ति के लिए विभिन्न प्रकार के उपाय करने पड़ते हैं।

चारुदत्तम्

ऐसी ही प्रेमकथा पर आश्रित रूपकों में, भास के चारुदत्त का मूल विद्वानों ने बृहत्कथा में वर्णित कुमुदिका नाम की गणिका की एक दरिद्र ब्राह्मण से प्रेम की कथा में

---

१. कीथ, सं० ना० पृ० १४८ तथा उपाध्याय, सं० सा० इ०, पृ० १८५

* कांश्चित्तुच्छयति प्रपूरयति वा कांश्चिन्नयत्युन्नतिं
कांश्चित्पातविधौ करोति च पुनः कांश्चिन्नयत्याकुलान् ।
अन्योन्यप्रतिपक्षसंहतिमिमां लोकस्थितिं बोधयन्
एष क्रीडति कूपयन्त्रघटिकान्यायप्रसक्तो विधिः ॥
—मृच्छकटिक

देखा है[1]। मूल जो भी हो इस रूपक के कथानक से यह तो सिद्ध ही है कि उसके पात्र समाज के अधिक निकट हैं और उसका सम्बन्ध रामायण, महाभारत अथवा ऐसे किसी अन्य पौराणिक आख्यान से नहीं है। चारुदत्त के अन्त को देखते हुए यह अनुमान किया गया है कि यह रूपक अपूर्ण अवस्था में उपलब्ध है। 'भासनाटकचक्र' में 'चारुदत्त' के चार अङ्क ही उपलब्ध हैं जिनमें मृच्छकटिक के आरम्भिक चार अङ्कों की कथा का मूल एवं संक्षिप्त रूप ही मिल पाता है। तथापि इस रूपक की संक्षिप्त विवेचना इसलिए आवश्यक है कि उसे ध्यान में रखे बिना मृच्छकटिक की आलोचना अपूर्ण ही रह जाएगी।

'चारुदत्त' के प्रथम अङ्क में दरिद्रता के कारण साथ छोड़ देने वाले साथियों की वृत्ति पर चारुदत्त का खेद, नायिका वसन्त-सेना का पीछा करते हुए शकार एवं विट का प्रवेश; शकार की रतियाचना, वसन्त सेना द्वारा शीलरक्षार्थ चारुदत्त के घर में छुप जाना और चारुदत्त को धमकी देकर शकार के चले जाने पर वसन्तसेना द्वारा चारुदत्त के समीप उसके अलङ्कारों के निक्षेप की कथा ग्रथित है।

द्वितीय अङ्क मे चारुदत्त के प्रति वसन्तसेना का उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होता हुआ आकर्षण, अतएव चारुदत्त के पूर्व-सेवक संवाहक के प्रति वसन्तसेना का सद्भाव, वसन्त सेना के हाँथी द्वारा संत्रस्त संवाहक की रक्षा करने वाले वसन्तसेना के सेवक के साहसिक कार्य तथा चारुदत्त द्वारा उसे पुरस्कृत किए जाने की कथा है।

तृतीय अङ्क में रात देर से लौटकर आए चारुदत्त एवं उसके विदूषक के मध्य वार्तालाप में चारुदत्त का संगीत प्रेम, सज्जलक (मृच्छकटिक के शर्विलक) द्वारा अपनी प्रेमिका मदनिका (वसन्तसेना की चेटी) को दास कर्म से मुक्त कराने के निमित्त धन के लिए चारुदत्त के पास से (वसन्तसेना के) अलङ्कारों की चोरी, विदूषक की मूर्खता, चारुदत्त की अर्धाङ्गिनी ब्राह्मणी द्वारा उन अलङ्कारों के बदले में अपनी बहुमूल्य रत्नावली का दान, चारुदत्त द्वारा खेद सहित उसे स्वीकार करके वसन्तसेना के आभूषणों के बदले में विदूषक के हाँथों उसे भेजने की कथा ग्रथित है।

उपलब्ध चतुर्थ अङ्क में सज्जलक के चौर कर्म एवं प्रेम तथा चारुदत्त द्वारा उन अलङ्कारों के द्यूत क्रीडा में हार जाने के भेद का खुलना, सज्जलक के लिए मदनिका की मुक्ति एवं वसन्त-सेना द्वारा रत्नावली को लौटाने के व्याज से चारुदत्त के समीप अभिसार हेतु प्रस्थान तक की कथा उपनिबद्ध की गयी है।

नायक

चारुदत्त में नायक के चरित्र की सबसे बड़ी विशेषता है उसका निर्लिप्त भाव। उसकी सम्पत्ति का चला जाना, निर्धनता का साम्राज्य, वसन्तसेना से अनुराग, मित्रों

१. कीथ महोदय यद्यपि 'चारुदत्त' के मूल को सीधे बृहत्कथा से नहीं जोड़ते किन्तु मृच्छकटिक का स्रोत बृहत्कथा में ढूढते हैं, देखें : सं० ना०, पृ० ९९ एवं १३९।

का मुख मोड़ लेना, राजा के साले शकार की लम्पटता एवं धमकी[१], आभूषणों की चोरी, उसके बदले में पत्नी द्वारा अपनी प्रिय रत्नावली का दिया जाना, चारुदत्त की उदारता, ये ऐसी विशेषताएं हैं जो नायक चारुदत्त के चरित्र को बहुत ऊँचा उठा देती हैं। आने वाली सभी विपत्तियों को हँसते हुए झेलने में वह सिद्धहस्त है। कहीं-कहीं उसमें पाश्चात्य त्रासदी के नायक रोमियो की झलक मिलती है जो चारुदत्त से भिन्न होते हुए भी अपने त्याग एवं समर्पित व्यक्तित्व के कारण चारुदत्त की समानता करता है किन्तु एक का सम्पूर्ण त्याग प्रेयसी के लिए है, दूसरे का अर्थात् चारुदत्त का त्याग धर्म से अनुप्राणित है।

हम आगे मृच्छकटिक की आलोचना के प्रसंग में देखेंगे कि भास के चारुदत्त और शूद्रक के चारुदत्त में सबसे बड़ा अन्तर है शकार से उसके सीधे संघर्ष का अभाव। इस कारण भास के चारुदत्त का चरित्र एकाङ्गी हो गया है। वसन्तसेना की प्राप्ति में, चारुदत्त एवं वसन्तसेना के प्रणय में (यद्यपि यह प्रणय पूर्ण विकसित नहीं हो पाया है) शकार की भूमिका अधिक प्रभावोत्पादक नहीं है। फिर भी उसका जो रूप है वह वसन्तसेना के सन्दर्भ में ही है। अतः चारुदत्त की सरलता, सज्जनता भी एकाङ्गी रह गयी है। उसकी दरिद्रता[२] और उस पर एक रूपवती गणिका से घुटता-घुटता सा प्रणय[३], इन दोनों ही अवस्थाओं में उसका सहायक है विदूषक, जो आरम्भ से अन्त तक उसका साथ देता है; उसे वसन्तसेना के प्रसंग में भी सहायता देता है और शकार से भी साक्षात्कार करता है।

चारुदत्त का प्रतिनायक शकार

साक्षात् संघर्ष के अभाव के कारण प्रतिनायक शकार का चरित्र भी यहाँ सपाट है जो चारुदत्त का प्रतिस्पर्धी होते हुए भी उसके पूर्व से ही वसन्तसेना की रीति का आकांक्षी है। क्योंकि जिस समय से चारुदत्त एवं वसन्तसेना के मध्य अनुराग के बीज पड़े हैं वह उसे उसी समय से जानता है[४]। अतः यह घटना उसके लिए अधिक पीड़ादायक है। चारुदत्त के प्रति उसकी दुर्भावना का कारण भी यही है। अपने सम्पूर्ण आयाम में शकार का जो स्वरूप एवं चरित्र है उसे विट इन शब्दों में स्पष्ट करता है :—वह मूर्ख है जो गणिका के इस कथन—'शान्तोऽसि' अर्थात् चुप हो जा

---

१. चारुदत्त के उत्तरार्ध के अभाव में उसमें वर्णित शकार का स्वरूप अस्पष्ट ही रह जाता है और पूर्वार्ध में उसकी लम्पटता तथा धमकी ही दिखाई देती है।

२. चारु० १.२

३. चारु० १.४, २८

४. 'आ कामदेवानुयानात् प्रभृति नयनमात्रसंस्थुलं दरिद्रसार्थवाहपुत्रं चारुदत्तबटुकं कामयत एषा।'—चारु० प्रथम अङ्क, पृ० २०३

अथवा 'जा मर जा' को श्रान्तोऽसि–'प्रिय ! तुम थक गए हो' के रूप में ग्रहण कर बैठता है और ऐसी ऊल जलूल बातें ऐसे ऊटपटांग ढंग से कहता है कि वे निरर्थक हो जाती हैं। वस्तुतः यह मनुष्य के रूप में पशु का नवीन अवतार है[1]।'

वस्तुतः शकार के लिए (शास्त्रीय दृष्टि से) दुष्ट अथवा खल शब्द उसके चरित्र के पर्याप्त अनुकूल हैं। उसे प्रतिनायक की अपेक्षा इन्हीं शब्दों से पहचाना जा सकता है, क्योंकि प्रतिनायक में नायक (धीरोद्धत) के जिन गुणों का समावेश होता है, शकार में उनका नितान्त अभाव है। तथापि अपने संक्षिप्त रूप में भी, उसकी भूमिका में सजीवता है। वह प्रलापी[2], कामी तथा पापी[3], सभी विशेषणों से युक्त चरित्र है। दुःशासन के साथ सीता एवं कृष्ण के साथ कुन्ती की तुकबन्दी करने वाला शकार अपने ढंग का निराला ही चरित्र है जो संस्कृत साहित्य की अमूल्य धरोहर है।

शकार के चरित्र से चारुदत्त की भूमिका को पर्याप्त बल मिलता है। शकार चाहता है कि चारुदत्त के घर में शरणागत वसन्तसेना को दूसरे दिन वापस कर दिया जाए। शकार यह सब बड़ी विनम्रतापूर्वक विदूषक के माध्यम से कहलाता है। किन्तु उसकी धमकी की भाषा भी उसकी गति के समान ही डगमगाती है जिसे वह बार-बार संशोधित करता रहता है। अतएव उसकी धमकी मात्र एक परिहास सी प्रतीत होती है और इस कारण उसे एक विदूषक एवं प्रतिनायक की मिली-जुली मूर्ति माना जा सकता है। मृच्छकटिक के समान यहाँ उसका सीधा संघर्ष नहीं हो पाता और उसके चरित्र पर यहीं पटाक्षेप हो जाता है।

तात्पर्य यह कि भास के 'चारुदत्त' में शकार की भूमिका अत्यन्त संक्षिप्त है। किन्तु वह जितनी है उतने में ही एक ऐसा प्रभाव छोड़ जाती है जो शूद्रक को एक अनूठी रचना की प्रेरणा तो देती ही है, अपने कार्यों से चारुदत्त के व्यक्तित्व को उठाने में भी सहायता दी है।

उपनायक

उपनायक के रूप में सम्वाहक की भूमिका को देखा जा सकता है जो चारुदत्त का पुराना सेवक है। चारुदत्त की निर्धनता के कारण उसने उसकी सेवा छोड़ दी और द्यूतोपजीवी बन गया। वह द्यूत में किसी से हारकर ऋणी हो जाता है और अन्त में नायिका वसन्तसेना द्वारा ऋणमुक्त हो पाता है। वसन्तसेना की इस उदारता के पीछे उसके मन में यह भावना तो है ही कि वह उसके प्रियतम का पुराना सेवक है। सारांश में संवाहक की भूमिका द्वारा नाटककार ने दो लाभ उठाये हैं; एक ओर को वसन्तसेना

---

१. देखें :—चारु० १.११
२. चारु० १.१०, १२, २३ ३. चारु० १.६१५

के समक्ष नायक-प्रशंसा द्वारा वसन्तसेना के अनुराग को द्विगुणित किया है और नायिका की दानप्रियता का प्रदर्शन किया है, दूसरी ओर नायक के गुणाख्यान द्वारा नायक की भूमिका के महत्त्व को बढ़ाया है।

उपप्रतिनायक

सज्जलक की भूमिका का अपना महत्त्व है। उसे उपप्रतिनायक कहा जा सकता है क्योंकि अप्रत्यक्ष रूप से वह चारुदत्त की वेदना को, दुःख को बढ़ाता है। उसके कर्म को एक कला के रूप में भी देखा गया है। सज्जलक द्वारा चारुदत्त के पास निक्षिप्त अलङ्कारों की चोरी से चारुदत्त की ग्लानि तो बढ़ती है, किन्तु उसके चरित्र का वह पक्ष और उभरता है जिसका वह धनी है। दानी तो वह है ही, वह सोचता है 'इस चोरी पर कौन विश्वास करेगा, मेरी निर्धनता के कारण लोग मुझपर ही शंका करेंगे' इस कथन में आभूषणों की चोरी का खेद उतना नहीं है, जितना कि लोगों की शंकालु दृष्टि का भय है। सज्जलक के इस कर्म के माध्यम से ही चारुदत्त की पत्नी के उदात्त चरित्र को भी अभिव्यक्ति मिलती है जो अपने पति को इस विपत्ति से बचाने के लिए अपनी बहुमूल्य रत्नावली दे देती है।

इस रूप में सज्जलक की भूमिका ने चारुदत्त एवं उपकी पत्नी के चरित्र की उदात्तता, उसके स्वयं के प्रेम तथा उस प्रसंग में नायिका वसन्तसेना की सहृदयता(मदनिका की मुक्ति एवं उन आभूषणों का दान) तथा चारुदत्त के पास जाने का बहाना, सब कुछ एक साथ सुलभ करा दिया है। इतना ही नहीं इस प्रासंगिक इतिवृत्त द्वारा नाटक ने आधिकारिक इतिवृत्त को भी गति दी है। रूपक की अपूर्णता के कारण सज्जलक का आत्मसमर्पणरूप प्रायश्चित्त भले ही न उभर सका हो किन्तु आभूषणों को वसन्तसेना को समर्पित करते हुए उसकी भावनाओं में परिवर्तन स्पष्ट है। मृच्छकटिक में शर्विलक का जो चरित्र है; सज्जलक उसका संक्षिप्त रूप है, जिसकी योजना में नाटककार ने निश्चय ही सफलता प्राप्त की है।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण

प्रकृत स्थल पर भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' की आलोचना का मुख्य उद्देश्य एक ऐसी कथावस्तु से परिचित कराना है जिसमें आमात्य की भूमिका का महत्त्व तो है ही, मुद्राराक्षस के नाटककार को प्रेरणा देने की दृष्टि से भी उसका महत्त्व है। अधिकांश भिन्नताओं के होते हुए भी 'प्रतिज्ञा' एवं 'मुद्राराक्षस' में कुछ समानताएं हैं। मुख्यरूप से आमात्य की राज्यसंचालन में साझेदारी, उसकी कूटनीति और अन्तिम घटना की योजना के स्वरूपों[१] में पर्याप्त समानता है यद्यपि इस दिशा में विद्वानों का

१. काञ्चुकीय :—कारणैः बहुभिर्युक्तैः कामं नापकृतं त्वया।
गुणेषु न तु मे द्वेषो भृङ्गारः प्रतिगृह्यताम्।—प्रतिज्ञा ४.२१

ध्यान नहीं गया है। इतना ही नहीं 'प्रतिज्ञा' का महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है क्योंकि उसका कथानक पौराणिक कथानकों से पृथक् लोककथा, वह भी उदयन की प्रेम कथा से सम्बन्धित है। उदयन की ख्याति अलौकिक है। यही कारण है कि उनयन की प्रेमकथाओं को आधार बनाकर संस्कृत साहित्य में अनेक रूपकों की रचना की गयी। स्वयं भास ने उदयन की प्रेमकथा पर प्रतिज्ञा के अतिरिक्त स्वप्नवासवदत्ता जैसी अमूल्य भेंट दी। रत्नावली, वीणावासवदत्ता, तापसवत्सराज जैसे अन्य रूपक भी इसी शृङ्खला में आते हैं। महाकवि कालिदास ने भी उदयन की इस कथा का अत्यन्त आदर के साथ स्मरण किया है[1]।

प्रतिज्ञायौगन्धरायण की कथावस्तु यद्यपि प्रेमकथा पर आश्रित नहीं है फिर भी इससे उदयन की संगीत प्रियता, उसकी कोमल भावनाओं और उसके व्यसन एवं धीरललित गुणों पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। यद्यपि उदयन एवं वासवदत्ता के पलायन को इस रूपक में एक राजनीतिक षड्यन्त्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु उदयन से सम्बन्धित अन्य लोककथाओं के परिप्रेक्ष्य में उदयन का ललित चरित्र स्वतः उद्भासित हो उठता है।

इस रूपक का नायक, उदयन का मन्त्री यौगन्धरायण है। उसे अपने गुप्तचरों द्वारा ज्ञात हो गया है कि 'उज्जयिनी नरेश महासेन कौशम्बी की स्वाधीनता से प्रसन्न नहीं है और उसने हाँथियों के आखेट के व्यसनी उदयन को किसी वन में एक छद्म-हाँथी के जाल में फँसाकर बन्दी बनाने का षड्यन्त्र किया है।' किन्तु इससे पूर्व कि वह उदयन को शिकार पर जाने से रोके, शत्रुओं द्वारा उदयन को बन्दी बना लिया जाता है। यौगन्धरायण को सबसे बड़ा खेद यह है कि वह अपने स्वामी की कोई सहायता नहीं कर सका और लोग इसका सारा दोष उसे ही देंगे। अतः वह रुमण्वान् नामक अपने एक अन्य आमात्य के साथ उदयन को मुक्त कराने तथा उदयन द्वारा ही महासेन की पुत्री का अपहरण कराकर महासेन को अपमानित करने की एक योजना बनाता है।

एतदर्थ उसके गुप्तचर तथा वह स्वयं उज्जयिनी में छद्मवेश में रहने लगते हैं। उधर महासेन अपनी पुत्री वासवदत्ता के विवाह की चिन्ता में है। उदयन की ओर से

चाणक्य :— अमात्य राक्षस। अगृहीत शस्त्रेण भवताऽनुगृह्यते वृषल इत्यतः सन्देहः।..............ततो गृह्यतामिदं शस्त्रम्।

—मुद्रा० सप्तम अङ्क–पृ० ३०९

यौग०—एवं सम्बन्धं मन्यते महासेनः। तेन ह्यानीयताम् भृङ्गारः।

—प्रतिज्ञा० चतुर्थ अङ्क–पृ०१०६

राक्षस—(प्रकाशम्) भो विष्णुगुप्त! उपानय खड्गम्। –मुद्रा० सप्तम अङ्क

१. मेघदूत १.३०

कोई प्रस्ताव न आने से वह उदयन के प्रति किञ्चित् रुष्ट है। वासवदत्ता को वीणा से लगाव है और उदयन वीणा-वादन में निपुण है। इस कारण महाराज्ञी के आग्रह पर, वीणा की शिक्षा के लिए बन्दी उदयन को बाध्य किया जाता है। उसकी घोषवती वीणा छीनकर वासवदत्ता को दे दी जाती है। यही माध्यम है दोनों के मिलने का। उधर यौगन्धरायण अपने गुप्तचरों को राजप्रासाद में निक्षिप्त कर देता है। अपने इन्हीं सेवकों की सहायता से वासवदत्ता का अपहरण कराकर वह उन दोनों को कौशाम्बी भेज देता है किन्तु स्वयं बन्दी बना लिया जाता है।

महासेन यद्यपि उदयन से अप्रसन्न है फिर भी वह उसके गुणों का प्रशंसक है और कभी भी नहीं चाहता कि उदयन के साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार किया जाए। वह वासवदत्ता के साथ उदयन के पलायन से अपमान का अनुभव करता है फिर भी प्रसन्न है कि उसकी पुत्री को योग्य वर मिल गया है। अतः वह दोनों के चित्रों को रखकर उनका विवाह सम्पादित करता है। जिसके लिए यौगन्धरायण को भृङ्गार[1] (सुवर्णकलश) उठाने का दण्ड (?) मिलता है जिसे वह अपनी योजना की सफलता मानकर स्वीकार कर लेता है।

यौगन्धरायण एवं महासेन के मध्य सीधे संघर्ष का तो अभाव है ही उनके मध्य संवादों का भी अभाव है। इस कारण नाटकीयता किंवा अभिनय का पक्ष दुर्बल हुआ है। फिर भी यौगन्धरायण में एक नायक के सामान्य गुण मिल जाते हैं। उसमें धीरोद्धत नायक के अनुकूल गुणों का भी पर्याप्त अभाव है क्योंकि यौगन्धरायण में न तो चञ्चल-चित्तवृत्ति के दर्शन होते हैं न ही विकत्थना के। तथापि उसे अपनी बुद्धि पर अभिमान है। महासेन के प्रति उसके मन में द्वेष भावना भी है, और वह छलछद्म में निपुण एवं पराक्रमी है। इस आधार पर उसे अर्ध-धीरोद्धत नायक के रूप में देखा जा सकता है। क्योंकि वस्तुस्थिति यह है कि वह पूर्णतः धीरोद्धत भी नहीं लगता, धीरललित एवं धीर–शान्त तो वह है ही नहीं। अतः इस रूप में उसे धीरोदात्त नायक भी माना जा सकता है।

रूपक की पुष्पिका में इसे 'प्रतिज्ञा-नाटिकावसिता' के रूप में नाटिका कहा गया है। किन्तु ऐसा तब तक नहीं स्वीकार किया जा सकता जब तक कि उदयन को नायक एवं वासवदत्ता को नायिका न मान लिया जाए। किन्तु ऐसा मानने का कोई भी कारण नहीं है। वस्तुतः अमात्य के नायकत्व को स्वीकारने के पश्चात् इसे नाटिका की अपेक्षा प्रकरणिका उपरूपक मानना अधिक युक्तिसंगत है। प्रकरण के

१. (क) भद्रकुम्भः पूर्णकुम्भो भृङ्गारः कनकालुका। —अमरकोश २.८.३२
(ख) भृङ्गार का अन्यत्र प्रयोग देखें : 'शिशिरसुरभिसलिलसम्पूर्णोयं भृङ्गारः।
— वेणी० पृ० २७१

सम्बन्ध में नाट्यशास्त्रीय-परम्परा के व्यापक दृष्टिकोण के कारण ऐसा मानना और भी उचित है[1]। उधर इस रूपक के अभिधान के आधार पर भी यौगन्धरायण का ही नायकत्व उचित ठहरता है।

यौगन्धरायण का नायकत्व

यौगन्धरायण के चरित की सबसे बड़ी विशेषता है—अपने राज्य के प्रति उसका समर्पण भाव और उस व्याज से उदयन के प्रति उसकी निष्ठा। उसकी प्रतिद्वन्द्विता में महासेन का मन्त्री भरतरोहक कहीं भी नहीं टिकता, यद्यपि उदयन और यौगन्धरायण को बन्दी बनाने का श्रेय उसे ही है। किन्तु उसका चरित चित्रण कुछ इस प्रकार से हुआ है और यौगन्धरायण के प्रति नाटककार का पक्षपात इतना अधिक है कि उसके समक्ष महासेन का मन्त्री क्या महासेन स्वयं भी नहीं टिक पाता। रूपक के अभिधान से ही स्पष्ट है कि नाटककार यौगन्धरायण की कर्त्तव्यनिष्ठा को ही चित्रित करना चाहता है। जिसके निमित्त उसने उसकी प्रतिद्वन्द्विता में सीधे महासेन को प्रस्तुत किया है।

यौगन्धरायण एक समर्पित चरित्र है। उसे सदा उदयन की चिन्ता है। क्योंकि वह जानता है कि उदयन को छोड़कर लगभग अन्य सभी राजाओं ने महासेन की श्रेष्ठता को स्वीकार कर लिया है। वह यह भी जानता है कि उदयन को वीणावादन और हाथियों के पकड़ने का व्यसन है जिसके कारण वह चिन्तित रहता है। वह अपने सेवकों के प्रति पर्याप्त उदार है। वह बुद्धिजीवी है। वह उदयन के बन्दी बनाए जाने के समाचार से इतना क्षुब्ध हो उठता है कि किसी भी रूप में महासेन को पराजित करना चाहता है। इसके लिए उसके मन में युद्ध की अपेक्षा कूटनीति द्वारा उसको अपमानित करने की भावना अधिक प्रबल है[2]। एतदर्थ वह सर्वप्रथम उदयन को मुक्त कराने की प्रतिज्ञा करते हुए उदयन को चन्द्रमा एवं महासेन को राहु के समान मानता है[3]। वह अत्यन्त उत्साही है और उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है[4]।

विदूषक द्वारा यह जानकर कि उदयन वासवदत्ता में आसक्त है, वह एक नयी योजना बनाता है जिससे कि प्रतिशोध भी लिया जा सके और उदयन की मनोकामना भी पूर्ण हो सके। वह कहता है जिस प्रकार अर्जुन ने सुभद्रा का अपहरण किया था उसी प्रकार वत्सराज द्वारा वह वासवदत्ता का अपहरण करवाकर के ही चैन लेगा[5]। अपने इस कार्य की पूर्ति पर वह प्रसन्न है[6]। उसे प्रसन्नता है कि शत्रु देश के नागरिक भी

१. भरत १८.५२; द० रू० ३.३६; सा० द० ६.२२५, ३०६
२. प्रतिज्ञा १.१४
३. प्रतिज्ञा १.१६
४. प्रतिज्ञा १.१८
५. प्रतिज्ञा ३.८, ९
६. प्रतिज्ञा ४.६

उसका दर्शन करना चाहते हैं[६] । भरतरोहक के साथ सम्वादों में वह अपने सभी कर्मों के औचित्य की सिद्धि के निमित जो तर्क देता है उनसे उसकी बुद्धिमत्ता का परिचय मिलता है ।

प्रतिनायक

महासेन के चरित्र की यही विशेषता है कि वह अपने प्रतिद्वन्द्वी को ही नहीं उसके पीछे कार्य करने वाले महामात्य यौगन्धरायण की तीक्ष्ण बुद्धि को पहचानता है । वह जानता है कि उदयन को नीचा दिखाने का एक ही मार्ग है, उसे बन्दी बनाना । क्योंकि उसके आधिपत्य को स्वीकार करते हुए लगभग सभी राजाओं ने उसकी पुत्री वासवदत्ता के साथ विवाह की इच्छा प्रकट की है, किन्तु उदयन ने ही अपनी सार्वभौम सत्ता को बनाए रखकर अब तक ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं किया है ।

महासेन की भूमिका का, इससे भी अधिक, महत्त्व इसलिए है कि वह यौगन्धरायण के अस्तित्व का बोध कराता है; उसकी प्रतिज्ञा का कारण बनता है; वही उसका जनक है । उदयन को बन्दी बनाने के लिए महासेन ने जो उपाय सोचा है, वह नाट्य-दृष्टि से भले ही उचित प्रतीत न हो किन्तु किसी मृगयाव्यसनी नायक को बन्दी बनाने के लिए इससे अच्छा उपाय और क्या हो सकता है ? अपनी योजना के लिए वह अपने अमात्य भरतरोहक की सहायता से एक कृत्रिम नीलहस्ती की रचना कराकर अपने दूत के माध्यम से उसे निःसहाय करके बन्दी बना लेता है । बन्दी को अपनी पुत्री का गुरु बनाना एक ओर जहाँ उसकी अदूरदर्शिता का परिचायक है, वहीं उसकी कूटनीतिक दूरदर्शिता का भी परिचायक है । इस माध्यम से नाटककार ने शिक्षा के लिए मित्र एवं शत्रु के भेद को न समझने की प्राचीन भारतीय परम्परा का भी समर्थन किया है । प्रतिनायक महासेन की योजना ही यौगन्धरायण को प्रतिज्ञाओं का कारण है । उसी की पूर्ति आलोच्य रूपक का फल है । अतः महासेन किंवा प्रतिनायक और उसके सहायक भरतरोहक की भूमिका निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है ।

महासेन की अपेक्षा भरतरोहक में अधिक दृढ़ता और क्रोध है । ऐसा स्वाभाविक भी है । उदयन के बन्दी बनाए जाने पर जिस प्रकार यौगन्धरायण को ग्लानि, क्षोभ एवं लज्जा का अनुभव होता है, वासवदत्ता के अपहरण द्वारा महासेन के अपमान के बाद महासेन के मन्त्री भरतरोहक को भी वैसी ही पीड़ा, ग्लानि एवं संकोच का अनुभव होता है । महासेन द्वारा उदयन एवं यौगन्धरायण के साथ सद्व्यवहार की जो घोषणा की जाती है उससे जहाँ महासेन का चरित्र उभरता है वहीं उसके द्वारा यौगन्धरायण की महानता, उसकी ख्याति और प्रतिष्ठा का परिचय भी मिलता है ।

---

६. प्रतिज्ञा ४.७

शत्रु भी जिसकी बुद्धि का लोहा मानता हो उससे महान् कौन होगा ? कञ्चुकी से यह जानकर कि उदयन तो पकड़ लिया गया किन्तु यौगन्धरायण कौशाम्बी से कहीं अन्यत्र चला गया है, महासेन चिन्तित हो उठता है। उसकी चिन्ता स्वाभाविक है क्योंकि जब तक यौगन्धरायण स्वतन्त्र है उसका निश्चिन्त होना व्यर्थ है[1]।

भरतरोहक के साथ उसके विवाद द्वारा पुनः यौगन्धरायण के कर्म का औचित्य ठहराया गया है। उसमें उसकी धर्मपरायणता, कर्मनिष्ठा एवं बुद्धिचातुर्य का तो परिचय मिलता ही है यह भी पता चलता है कि बन्दी होते हुए भी वह कितना निर्भीक है, यह कि सत्य कहने से उसे कोई नहीं रोक सकता[2]। वह जानता है कि भरतरोहक (और महासेन) चिन्तित है कि उनकी प्रतिष्ठा गिरी है, जिसका कारण यौगन्धरायण ही है, किन्तु इस विपरीत स्थिति के मूल में तो भरतरोहक (और महासेन) स्वयं है। जब भरतरोहक ने आग से खेलना आरम्भ किया था तब क्यों नहीं सोचा था[3] ? अब जब उसका परिणाम वासवदत्ता के अपहरण के रूप में समक्ष आ गया तो पश्चात्ताप क्यों ? फिर भी वह इतना तो जानता ही है कि इससे भरतरोहक की जो प्रतिष्ठा गिरी है उसकी कोई तुलना नहीं हो सकती; इसी कारण वह स्वयं भी खिन्न है[4]।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि प्रतिज्ञायौगन्धरायण का कथानक जितना संक्षिप्त है उसे देखते हुए यौगन्धरायण का चरित्र पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। यौगन्धरायण के इस स्वरूप एवं चरित्र के मूल में महासेन है। उसके भी पीछे है, महासेन की महत्त्वाकांक्षा। उस महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिए उसके आमात्य भरतरोहक की योजना भी उपयोगी है। किन्तु उसका भी जो प्रतिफल है वह महासेन की प्रतिष्ठा को, वह जहाँ थी वहीं पहुँचा देता है। अपनी कन्या के अपहरण को; अन्त में (चित्र फलक रखकर विवाह के रूप में) स्वीकार करने को, उसकी पराजय ही माना जाएगा। किन्तु प्रकारान्तर से स्वाभिमानी वत्सराज उदयन से अपना सम्बन्ध स्थापित करके उसे जिस शान्ति का अनुभव होता है, उसे ध्यान में रखते हुए इसे प्रतिनायक के 'पश्चात्ताप' के रूप में देखा जा सकता है। तात्पर्य यह कि महासेन एवं उसकी सहायक भूमिका भरतरोहक, दोनों ही चरित्र निश्चित रूप से इस ढंग से

---

१. न श्रद्दधाम्युदयनग्रहणं त्वयोक्तं व्यावर्तनं करतलैरिव मन्दरस्य।
यस्याहवेषु रिपवः कथयन्ति शौर्यं यौगन्धरायणमतानि च नः स्वनन्ति ॥
प्रतिज्ञा० २.६

२. प्रतिज्ञा० ४.१३, १४, १५, १६, १७, १८, १६, २०

३. प्रतिज्ञा० ४.११

४. प्रतिज्ञा० ४.१२

प्रस्तुत किए गए हैं जिससे नायक यौगन्धरायण की भूमिका का महत्त्व पर्याप्त बढ़ गया है और इस प्रकार रूपक पर्याप्त रोचकता से युक्त है[1]।

मृच्छकटिकम्

मृच्छकटिक एक ऐसा रूपक है जिसका मूल्याङ्कन भारतीय एवं पाश्चात्य सभी विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से किया है। सभी ने उसकी कथावस्तु, प्रस्तुतीकरण, उसके रस एवं पात्रों के अभिनय, भाषा एवं भाव पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। लगभग सभी ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि संस्कृत साहित्य ही नहीं पाश्चात्य नाट्य-कर्मियों एवं नाट्य-प्रेमियों के लिए भी यह रूपक अद्वितीय है[2]। जैसाकि कीथ महोदय भी मानते हैं; इसी कारण शूद्रक एक सर्वदेशीय रचनाकार हैं[3]। आचार्य बलदेव उपाध्याय भी मानते हैं कि आख्यान तथा वातावरण की यथार्थवादिता और नैसर्गिकता के कारण ही मृच्छकटिक पाश्चात्य आलोचकों की विपुल प्रशंसा का भाजन बना हुआ है[4]। एम० आर० काले, डा० देवस्थली और हैनरी वेल्स एवं राइडर जैसे आचोचकों ने उसका मूल्याङ्कन करते समय उसमे अभावों की अपेक्षा पूर्णता, प्राचीनता की अपेक्षा नवीनता एवं रूढ़ि की अपेक्षा मौलिकता के दर्शन किए हैं[5]।

कथानक के विस्तृत होने पर भी और नाटककार पर उसे चुराने तथा अधिक पात्रों की योजना करने का आरोप होने पर भी शूद्रक अपने नाट्य कर्म में पूर्णतः सफल हुए हैं। शास्त्रीय परम्पराओं के प्रति उनका व्यामोह भी नहीं है और उन्होंने समाज के निम्नतर वर्ग के पात्रों के माध्यम से एक ऐसे समाज का परिचय दिया है जहाँ चोर

---

1. It has long been and will long continue to be notable dramatic entertainment. The audience fairly smacks its lips in gusto at the contention of the rival ministers.'

H. W. Wells, CDI page 24

2. Reaonably well given it should win a fairly sizable audience in the professional theatre, for it is imaginative or poetic a play as an audience is today likely to applaud and by no means stands beyond spontaneous and lively appreciation.

CDI, Page 131

३. सं० ना० पृ० १३८ ४. सं० सा० इ० पृ० ५५२

५. (क) दि मृच्छकटिक आफ शूद्रक, एम० आर० काले
(ख) दि स्टडी आफ मृच्छकटिक, डॉ० जी० वी० देवस्थली
(ग) दि लिटिल क्ले कार्ट, राइडर
(घ) दि क्लासिकल ड्रामा आफ इण्डिया, हेनरी डब्लू वेल्स (चैप्टर १२)

भी है और कामुक शकार भी; जो बलात्कार, हत्या, मारपीट, अपशब्द कुछ भी करने और कहने में किंचिद् भी संकोच नहीं करता। दूसरी ओर चारुदत्त जैसा पात्र भी है, जो निर्धन होते हुए भी उन्मुक्तहस्त होकर दान करता है; किसी भी दीन दुखी पर दया करता है; धर्म में जिसकी अटूट आस्था है; जो समाज का प्रतिष्ठित नागरिक एवं एक सन्मित्र है। पत्नी एवं पुत्र के लिए जिसके पास अमित प्रेम है फिर भी प्रेयसी वसन्तसेना के लिए कष्ट उठाने को सदा उद्यत है; वह एक निष्ठावान् प्रेमी भी है।

नायक नायिका एवं सहायक भूमिकाओं तथा नायक के कार्य में अवरोध उत्पन्न करने वाली भूमिकाओं का मूल्याङ्कन करते समय हम नाटककार की कुशलता की प्रशंसा किए विना नहीं रह सकते। जिसने संवाहक, शर्विलक, वीरक, चन्दनक एवं विदूषक इनमें से किसी भी पात्र के कार्यों का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष सम्बन्ध मुख्यनायक अथवा उसके प्रतिद्वन्द्वी अथवा नायिका के सुखदुःख के साथ स्थापित किया है। छोटी से छोटी घटना चाहे वह कर्णपूरक को उपहृत-प्रावरक की हो अथवा द्यूतकर और माथुरक द्वारा उत्पीड़ित संवाहक को; मदनिका-शर्विलक का प्रेम हो अथवा तन्निमित्तक चौर-कर्म यहाँ तक कि वीरक एवं चन्दन का कलह तथा आर्यक के कारागार से पलायन एवं उसकी राज्यप्राप्ति तक के कथातन्तु सभी चारुदत्त एवं वसन्तसेना से सम्बद्ध हो जाते हैं।

अपने आकार, योजना, कथावस्तु एवं पात्रों के परिवेश में मृच्छकटिक एक ऐसा प्रकरण है जिसका कथानक लोकवृत्तात्मक एवं नायक, एक धीरप्रशान्त चित्तवृत्ति वाला ब्राह्मण है। नायिका के रूप में गणिका वसन्तसेना है तथा विट, चेट, माथुरक, द्यूतकर, संवाहक प्रभृति पात्रों की योजना के कारण उसे संकीर्ण प्रकरण की कोटि में रखा जा सकता है जिसका अङ्गीरस शृङ्गार है, किन्तु अन्य रसों में हास्य एवं करुण को भी स्थान मिला है।

प्रकरण का कथानक उसके अभिधान से बहुत अधिक सम्बद्ध नहीं लगता, क्योंकि मिट्टी की गाड़ी का महत्त्व दो ही अवसरों पर ज्ञात हो पाता है; प्रथम तो तब जब वसन्तसेना चारुदत्त की दरिद्रता का ध्यान करके तथा बालक की चुभती हुई बात से चोट खाकर[1] अपने आभूषण उतार कर, उन्हें सोने की गाड़ी बनवाने के लिए दे देती है, दूसरी बार सोने की गाड़ी बनवाने के लिए दिए गए यही आभरण, जब न्यायालय में अधिकरणिक के समक्ष विदूषक के हाँथे से गिर कर, चारुदत्त द्वारा वसन्तसेना की हत्या के साक्षी बनते हैं[2]। इन दो स्थलों के अतिरिक्त 'मिट्टी की गाड़ी' का न तो कहीं उल्लेख है न ही अप्रत्यक्षतः इस ओर कोई अन्य संकेत ही। अतः आलोच्य प्रकरण के

---

१. दारक :— रदनिके ! अलीकं त्वं भणसि ; यद्यस्माकमार्या जननी, तत्किमर्थमलङ्कृता ? —मृच्छ० अङ्क ६, पृ० १६०

२. मृच्छ० अङ्क ६, पृ० २४६, २५१

सन्दर्भ में मृच्छकटिक इस अभिधान की सार्थकता किंचित् विवादस्पद हो सकती है। वसन्तसेना एवं चारुदत्त की प्रेमकथा, अथवा आर्य चारुदत्त की दरिद्रता अथवा उस दारिद्रय में भी उसकी उदारता और दानप्रियता के आधार पर इस प्रकरण का भासकृत अभिधान अधिक सार्थक है। फिर भी आलोचकों ने इस रूपक के इस अभिधान को भी बहुत सराहा है[१]।

चारुदत्त का नायकत्व

धीर एवं शान्त; इन संयुक्त विशेषणों का धनी किन्तु दैविक विपत्तियों के कारण निर्धन, चारुदत्त अत्यन्त धर्मपरायण चरित्र है[२]। दरिद्र हो जाने पर भी उसे सम्पत्ति का मोह नहीं है, दुःख उसे यही है कि वह अब पशु-पक्षियों को बलि नहीं दे पाता[३] (देवयज्ञ नहीं कर पाता); अतिथिगण अब उसके पास नहीं आपाते[४], और मित्र भी मुख मोड़ने लगे हैं[५]। चारुदत्त के ही शब्दों में, निर्धनता के कारण लज्जा एवं संकोच नष्ट हो जाता है जिससे मनुष्य के तेज का नाश होता है, निस्तेज व्यक्ति को पगपग पर ठोकरें लगती हैं, वह सर्वत्र परिभव का पात्र बनता है; जिससे उसके अन्दर एक ग्लानि उत्पन्न होती है जो निर्वेद को जन्म देती है, निर्वेद शोक को जन्म देता है। शोकाकुल जनों की बुद्धि युक्तायुक्त का विवेक खो देती है और इस प्रकार विवेक के खो जाने से मनुष्य नष्ट हो जाता है[६]।

मृच्छकटिक का चारुदत्त निर्लज्ज, 'निस्तेज, परिभवापन्न, निर्विण्ण, शोकाकुल एवं विवेकहीन' है या नहीं इसे देखने के पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि प्रकृत स्थल पर उसकी वेदना के मूल में वसन्त-सेना से उसका प्रणय है जो उसके मन में अङ्कुर जमा चुका है। क्योंकि प्रथम अङ्क में ही यह भी ज्ञात हो जाता है कि किसी उत्सव में चारुदत्त को देखकर वसन्तसेना तो उस पर अनुरक्त हो ही चुकी है; उसने चारुदत्त के मन में भी अनुराग के बीज बो दिए हैं। चारुदत्त को खेद है कि ऐसा तब हो रहा है जब वह निर्धन हो चुका है[७]।

अतः उसकी निर्धनता उसके प्रणय प्रसंग में उसे ललित बनाने के स्थान पर उसमें निर्वेद को जन्म देती है और सम्पूर्ण प्रकरण में हम देखते हैं कि चारुदत्त अपनी

---

१. तुलना करें—

'The title of the play is ironic. Its first words are ironic. All is ironic. It is a course that makes for delightful theatre. It may also make for the highest wisdome.'

H. W. Wells, CDI Page 141

२. मृच्छ० १.१६,
३. वही १.९
४. वही १.१२
५. मृच्छ० १.१३
६. वही १.१४
७. मृच्छ० १.५५

निर्धनता की वेदना लिए हुए प्रणय सम्बन्धों में एक शान्त एवं तटस्थ सा चरित्र है। वसन्तसेना के समक्ष उसकी निर्धनता ने उसे स्थान स्थान पर लज्जित किया है। संवाहक द्वारा सेवा का त्याग[1], हाथी से संवाहक के रक्षक कर्णपूरक[2] एवं सुवर्णभाण्ड को वापस करने वाली चेटी[3] को पुरस्कृत करते समय चारुदत्त की निर्धनता नग्न हो उठी है। आर्याधूता द्वारा रत्नावली का दान, वसन्तसेना द्वारा उसकी वापसी, रोहसेन को सोने की गाड़ी के लिए वसन्तसेना का उपहार, यह भी इसी का समर्थन करते हैं। वसन्तसेना इन सभी अवसरों पर है और यह सब चारुदत्त की लज्जा की अति के कारण हैं।

चारुदत्त की मित्रता और उसकी प्रतिष्ठा के परिप्रेक्ष्य में शकार द्वारा उसका पराभव आश्चर्यजनक है। अधिकरणिक भी शकार द्वारा उसके विरुद्ध लगाए गए अभियोगों पर विश्वास नहीं करता है, तथापि चारुदत्त स्वयं अपना बचाव नहीं कर पाता, क्योंकि अभियोग का आधार है उसकी निर्धनता। उस पर आरोप है कि उसने आभूषणों के लोभ में वसन्तसेना की हत्या की है। वस्तुतः चारुदत्त के चरित्र को इस ढंग से गढ़ा गया है कि वह अधिकरण में किसी भी आरोप का प्रतिवाद नहीं कर पाता जिसका कारण है, उसकी ग्लानि; जिसे दूर करके वह ऐसे साक्षि एकत्रित कर सकता है जिसके आधार पर वह अपने को निर्दोष सिद्ध कर सके, किन्तु लोकापवाद की अपेक्षा वह मृत्यु का वरण करना ही श्रेयस्कर समझता है। इसी कारण वह मौन रह जाता है।

इस रूप में नाटककार, चारुदत्त में लगभग उन सभी दुर्गुणों को भी दिखाना चाहता है जो किसी भी मनुष्य में निर्धनता के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। फिर भी वह धीर है, शान्त है, उदार है, दयालु एवं दानप्रिय है। अतएव जैसे-जैसे चारुदत्त का मुखमण्डल धूमिल पड़ता जाता है वैसे वैसे उसकी प्रेमिका वसन्तसेना, उसके प्रेमी-मित्रगण-संवाहक, चन्दनक[4], कर्णपूरक, आर्यक, शकार का सहायक विट[5] एवं चेट स्थावरक, अधिकरणिक[6], श्रेष्ठी एवं कायस्थ यहाँ तक कि उसके घर में चोरी करने वाला शर्विलक[7] एवं उसके वधिक चाण्डाल; उसके गुणों के समक्ष नतमस्तक होते जाते हैं। इतना ही नहीं उसका मुख्य प्रतिद्वन्द्वी शकार भी अन्त में उसके समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है और राजा आर्यक उसे खोयी हुई प्रतिष्ठा वापस दिलाता है।

इस प्रकार अपने सम्पूर्ण आयाम में मृच्छकटिक का चारुदत्त भास के नायक (चारुदत्त) से भिन्न है। आरम्भ के चार अङ्कों को ही लें तो भी मृच्छकटिक का चारुदत्त

१. वही अङ्क २, पृ० ६९
२. वही अङ्क २, पृ० ७५
३. वही अङ्क ५, पृ० १५१
४. मृच्छ० ६.१३,१४
५. मृच्छ० १.४८
६. मृच्छ० ९.२०
७. मृच्छ० ४.२२,२३

अधिक प्रभावशाली है। सम्पूर्ण मृच्छकटिक को देखने पर हम पाते हैं कि चारुदत्त दूसरे, चौथे, छठे एवं आठवें अङ्कों में उपस्थित नहीं है और जिनमें वह उपस्थित है (अङ्क १, ३, ५, ७, ९ एवं १०) उनमें से तीसरे एवं सातवें अङ्क छोटे ही है फिर भी सम्पूर्ण प्रकरण में कथा का प्रत्येक तन्तु उसी के चरित्र से सम्बद्ध है।

किसी भी नायक (मुख्य नायक) के लिए निर्धारित गुणों[1] में से अधिकांश गुण चारुदत्त के चरित्र में सरलता से मिल जाते हैं। अपनी प्रतिष्ठा एवं सम्मान के प्रति सजग रहते हुए वह वसन्तसेना द्वारा बार-बार किसी न किसी व्याज से की जाने वाली सहायता को अस्वीकार करता रहता है। संस्थानक (शकार) की धमकी को 'अज्ञोऽसौ' कहकर टाल देता है। शर्विलक के प्रति भी उसमें रोष नहीं अपितु कृतज्ञता है क्योंकि वह उसके घर से निराश नहीं लौटा। संस्थानक से साक्षात्कार होने पर, उसके द्वारा अपमानित होने पर भी वह क्रुद्ध नहीं होता। आर्यक की अनधिकार चेष्टा पर वह अप्रसन्न नहीं होता। संस्थानक के दुराग्रह एवं धमकियों से भयभीत अधिकरणिक के एकपक्षीय निर्णय एवं चाण्डालों के दुराग्रहों का वह प्रतिवाद नहीं करता है। राजा द्वारा अनुमत होने पर भी वह शकार को दण्डित नहीं करता, इस सभी कर्मों से उसकी नम्रता एवं उदारता का परिचय मिलता है। वह त्यागी और दानी तो है ही प्रियभाषी, लोकरञ्जक एवं दृढ़निश्चयी, कलाप्रिय एवं धर्मपरायण भी है।

प्रकृत सन्दर्भ में, नायिका के प्रति नायक के व्यवहार का मूल्याङ्कन भी आवश्यक है। इस दृष्टि से हम पाते हैं कि चारुदत्त में दुष्यन्त, पुरूरवा और उदयन के समान प्रणय की झलक नहीं है, जिसका तर्क संगत उत्तर है; चारुदत्त की निर्धनता, उसके वैभव का नाश; उसके वैभव को खोये हुए भी अभी अधिक समय नहीं व्यतीत हुआ है। इसी कारण नगर की सम्मानित गणिका-पुत्री से उसके प्रणय में उसे सङ्कोच है और उसके अन्तस् में एक हीन-भावना (इन्फीरियारिटी काम्प्लेक्स) है; जिसे उसकी प्रेमिका वसन्तसेना समझती है। अतः चारुदत्त की अपेक्षा प्रेम के सारे सूत्र वसन्तसेना के हाँथो में है। चारुदत्त एवं वसन्तसेना के प्रणय में कहीं भी अति नहीं है। न तो उसके वर्णन में अतिरञ्जना है, न ही अनुभूति में 'अति' व्याकुलता; उसके प्रदर्शन में अश्लीलता भी नहीं है। सही अर्थों में उनका प्रेम शारीरिक वासना की अपेक्षा नितान्त आत्मानुभूति-परक है।

शूद्रक की प्रतिनायक-योजना एवं द्वन्द्व

मृच्छकटिक का संस्थानक किंवा शकार मुख्य नायक चारुदत्त से सीधे संघर्ष में उतरता है। आरम्भ में प्रथम अङ्क में प्रतिद्वन्द्विता की प्रत्यक्ष घोषणा[2] करने के बाद

---

१. द० रू० २.१, २

२. शकारः—'भाव, भाव ! एषा गर्भदासी कामदेवायतनोद्यानात्प्रभृति तस्य चारुदत्तस्यानुरक्ता न मां कामयते।'—मृच्छ० प्रथम अङ्क पृ० २६-२७

उसका दर्शन अन्तिम तीन अङ्कों में होता है। प्रतिनायक की भूमिका की उपयोगिता की दृष्टि से यह समझना आवश्यक है कि नाटककार ने प्रतिनायक के माध्यम से कथानक को कितना प्रभावित किया है और उससे नायक अथवा नायिका के चरित्र के उत्कर्ष चित्रण में कितनी सफलता प्राप्त की है।

वसन्तसेना एवं चारुदत्त का प्रणय अलङ्कार-न्यास (प्रथम अङ्क) द्वारा ज्ञात होता है, यद्यपि उसके पूर्व ही शकार अपनी धमकी में इसका उद्घाटन कर देता है। वसन्तसेना एवं मदनिका के वार्तालाप में भी वसन्तसेना के इस प्रणयी का परिचय प्राप्त होता है[1]। संवाहक को चारुदत्त का पूर्व सेवक जानकर, उसकी प्रतिक्रिया[2] एवं कर्णपूरक को उपहृत चारुदत्त के प्रवारक को पा लेने की उसकी उत्कंठा[3] के रूप में प्रणयबीज का अंकुरण होने लगता है। तृतीय अङ्क में, शर्विलक के विरोध[4] एवं साहस कर्म के माध्यम से निरीह और निर्लिप्त किन्तु लोकापवाद से भयभीत-नायक के चरित्र को उभारा गया है। चतुर्थ अङ्क में ही नाटककार ने वसन्तसेना द्वारा शकार की रतियाचना को ठुकरा देने के माध्यम से, एक ओर तो वसन्तसेना को लेकर शकार के नायक-विरोध एवं ईर्ष्या की भावना में घृताहुति डाली है, तो दूसरी ओर चारुदत्त के प्रति वसन्तसेना के प्रणय को मुखरित किया है। इसके साथ ही शर्विलक के आत्मसमर्पण द्वारा नायक की बढ़ती हुई शक्ति का भी परिचय दिया गया है। वसन्तसेना द्वारा विदूषक की उपेक्षा[5] भी आगे चलकर पाँचवे अङ्क में एक द्वन्द्व को जन्म देती है जहाँ विदूषक के बहकाने पर चारुदत्त भी किञ्चिद् खिन्न हो उठता है[6]। किन्तु उसे विश्वास है वह वसन्तसेना को सन्तुष्ट कर सकेगा[7]। तडित्-ज्योति, मेघगर्जना एवं धारा-

---

१. मदनिकाः—स खलु आर्ये ! सुगृहीतनामधेय आर्यचारुदत्तनाम ?
वसन्त :—(सहर्षम्) साधु मदनिके ! साधु। सुष्ठु त्वया ज्ञातम्।
—मृच्छ०२, पृ० ५१

२. संवाहकः—कथमार्यचारुदत्तस्य नामसङ्कीर्त्तनेनीदृशो मे आदरः।—वही पृ० ६८

३. वसन्तः—आर्यचारुदत्तस्य। (इति वाचयित्वा सस्पृहं गृहीत्वा प्रावृणोति।)
—वही पृ० ७५

४. शर्विलकः—आह दुरात्मन् चारुदत्तहतक !—वही अङ्क ४, पृ० १०६

५. विदूषकः—एतावत्या ऋद्ध्या न तयाहं भणितः 'आर्य मैत्रेय ! विश्रम्यताम्, मल्लकेन पानीयं पीत्वा गम्यतामिति'।—वही अङ्क ५, पृ० १३२

६. यस्यार्थस्तस्य सा कान्ता धनहार्यो ह्यसौ जनः।
वयमर्थै परित्यक्ता ननु त्यक्तैव सा मया॥ मृच्छ० ५.९

७. चारुदत्तः—वयस्य ! आगच्छतु परितुष्टा यास्यति। वही पृ० १३५

प्रवाह के मध्य शीतल पवन के झोंकों में आलिङ्गन-प्रत्यालिङ्गन द्वारा वे एक दूसरे को सन्तुष्ट भी कर लेते हैं[1]।

संस्कृत नाट्यपरम्परा से कुछ हटकर देखें तो वसन्तसेना एवं चारुदत्त के इस मिलन को महामिलन माना जा सकता है। कम से कम दर्शकों के समक्ष इस अङ्क (पाँचवें) के बाद संयोग (शृङ्गार) का ऐसा दृश्य पुनः देखने को नहीं मिलता। अत: एक तो पाँचवें अङ्क तक के कथानक को इस प्रकरण का पूर्व भाग कहा जा सकता है और दूसरी ओर उसे एक कामदी के रूप में देखा जा सकता है (वैसे संस्कृत नाट्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में तो यह प्रकरण एक कामदी है ही) जिसमें वसन्तसेना एवं चारुदत्त की प्रेमकथा को; उसमें भी प्रतिष्ठित किन्तु निर्धन चारुदत्त के समक्ष वसन्तसेना के वैभव-शाली व्यक्तित्व का आत्मसमर्पण, प्रदर्शित किया गया है। इस पूर्वार्ध में प्रतिनायक संस्थानक का चरित्र मात्र क्षणिक है जो एक बार तो चारुदत्त को धमकी देता है जिसे चारुदत्त 'अज्ञोऽसी' कहकर टाल देता है, दूसरी बार वसन्तसना द्वारा उसकी याचना तिरस्कृत होती है। जिससे स्पष्ट है कि वसन्तसेना एवं चारुदत्त की दृष्टि में उसका चरित्र नगण्य है। किन्तु वस्तु स्थिति इससे नितान्त विपरीत है क्योंकि राजा की रखैल (अनूढा) का भाई, वह भी राजा द्वारा प्रदत्त अतुल–सम्पत्ति का स्वामी और शकार के सभी गुणों (दुर्गुणों) का अधिपति, इस अपमान को कैसे सह सकता था।

अतएव पाँचवें अङ्क के पश्चात् शकार के वास्तविक रूप के दर्शन होते हैं। जिसका निरन्तर विस्तार प्रकरण के उत्तर भाग के अन्य अङ्कों में देखा जा सकता है। यहीं यह स्पष्ट कर देना अनुपयुक्त न होगा कि उत्तर भाग की कथावस्तु में राजनीतिक एवं सामाजिक स्थिति को प्रमुखता मिली है और प्रेमकथा का स्थान गौण अपितु नहीं के बराबर है। इस भाग में आने वाले पात्रों को स्पष्टरूपेण दो राजनीतिक वर्गों में विभक्त देखा जा सकता है। एक वर्ग का नेतृत्व, राजा पालक एवं प्रकारान्तर से उसके साले शकार संस्थानक के हाथों में है; दूसरे वर्ग का नेतृत्व, आर्यक एवं उसके समर्थकों के हाथों में है, जिसे 'सामूहिक नेतृत्व' के रूप में भी देखा जा सकता है।

आर्यक के समर्थकों में चारुदत्त एवं उसके सेवक, वसन्तसेना एवं उसकी माँ तथा उसके सेवक, वसन्तसेना एवं चारुदत्त के उपकारों से दबे हुए जन; संवाहक, शर्विलक एवं 'अन्तरात्मा की पुकार' पर आर्यक का साथ देने वाला राजपुरुष; चन्दनक, सभी आ जाते हैं। नाटककार की व्यापक दृष्टि, आर्यक के समर्थन में जिन लोगों को ढूँढ़ती है उनमें समाज के निम्नवर्गीय सेवक भी हैं, चारुदत्त एवं वसन्तसेना जैसे आभिजात्य एवं प्रतिष्ठित जन भी। इनमें स्त्रियाँ भी हैं और राजपुरुष भी, संस्थानक के

१. द्रष्टव्य, पञ्चम अङ्क का अन्तिम भाग तथा षष्ठ अङ्क का आरम्भ

व्यवहार से उत्पीड़ित अधिकरणिक भी हैं और शर्विलक जैसे चौर्यकला प्रवीण एवं रसिकजन भी। उत्तरार्ध की कथा में हम पाते हैं कि उसमें एक ओर तो अपनी हठधर्मी से पूर्ण पापवृत्ति, वासना, मद एवं मूर्ख तथा अपने संरक्षक राजा पालक की शक्ति एवं सम्पत्ति पर फूलने वाले संस्थानक की प्रधानता है, वहीं यह भी पता चलता है उसके इन्हीं गुणों के कारण उसका सहायक विट, उसका सेवक चेट-स्थावरक सभी, उसका साथ छोड़कर पालक के विरोधी पक्ष में जा मिले हैं।

छठे अङ्क में रथ-परिवर्तन की घटना के माध्यम से नाटककार ने घटना को नया मोड़ दिया है। अभिसरण हेतु चारुदत्त के रथ में जाने वाली वसन्तसेना भ्रमव श संस्थानक के रथ में बैठ जाती है और उधर कारागार से भागा हुआ विद्रोही आर्य क मार्ग में खड़े हुए चारुदत्त के रथ में बैठ जाता है। इस घटनाक्रम में रोचकता एवं नाटकीयता के साथ ही एक ओर शकार के मुख में जाती हुई वसन्तसेना तथा दूसरी ओर चारुदत्त के रथ में बैठकर उसी उद्यान में जाने वाले आर्यक के प्रति सामाजिक के मन में कौतूहल एवं औत्सुक्य उत्पन्न होना स्वाभाविक है। चन्दनक एवं वीरक के मध्य विवाद ने जहाँ आर्यक की बढ़ती हुई शक्ति का आभास कराया है वहीं वसन्तसेना के पराभव के कारण असमंजस और भय की स्थिति उत्पन्न होती है।

तदनन्तर (सातवें अङ्क में) आर्यक एवं चारुदत्त के मध्य मैत्री स्थापित हो जाती है और (आठवें अङ्क में) शकार का वास्तविक स्वरूप सामने आ जाता है। शकार द्वारा एक भिक्षुक (धार्मिक प्रतिनिधि) की पिटाई, शकार के रथ में वसन्तसेना का आगमन, विट की कायरता किन्तु वसन्तसेना की रक्षा हेतु उसके प्रयत्नों में नाटकीयता के दर्शन होते हैं। हम देखते हैं कि कामुक शकार जब अनुनय–विनय द्वारा अपनी वासनापूर्ति नहीं कर पाता है और वसन्तसेना के पादप्रहार से अपमानित होता है तब वह उसकी हत्या की योजना बनाता है। इस योजना में वह विट एवं चेट दोनों को सम्मिलित करना चाहता है। तदर्थ नाना प्रलोभन देना, फिर अनुनय विनय करना, पुनः हत्या का विचार त्यागने का अभिनय करना और मात्र वासनापूर्ति का आश्वासन देकर उन्हें नेपथ्य में भेजकर एकान्त बनाना, तदनन्तर वसन्तसेना को अमानवीयता पूर्वक मारना और उसके मूर्छित हो जाने पर उसे मृत समझकर छोड़ देना : शकार के इन कर्मों में नाटककार ने अत्यन्त मनोवैज्ञानिक ढंग से कथासूत्रों की योजना की है। हत्या को गुप्त रखने के लिए वह पुनः विट को नाना प्रलोभन देता है, उसके न मानने पर वह उसी पर वसन्तसेना की हत्या का आरोप लगा कर उसे ही फँसाने का अभिनय करता है। क्रुद्ध विट द्वारा तलवार निकाल लेने पर तथा शकार की राजनीतिक स्थिति के बारे में सोचकर वह आर्यक के पक्ष में जा मिलने के लिए भाग जाता है। इधर शकार का पाप बढ़ रहा है उधर आर्यक की शक्ति संगठित हो रही है : नाटककार यह भी दिखाना चाहता है।

विट के भाग जाने पर, शकार, चेट-स्थावरक को मनाता है, उसके भी न मानने पर वह उसे बन्दी बना लेता है और 'चारुदत्त ने अर्थ के लिए वसन्तसेना को पुष्पकरण्ड उद्यान में लाकर मार डाला है' यह अभियोग बनाकर न्यायालय की ओर चला जाता है। तभी भिक्षुक उस उद्यान में आकर चैतन्य हो उठी वसन्तसेना को अपनी किसी धर्म बहन के समीप पहुँचाने ले जाता है। इस रूप में शकार एक साथ भिक्षु (संवाहक) विट, चेट, आदि सभी से अपना वैर बढ़ा लेता है। नाटककार ने यहाँ शकार की कुटिलता, वासना, चतुराई, एवं क्रूरता को प्रदर्शित करते हुए चारुदत्त एवं वसन्तसेना के निर्मल, दोषरहित, दयालु एवं लोकप्रिय चरित्र के वैषम्य की स्थापना की है। इतना ही नहीं अपने इन दुर्व्यसनों में शकार अद्वितीय एवं क्रूरतम प्रतिनायक के रूप में उभरता है जो अपने अनेक वैरियों से अकेले ही निपट लेने का निश्चय करता हुआ प्रतीत होता है।

नवें अङ्क में संस्थानक (शकार) योजनाबद्ध ढंग से चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का आरोप लगाने न्यायालय की शरण लेता है। आठवें अङ्क में, जहाँ भाग्य उसके विपरीत है और उसके ही सेवक, चेट एवं विट उसका साथ नहीं देते हैं वहाँ नवें अङ्क में, भाग्य पूर्णतया उसका साथ देता है। यहाँ अधिकरणिक, श्रेष्ठि एवं कायस्थ सभी उसके मद एवं मूर्खता से; उसकी उद्दण्डता से, भयभीत हो उसकी बात ध्यान से सुनते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि वह राजा का साला है। शकार के तर्कों के समक्ष चारुदत्त अपनी शालीनता, सरलता एवं मितभाषिता के कारण असहाय हो उठता है। वृद्धा (वसन्तसेना की माता) एवं अप्रत्याशित रूप से आ उपस्थित होने वाले विदूषक की उत्तेजना और उसके हाँथ से आभूषणों का गिरना; सभी साक्षि चारुदत्त के विरुद्ध जा पड़ते हैं, जिससे शकार का अभियोग सत्य सिद्ध हो जाता है। उधर चन्दनक के विरुद्ध वीरक का अभियोग भी शकार के लिए सहायक सिद्ध हो जाता है। चारुदत्त के पक्षपाती, चन्दनक से रुष्ट, वीरक द्वारा उद्यान में वसन्तसेना के मृत शरीर की उपस्थिति की (द्वयर्थक) साक्षि से भी शकार के पक्ष का समर्थन होता है। फलतः ब्राह्मण होने के कारण चारुदत्त को न्यायाधिकरण से तो निर्वासन का दण्ड मिलता है किन्तु राजाज्ञा से उसे मृत्यु दण्ड में परिवर्तित कर दिया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं संस्थानक (शकार) के इस अभियोग में आरम्भ से अन्त तक दैव उसका साथ देता है। वह तर्कपूर्ण ढंग से एक चतुर प्राड्विवाक की भाँति उचित अनुचित का विवेक करता है, तथा तर्क पूर्ण उत्तर देता है[1]। वह महत्त्वपूर्ण

---

१. (क) शकार—(स्वगतम्) आश्चर्यं त्वरां कुर्वाणेनेव पायसपिण्डारकेणाद्य मयात्मैव निर्नाशितः। भवतु। एवं तावत्;.......भणामि।

(ख) शकार—नूनं परिशून्यया मोघस्थानया ग्रीवालिकया निःसुवर्णकैः आभरणस्थानैस्तर्कयामि।— मृच्छ० ६, पृ० २३४

प्रमाणों का अभिलेखन करवाता है[1] तथा अधिकरणिक द्वारा चारुदत्त (एक अपराधी) के प्रति सम्मान प्रदर्शित करने[2] अथवा चारुदत्त की सज्जनता का ध्यान करके उसके प्रति सद्भाव दिखाने[3] पर उन्हें धिक्कारता है। इतना ही नहीं आभूषणों की साक्षि पा जाने पर तो उसके तर्क बहुत ही आक्रामक हो उठते हैं। जिससे अधिकरणिक भी विचलित होकर चारुदत्त को कोड़ों से मारने की धमकी देता है[4]। फलतः स्वयं चारुदत्त, वसन्तसेना के अभाव एवं इस अपमान की अपेक्षा, मर जाना ही श्रेयस्कर समझने लगता है। वस्तुतः यह प्रतिनायक के चरम उत्कर्ष का स्थल है। यह शकार की सबसे बड़ी उपलब्धि है कि वह स्वयं हत्या करके भी चारुदत्त को वधिक सिद्ध कर देता है। अभी भी उसका पतन आरम्भ नहीं होता है और दसवें अङ्क में भी हम पाते हैं कि अपने आकस्मिक पतन के पूर्व शकार अपने विरोधियों और विपरीत परिस्थितियों पर विजय पाता चला जाता है।

चारुदत्त को अपमानित करने का कोई भी अवसर वह नहीं छोड़ता है। चारुदत्त के तथाकथित कार्यों की पुनः पुनः घोषणा के लिये वह चाण्डालों से बार बार कहता कहता है। शिथिलता के लिए उन्हें डाँटता है। अपने प्रासाद के समीप होने वाली घोषणा के समय जब उसका बन्दी चेट स्थावरक, वसन्तसेना की हत्या के लिए शकार का नाम लेता है तो शकार की व्यवहार-कुशलता, उसकी कुटिलता, देखने योग्य है। स्थावरक का मुँह बन्द करने के लिए वह उसके हाँथ में स्वर्णाभूषण थमा देता है; उसे उत्कोच के रूप में जब स्थावरक सभी को दिखाता है तो शकार उस आभूषण की चोरी का आरोप लगाकर उसका मुँह बन्दकर देता है। शकार की इससे बड़ी निर्ममता क्या होसकती है कि वह रोहसेन को देखकर उसे भी मार डालने के लिए चाण्डालों से कहता है। यहाँ तक कि वह चाहता है कि चारुदत्त स्वयं घोषणा करे कि उसने वसन्तसेना की हत्या की है। शकार के (चरित्र के) भाग्य के उत्कर्ष की यही सीमा है। वसन्तसेना के आ-उपस्थित होने के बाद उसका आकस्मिक पतन होता है और शकार बन्दी बना लिया जाता है।

---

१. शकार--श्रुतमार्यैः ? लिख्यतामेतान्यक्षराणि। चारुदत्तेन सह मम विवादः।
—मृच्छ० ६, पृ० २३७

२. शकार—(सक्रोधम्)...अहो न्याय्यो व्यवहारः, अहो धर्म्यो व्यवहारः, यदस्मै स्त्रीघातकायासनं दीयते। (सगर्वम्) भवतु दीयताम्। देखें, मृच्छ० ६, पृ० २४१

३. (क) शकार—किं पक्षपातेन व्यवहारो दृश्यते ? —मृच्छ० अङ्क ६ पृ० २४४
(ख) भो अधिकरणभोजकाः। किं यूयं पक्षपातेन व्यवहारं पश्यत येनाद्याप्येष हताश चारुदत्त आसने धार्यते। -मृच्छ० ६, पृ० २४७

४. मृच्छ० ६.३६

इस प्रकार हम पाते हैं कि शकार क्रूर, कुटिल, कामुक, धूर्त एवं पाप कर्मों में स्नात एक ऐसी भूमिका है जो अपने गुण, कर्म एवं स्वभाव में अद्वितीय है। नायक-विरोध के लिए उसने कोई भी कर्म नहीं छोड़ा है। उसने नायक, उसके मित्रों, परिवार के सदस्यों यहाँ तक कि उसके अबोध बालक तक को मरवा डालने की इच्छा व्यक्त की है। इतना ही नहीं सत्य के उद्घाटन के भय से अपने विरुद्ध जाने वाले सभी प्रमाणों को मिटाने में वह सिद्धहस्त है। वह इतना धृष्ट है कि अपने अभियोग में लिखवाता है कि उसने वसन्तसेना को नहीं मारा है। इस नकारात्मक स्पष्टीकरण से जिस शङ्का का जन्म होता है उसे समाप्त करने के लिए वह अपने इस कथन को अपने पैरों से ही मिटाने की धृष्टता करके न्यायालय का अपमान करने में किंचित् भी संकोच नहीं करता।

इस विवेचना के परिप्रेक्ष्य में नाट्यशास्त्र के सभी लक्षण ग्रन्थों में उपलब्ध शकार के लक्षण धूमिल पड़ जाते हैं। लक्षणकारों ने शकार के लिए जो कुछ विधान किया है शूद्रक का शकार उससे कई गुना बड़ा है। वह ऐश्वर्यशाली, घमण्डी, उन्मत्त एवं मूर्खतापूर्ण कार्य करने वाला है; वह राजा का साला और सम्भवतः नीच कुल का भी है। अपने सम्पूर्ण कलेवर में वह एक सशक्त प्रतिनायक है जिसमें नायक के प्रतिद्वन्द्वी-चरित्र के वे सभी लक्षण मिलते हैं जो प्रायः पाश्चात्त्य खलनायक में उपलब्ध होते हैं इसी कारण उसे अधम पात्र माना जाता है।

किसी भी प्रतिनायक की समीक्षा के समय संस्कृत नाट्यपरम्परा में प्रतिनायक के विशेषणों में 'धीरोद्धतः' और उसमें 'धीरः' इस पद को भूलना नहीं चाहिए। धीरता भी वह गुण है जो पाश्चात्त्य खलनायक एवं प्रतिनायक के मध्य एक समानान्तर रेखा खींचती है। धीरता के अभाव में भी शकार एवं खलनायक के बीच जो अन्तर है वह मात्र भारतीय एवं पाश्चात्त्य संस्कृति एवं दर्शन के कारण है यह दर्शन भारतीय शस्य श्यमला भू पर 'सत्यं शिवम् सुन्दरं' के मध्य त्रासदी जैसे कँटीले पौधों को पनपने नहीं देता और उस प्रकार के कंटीले पौधे यदि उत्पन्न हो भी जाएँ तो प्रतिनायक अथवा शकार के प्रायश्चित्त के माध्यम से उसे गुलाब के कुञ्ज के रूप में परिणत कर लेता है। मृच्छकटिक में वसन्तसेना को मूर्छित दिखाने के स्थान पर मृत दिखा कर अथवा अन्त में वसन्तसेना के आ उपस्थित होने के पूर्व ही चारुदत्त का वध दिखाकर एक श्रेष्ठ त्रासदी को जन्म दिया जा सकता था किन्तु ऐसा करना भारतीय संस्कृति और दर्शन के प्रतिकूल जा पड़ता; अतएव ऐसा नहीं किया गया है।

वसन्तसेना गणिका-पुत्री है, रूपवती है। गर्भदासी, क्रीतदासी जैसे विशेषणों को जन्मतः ढोते रहने के कारण शकार जैसे दुष्कुलोत्पन्न, सम्पन्न एवं कामी व्यक्ति के लिए उसके प्रति बहक जाना स्वाभाविक है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि शकार 'चारुदत्त की वसन्तसेना' का पीछा करते हुए नहीं दिखाई देता वह तो एक 'गर्भदासी

गणिका वसन्तसेना' को कामना करता है। वसन्तसेना द्वारा चारुदत्त के घर में छुप जाने के बाद ही उसे ध्यान आता है कि वह चारुदत्त को कुछ कुछ चाहती है (क्योंकि उनका प्रणय अभी पुराना नहीं है और गणिका तो गणिका है)। इसीलिए वह चारुदत्त को संदेश भेजता है कि ठीक है (आज तो इसे वह रख ले) कल उसके पास भेज दे। इसके बाद चारुदत्त एवं वसन्तसेना के मध्य सम्बन्ध कितने बढ़े शकार को ज्ञात नहीं। एक दिन वह फिर वसन्तसेना को बुलवाता है। वसन्तसेना फिर उसका अभिसरण नहीं करती। वह फिर भूल जाता है। कुछ दिनों बाद अचानक उसे अपने ही रथ पर बैठकर अपने ही उद्यान में पाकर और विट द्वारा यह जानकर कि वह उसके पास आभसार हेतु आयी है; उसकी वासना जाग जाती है। वह वसन्तसना का अनुनय करता ह और बसन्तसेना से प्रेम के बदले पाद-प्रहार पाकर उसकी वासना पर उसकी पाशविक वृत्ति अधिकार जमा लेती है। अब वह वसन्तसेना की हत्या कर देना चाहता ह और उसके इस हत्या के प्रयास करने पर वसन्तसेना द्वारा बार बार चारुदत्त का दुहाई देने पर ही उसके मन में एक ईर्ष्या का भाव उठता है; 'यह चारुदत्त का ता सहकार (आम्रवृक्ष) मानती है।' वह वसन्तसेना के पाद-प्रहार से प्रताड़त हा उसा का हत्या से सन्तुष्ट हो जाता, परन्तु वसन्तसेना द्वारा उसको उपेक्षा करते हुए पुनः चारुदत्त को दुहाई देने से उसका अभिमान दुबारा चोट खाता है। वह जितना बार वसन्तसना पर हाँथ उठाता है उतनी ही बार चारुदत्त का नाम आने से उसका हत्या के लिए भा चारुदत्त को ही दोषी बनाने को योजना स्वतः उनके मन मे जन्म ले लेता है।

अर्थात् उसकी मुख्य योजना (वसन्तसेना की हत्या) वसन्तसेना क मूछित होने एवं उसे मृत समझ लेने के साथ ही समाप्त हो जाती है। किन्तु दूसरा योजना का प्रारूप लम्बा एवं मुख्य हो जाता है। यहीं स चारुचत्त के प्रात उसका प्रथम क्रोध उत्पन्न होता है जिसमें ईर्ष्या की भावना है। इसके बाद, चारुदत्त स उसके सीधे संघर्ष में भी शकार के आक्रमण सीधे एवं एकाङ्गी हैं, चारुदत्त उनका काई समुचित प्रतिकार नहीं करता। प्रकृति से धीर, गम्भीर एवं शान्त हाने के कारण चारुदत्त का यह व्यवहार उचित ही है। शकार के इस आक्रमण क परिप्रेक्ष्य में, चारुदत्त की शालोनता सदाचार एवं त्याग और उसको अन्तर्मुखा वृत्ति के प्रदशन मे सहायता मिलती है। शकार के अभाव मे वनप्रान्तर में तपोलीन किसी तपस्वी का भाँति उसक चरित्र को कोई न जान पाता। जीमूतवाहन के चरित्र से गरुड़ को निकाल लेन क बाद जिस प्रकार जीमूतवाहन एक सपाट सा चरित्र हो उठता है उसी प्रकार चारुदत्त भा होता शकार ही वह कसौटा है जिस पर चारुदत्त को पराक्षा हाती है। यही शकार को उपयोगिता है और नाटककार को योजना को सफलता है।

उपप्रतिनायक

शकार के अतिरिक्त चारुदत्त को **शर्विलक** के कारण भो अपमा , निराशा एवं सन्ताप का साक्षात्कार करना पड़ता है। निक्षिप्त अलङ्कारों को चारा करके वह

चारुदत्त को ऐसी स्थिति में उलझा देता है कि रत्नावली के लिए आर्या धूता के समक्ष तथा असत्य बोलकर वसन्तसेना के समक्ष नतमस्तक होना पड़ता है। किन्तु चारुदत्त को शर्विलक के माध्यम से ऐसी स्थिति में चित्रित करके नाटककार ने चारुदत्त के धैर्य, गाम्भीर्य एवं औदात्त्य की परीक्षा ली है। चारुदत्त मानता है 'सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते' अर्थात् सुख क्या है इसे दुःखानुभूति के बाद ही समझा जा सकता है जैसे अन्धकार में ही दीपक के प्रकाश को समझा जा सकता है। भारतीय संस्कृति की यह आस्था जो चारुदत्त के रोम-रोम में अनुप्राणित है; उसे एक धीरप्रशान्त नायक बना देती है। जो धीर तो है ही प्रशान्त भी है। ये गुण उसके चरित्र को बहिर्मुखी न बनाकर अन्तर्मुखी बना देते हैं और चारुदत्त छल-कपट, माया-मोह, धन-धान्य, पत्नी-पुत्र, शत्रु-मित्र, सभी से उस सीमा तक निर्लिप्त हो जाता है जिस सीमा तक एक असाधारण मानव हो सकता है। वह योगी तो नहीं है परन्तु दानी है, त्यागी है, एक सद्‌गृहस्थ है और एक सद्‌गृहस्थ के रूप में पुत्र और कलत्र से जितना मोह होना चाहिए उतने में ही वह लिप्त है। ऐसे धीर एवं प्रशान्त व्यक्ति का विरोध सरल नहीं है। उससे विरोध का कारण भी ऐसा होना चाहिए जिससे उसकी सारी साधना को भङ्ग किया जा सके; शकार ऐसा ही करने का प्रयास करता है। शर्विलक की उपयोगिता भी यही है कि वह नायक की ग्लानि का कारण बनता है किन्तु शीघ्र ही अपनी प्रेयसी की मुक्ति के साथ वह नायिका वसन्तसेना तथा नायक चारुदत्त की महानता को स्वीकारते हुए आत्म-समर्पण करके शकार के संरक्षक पालक के विपक्षी आर्यक से जा मिलता है। पालक— जिसकी छत्रछाया में शकार की उद्दण्डता फलती-फूलती है; ऐसी अव्यवस्था के लिए उत्तरदायी है। यही कारण है आर्यक उससे विद्रोह कर देता है। आर्यक से 'अनूढाभ्रात' शकार का कोई सीधा संघर्ष नहीं होता है किन्तु उसके समर्थक वीरक के साथ आर्यक के संघर्ष की स्थिति को टालकर नाटककार ने प्रकरण के विस्तार को रोका है।

वीरक एक ऐसा पात्र है जो पालक एवं प्रकारान्तर से संस्थान का समर्थक है। वह राजा का आज्ञाकारी सेवक है और इसी कारण राजमार्ग में चारुदत्त के रथ को रोककर विद्रोही एवं भागे हुए आर्यक को खोजना चाहता है। किन्तु आर्यक-समर्थक चन्दनक द्वारा वीरक को उसके निरीक्षण का अवसर दिये बिना ही आर्यक को भाग जाने का अवसर देने पर वह क्रुद्ध हो जाता है। अपनी इस राजभक्ति के कारण उसे चन्दनक की मार खानी पड़ती है। किन्तु अन्त में वीरक के भय से चन्दनक भी भागकर विद्रोहियों; प्रकारान्तर से आर्यक और चारुदत्त के समर्थकों से जा मिलता है। दूसरी ओर न्यायालय में चन्दनक के विरुद्ध अभियोग ले जाकर तथा प्रवहण के वाहक के वक्तव्य 'यह चारुदत्त का रथ है तथा इसमें वसन्तसेना चारुदत्त से मिलने पुष्पकरण्ड-उद्यान जा रही थी' के आधार पर वह शकार के अभियोग की सत्यता प्रमाणित करता है। इतना ही नहीं अधिकरणिक जब उसे पुष्पकरण्ड उद्यान में जाकर वसन्तसेनाके

शव को देख आने को कहता है तो वह लौटकर एक झूठी साक्षी देता है। जिसके आधार पर शकार के विजय की सम्भावनाएँ बढ़ जाती है। इस प्रकार वह भी संस्थानक की भाँति चारुदत्त के जीवन को कष्टपूर्ण बनाने में योगदान करता है। वह एक ओर तो शकार का सहायक बन जाता है और दूसरी ओर चारुदत्त के कष्टों का कारण बनता है। प्रतिनायक की भाँति उपप्रतिनायक की भी यही उपयोगिता है।

सारांश में, कथावस्तु के चयन एवं आदि से अन्त तक उसके निर्वाह एवं पात्रों की सफल योजना[1] के माध्यम से नाटककार शूद्रक ने अद्भुत सफलता पायी है। यही कारण है आज मृच्छकटिक एक ऐसा रूपक है जो पाश्चात्य आलोचकों के लिए भी एक अनूठी कृति है[2]। किन्तु उसमें जिस संघर्ष की योजना है यदि उसे और उसके माध्यम 'शकार' को हटा लिया जाए तो क्या इस रूपक का स्वरूप ऐसा ही होता? उसमें सामाजिक की उतनी ही अभिरुचि होती? तात्पर्य यह कि मृच्छकटिक की सफलता के पीछे मूल कारण है—संघर्ष और उसका प्रतिनिधि शकार तथा उसके भी सहायक।

मुद्राराक्षस

राजनीतिक नाटकों की परम्परा में मुद्राराक्षस का स्थान सर्वोपरि है। अपने नितान्त राजनीतिक परिवेश में उसका उचित मूल्याङ्कन (नाट्यशास्त्रियों द्वारा) भले ही न किया गया हो किन्तु उसकी गम्भीरता, नाटकीयता एवं प्रौढ़ता सन्देह से परे है[3]। आभूषणों के माध्यम से कथा को ग्रथित करने की जिस प्रक्रिया के दर्शन हमें मृच्छकटिक

1. ...it may safely be concluded that, much as might be expected and desired, the chief characters are both fresh and typical, since they are given features peculiar to the present play and yet preserve many of the aspects of well-established stage personages.

   CDI page 136

2. (i) In fact, it holds a relatively higher place in the estimation of Westerm critics than it enjoys in its own land.

   CDI Page 131

   (ii) Most emphatically, The Little Clay Cart stands in the main line of theatrical discipline. It might well be in the program for the early years in any drama school in any land or period.

   CDI page 138

3. It is a tense drama, clear, sustained, and consistent from beginning to end, artistically effective and realistically convining.........It could easily prove gratifying to a modern audinece.

   CDI page 24

में होते हैं वह मुद्राराक्षस की मुद्रा एवं मलयकेतु के पिता के आभूषणों के रूप में यहाँ भी विद्यमान् है। इतना ही नहीं कुछ अन्य दृश्यों में भी ऐसी समानता है जिसमें वध्य-स्थल पर जाते हुए चन्दनदास के प्रसंग में उसकी पत्नी एवं पुत्र की उपस्थिति का दृश्य मृच्छकटिक का स्मरण दिलाता है।

मुद्राराक्षस का नायक कौन है इस पर पर्याप्त विवाद है। इसका मुख्य कारण यह है कि नायक का प्रतिद्वन्द्वी भी नायक के समान तेजस्वी, यशस्वी और प्रतिष्ठावान् है। आदर्श की दृष्टि से भी दोनों ही प्रतिद्वन्द्वी समान हैं। अपनी सैन्यशक्ति, नीति-निपुणता एवं मैत्री सम्बन्धों में भी दोनों ही समकक्ष हैं। इससे भी महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि राक्षस (यदि उसे प्रतिनायक स्वीकार कर लिया जाए तो) अपने प्रतिद्वन्द्वी (नायक) चाणक्य से अधिक उदार, उदात्त और धीर है। मैत्री के लिए राक्षस की त्याग की तुलना में चाणक्य उसकी धूल के बराबर भी नहीं ठहरता। इसके विपरीत उसकी तुलना में चाणक्य अधिक क्रूर है जो राक्षस की उदारता और मैत्री—सम्बन्धों की निच्छलता का, उसके औदात्त्य का अनुचित लाभ उठाकर राक्षस के पैरों में आमात्यत्व की बेणियाँ डालने में सफल होता है।

चाणक्य की धारणा है कि नन्दों का आमात्य राक्षस जब तक चन्द्रगुप्त का साचिव्य ग्रहण नहीं कर लेता चन्द्रगुप्त का साम्राज्य निष्कंटक नहीं हो सकता। तदर्थं वह अपना आमात्यत्व छोड़ने का सदा तत्पर है। किन्तु उधर नन्दों के प्रति राक्षस की अनन्य श्रद्धा, उसका शौर्य और पराक्रम, उसका नीति-चातुर्य, प्रजा में उसकी प्रतिष्ठा, उसके प्रशंसकों की बहुलता, राज्य के प्रतिष्ठित लोगों पर उसके उपकार, उसकी सदाशयता एवं व्यवहार कुशलता, चाणक्य के मार्ग में बाधक हैं। राक्षस की हत्या भी समस्या का समाधान नहीं कर सकती अपितु उससे जनविद्रोह की ही सम्भावना अधिक है। चाणक्य को यह भी भय है कि उसकी हत्या कर देने से वह राक्षस के समान एक सशक्त, सक्षम, बुद्धिमान् एवं नीतिमान्, सचिव खो देगा। अतः चाणक्य एक विपरीत मार्ग द्वारा अपने इस प्रतिद्वन्द्वी को वश में करने की योजना बनाता है।

अपनी कार्य सिद्ध के लिए वह राक्षस के पास परम मित्र चन्दनदास को बन्दी बनाता है, शकटवास को बन्दी बनाकर वह एक कूटलेख लिखवाता है, फिर उसे भागने का अवसर देकर उसके साथ ही अपने कुछ गुप्तचरों को भी छद्म वेश में, राक्षस के पक्ष में भेज देता है। राक्षस की मुद्रा के रूप में, नाटककार ने चाणक्य के हाँथों में इतना सशक्त साधन दे दिया है कि उसके आधार पर राक्षस, जिस मलयकेतु को; चन्द्रगुप्त के स्थान पर प्रतिष्ठित करना चाहता है, चाणक्य, उसे ही राक्षस के विरुद्ध खड़ा कर देता है। इतना ही नहीं आभूषणों के क्रय-विक्रय के माध्यम से भी मलयकेतु के मन में ऐसी ही भावना उत्पन्न की जाती है कि वह राक्षस को विश्वासघाती समझने

लगता है। ऐसी स्थिति में चाणक्य, अपने एक दूत के माध्यम से मलयकेतु को, राक्षस के पाँच विश्वस्त राजाओं की हत्या के लिए भी विवश कर देता है। इस प्रकार राक्षस की एक-एक योजना को ध्वस्त करते हुए अन्त में चन्दनदास के वध की घोषणा के माध्यम से, चाणक्य ने, राक्षस के अन्तस् को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य कर दिया है।

नायक-प्रतिनायक निर्धारण

नाट्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार फल प्राप्ति में सफलता असफलता हो, नायक प्रतिनायक के निर्धारण की दृष्टि से, महत्त्वपूर्ण होती है। आलोच्य रूपक में राक्षस का लक्ष्य है नन्दवंश के राज्य की पुनः स्थापना किन्तु नन्दवंश के एकमात्र उत्तराधिकारी सर्वार्थसिद्धि के तपोवन चले जाने के बाद राक्षस का लक्ष्य पर्वतक एवं मलयकेतु तक आते आते भ्रष्ट हो जाता है और तब चन्द्रगुप्त को सत्ताच्युत करने में वह अपनी शक्ति खो देता है और स्वयं पथभ्रष्ट हो जाता है। दूसरी ओर चाणक्य का लक्ष्य है, स्वस्थापित चन्द्रगुप्त के राज्य को निष्कंटक बनाना। यह उसका मुख्य लक्ष्य है। उसका एक आनुषङ्गिक लक्ष्य भी है; वह है चन्द्रगुप्त के सचिव-पद पर राक्षस की नियुक्ति। इस लक्ष्य की उपलब्धि के माध्यम से उसकी तीन समस्याओं का समाधान होता दीखता है। राक्षस के विरोध की समाप्ति, निष्कंटक राज्य की स्थापना तथा मन्त्रभार से स्वयं की मुक्ति। नाटक के आरम्भ से अन्त तक हम देखते हैं कि अपने इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए वह कहीं भी पथभ्रष्ट नहीं होता अन्त में राक्षस को अमात्यत्व ग्रहण करने के लिए बाध्य करके वह निष्कंटक राज्य की आकांक्षा को फलीभूत कर लेता है। अतः चाणक्य का नायकत्व स्वीकार करने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

वस्तुतः सम्पूर्ण कथानक का मुख्य केन्द्र तो राक्षस है किन्तु उसके चारों ओर लिपटे हुए कथातन्तुओं का सूत्र चाणक्य के हाँथों में है। नन्दवंश की पुनः स्थापना, पर्वतक या मलयकेतु को राजा बनाना अथवा चन्द्रगुप्त के राज्य की निष्कंटकता इनमें से किसी उद्देश्य को अपावन, आदर्शहीन, मर्यादा, परम्परा अथवा अथवा संस्कृति की दृष्टि से अनुचित नहीं कहा जा सकता। राजनीति में सत्ता के लिए हत्याएँ आदर्श भले ही न हों, किन्तु परम्परासम्मत तो हैं ही; भले ही उन पर देश द्रोह अथवा देशभक्ति का आरोप करके ही उनका औचित्य सिद्ध किया जाए। चाणक्य ने भी ऐसे अगणित उचित-अनुचित कर्म करवाए हैं। उधर राक्षस भी ऐसी योजनाएँ तो बनाता ही है भले ही उसे सफलता न मिली हो।

मुद्राराक्षस का नायक कौन है, इस विषय पर चाणक्य, चन्द्रगुप्त तथा राक्षस के रूप में तीन पात्र सामने आते हैं। चाणक्य ही मुद्राराक्षस का नायक है और राक्षस नायक नहीं है यह हम पिछली पंक्तियों में देख चुके हैं। चन्द्रगुप्त को नायक मानने की

मान्यता अधिक उचित नहीं है, यद्यपि मुद्राराक्षस के प्रसिद्ध टीकाकार ढुण्ढिराज तथा परवर्ती विद्वानों में डॉ॰बलदेव उपाध्याय[1] प्रभृति इस विचारधारा के समर्थक हैं।

ढुण्ढिराज की मान्यता का आधार यह है कि चन्द्रगुप्त एक सचिवायत्त नायक है—चाणक्य उसके सचिव के रूप में स्थित है और वह जो कुछ भी करता है सब चन्द्रगुप्त के साम्राज्य की श्रीवृद्धि के लिए है। चन्द्रगुप्त स्वयं एक गम्भीर (प्रकारान्तर से नायक सामान्य के गुणों से युक्त)[2] नायक है जिसमें विशेष रूप से धीरोदात्त नायक के गुण मिल जाते हैं। उनका कथन है :

सचिवायत्तसिद्धित्वात् पौरुषं स्वमदर्शयन्।
गम्भीरात्मा चन्द्रगुप्तो धीरोदात्तोऽत्र नायकः॥

ढुण्ढिराज को इस मान्यता का मुख्य आधार यही कि चन्द्रगुप्त राजा है और चाणक्य उसका अमात्य है। आलोचना की दृष्टि से यदि नाट्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो कहा जा सकता है कि सचिवायत्तसिद्धि होने से तो चन्द्रगुप्त को धीरोदात्त नहीं धीरललित नायक होना चाहिए, क्योंकि दशरूपककार तो स्पष्टरूपेण धीरललित नायक का लक्षण करते हुए कहते हैं : 'निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तो सुखी मृदुः' (द० रू० २.३) अर्थात् 'सचिवादिविहितयोगक्षेमत्वाच्चिन्तारहितः..............' तात्पर्य यह कि चन्द्रगुप्त के चरित्र में यह निश्चिन्तता तो है ही। उसमें लालित्य, कलासक्ति, सुखलिप्सा और सुखी-जीवन तथा मृदुता के गुणों के भी दर्शन किए जा सकते हैं।

'भरत के अनुसार भी नृपत्वात् उसे धीरललित ही होना चाहिए, वे कहते हैं:—'देवाः धीरोद्धताः ज्ञेयाः स्युर्धीरललिता नृपाः' (भरत ३४.१८) इस आधार पर ढुण्ढिराज चन्द्रगुप्त में जिन गुणों के आधार पर उसे धीरोदात्त मानते हैं, उन्हीं गुणों के आधार पर उनकी वह मान्यता ध्वस्त हो जाती है। राजा होना भी उसके नायकत्व का पर्याय नहीं बन सकता। जैसा कि हम देख चुके हैं राजा होते हुए भी वेणीसंहार में दुर्योधन और बालचरित में कंस को नायक नहीं माना जा सकता[3]।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि रूपक में नायक को उसके इतिवृत्त तथा उसके फल से जुड़ा होना चाहिए। भरत ने नायक के निर्णय के लिए जो सूत्र दिया है उसके अनुसार 'नाट्यस्यान्तं गच्छति तस्माद्वै नायकोऽभिहितः[4]' अर्थात् नाटक के अन्त तक जाने, पहुँचने वाला अथवा नाटक के अन्त को; फल को पाने वाला नायक

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५३७
२. नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षो प्रियम्वदः —दशरूपक २.१-२
३. देखें प्रबन्ध; षष्ठ परिच्छेद पृ० २४५ तथा टिप्पणी १,२,३
४. बीजबिन्द्वादिसंवलितस्य नाटकस्य नाट्यमन्तं नयतीति नायकः।
नाटकलक्षण० पृ० २७

ही नायक है, यह परिभाषा स्वतः में अपूर्ण नहीं है किन्तु इसका बाह्यरूप ऐसी भ्रान्ति अवश्य उत्पन्न कर देता है जिसके आधार पर चन्द्रगुप्त, राक्षस, दुर्योधन और ऐसे ही अनेक अन्य चरित्रों को मुख्य नायक मानने वालों को बल मिला है। वस्तुतः यहाँ 'अन्तं' तथा 'गच्छति' का तात्पर्य क्रमशः फल और उसकी प्राप्ति है। इस स्पष्टीकरण के परिप्रेक्ष्य में भी भ्रमवश चन्द्रगुप्त की निष्कण्टक राज्य की प्राप्ति को ही मुद्राराक्षस का फल और अन्त माना जा सकता है। अतः नायक के निर्णय के पूर्व ही किसी नायक के फल को रेखाङ्कित कर लेना चाहिए। इसके पश्चात कथावृत्त–इतिवृत्त की उस धारा को पहचानना चाहिए जिसके माध्यम से चरित्रों को उभारा जाता है। इस प्रकार मुख्य नायक के निर्णय के लिए फल तथा कथावस्तु ही वे दो मुख्य तत्त्व हैं जिनसे मुख्यनायक का जुड़ा होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त जहाँ विरोध और संघर्ष पूर्ण कथावस्तु हो वहाँ नायक के निर्धारण में प्रतिनायक का चरित्र भी सहायक होता है। क्योंकि प्रतिनायक चरित्र की उपयोगिता नायक के चरित्र को उभारने में ही समर्पित होती है। आरम्भ में बताए गए दोनों तत्त्व; फल और इतिवृत्त को लेकर ही नायक के चरित्र को निर्धारित करते हुए हेमचन्द्र कहते हैं:—'समग्रगुणः कथाव्यापी नायकः' अर्थात् नयति व्याप्नोति इतिवृत्तं फलं चेति नायकः (काव्यानु० ७.१) अर्थात् सम्पूर्ण कथावस्तु जिस चरित्र के चारों ओर घूमती है और जो फल का भोक्ता है वही नायक है। वस्तुतः फल के निर्धारण का यह ढंग पुराना है। फल के निर्धारण के लिए पञ्चम अर्थ प्रकृति—'कार्य' को, जिसे 'नाट्यरचना' का पर्याय भी माना जा सकता है उसे अथवा उस रचना के मूल उद्देश्य को, जिसे रचनाकार अपनी कृति के माध्यम से दर्शक, सामाजिक, श्रोता अथवा पाठक तक संप्रेषित करना चाहता है; फल मानना चाहिए। एतदर्थ तृतीय परिच्छेद में 'कार्य' अर्थप्रकृति का विवेचन देखें।

मुद्राराक्षस के सन्दर्भ में, फल है 'चाणक्य के हाँथों राक्षस की मुद्रा के बल पर राक्षस के पराभव' का चित्रण। इस आधार पर राक्षस का प्रतिनायकत्व तो सुतरां स्पष्ट है किन्तु उस प्रतिनायक के पराभव से उत्पन्न लाभ चन्द्रगुप्त को मिलता है अथवा चाणक्य को यह विवेच्य है। अतः हमारा ध्यान नाटककार की वृत्त-योजना पर जाता है जो कि चन्द्रगुप्त के चारों ओर घूमती है। यहाँ तक कि अपने राज्य की सुरक्षा, और अपने विरुद्ध आयोजित नाना षड्यन्त्रों का ज्ञान तक चन्द्रगुप्त को नहीं है। न तो वह अपने लिए किसी व्यूह की रचना करता दिखाई देता है। और न तो साक्षात् उपस्थित विरोधियों को पहचानने और उन्हें परास्त करने का प्रयत्न करता है। उसके निष्कण्टक राज्य की स्थापना को भी यदि फल माना जाए तो भी उसके लिए उसका प्रयत्नशील न होना, उसे निष्क्रिय तथा चाणक्य को अति-सक्रिय चरित्रनायक के रूप में उभारता है।

वस्तुत: चाणक्य का उद्देश्य है कि उसने जिस राज्य की जड़ में मटठा डालने का प्रण किया है और जिसे उसने अभी अभी नष्ट किया है, उसकी जड़े पुन: अङ्कुरित न होने पाये। यह तभी हो सकता है जब उस वंश के उत्तराधिकारी ही नहीं; उसके पोषक ही नहीं, उसके किञ्चिद् भी समर्थक तत्त्व या तो समाप्त हो जाएँ अथवा आत्म-समर्पण कर दें। इसके निमित्त ही वह विपक्ष के छोटे से छोटे व्यक्ति को घुटने टेकने के लिए बाध्य करता है; वह चाहे सर्वार्थजीवसिद्धि हो, शकटदास हो, चन्दनदास हो, पर्वतक हो, मलयकेतु हो, अथवा स्वयं राक्षस ही क्यों न हो। चाणक्य का एक उद्देश्य यह भी है कि राक्षस के आत्मसमर्पण के पश्चात् वह अपने दायित्व को उसे ही समर्पित कर सचिव के भार से मुक्त हो जाए चाणक्य ही इन चारों उद्देश्यों में एकमात्र समर्पित चरित्र है। सारा इतिवृत्त इन सभी पात्रों से, चरित्रों से सम्बद्ध है जिसका मुख्य सूत्र चाणक्य के हाँथों में है; चन्द्रगुप्त के हाथों में नहीं। अत: मुद्राराक्षस का नायक, मुख्य नायक चाणक्य है—चन्द्रगुप्त नहीं।

चन्द्रगुप्त को ही नायक मानने वाले विद्वानों ने भी राक्षस को ही प्रतिनायक माना है। अत: प्रतिनायक के चरित्र की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए भी यदि देखा जाए तो हम पायेंगे कि उसके माध्यम से भी नाटककार ने चन्द्रगुप्त के चरित्र को नहीं अपितु चाणक्य के ही चरित्र को उभारा है। क्योंकि सारा विरोधवृत्त, राक्षस के सारे षड्यन्त्र, चाणक्य की व्यूह रचना को ध्वस्त करने के लिए ही आयोजित किए गए हैं। यहाँ तक कि राक्षस तो कभी कभी यह भी सोचता हुआ चित्रित किया गया है कि चन्द्रगुप्त भी नन्दवंश का ही उत्तराधिकारी है। उसका विरोध तो चाणक्य से है जो चन्द्रगुप्त को पथभ्रष्ट कर रहा है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि रचना, फल, और इतिवृत्त की व्याप्ति तथा प्रतिनायक इन चारों ही मानक तत्त्वों की दृष्टि से मुद्राराक्षस का नायक चाणक्य है।

अत: नायक तो चाणक्य ही हैं किन्तु यदि राक्षस को नायक मान लिया जाए तो भी चाणक्य को धीरोदात्तादि नायकों की सीमा में बाँध पाना सम्भव नहीं है। इसी कारण डॉ० सत्यव्रत सिंह कहते हैं :—'चाणक्य का चरित विशाखदत्त ने ऐसा चित्रित किया है कि इसे हम प्राचीन नाट्यपरम्परा की नायक चतुष्टय मर्यादा में स्थान देते हुए भी ऐसा अनुभव करते हैं कि इसका एक अलग श्रेणी-विभाग होना चाहिए अथवा इसे एक स्वतन्त्र नायक-चरित ही मानना चाहिए'[१]। राक्षस के चरित को भी नाटककार ने कुछ ऐसा ही निरूपित किया है कि उसे न तो धीरोदात्तादि नायकों की सीमा में बाँधा जा सकता है न ही उसे प्रतिनायक के लक्षणों की परिधि में बाँधा जा सकता है। तथापि यदि इन दोनों चरितों को नायक भेदों में बाँधना ही है तो राक्षस को

१. मुद्राराक्षस : समालोचना भाग पृ० २४

उसके सम्पूर्ण गुणों, विशेषकर उसकी धीरता और औदात्य, उदारता और मैत्री, त्याग एवं नन्दों के प्रति निष्ठा के कारण एक धीरोदात्त चरित माना जा सकता है। प्रतिनायक के रूप में भी उसे धीरोदात्त प्रतिनायक[1] ही मानना उचित होगा। दूसरी ओर अपनी कूटनीतिक सफलताओं, व्यवहार-रुक्षता, दर्प, विकत्थना, छलछद्म, और चण्ड प्रकृति के कारण चाणक्य किसी धीरोद्धत नायक के अधिक समीप है। यही कारण है कि राक्षस, प्रतिनायक होते हुए भी प्रतिनायक प्रतीत नहीं होता और नायक होते हुए भी चाणक्य अपने प्रतिद्वन्द्वी से अपेक्षाकृत अधिक सशक्त विरोधी चरित है। यदि किञ्चिद् सूक्ष्मतापूर्वक देखा जाय तो हम पाते हैं कि चाणक्य की भूमिका को कुछ इस प्रकार से नियोजित किया गया है कि वह नायक होते हुए भी नकारात्मक भूमिका प्रतीत होती है। इसके विपरीत राक्षस की भूमिका प्रतिनायक की भूमिका है फिर भी वह यहाँ एक सकारात्मक भूमिका प्रतीत होती है क्योंकि सम्पूर्ण नाटक में राक्षस का नायक (चाणक्य) से विरोध उतना नहीं उभरा है जितना कि राक्षस से चाणक्य के विरोध को प्रमुखता मिली है।

चाणक्य का नायकत्व

अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए चाणक्य की योजनाओं की सफलता का मुख्य कारण यही है कि वह दूरदर्शी है। उसे शत्रु के षड्यन्त्रों का आभास बहुत सरलता से हो जाता है। इसमें उसके गुप्तचरों की सहायता के अतिरिक्त उसकी तीक्ष्ण प्रज्ञा और उसके अध्यवसाय का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अतिरिक्त उसकी सफलता का कारण यह भी है उसने अपने साधनों को; सुरक्षा एवं आक्रमण के रूप में, दो प्रकार से प्रयुक्त किया है तथा उन्हें चन्द्रगुप्त, राक्षस तथा मलयकेतु के चारों ओर फैला रखा है। राक्षस द्वारा (चन्द्रगुप्त पर) प्रयुक्त विषकन्या से वह पर्वतक को नष्ट कर देता है। राक्षस के तन्निमित्तक अन्य षड्यन्त्रों को विफल करने में भी उसके बुद्धिचातुर्य एवं दूरदृष्टि को पहचाना जा सकता है जिसके कारण वैरोचक, वर्वरक, दारुवर्मा, अभयदत्त, प्रमोदक एवं मत्सक प्रभृति जन, जाने-अनजाने मृत्यु को प्राप्त होते हैं। यही उसकी सुरक्षात्मक नीति है। मुद्राराक्षस में हम देखते हैं कि उसका आरम्भ इन घटनाओं के सम्पादित हो जाने के बाद होता है जिससे नाटककार ने चाणक्य की सुरक्षा-व्यवस्था को दिखलाने के बाद ही उसकी आक्रामक व्यवस्था का परिचय दिया है (यद्यपि इसका वर्णन द्वितीय अङ्क में किया गया है।) नाटककार ने इस घोषणा के माध्यम से नायक चाणक्य को क्रूरता अथवा निरर्थक हत्या के अभियोग से मुक्त करते हुए और उनके मूल में राक्षस की योजनाओं की असफलता को स्थापित करते हुए उसके प्रतिनायकत्व का समर्थन किया है।

---

१. देखें : प्रबन्ध, द्वितीय परिच्छेद में शृङ्गारप्रकाशकार का प्रतिनायक भेद

दूसरी ओर चाणक्य, राक्षस एवं मलयकेतु के मध्य भेद डालने के लिए कपट-लेख, मुद्रा एवं पर्वतक के आभूषणों का उपयोग करता है जिससे कि वह राक्षस के मन में; शकटदास के प्रति एवं मलयकेतु के मन में; चित्रवर्मा, सिंहनाद, पुष्कराक्ष, सिन्धुषेण एवं मेघाक्ष इन पाँचों राजाओं के साथ ही राक्षस के प्रति, घृणा के भाव उत्पन्न कर सके। फलस्वरूप एक ओर तो वह मलयकेतु को बन्दी बनाता है दूसरी ओर शकटदास के अतिरिक्त अन्य सहायक पाँचों राजाओं को मरवा डालता है। इस कार्य में वह साक्षात् स्वयं प्रतियोगिता में नहीं उतरता अपितु अपने सहायकों, क्षपणक, भागुरायण प्रभृति का उपयोग करता है। इसके अतिरिक्त शकटदास को बन्दी बनाकर फिर उसे अपने ही व्यक्तियों द्वारा मुक्त करवाते हुए, शकटदास को उन्हीं लोगों के साथ राक्षस के सन्निकट पहुँचाकर सिद्धार्थक प्रभृति अपने गुप्तचरों को राक्षस के चारों ओर नियुक्त कर देता है। जो उसे सही मार्ग पर चलने से रोकते हैं और उसको प्रत्येक गतिविधि की सूचना चाणक्य तक पहुँचाते रहते हैं।

नायक चाणक्य आरम्भ से ही चन्दनदास के रूप में निर्णायक सूत्र को हाँथों में ग्रहण कर लेता है। यह भी उसकी आक्रामक नीति है। राक्षस के चारों ओर डाले गए अपने घेरे को वह प्रतिपल संकुचित करता जाता है। किसी भी कूटनीतिज्ञ की यही तो विशेषता हो सकती है कि वह अपने प्रतिद्वन्द्वी की प्रत्येक योजना का पूर्व अनुमान कर सके। चाणक्य इसमें राक्षस से बहुत आगे है। वह राक्षस के समान भावुक नहीं है। राक्षस, चन्द्रगुप्त को मरवाने की जितनी भी योजनाएं बनाता है, उनको समझ कर, उन्हें निष्फल करने वाला चाणक्य उस कार्य में लगे राक्षस के किसी भी सहायक को जीवित नहीं छोड़ता। उसे वैतालिक के गीतों से ही राक्षस की चाल का पूर्वाभास हो जाता है। वह राक्षस की इस चाल में उसे ही फँसाता है, स्वतः कृतककलह करके, स्वयं के साचिव्य पद छोड़ने की सूचना प्रसारित करके, कपट लेख एवं आभूषणों के माध्यम से, मलयकेतु पर प्रकट करता है कि 'चाणक्य द्वारा साचिव्य छोड़ने के बाद से राक्षस तो चन्द्रगुप्त का मित्र हो गया है और उसके मन में जिस आमात्य पद का मोह है वह उसे चन्द्रगुप्त से मिल ही जाएगा, फिर चन्द्रगुप्त कोई और तो नहीं नन्दवंशीय ही तो हैं।' अपने अनुचरों के माध्यम से मलयकेतु के इस संदेह को पुष्ट कराते हुए वह राक्षस को नितान्त एकाकी कर देता है। भागुरायण की सहायता से एक ओर वह मलयकेतु के आदेश पर पाँचों राजाओं को मरवाता है, दूसरी ओर उसकी दुर्बल सेना द्वारा आक्रमण करवा कर उन्हें परास्त करते हुए मलयकेतु को बन्दी बना लेता है। मलयकेतु के व्यवहार से रुष्ट राक्षस के लिए पाटलिपुत्र वापस लौटने के अतिरिक्त अब कोई मार्ग नहीं दिखाई देता। इस प्रकार चाणक्य अपने घेरे को और संकुचित कर लेता है।

राक्षस के पाटलिपुत्र आ जाने पर एकबार पुनः चाणक्य उसकी भावुकता का लाभ उठाता है। चाणक्य अपने ही एक दूत के माध्यम से 'चन्दनदास को वध्य स्थल की ओर ले जाया जा रहा है, वह अपनी मित्रता की रक्षा के लिए, अपने मित्र आमात्य राक्षस के परिवार की रक्षा के लिए, अपने प्राणों को न्योछावर कर रहा है' इस प्रकार की सूचना देकर उसके मन में मित्रप्रेम, मानवीयता, भावुकता, पारिवारिक चिन्ता एवं मोह उत्पन्न करके उसको आत्मसमर्पण करने के लिए बाध्य कर देता है।

अपने इस परिवेश में तो मुद्राराक्षस का चाणक्य एक निश्चित धारणा, धी और समाधि से युक्त एक धीर गम्भीर नायक है। जिसका लक्ष्य है मौर्य साम्राज्य की चिरस्थिरता। जिसके मार्ग में आने वाले उन सारे अवरोधों को वह अपने पैरों से रौंद देता है, जिनसे उसके राज्य को भय है। आमात्य राक्षस को वह उन अन्य विरोधीजन से अलग मानता है क्योंकि राक्षस जितना बुद्धिमान, नीतिमान, दृढ़प्रतिज्ञ, पराक्रमी, निःस्वार्थी एवं स्वामिभक्ति जन विरले ही होते हैं। इसीलिए वह राक्षस को जीवित पाना चाहता है।

चाणक्य की यह महती विशेषता है कि वह अपने प्रतिद्वन्द्वी के विपरीत एक पुरुषार्थी नायक है। वह कर्म में विश्वास करता है। वह नितान्त बुद्धिवादी है और भावुकता को समीप नहीं आने देता है। इसी कारण वह कभी-कभी अपने सेवकों एवं शिष्यों के प्रति भी रुक्षता का व्यवहार कर बैठता है। यह गुण उसे उदात्त नहीं बनने देता अपितु उसके औद्धत्य का परिचय देता है। वह भी औद्धत्य ऐसा नहीं जिसमें मात्सर्य हो, निरी विकत्थना हो या मिथ्याभिमान हो। वह ऐसा नायक है जो जितना सोचता है, कहता है, उतना कर दिखाता है।

दूरदर्शी, निःस्वार्थी, कूटनीतिज्ञ, यथार्थवादी (भावुकताहीन), धैर्यशाली चाणक्य नितान्त निरीह है। लोभ मोह से परे, वह एक ऐसा चरित्र है जिसके लिए चन्द्रगुप्त के कञ्चुकी वैहीनर का यह कथन नितान्त सार्थक है कि 'वह इतने विशाल साम्राज्य का आमात्य होते हुए भी स्वयं निरीह है और मौर्य साम्राज्य की अतुल सम्पत्ति उसके लिए तिरस्कार का विषय है।' इस प्रकार अपने सम्पूर्ण आयाम में वह नाट्यशास्त्रीय धीरोद्धत नायक का ऐसा आदर्श है जो संस्कृत साहित्य में अनुपमेय है, अद्वितीय[1] है।

राक्षस का प्रतिनायकत्व

राक्षस ही वह गजराज है जिसके उत्पातों से चाणक्य संत्रस्त है और उसके ही पैरों में मौर्य साम्राज्य किंवा चन्द्रगुप्त के साचिव्य की वेणी डालने के सारे प्रयत्नों की

१. 'संस्कृत के नाटककारों के द्वारा उद्भावित नायक-चरित्र का जो प्राचीन नाट्य-परम्परागत वर्ग-विभाग है उसमें यह चरित्र अपनी वैयक्तिक विशेषता और अलौकिकता के कारण, ऐसा प्रतीत होता है, समा नहीं सकता'

—डॉ० सत्यव्रत सिंह, (मुद्राराक्षस समालोचना, पृ० २१)

संज्ञा 'मुद्राराक्षस' नाटक है। इसी कारण राक्षस को साचिव्य की प्रतीक खड्ग समर्पित करने के पश्चात् चाणक्य निश्चिन्त हो जाता है।

राक्षस यद्यपि प्रतिनायक है किन्तु क्रूर नहीं है। चाणक्य नायक है पर क्रूर है। राक्षस प्रतिनायक होते हुए भी उतनी हत्यायें नहीं करता या करवाता या करवा पाता है जितनी हत्याओं का दायित्व चाणक्य के माथे पर है। राक्षस भावुक है और इस सीमा तक कि शकटदास, चन्दनदास, चन्दनदास के मित्र जिष्णुदास, मलयकतु और पर्वतक इन सभी के प्रति उसकी भावुकता कभी-कभी उस रो दन का बाध्य कर देती है। वह संवेदनशील है, चाणक्य की भांति कठोर नहीं। अपने सेवकों के प्रति भी वह अत्यन्त उदार है[१]। वह वस्तुतः कवि-हृदय है, नन्द वंश के प्रति उसकी अगाध श्रद्धा है, भक्ति है, प्रेम है। चाणक्य की भांति वह राजा पर भी कठोर शासन रखता हो; उसका ऐसा चरित्र नहीं है, मलयकेतु के प्रति उसक व्यवहार से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। वह स्वार्थहीन, भाग्यवादी एवं ईश्वर से भय खाने वाला चरित है। अपन इस परिवेश में 'नेता स्यात् प्रतिनायकः' की मान्यता का पालन करता हुआ राक्षस, प्रतिनायक होते हुए भी मुद्राराक्षस के पाठकों एवं सामाजिको का मन मोह लेता है। चाणक्य जहां सामाजिक को स्तम्भित करने वाला चरित है वहां राक्षस उन्हें सम्मोहित करता है।

नाटककार विशाखदत्त ने नायक चाणक्य के लोकविश्रुत—कठोर, दृढ़ किंवा हठी और स्वाभिमानी चरित को प्रतिस्पर्धा में, राक्षस जैसे अप्रसिद्ध चरित का, एक स्वाभिमानी किन्तु विवेकशील, सहृदय एवं सरल चरित के रूप में प्रस्तुत करते हुए प्रतिनायक के अनेक शास्त्रीय गुणों को झुठला दिया है। यह नाटककार की निजी कल्पना का, उसकी नियामक शक्ति का परिचायक है। 'क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तम् अभिभवितुमिच्छति बलात्' चाणक्य की इस दर्पोक्ति की तुलना में मलयकेतु से वार्तालाप में, राक्षस के मुख से 'स्वाधीने मयि' इस छोटी सी उक्ति में, निहित उसकी लज्जा और संकोच से; दोनों का चरित पर्याप्त भिन्न सिद्ध होता है।

किसी भी युद्ध में प्रथम आक्रमण करने वाला भारी पड़ता है। वही स्थिति यहां भी है। एक ओर स्थापित नन्द—साम्राज्य को उखाड़ फेंकने वाला चाणक्य है दूसरी ओर उत्तराधिकारी की अस्थिरता (सर्वार्थसिद्धि, पर्वतक; पर्वतक से वैरोचक एवं

१. तुलना करें :—

चाणक्यः—वत्स ! कार्याभिनियोग एवास्मानाकुलयति; न पुनरुपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता। —मुद्रा० प्रथम अङ्क, पृ० २२

राक्षसः—(कञ्चुकी से) आर्यकुमार इवानतिक्रमणीय वचनो भवानपि, तदनुष्ठीयते कुमारस्याज्ञा। —मुद्रा० द्वितीय अङ्क, पृ० ८४

मलयकेतु तक किसे नन्दवंश का वास्तविक उत्तराधिकारी बनाया जाना है यही निश्चित न कर पाना) के कारण व्यग्र चित्तवाला राक्षस है, जो आक्रान्त है, नित नयी योजनाएँ बनाता है पर कुछ भी आकार लेने के पूर्व ही उसकी योजनाएँ नष्ट हो जाती है। वह स्वयं कहता है 'सैवेयं मम चित्रकर्मरचना भित्तिं विना वर्त्तते' वह बालू पर प्रासाद उठा रहा है। वह जितना निष्ठावान् है, उसकी भित्ति उतनी ही दुर्बल है। उस पर भी चाणक्य के घात-प्रतिघात हैं, जिनके कारण निष्क्रिय एवं असफल उसकी नीतियाँ उसे दुर्बल एवं उसके मनोबल को नित्य प्रति क्षीण करती जाती है। वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो जाता है—यह देख कर कि एक ओर तो उसकी प्रत्येक युक्ति विफल हो जाती है दूसरी ओर चाणक्य का कार्य सिद्ध हो जाता है[1]। इसी कारण वह दुःखी हो उठता है और कहता है कि उसका कार्य भी किसी नाटककार की भांति अत्यन्त कठिन है[2]। यह सत्य है कि किसी को राज्य सिंहासन पर बिठाने का कार्य अत्यन्त कठिन है। उसकी अपेक्षा किसी प्रतिष्ठित राज्य की रक्षा करना किसी सचिव के लिए सरल है। इसी कारण चाणक्य की स्थिति दृढ़ है और राक्षस की स्थिति दुर्बल। फिर भी हम पाते हैं, चाणक्य की अपेक्षा राक्षस अधिक शक्ति सम्पन्न एवं पराक्रमी है।

प्रतिनायक होते हुए भी राक्षस, लोभ एवं पापादि व्यसनों से दूर एक योगी की भाँति अपने कर्म के प्रति समर्पित चरित है। वह नाटककार की अनूठी कल्पना है जो अद्वितीय एवं अनुपमेय है। चाणक्य की उग्रता का, उसके साहस का, उसकी कूटनीति का, उसके राज्यव्यवहार और राज्य की स्थिरता के लिए उसकी चिन्ता का, मुख्य केन्द्र राक्षस ही है। राक्षस ही वह शत्रु है जिसे पराभूत करके वह मौर्य साम्राज्य को अजेय एवं दुर्भेद्य बना सकता है और राक्षस ही वह मित्र है जो इस अजेय, एवं दुर्भेद्य दुर्ग की रक्षा कर सकता है। इसी कारण चाणक्य भी उसका प्रशंसक है। इसके अतिरिक्त शत्रु होने पर भी चाणक्य द्वारा राक्षस का सम्मान, समर्थ होने पर भी राक्षस के परिवार एवं चन्दनदास जैसे राक्षसमित्र की हत्या न करना और राक्षस के निमित्त अतिरिक्त पद न बनाकर अपने ही पद का त्याग करना, ये कर्म, चाणक्य के चरित के उन अभावों की (मानवीयता एवं गाम्भीर्य की) पूर्ति करते हैं, जिसके कारण चाणक्य के उद्देश्य को पवित्रता का बाना पहनाया गया है।

इस प्रकार प्रतिनायक की भूमिका का मूल्याङ्कन करते हुए हमें यह सोचने का अवकाश ही नहीं है कि राक्षस की भूमिका की उपयोगिता क्या और कितनी है अथवा उससे नायक चाणक्य के चरित्र का कितना उत्कर्ष दिखाया जा सका है, क्योंकि राक्षस की भूमिका ही वह महत्त्वपूर्ण भूमिका है जो चाणक्य की भूमिका के उपलब्ध

---

१. मौर्यस्येव फलन्ति पश्य विविधश्रेयांसि मे नीतयः। —मुद्रा० २.१६

२. कर्त्ता वा नाटकानामियमनुभवति क्लेशमस्मद् विधो वा॥ —मुद्रा० ४.३

स्वरूप का निर्माण करती है, उसकी नीति की तीक्ष्णता को बनाती है, उसकी दूरदृष्टि का उद्‌घाटन करती है, यहाँ तक कि चाणक्य की क्रूरता, औद्धत्य, ईर्ष्या, विकत्थना, क्रोध के साथ ही उसके धैर्य, पुरुषार्थ की कसौटी भी वही है। प्रकारान्तर से, चाणक्य के साचिव्य की; आमात्यत्व की; उसकी मन्त्रशक्ति की कथा अज्ञात ही रह जाती; यदि राक्षस न होता। तात्पर्य यह कि मौर्य–साम्राज्य की स्थापना हो जाने पर भी चाणक्य को राक्षस की आवश्यकता है—यह उसकी, उसकी भूमिका की, सबसे बड़ी उपयोगिता है। वस्तुतः राक्षस ही वह सोपान है, जिस पर पैर रखकर चाणक्य अपने 'चाणक्यत्व, की ख्याति के उच्चतम शिखर का स्पर्श कर पाता है। राक्षस की असफलता ही चाणक्य की सफलता का पर्याय है, राक्षस की पराजय ही उसकी विजय है और राक्षस का आत्मसमर्पण ही चाणक्य के सर्वोच्च सम्मान का कारण है।

उपनायक और उपप्रतिनायक

इधर चाणक्य ने नन्द साम्राज्य को समाप्त करके चन्द्रगुप्त मौर्य को राज्य पर बिठाया, उधर राक्षस, मौर्य साम्राज्य को समाप्त करके चन्द्रगुप्त के स्थान पर किसी भी नन्दवंशी व्यक्ति को सिंहासन पर बिठाना चाहता है। पर्वतक एवं वैरोचक के बाद उसकी दृष्टि एकमात्र बचे हुए नन्दवंशी सर्वार्थसिद्धि पर जाती है जो स्वयं चाणक्य एवं मौर्य साम्राज्य से भयभीत होकर भाग जाता है। तथापि चाणक्य उसे नहीं छोड़ता, और नन्द वंश से सम्बद्ध होने के कारण उसे भी मरवा डालता है। इसके पश्चात् राक्षस की दृष्टि में पर्वतक का पुत्र मलयकेतु ही ऐसा व्यक्ति शेष रहता है जिसे राजा बनाया जा सकता है। अतः एक ओर तो मौर्य सम्राट होते हुए भी चन्द्रगुप्त उपनायक है दूसरी ओर चाणक्य के कार्य सहायक; भागुरायण, सिद्धार्थक प्रभृति अनेक भूमिकाएँ हैं जिन्हें उपनायक माना जा सकता है। किन्तु संचालन का सूत्र चाणक्य के हाँथों में हैं। अतः उनमें से किसी भी चरित का स्वतंत्र विकास नहीं हो पाया है और वे सभी चाणक्य की कठपुतलियों की तरह कार्य करते हैं।

चन्द्रगुप्त के स्थान पर मलयकेतु को राजा बनाने की राक्षस की अभिलाषा के परिप्रेक्ष्य से, मलयकेतु का प्रतिन'यकत्व स्वतः स्थिर हो जाता है। उसका अस्तित्व राक्षस के सहायक के रूप में ही विकसित हो सका है किन्तु अन्त में चाणक्य की कूट-नीति का लक्ष्य बनकर वह राक्षस से सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है और ऐसा होते ही एक ओर तो चाणक्य राक्षस के पाँच विस्वस्त राजाओं को, उसके ही आदेश से, मरवा डालता है और उधर से उसे भी बन्दी बना लेता है। इस प्रकार उसका पराभव जहाँ एक ओर प्रतिनायक राक्षस के महत्त्व को सिद्ध करता है वहीं दूसरी ओर चाणक्य को फलप्राप्ति के निकट पहुँचाता है। वह अदूरदर्शी, मूर्ख एवं अविश्वासी है। इसी कारण भागुरायण उसे शीघ्र ही प्रभावित कर लेता है जिसमें कहीं-कहीं शकार के चरित्र का भी आभास होता है।

मलयकेतु के अतिरिक्त चन्दनदास एवं शकटदास भी राक्षस के सहायक होने से चाणक्य-विरोधी भूमिकाएँ हैं। वे स्वत: में महत्त्वपूर्ण हैं और कथासूत्र से भली-भाँति लिपटे हैं, फिर भी चरित्र-चित्रण की दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। उनमें भी चन्दनदास जैसी महत्त्वपूर्ण भूमिका का चित्रण अति संक्षिप्त है। जबकि वही वह महत्त्वपूर्ण सूत्र है जो राक्षस के आत्मसमर्पण का मुख्य साधन है। नाटक में हम देखते हैं कि नन्दवंश की पुनः स्थापना की भावना ही शकटदास एवं चन्दनदास को राक्षस के पक्ष में लाती है तथा चाणक्य एवं प्रकारान्तर से चन्द्रगुप्त की प्रतिद्वन्द्विता ही मलयकेतु को राक्षस से मिलाती है। यह ध्यान देने योग्य तथ्य है कि नन्द साम्राज्य में शकटदास, महालेखाध्यक्ष था और चन्दनदास कोषाध्यक्ष, राक्षस तो महामात्य था ही, अतः उसके प्रति इन दोनों की सद्भावना स्वाभाविक है। राक्षस द्वारा मौर्य साम्राज्य को समाप्त कर नन्द साम्राज्य की स्थापना कर लेने पर उन्हें पुनः अपने खोये हुए पद, प्रतिष्ठा, यश और सुख-सुविधा की आशा है। किन्तु इससे अधिक नन्दों एवं नन्दों के आमात्य राक्षस के प्रति उनकी अटूट श्रद्धा, विश्वास एवं समर्पण की भावना महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकार तीनों ही उपप्रतिनायकों की भूमिकाओं का सम्बन्ध; कथावस्तु एवं विशेषरूप से नायक के क्रिया-कलापों से, आरम्भ से अन्त तक बना रहता है। अपनी सीमित उपस्थिति तथा शत्रु पक्ष में होकर भी वे चाणक्य की योजनाओं की सफलता के मुख्य साधन बन जाते है। सम्पूर्ण नाटक को देखने पर यह कहना सरल है कि इन सहायक भूमिकाओं से राक्षस को उतनी सहायता नहीं मिलती जितनी कि सहायता चाणक्य लेता है। यह नायक की सक्षमता, दूरदर्शिता और सफलता का ही परिचायक नहीं है अपितु प्रतिनायक और उपप्रतिनायकों के अस्तित्व की उपयोगिता भी यही है।

ऐतिहासिक अथवा लोककथाओं पर आधृत इन रूपकों की परम्परा में प्रतिनायक का महत्त्व अपेक्षाकृत अन्य पौराणिक, रामायण अथवा महाभारत की कथा पर आश्रित रूपकों से कुछ अधिक मौलिक है। कम से कम प्रतिनायक के स्वरूप की विविधता की यह मौलिकता तो अवश्य ही स्पृहणीय है, जिसके माध्यम से 'नायक के चरित के उत्कर्ष की स्थापना' की मान्यता को अधिक सक्षमता के साथ सिद्ध किया जा सकता है।

मालतीमाधव तथा नागानन्द में प्रतिनायक योजना

इसी परम्परा में दो अन्य रूपकों के महत्त्व को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता। ये हैं—भवभूति कृत मालतीमाधव तथा हर्षकृत नागानन्द। प्रकृत स्थल पर इतना अवकाश नहीं है कि इन अथवा ऐसे ही अन्य रूपकों पर विशेष चर्चा की जाए फिर भी प्रतिनायक के सन्दर्भ में इन पर एक विहङ्गम दृष्टि डाली जा रही है।

'मालतीमाधव' जैसाकि अभिधान से ही स्पष्ट है यह एक ऐसा रूपक है जिसमें नायक-नायिका के प्रेम की कथा को ग्रथित किया गया है। किन्तु यह कथा ऐसी नहीं है जो सपाट हो अथवा जिसमें उनके संयोग में बाधकतत्त्व अमूर्त हों (जैसाकि अविमारकार, मालविकाग्निमित्रम् या विक्रमोर्वशीयम् में है) अथवा कोई पूर्व-पत्नी अथवा कोई ऐसी ही अन्य भूमिका बाधक बनकर आती हो। नायक माधव के मार्ग में आने वाला प्रतिद्वन्द्वी **नन्दन** मालती के पिता का सहयोगी अपितु राजा का अधिक विश्वसनीय अमात्य है। कुरूप एवं वृद्ध नन्दन, मालती एवं माधव के सम्बन्धों को जानकर भी मालती पर आसक्त हो जाता है और जोड़-तोड़ करके राजा से भूरिवसु को अपनी पुत्री के साथ उसके विवाह के लिए सहमत करा लेता है। उनका विवाह भी होता है, किन्तु मालती के साथ नहीं अपितु माधव के एक मित्र के साथ जो मालती के वेष में उसे छलता है। जिसके परिणामस्वरूप प्रथम रात्रि को ही नन्दन का घोर अपमान हो जाता है।

अघोरघण्ट एवं कपालकुण्डला द्वारा मालती की बलि की योजना एवं माधव द्वारा अघोरघण्ट को मार कर मालती की रक्षा ने कपालकुण्डला को उत्तेजित किया है। अतः वह मालती का एकबार पुनः अपहरण करती है। यद्यपि अघोरघण्ट एवं कपालकुण्डला का नन्दन से कोई सम्बन्ध नहीं है फिर भी नायिका एवं नायक के मिलन में द्वितीय बाधक के रूप उनका भी स्वरूप प्रतिनायक, प्रतिनायिका अथवा उपप्रतिनायकों जैसा ही है। पद्मावती नरेश भी नन्दन पक्षपात के कारण प्रतिनायक के सहायक हैं किन्तु अन्त में उनके प्रभाव से ही नन्दन भी माधव एवं मालती के विवाह का समर्थन करता हुआ आत्मसमर्पण कर देता है। इस रूप में मालतीमाधव में स्वयं मञ्च पर उपस्थित न होकर भी प्रतिनायक नन्दन सम्पूर्ण नाटक पर छाया रहता है। दूसरी ओर अघोरघण्ट तथा कपालकुण्डला तो प्रत्यक्षतः उपस्थित होकर मालती और माधव के विप्रलम्भ को जीवन देते हुए अपनी अपनी भूमिका को सार्थकता प्रदान करते हैं। नाटककार भवभूति की यह रचना जितनी नवीन है, इसका प्रतिनायक नन्दन, नन्दन की भावना भी उतनी ही मौलिक है। कपालकुण्डला तथा अघोरघण्ट की योजना जहाँ अद्भुत रस की योजना को सार्थक सिद्ध करती है वहीं उससे चमत्कार भी उत्पन्न हुआ है और नायक-नायिका के चरित्र को गति मिली है।

इसके विपरीत **नागानन्द** का विषय किसी बौद्ध अवदान[1] पर आश्रित हो अथवा बृहत्कथा किंवा बेतालपञ्चविंशति की कथा पर आधृत[2] इसमें दो मत नहीं हो सकते कि आत्मत्याग, दृढ़ता एवं उदारता का जो आदर्शरूप हम जीमूतवाहन में देखते हैं,

१. सं० सा० इ० पृ० ५६०
२. सं० ना० पृ० १७७

उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम वह गरुड़ ही है जिसे हर्ष ने अपनी अद्भुत प्रतिभा द्वारा गढ़ा है। गरुड़ ही वह प्रतिनायक है जो नायक जीमूतवाहन एवं उपनायक शङ्खचूड़ के मध्य तुलना के अवसर प्रदान करता है और त्याग एवं परोपकार की अद्वितीय भावना के माध्यम से जीमूतवाहन को महान नायक बना देता है।

नाटक के अन्तिम अङ्क में नायक जीमूतवाहन द्वारा क्रूर चरित गरुड (प्रतिनायक) को प्रायश्चित तथा उस माध्यम द्वारा पुण्य का संचय कर लेने का उपदेश जहाँ भारतीय (वैदिक) संस्कृति की दार्शनिक मान्यता की स्थापना करता है, वहीं यह प्रतिनायक की; उसके विरोध की भावना की, इस जीवन में ही समाप्ति तथा कृत-दुष्कर्मों अथवा पापों के प्रति प्रायश्चित की भावना का, हृदय परिवर्तन की नाटकीय परिणति का और नाटकीय न्याय (ड्रामेटिक जस्टिस) का भी प्रतीक है; नाटकों (रूपकों) में नायक-प्रतिनायक की योजना और नायक की विजय तथा प्रतिनायक का पराजय की योजना का मूल उद्देश्य भी इसी 'न्याय' की स्थापना को समर्पित है। ऐसा उपदेश निश्चय ही दृष्टि सापेक्ष है। जीमूतवाहन गरुड से कहता है :—

> **नित्यं प्राणातिपाताद् प्रतिविरम कुरु प्राक्कृते चानुतापं**
> **यत्नात्पुण्यप्रवाहं समुपचिनु दिशन् सर्वसत्त्वेष्वभीतिम्।**
> **मग्नं येनात्र नैनः फलति परिमित-प्राणिहिंसात्तमेतद्**
> **दुर्गाधापारवारेर्लवणपलमिव क्षिप्तमन्तर्ह्रदस्य ॥**
>
> —नागानन्द, ५.२५

अर्थात् पूर्वकृत पापों के लिए प्रायश्चित्त : तदर्थ पश्चात्ताप, एवं पुण्य का संचय करने के लिए नायक का उपदेश, प्रतिनायक का हृदय परिवर्तन कराने का प्रतीक है। संस्कृत नाटकों में नायक-प्रतिनायक के मध्य द्वन्द्व-योजना की यही अन्तिम परिणति है।

प्रतीक नाटक

संस्कृत साहित्य में प्रतीक नाटकों की परम्परा की प्राचीनता के सम्बन्ध में विवाद हो सकता है[1], किन्तु संस्कृत साहित्य में इस विधा के रूपकों का अभाव नहीं है। प्रबोधचन्द्रोदय (कृष्णमिश्र), संकल्पसूर्योदय (वेदान्तदेशिक), चैतन्यचन्द्रोदय (कविकर्णपुर), विद्यापरिणयन तथा जीवानन्द (देवकवि), मोहराज पराजय (जैनकवि-यशपाल)[2] प्रभृति रूपक इसी कोटि में आते हैं। जिन्हें भास के नाटकों में प्रयुक्त मधुक-शाप, तथा कंस की राजलक्ष्मी के मध्य संवाद तथा कृष्ण के शस्त्रास्त्रों के मानवीकरण जैसे प्रयोगों ने निश्चय ही प्रेरणा दी होगी।

---

१. देखें : कीथ सं०, ना० पृ० २६५

२. वाचस्पति गैरोला—सं० सा० बृ० इ०। निर्णयसागर प्रेस के काव्यमाला ३६ में विद्या० को आनन्दरायमखि की रचना माना गया है।

इन नाटकों के पीछे नाटककारों का उद्देश्य, जहाँ अपने सम्प्रदायों की मान्यता को पाठकों तथा सामाजिकों तक संप्रेषित करना था, वहीं अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करना भी था। नाट्यशास्त्रीय मान्यताओं की परिधि से बाहर न जाकर कहीं निवृत्ति तो कहीं प्रवृत्ति, कहीं मति तो कहीं शान्ति, कहीं कृपा तो कहीं दया, कहीं सरस्वती तो कहीं माया; इनके दार्शनिक स्वरूपों को रूपायित करके उन्हें नायक विवेक, पुरुष, मोह अथवा मन की पत्नियों या प्रेयसियों के रूप में प्रस्तुत करना एक कठिन कार्य है। फिर भी अपनी मान्यताओं को नायक-प्रतिनायक, नयिका अथवा उसकी सहायिकाओं के रूप में प्रस्तुत करते हुए अपने सम्प्रदाय के प्रचार एवं प्रसार का यह अनूठा ढंग था।

ऐसे प्रयोगों को, प्रतीक अथवा बिम्ब रूप में, काव्य के माध्यम से प्रस्तुत करना सरल नहीं है। किन्तु भास के रूपकों में, कृष्ण के शस्त्रास्त्रों और मधूक-शाप के मानवीकरण को देखकर, निश्चय ही उन्हें बल मिला होगा। रूपकों का विषय किसी भी सम्प्रदाय से सम्बद्ध हो किन्तु प्रकृत स्थल पर ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि अपने मत, सिद्धान्त अथवा सम्प्रदाय के सम्बन्ध में जो विषय तत्तत रूपकों के माध्यम से उठाया गया है उसे ठीक ढंग से प्रस्तुत किया गया है या नहीं ? इस विषय एवं उसके प्रस्तुतीकरण से तात्पर्य है कि नाटककार ने अपने रूपकों में; नायक चाहे वह मन हो अथवा मोह, अहंकार हो अथवा चैतन्य, उसे एवं उसकी प्रद्विन्द्विता में प्रस्तुत चरितों का, कितना उपयोग किया है। इस प्रकार के रूपकों की शृङ्खला में प्रबोधचन्द्रोदय, संकल्प-सूर्योदय एवं मोहराजपराजय, ये रूपक अपनी विषय-वस्तु, उनकी प्रस्तुति, तथा पात्रों के चरित-चित्रण के कारण पर्याप्त विश्रुत रहे हैं।

प्रकृत स्थल पर इन सभी रूपकों की चर्चा न तो अभीष्ट है न ही उपयोगी, क्योंकि ऐसे रूपकों के विषय की दार्शनिकता ने उन्हें क्लिष्ट बना दिया है और एक ही भूमिका जो भिन्न-भिन्न रूपकों में रूपायित हुई है, अपने नाटककार की साम्प्रदायिक प्रतिबद्धता के कारण एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी प्रस्तुत करने की दृष्टि से अभिन्न है। इसके अतिरिक्त उनकी दर्शनिक पृष्ठभूमि को समझे बिना उन्हें हृदयङ्गम करपाना भी कठिन है। अतः यहाँ कृष्णमिश्र रचित प्रबोधचद्रोदय की विषय वस्तु तथा नाटककार द्वारा ग्रहण किए गए दार्शनिक तत्त्वों की प्रतीक भूमिकाओं के माध्यम से द्वन्द्व की स्थिति को कितना उठाया गया है यह दिखाना ही अभीष्ट है। इस संदर्भ में दार्शनिकता के पक्ष को छोड़ दें तो भी विभिन्न भूमिकाओं के विकास में, उनकी प्रतिद्वन्द्वी भूमिकाओं का कितना उपयोग किया गया है यह देखना प्रर्याप्त रोचक है।

कृष्णमिश्र कृत प्रबोधचन्द्रोदय

प्रबोध-चन्द्रोदय का नायक विवेक है और उसकी प्रतिद्वन्द्विता है महामोह से। इन दोनों के सहायकों के रूप में क्रमशः धर्म, वस्तु-विचार एवं सन्तोष और चार्वाक,

काम, दम्भ, अहङ्कार, क्रोध प्रभृति भावनाओं का मानवीयकरण किया गया है। स्त्री पात्रों में विवेक के पक्ष में मुख्य नायिकाओं के रूप में उपनिषद्, और मति है। तथा, करुणा, शान्ति, विष्णुभक्ति, सरस्वती, श्रद्धा तथा क्षमा प्रभृति सहायिकाएँ हैं। मोहराज के पक्ष में इनके विपरीत प्रवृत्ति, रति, और हिंसा हैं।

नायक विवेक भयभीत है क्योंकि महामोह की शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जा जा रही है। विवेक के आक्रमणों से अपनी रक्षा के हेतु मोहराज ने नाना उपाय तो कर लिए हैं। तथापि वह भयभीत है क्योंकि यदि किसी प्रकार से विवेक और उपनिषद् का मिलन (संयोग) हो गया तो उत्पन्न होने वाला पुत्र प्रबोध उस के लिए महान् अनिष्ट-कारी हो सकता है, ऐसी भविष्यवाणी है। अतः विवेक का उपनिषद् से सान्निध्य न होने पाये यह महामोह का मूल उद्देश्य है। उधर विवेक तथा स्वयं उपनिषद् भी परस्पर मिलन के लिए उत्सुक और प्रयत्नशील हैं। उपनिषद् द्वारा विवेक के माध्यम से जिस प्रबोध का उदय होना है, उसके साधन रूप में विष्णु- भक्ति, दया, क्षमा, शान्ति, धर्म, श्रद्धा आदि को उपयोगी सिद्ध किया गया है। प्रवृत्ति, काम, क्रोध, हिंसा आदि को और उनके भी मूलभूत महामोह को निगृहीत करके ही यह सम्भव है; इस दार्शनिक मान्यता को नाटककार ने प्रस्तुत करते हुए वैष्णव सम्प्रदाय के अद्वैतसिद्धान्त का समर्थन किया है।

विवेक एवं महामोह की भूमिकाओं से यह स्पष्ट है कि नाटककार ने महामोह का जो चरित्र आरम्भ से प्रस्तुत किया है उसमें नायक विवेक की भूमिका निरीह-सी है जिसे महामोह ने अपनी सेना एवं सहायकों की सहायता से घेर लिया है। उसने उपनिषद् एवं श्रद्धा को अलग-अलग करवा दिया और यहाँ तक कि श्रद्धापुत्री शान्ति को कारागार में डलवा दिया। काशी पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने में यह योजना सफल रहती है और वहाँ धर्म के अतिरिक्त उसका सक्षम विरोधी कोई भी नहीं है।

आक्रामक महामोह की इस भूमिका से ही विवेक की दृढता, धैर्य एवं दूरदर्शिता की परीक्षा होती है। वह सफलतापूर्वक महामोह की योजनाओं को ध्वस्त करता हुआ अपने सहायक सन्तोष, वस्तुविचार आदि के साथ काशी में ही महामोह को पराजित कर उसे तथा उसकी पत्नी प्रवृत्ति तथा उसके पुत्रों को समाप्त कर देता है। तदनन्तर शान्ति के माध्यम से उपनिषद् एवं विवेक का मिलन होता है। और तर्क, विद्या आदि के माध्यम से प्रबोध ; आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

इस रूपक में प्रतिनायक मोह के आक्रमण, उसकी पहल, उसकी दूर-दृष्टि एवं चातुर्य के कारण विवेक की आरम्भिक पराजय होती है जिससे विवेक को अपने पुरुषार्थ प्रयोग का अवसर मिलता है। मोह के आक्रमण के अभाव में विवेक निष्क्रिय ही बना रहता। विवेक उपनिषद् के सामीप्य की अभिलाषा करता है और मोहराज उसे

उपनिषद् से दूर रखना चाहता है। इसी कारण विवेक नाना उपायों द्वारा मोह पर विजय प्राप्त करके मार्ग के अवरोधों को हटाता हुआ महामिलन के लिए प्रयत्नशील होता है। उसे इस कार्य में जो सफलता मिलती है उसका मुख्य श्रेय प्रतिनायक महामोह को जाता है। जो विवेक को गतिशील बनाता है तथा धर्म, प्रभृति उपनायकों को भी सक्रिय बनाये रखता है।

प्रायः संस्कृत नाटकों में नायक-नायिका के मिलन में नायक की अर्धाङ्गिनी बाधक बनती है, फिर भी मृच्छकटिक में ऐसा नहीं होता, किन्तु वहाँ भी धूता (चारुदत्त की पत्नी) स्पष्टरूप से इसका समर्थन नहीं करती। किन्तु यहाँ मति इसका स्पष्ट समर्थन करती है। वह राजा विवेक की उपनिषद् से संयोग की इच्छा पूर्ति के लिए स्वयं भी प्रयत्न करती है क्योंकि विवेक को इस अभिलाषा के पीछे प्रबोध के उदय जैसा महान् उद्देश्य निहित है। अतः मति अन्य नारियों की अपेक्षा अधिक उदार है[१]।

द्वितीय अङ्क में मोह के आदेशानुसार दम्भ काशी पर अधिकार जमा लेता है। उसकी पाखण्डी भूमिका के साथ अहङ्कार के अभिनय द्वारा विषय में पर्याप्त रोचकता उत्पन्न की गयी है। पैर धोकर आश्रम में प्रवेश, वाताहत स्वेद से दुर्गन्धि एवं अपवित्रता का भय, अतिथि का निरादार वह भी अपने पितामह अहङ्कार का ही अपमान[२], इस रूपक द्वारा नाटककार ने मोह की उस सेना का परिचय दिया है जो विवेक की शालीनता एवं सदाचार की प्रतिद्वन्द्विता में सक्रिय है। ऐसे दम्भियों और अहङ्कारियों से उसे लोहा लेना है। कलि एवं चार्वाक के साथ महामोह के वार्तालाप द्वारा उसे (मोह को) अपने जगत्प्रभाव की सूचना प्राप्त होती है किन्तु विष्णुभक्ति के प्रभाव को सुनकर महामोह भी चिन्तित हो उठता है।

विष्णुभक्ति वह सहायिका है जो विवेक के लिए अत्यन्त उपयोगी है। पांचवें अङ्क में श्रद्धा एवं विष्णुभक्ति के सम्वादों में विष्णुभक्ति की दूरदर्शिता, नीतिपटुता का परिचय मिलता है जिसकी सहायता से विवेक का मार्ग प्रशस्त हो पाता है। श्रद्धा का अधिग्रहण; शान्ति एवं करुणा द्वारा उसकी खोज करते हुए तामसी श्रद्धा के रूप में अपनी श्रद्धा की भ्रान्ति; इन रूपकों द्वारा, विवेक की सहायिकाओं की सक्रियता का तथा विवेक की फलप्राप्ति में बाधक-तत्त्वों की क्रियाशीलता का तो परिचय दिया ही गया है, उसी माध्यम से विवेक को शनैः-शनैः फलप्राप्ति की ओर बढ़ते हुए भी दिखाया गया है।

---

१. मति :—आर्य पुत्र ! अन्यास्ताः स्त्रियः, या स्वरसप्रवृत्तस्य धर्मार्थव्यापार-प्रस्थितस्य वा भर्तुर्हृदयेप्सितं विघ्नन्ति।—प्रबोध, अङ्क १, पृ० ४६

२. ऐसे स्थलों पर शेक्सपियर के मालवोलियो जैसे ढोंगियों का स्मरण हो आता है द्रष्टव्य, बारहवीं रात (ट्वेल्थ नाइट) तथा निष्फल प्रेम (लव्स लेबर लास्ट) पर डॉ० रांगेयराघव की भूमिका।

क्योंकि कालान्तर में विवेक एवं उपनिषद् का संयोग हो जाता है। जिसके द्वारा मोह पर विवेक की विजय अवश्यम्भावी हो जाती है।

इस प्रकार हम पाते हैं कि नाटककार ने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों की स्थापना के लिए ही सही, ऐसा माध्यम चुना है जो अत्यन्त सशक्त है। यह माध्यम है नाटक (रूपक)। नाटक में भी उसके पूर्वपक्ष के रूप में मोह के साम्राज्य, उसकी शक्ति एवं सम्पन्नता का दिग्दर्शन कराते हुए नायक विवेक को तुलना में निरीह एवं असहाय तथा आरम्भ में लगभग पराजित दिखाकर प्रतिनायक की भूमिका का सही उपयोग किया गया है। क्योंकि इतने सक्षम प्रतिद्वन्द्वी को पराजित करते हुए, उसकी सेना एवं सहायकों, सेनापतियों का समूल उच्छेद करते हुए नाटककार विवेक को विष्णुभक्ति की सहायता एवं उपनिषद् के सहवास से प्रबोध-चन्द्र को उत्पन्न करके मोह का विनाश करते हुए दिखाता है। इस प्रकार वह नायक के उत्कर्ष के लिए प्रतिनायक की योजना की सार्थकता को ही सिद्ध करता है।

सारांश रूप में कहा जा सकता है कि रूपकों की कोई भी विधा हो नाटक हो अथवा प्रकरण, व्यायोग हो अथवा उत्सृष्टिकाङ्क अथवा कोई अन्य विधा, कथावस्तु भी चाहे रामकथा पर आश्रित हो अथवा महाभारत की कथा पर आश्रित, लोक कथाओं पर आश्रित हो अथवा ऐतिहासिक अथवा दार्शनिक सिद्धान्तों को निरूपित करने के लिए प्रतीकाश्रित; सर्वत्र प्रतिनायक अर्थात् नायक के प्रतिद्वन्द्वी अथवा प्रतिस्पर्धी चरित का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। तात्पर्य यह कि नायक-विरोध, नायक के उत्कर्ष की दृष्टि से उपादेय होता है और वह कथा में रोचकता का कारण बनता है और कथा को गति देता है। प्रतिनायक जितना ही सशक्त होगा कथानक भी उतना ही सशक्त होगा। इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रतिनायक के अभाव में नायक का उत्कर्ष अथवा कथा की गति समाप्त हो जाती है किन्तु यह अवश्य है कि उसके अभाव में कृत्रिमता अथवा विशृङ्खलता का आभास होने लगता है।

इसके विपरीत लक्ष्य रूपकों में हम पाते हैं कि जहाँ-जहाँ प्रतिनायक; नायक के समकक्ष है, नायक के समान सशक्त है अथवा अपने अवगुणों के कारण वह नायक का सशक्त विरोध करता है वहाँ नायक का चरित्र निश्चय ही उत्कृष्ट बन पड़ा है। उसके चरित्र-चित्रण में नाटककार को अधिक कठिनाई नहीं हुई है। राक्षस, शकार, दुर्योधन, माल्यवान्, जामदग्नि एवं रावण की भूमिकाओं ने इसी कारण चाणक्य, चारुदत्त, भीम, अथवा राम की भूमिकाओं के चित्रण को सजीवता प्रदान की है। यही कारण है कि नाटककारों ने अपने नायकों के लिए उन अप्रसिद्ध पात्रों को भी रूपकप्रबन्धों में स्थान दिया है जिन्हें काव्यों, महाकाव्यों और पुराणों में कोई जानता भी नहीं है। माल्यवान्, राक्षस, शकार, नन्दन और गरुड़ तथा महामोह जैसी भूमिकाओं की योजना के पीछे

यही मूलकारण है। मुद्राराक्षस, मृच्छकटिक, वेणीसंहार, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच और ऊरुभङ्ग तथा महावीरचरित की विपुल प्रशस्ति का यही कारण है।

नायक प्रतिनायक की इस योजना में इस तथ्य पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि संस्कृत नाट्यपरम्परा में प्रतिनायक का वह स्वरूप नहीं है जो पाश्चात्य रूपकों में मिलता है जहाँ प्रतिनायक खलनायक होकर जीवित रहता है किन्तु वह नायक नहीं हो पाता। इसके विपरीत संस्कृत रूपक प्रबन्धों में प्रतिनायक का 'नायकत्व' यही है कि वह नायक का सशक्त विरोध तो करता है किन्तु नायक द्वारा पराभूत होकर आत्मसमर्पण कर देता है। ईर्ष्या, द्वेष, विरोध, पाप, अथवा अन्य दुर्गुण ऐसे तत्त्व नहीं हैं जो किसी व्यक्ति के जीवन से मिटाये नहीं जा सकते अथवा जिन्हें परिवर्तित नहीं किया जा सकता, क्योंकि चिरन्तन तो एक मात्र ऋत है, सत्य है, ब्रह्म है। अतः विरोध का अन्त ही प्रतिनायक का अन्त है और इस अन्त के पश्चात् प्रतिनायक भी नायक हो जाता है। इसी कारण उसे 'नायक' अथवा 'नेता' माना गया है। महाकवि भास ने इस तथ्य को ही साकार करते हुए सुप्रसिद्ध प्रतिनायक दुर्योधन को सुयोधन के रूप में नायक बनाया है, कर्ण जैसे उपप्रतिनायक को भी नायक बनाया है और कहीं-कहीं कुटिल, कुत्सित, और पौराणिक दृष्टि से गर्हित दुर्योधन को भी सत्यसन्ध, शिष्ट, धीर और उदात्त स्वरूप देकर प्रस्तुत किया है। इस दृष्टि से दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, ऊरुभङ्ग, कर्णभार और पञ्चरात्र जैसे रूपक सदा ही दृष्टिसापेक्ष रहेंगे[1]।

पञ्चरात्र, मध्यमव्यायोग, दूतघटोत्कच और कर्णभार[2] जैसे रूपकों में नायक-प्रतिनायक योजना निश्चय ही विस्मयकारिणी है। जहाँ प्रतिनायक के सम्बन्ध में विवाद भले ही हो परन्तु उनमें दोनों का ही चरित्र-चित्रण, निरूपण और प्रस्तुतीकरण विवेचन-सापेक्ष है। पञ्चरात्र में दुर्योधन, नायक भले ही न हो परन्तु उसका चरित किसी भी नायक से अवर नहीं है। घटोत्कच भी एक ऐसा ही नायक है। मध्यम व्यायोग में यदि

1. (i) Bhasa has given us a few fine tragedies. In *Dutavakya*, *Dut-Ghatotkacha*, and *Urubhanga*; Duryodhana is the hero. Here Duryodhana is not the Duryodhana of the epic tradition—a sinful intriguing son of Dritarashtra. He figures here as a true represtative of the author's own age, an arrogant, adventurous and harsh,but reasonable, ruler.
   (ii) Karna in *Karnabhara* is noble in the extreme and is made a victim of his own nobility. In all these plays, the hero is placed high above the other characters and made to suffer, and, what is more, suffer through his own greatness.

—G. T. Deshpande : Sanskrit Drama, P. 21
INDIAN DRAMA Min of I & B. Govt of India

वही नायक है तो भीम का प्रतिनायकत्व कम विस्मयकारी नहीं है और यदि नायक भीम है तो दूतघटोत्कच में राक्षसीपुत्र घटोत्कच का नायकत्व क्या कम आश्चर्यजनक है ? कर्णभार में इन्द्र का प्रतिनायकत्व भी ऐसा ही है। तात्पर्य यह कि ऐसे नव्यप्रयोग उस समय हुए जिसके पूर्व के रूपकप्रबन्ध अब उपलब्ध नहीं है। अतः उस उपत्यका में कैसे-कैसे सुगन्धित सुमन रहे होंगे आज यह कल्पना का ही विषय है।

सारांश रूप में, यह कहना अत्युक्ति न होगा कि प्रतिनायक की भूमिका उस चट्टान की भाँति होती है जिससे टकराकर नायकचरित, जो सरिता की भाँति है, प्रखर हो उठता है, गतिमान् हो उठता है। जिस प्रकार अन्धकार के अभाव में प्रकाश, दुःख के अभाव में सुख, संघर्ष के अभाव में शान्ति एवं दोषों के अभाव में अवगुणों का सही मूल्याङ्कन नहीं हो सकता उसी प्रकार बाधक तत्त्वों के अभाव में साध्य की एवं प्रतिनायक के अभाव में नायक की गुणवत्ता का वास्तविक आकलन नहीं हो सकता।

अष्टम परिच्छेद

पाश्चात्य त्रासदी : खलनायक तथा प्रतिनायक *

संस्कृत रूपकों में प्रतिनायक की भूमिका पर विचार करते हुए पाश्चात्य नाटकों के खलनायक की भूमिका की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक है। क्योंकि खलनायक और प्रतिनायक के मध्य व्यापक अन्तर होते हुए भी उनमें अनेक समानताएँ हैं। पहली समानता तो यही है कि दोनों ही नायक विरोधी भूमिकाएँ हैं। दूसरी विशेषता उनमें तथाकथित आदर्शों को ध्वस्त करने के प्रयत्नों का समान अस्तित्व है। अस्तु इस विषय पर विचार तब तक अपूर्ण ही माना जाएगा जब तक उसकी पृष्ठभूमि को भी देख नहीं लिया जाता। इस दृष्टि से नाट्य संरचना, उसके मूलतत्त्व, उसके उद्देश्य आदि विषयों को भी जानना समझना आवश्यक हो जाता है। प्रतिनायक भूमिका पर विचार करते हुए पिछले परिच्छेदों में संस्कृत नाट्य-साहित्य के इन उपादानों पर विचार किया जा चुका है। अतः प्रकृत परिच्छेद में पाश्चात्य नाट्य साहित्य के नाट्यसंरचना तथा उसके उद्देश्य आदि विषयों पर विहङ्गम दृष्टि से विचार करते हुए खलायक और संस्कृत नाटकों के प्रतिनायक चरित्र की तुलनात्मक समीक्षा करना अभीष्ट है।

भारतीय प्रतिनायक हो अथवा पाश्चात्य खलनायक दोनों के ही मूल को खोजते हुए हम उस उपत्यका में जा पहुंचते हैं जिसके ध्वंसावशेष ही अब प्राप्त हैं। यह वह उपत्यका है जहाँ से वाङ्मय का भी कोई भी अङ्ग हो, साहित्य अथवा दर्शन, सभी ने प्रेरणा ली है। डायोनिशस का परम आह्लादकारी स्वरूप रहा हो अथवा शङ्कर के ताण्डव और पार्वती के लास्य नृत्य की रोमाञ्चक अनुभूति, इनकी सत्यता किसी ग्रन्थ द्वारा प्रमाणित नहीं की जा सकती। किन्तु इसी परम आनन्ददायिनी कल्पना में वह आकर्षण है जिससे विश्व का अधिकांश साहित्य अपनी उत्पत्ति अथवा

---

* " .....*the two philosophies by no means differ in their interpretation of the basic human condition. They differ only in the manner of confronting it. One (Western) implies the value of the inteligene and the will to amiliorate the forces of evil; the other (Indian) implies the power of the spirit to transcend them.*"

—*HENRY W. WELLS*

सम्बन्ध स्थापित करता है। ऐसे ही परमानन्द की सत्ता में वह तत्त्व छुपा है जिसे दुःख, पीड़ा अथवा वेदना की संज्ञा दी जाती है। यदि पीड़ा न हो तो परमानन्द की अनुभूति असम्भव है। अतः पीड़ा ही है जो हमें सुख की ओर प्रेरित करती है। इन दोनों की सत्ता सृष्टि के आरम्भ से है और तब तक रहेगी जब तक पुनः जल-प्लावन; महाप्रलय नहीं होता। इस प्रलय के पश्चात् भी पीड़ा शेष रहेगी अथवा आनन्द इसे दार्शनिक भी सम्भवतः सिद्ध नहीं कर सकते।

प्राचीन रूपकों में आदर्श साम्य

अस्तु, इस पीड़ा एवं आनन्द का नैरन्तर्य ही जीवन है। इस जीवन को जीने और भोगने का मोह ही नायक, प्रतिनायक अथवा खलनायक को जन्म देता है। अतः जब से जीवन है तभी से इनका भी अस्तित्व है, ऐसा स्वीकार किया जा सकता है। नायक आदम का प्रतिनिधि है तो प्रतिनायक अथवा खलनायक शैतान का। एक सत् है तो दूसरा असत्। पाश्चात्य साहित्य के मूल में भी इस असत् के सत्य को, उसकी सत्ता को उसके अस्तित्व को स्वीकार किया गया है और सम्पूर्ण जगत् मिथ्या है, 'सत्यं ब्रह्म जगन्मिथ्या' के रूप में भारतीय जीवन दर्शन ने भी इस सत्य को स्वीकार किया है। पाश्चात्य जगत् ने भी उसका उद्घाटन किया है और भारतीय साहित्य ने भी। अन्तर इतना ही है कि पाश्चात्य साहित्य उस असत्य को उद्घाटित करने में ही इतना तल्लीन हो जाता है कि सत्य का अस्तित्व ध्वस्त होता सा प्रतीत होता है[1]। इसके विपरीत संस्कृत साहित्य असत्य को उतना ही उद्घाटित करता है कि सत्य द्वारा असत्य के अस्तित्व को अथवा सत् द्वारा असत् को ध्वस्त होते हुए प्रदर्शित किया जा सके।

पाश्चात्य काव्य रहे हों अथवा नाट्य, उनके आरम्भिक युग में; सत्य के प्रति निष्ठा, देवों की प्रतिष्ठा, मर्यादाओं का परिपालन; यह सभी तत्त्व जो संस्कृत साहित्य में आरम्भ से अन्त तक विद्यमान रहे हैं, सरलता से देखे जा सकते हैं। महा-काव्यों की कथाओं का मूल; वह चाहे तो इलियड की कथा का मूल रहा हो अथवा

---

१. "इसलिए ओ मानव सावधान !
और उन सारी वस्तुओं की अतिन्म परिणति को देख,
अन्तिम दृश्यों को देख,
अन्तिम दिनों को देख,
जब तक पूरी कहानी समाप्त नहीं हो जाती—
और वह शोक-पीड़ाहीन तमस में आवृत्त नहीं हो जाता—
किसी भी मनुष्य का जीवनवृत्त पूरा नहीं होता !"

—शेल्डानचेनी : रंगमंच, पृ० ५६

ओडिसी का; इनीयस की कथा का मूल रहा हो[१] अथवा सम्राट् इडिपस की कथा का नाट्यरूपान्तर[२] सभी में सत्य; चिर सत्य की स्थापना, मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा और असत्य की निन्दा की भावना विद्यमान् रही है। यहाँ तक कि मार्स, अपोलो, मिनर्वा, जूनो तथा वीनस प्रभृति देवों-देवियों के कार्य-कलापों में जो स्वच्छन्दता दृष्टिगत होती है उसे भी नियंत्रित करने के लिए जुपिटर का अंकुश है। इलियड में पेरिस और हेलेन की अपेक्षा एक्लीज की और ओडिसी में एनटीनस अथवा आइरस की अपेक्षा यूलोसीज और टेलेमैकस को, इनीयस में टरनस की अपेक्षा इनीयस को महान् सिद्ध किया गया है क्योंकि वे वीर हैं। देश, सभ्यता, संस्कृति और अपनी जाति से उन्हें प्रेम है। इसके विपरीत वहाँ भी इडियस अपने पापों के कारण, अपने कुकर्मों के कारण. (अज्ञानतावश ही सही) अपने पिता की हत्या करने और अपनी माँ से ही विवाह रचाने के कारण निन्दनीय और गर्हित माना गया है[३]।

संरचना साम्य

आज के युग में जब पाश्चात्य नाटकों से तुलना का प्रश्न उठता है तो यह भूलना नहीं चाहिए कि तुलना के लिए समय को, प्राचीनता और अर्वाचीनता को भी ध्यान में रखना होगा। प्रगति के पग रखते हुए, अतीत को रूढ, अन्ध अथवा प्रतिगामी कहना उचित नहीं है। ऐसे समय तात्कालिक परिस्थितियों, परम्पराओं और तत्तत सांस्कृतिक परिवेशों और विवशताओं को भी ध्यान में रखना आवश्यक होता है। अन्यथा साहित्य और साहित्यकार का मूल्याङ्कन अपूर्ण ही रह जाता है। संस्कृत एवं पाश्चात्य, ग्रीक अथवा लैटिन साहित्य की तुलना में भी समय की सीमाएँ हैं। संस्कृत साहित्य की तुलना मध्यकालीन साहित्य से नहीं की जा सकती। भास अथवा कालिदास के नाटकों की तुलना यदि शेक्सपियर से की जाती है तो संस्कृत नाटकों में ऐसे तत्त्वों को नहीं ढूंढा जा सकता जो शेक्सपियर के नाटकों अथवा उसके समकालीन रङ्गमञ्च की मौलिक विशेषताएँ हैं। संस्कृत नाट्यसाहित्य में शेक्सपियर के नाटकों के तत्कालीन रङ्गमञ्च के विकसित तत्त्वों के आधार पर, उनके अभाव की चर्चा उस समय सन्दर्भहीन हो उठती है, जब हम पाते हैं कि उनके मध्य सैकड़ों वर्षों का अन्तराल है। अतः संस्कृत नाटकों के आदर्शों की तुलना पाश्चात्य साहित्य के प्रारम्भिक युग के उन नाटकों की जा सकती से है जिसके मुख्य स्तम्भ एस्किलस, सोफोक्लीज और यूरोपिडीज थे और तदर्थं हम एक सीमा तक प्लेटो और अरस्तू को भी देख सकते हैं।

---

१. सभी के लिए देखें; 'विदेशों के महाकाव्य'—गोपीकृष्ण

२. देखें, शेल्डानचेनी कृत 'रंगमंच' (हिन्दी अनुवादक श्रीकृष्णदास) पृ० ४९-५७

३. शैल्डान चेनी; रंगमंच, पृ० ५१

संस्कृत साहित्य की पृष्ठभूमि में उसकी प्राचीनता के कारण जो आदर्शवादी, धर्मपरक, दर्शन से अनुप्राणित भावना है उससे तुलना के लिए, उसके समान आदर्शों के परिपालन की परम्परा वाले पाश्चात्य साहित्य के प्राचीन काल तथा नाटक की रचना और उसको मञ्चावतारणा के उस आरम्भिक युग में लौटना आवश्यक हो जाता है 'जब रङ्गमञ्च को धार्मिक संस्था मानने के कारण यूनानी दुःखान्त नाटकों की विषय-वस्तु निश्चित रूप से सीमित हो गयी (थी और) नाटककार अपने नाटकों के कथानकों के लिए देवताओं एवं पौराणिक नायकों के क्षेत्र के बाहर जा ही नहीं सकते थे। (जब) रोमांचकारी कृत्य, अपराध, आनुवंशिक पाप और इनका परिमार्जन; यही उन नाटकों के विषय थे[1]' शेल्डान चेनी के इस तथ्य निरूपण के साथ हम संस्कृत साहित्य के उस वास्तविक युग में जा पहुँचते हैं जहाँ राम आदर्शों और मर्यादाओं की रक्षा के लिए चौदह वर्ष वन में रहते हैं और कृष्ण गोप-गोपियों को छोड़कर द्वारकाधीश बन जाते हैं। जहाँ राम लोकापवाद के भय से सीता का परित्याग करते हैं और कृष्ण राधिका से दूर रुक्मिणी और सत्यभामा से विवाह रचा लेते हैं। उदयन के चक्रवर्त्तित्व लाभ के व्याज से वासवदत्ता और रत्नावली से प्रेम की कथाओं और उनके नाट्यरूपान्तरों में भी वही भावना है, वही सीमाएँ हैं। इन सीमाओं ने संस्कृत साहित्य को करुण अथवा शृङ्गारप्रधान रचनाएँ ही नहीं दी प्रत्युत वीर और रौद्ररस प्रधान रचनाएँ भी दी हैं। महाभारत की कथा पर आश्रित अधिकांश रूपकों की कथावस्तु ऐसी ही है। पाश्चात्य जगत् में भी इलियड और ओडिसी और इनियस प्रभृति महाकाव्य इसी कोटि में आते हैं जिनके नाट्यरूपान्तरों में भी ऐसे ही तत्त्वों की सत्ता को स्वीकार करना होगा।

पाश्चात्य साहित्य पर इन महाकाव्यों और नाटकों का प्रभाव उतना दूरगामी न रह सका जितना कि संस्कृत साहित्य पर उसके अपने उपजीव्य काव्यों का। प्लेटो और अरस्तू के मध्य साहित्य और कला को लेकर जो दृष्टि भेद है वह एक ही पीढ़ी का है फिर भी पर्याप्त गम्भीर है। इस दृष्टिभेद के पीछे जो राजनीतिक दर्शन है वह बहुत दूर तक साहित्य एवं कला सम्बन्धी उनके विचारों को प्रभावित करता है। कालान्तर में नाटकों के वस्तुपरक अथवा यथार्थ होने के पीछे अरस्तू के सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव रहा है। अरस्तू यद्यपि आदर्शों में विश्वास करते हैं किन्तु वह प्लेटो की अपेक्षा साहित्य में कल्पना को अधिक स्थान भी देते हैं। उन्होंने साहित्यकार के सम्बन्ध में उदार दृष्टि अपनाते हुए उसे एक जागरूक स्रष्टा माना है। उनका कथन है कि 'कवि कर्म इतना ही नहीं है कि जो घटित हो चुका है उसी का वर्णन करे अपितु कवि उसका भी वर्णन करता है जो घटित हो सकता है[2]।' यह तथ्य ध्यान देने योग्य

१. रङ्गमञ्च, पृ० ५९–६०
२. देखें, डा० चौधरी एवं गुप्त : 'भारतीय तथा पाश्चात्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन, पृ० २६२

है कि अरस्तू के इस कथन में घटना की प्रधानता को भी स्थान किला है और उसके प्रति कविकल्पना, दूरदर्शिता तथा सम्भाव्यता को भी प्रश्रय मिला है। यह सम्भाव्यता लौकिक है, उतनी काल्पनिक भी नहीं है जितनी कि संस्कृत के काव्यों और नाटकों में देखी जाती है।

नाट्य–प्रयोजन एवं विरेचन सिद्धान्त

काव्य और नाटक (त्रासदी) के कथानकों के सन्दर्भ में अरस्तू मानते हैं कि 'दोनों का कथानक प्रख्यात होना चाहिए और उनमें यथार्थ जीवन की अपेक्षा श्रेष्ठतर जीवन का चित्रण होना चाहिए। त्रासदी की भाँति महाकाव्य का आधार भी जातीय दन्तकथाएँ (लोक कथाएं-किंवदन्तियाँ) होती हैं।' दोनों का प्रयोजन भी मानव मन का परिष्कार है और दोनों का प्रभाव भी समान–'मनःशान्ति[1]' है। वस्तुतः पाश्चात्त्य नाटकों में इसका कितना निर्वाह हुआ है; अपने उद्देश्य में, प्रेक्षक को मनःशान्ति की स्थिति की सीमा तक पहुँचाने में, कितने नाटक और नाटककार सफल हुए हैं, यह विवेचना समयसापेक्ष है। फिर भी यह बताना अनुचित न होगा कि त्रासदी कभी भी मनःशान्ति को जन्म नहीं दे सकती और त्रासदी की चरम परिणति ही है; संत्रास एवं वेदना की स्थिति को उत्पन्न करके, प्रेक्षक को ऊहापोह, अनिर्णय की स्थिति में ले जाकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ बना देना।

वस्तुतः अरस्तू के इस सिद्धान्त—'मनःशान्ति' को उनके विरेचन सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में देखना ही उचित होगा। अरस्तू मानते हैं कि 'करुणा एवं त्रास के उद्रेक द्वारा इन मनोविकारों का उचित विरेचन किया जाता है[2]।' किन्तु हम देखते हैं कि यह विरेचन प्रायः अपूर्ण ही रह जाता है। और यह मनोविकार अन्त में विकृति को ही जन्म देते हैं ऐसा कहा जाए तो अनुचित न होगा। इनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि भी इसी दिशा में संकेत करती है[3]। क्योंकि हिंसा एवं बीभत्स दृश्यों के प्रति आकर्षण के परिप्रेक्ष्य में मनःशान्ति की मान्यता अनुचित ही नहीं एक वैषम्य की द्योतक है। अतः विरेचन का सिद्धान्त नितान्त दोषपूर्ण है और उसके सन्दर्भ में त्रासदी का उद्देश्य, उसका भावात्मकपक्ष[4] 'मनोविकारों का विरेचन' अथवा 'विरेचन रोग द्वारा मानव-समाज को निर्दोष आनन्द प्रदान करना' उचित प्रतीत नहीं होता। जैसाकि हम लक्ष्य

---

१. डॉ० ग०च० गुप्त : पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, पृ० ७२–७३

२. डॉ० चौधरी एवं गुप्त : भापाका पृ० २४८

३. 'यूनानी तथा एलिजाबेथयुगीन त्रासदी का पोषण ऐसे प्रेक्षकों द्वारा हुआ था जो स्वभावतः हिंसात्मक एवं बीभत्स दृश्यों के प्रेमी थे'

—डॉ० विक्रमादित्य राय, काव्य समीक्षा, पृ० २४३

४. भापाका पृ० २५२ तथा डॉ० नगेन्द्र, 'अरस्तू का काव्यशास्त्र' भूमिका पृ० ९२

रूपकों में पाते हैं प्रायः त्रासदियों की परिणति यही है कि उनसे विक्षोभ, ग्लानि, तथा पीड़ा और अधिक गहरी हो जाती है; वेदना और उद्दाम हो उठती है। इस दृष्टि से संस्कृत का रसवादी सिद्धान्त अधिक युक्तिसंगत है जहाँ अङ्गीरस की चरमपरिणति तादात्म्य को, निष्ठापूर्वक निभाया और स्वीकारा जाता है। यह कलाकार की 'इमानदारी' है कि वह जिस उद्देश्य को लेकर चलता है उसे अन्त तक निभाता है। जब सन्त्रास का प्रदर्शन किया जाता है, उस पर इतना बल दिया जाता है तो उसके प्रभाव का विरेचन, उसका शुद्धीकरण उचित प्रतीत नहीं होता। भवभूति करुण रस के लिए राम और सीता की करुणा की योजना करते हैं, भट्टनारायण वीरता-शौर्य और क्रोध की अभिव्यक्ति और वीर तथा रौद्ररस की चर्वणा के लिए ही उसका प्रदर्शन चाहते हैं। इडीपस को ही लें वहाँ भी करुणा के लिए ही ऐसा आयोजन किया गया है किन्तु उसे अस्वीकार करते हुए उसे मनःशान्ति से जोड़ना कितना उचित है? अतः उत्तररामचरित में जो करुणा है उसके लिए यह नहीं कहा जा सकता है कि वह एक साधन है वहाँ तो वही साध्य है, वही अनुभूति सार्थक है।

अतः विरेचन एक साधन है, साध्य तो है आनन्द प्राप्ति। डॉ० नगेन्द्र इसी कारण प्रो० बूचर की भावपक्ष वाली व्याख्या को असंगत सिद्ध करते हुए मानते हैं कि विरेचन प्रक्रिया द्वारा प्रेक्षक मनःशान्ति का अनुभव तो करता है किन्तु आनन्द का उपभोग नहीं करता। सत्य तो यह है कि वहाँ मनःशान्ति का भी प्रश्न नहीं उठता क्योंकि प्रेक्षकों के मनोवेगों अथवा कुण्ठाओं को त्रासदी के माध्यम से उन्मुक्त करके उन्हें मनोग्रन्थि (काम्प्लेक्स) बनने से रोकने की मान्यता अधिक तर्कसंगत नहीं है[1]। लक्ष्य रूपकों में इन मनोवेगों को, मनोविकारों को उस सीमा तक उठाया जाता रहा है कि उनका विरेचन एक कल्पना अथवा सिद्धान्त तक ही सीमित रह जाता है।

उदाहरण के लिए रोमियो जुलियट को ही लें। उसमें वैर की भावना[2] का विरेचन करते हुए मनःशान्ति की जो आशा की जाती है वह उपलब्ध नहीं होती क्योंकि उसमें नायक और नायिका की आत्महत्या किसी विरले ही प्रेक्षक को मनःशान्ति दे सकेगी, आनन्द प्राप्ति की तो बात ही दूर है। उससे एक विक्षोभ, ग्लानि, पीड़ा और निर्वेद को जन्म मिलता है। इसे स्वीकार किया जा सकता है। यदि यह ग्लानि और पीड़ा ही मनःशान्ति है तब तो बात दूसरी है। अतः रोमियो जुलियट अथवा ऐसे ही उन अन्य रूपकों की सफलता पर, उसकी चरम उपलब्धि पर, कवि कर्म की अद्‌भुत प्रक्रिया पर, सन्देह नहीं किया जा सकता; उससे जायमान पीड़ा, वेदना की गम्भीरता को भी झुठलाया नहीं जा सकता किन्तु उसके लिए विरेचन को साध्य मानना अधिक

१. डॉ०नगेन्द्र, 'अरस्तू का काव्यशास्त्र', भूमिका, पृ० ६३
२. एच० डब्लू० वेल्स, दि क्लासिकल ड्रामा आफ इण्डिया, पृ० १०

संगत नहीं है। अतः 'त्रासदी मनोभावों को विक्षुब्ध करके छोड़ देती है[१]' यही मानना उचित है। उसके बाद पुनः आनन्द प्राप्ति का तर्क उचित प्रतीत नहीं होता। इसीलिए विद्वानों ने स्वीकार किया है कि 'त्रासदी का कार्य त्रास और करुणा के भावों को जगाना है[२]।'

नाट्य-वर्जनाएँ

पाश्चात्य आलोचकों ने भी आदर्शों को ध्यान में रखते हुए संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों की भाँति कुछ नाट्यवर्जनाओं को स्वीकार किया है। त्रासदी के वस्तु-विषय, तद्गत त्रास एवं करुणा के परिप्रेक्ष्य में यह वर्जनाएँ वैसी ही है जैसी कि नायक प्रतिनायक की प्रतिस्पर्धा एवं तन्निमित्तक युद्ध के सन्दर्भ में नाट्यशास्त्रियों ने संस्कृत के रूपकों में नाट्यवर्जनाओं का विधान किया है[3]। वस्तुतः नाटकीय प्रस्तुति की सम्भाव्यता, उसकी दृश्यपरकता तथा श्लीलता का निर्वाह तथा विकृतिमूलक मनोवेगों और भावों के प्रदर्शन का निषेध ही इन नाट्यवर्जनाओं के मूल में है। पाश्चात्य काव्यशास्त्री होरेस का कहना है कि ऐसे दृश्य जिन्हें देखने से जुगुप्सा अथवा अविश्वास का भाव उत्पन्न हो, जिन्हें देखकर दर्शक भयाक्रान्त हो उठे, उन्हें रूपायित नहीं करना चाहिए। किन्तु जिस प्रकार नाटककार भास ने इन वर्जनाओं की उपेक्षा करके दशरथ तथा बालि, दुर्योधन एवं कंस की मञ्च पर ही मृत्यु की, तथा विभिन्न नायक-प्रतिनायकों के मध्य मञ्च पर ही युद्ध-नियुद्ध की, योजना की है उसी प्रकार पाश्चात्य नाटककारों ने भी ऐसी वर्जनाओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया है। आदर्शों और भावों की दृष्टि से ये वर्जनाएं जितनी सार्थक हैं; यथार्थ और सजीव प्रदर्शन की दृष्टि से, ये उतनी ही निरर्थक हैं। तथापि उपर्युक्त कारणों को ध्यान में रखते हुए कुछ वर्जनाएं उचित भी हैं और चूंकि

१. भापाका पृ० २५२ २. वही पृ० २६८

३. तुलना करें :—

(क) युद्धं राज्यभ्रंशो मरणं नगरोपरोधनं चैव।
प्रत्यक्षाणि तु नाङ्के प्रवेशकैः सम्विधेयानि ॥—भरत० १८.२१

(ख) दूराध्वानं वधं युद्धं राज्यदेशादिविप्लवम्।
संरोधं भोजनं स्नानं सुरतं चानुलेपनम् ॥
अम्बरग्रहणादीनि प्रत्यक्षेण न निर्दिशेत् ॥—द०रू० ३४–३५

(ग) दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा ॥
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यम् अन्यद् व्रीडाकरं च यत्।
शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम् ॥
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः ॥—सा० द० ६.१६–१८

नाटकों के प्रदर्शन के अवसर पर नर-नारी, बाल वृद्ध सभी दर्शक दीर्घा में उपस्थित होते हैं, अतः उनका महत्त्व और भी बढ़ जाता है। ऐसे ही कुछ कर्मों का निषेध करते हुए होरेस कहते हैं कि (मेदेआ द्वारा) अपनी सन्तान की हत्या करना, (पापो अत्रैउस द्वारा) नर मांस पकाना, (प्रोकेन तथा कादमस द्वारा क्रमशः) पक्षी अथवा सर्प बन जाना, ऐसे प्रयोग उचित नहीं है[1]। ये प्रयोग अविश्वसनीय होने के साथ साथ आदर्शों के भी विपरीत हैं। शेक्सपियर ने स्वयं माना है कि त्रासदी की अति-सीमा पाठक को क्षुब्ध कर देती है[2]। अतः किसी सीमा तक वह भी निषिद्ध है। किन्तु इसका कितना परिपालन हुआ है यह लक्ष्यरूपकों में देखा जा सकता है। तात्पर्य यह कि एक ओर तो यथार्थ के व्यामोह में पाश्चात्त्य नाटककारों ने इन वर्जनाओं की उपेक्षा की है तो दूसरी ओर हम पाते हैं कि आदर्शों के अति-मोह में नाट्यशास्त्रीय वर्जनाओं ने संस्कृत के अनेकानेक रूपकप्रबन्धों का क्षेत्र सीमित कर दिया है। एक ने सीमाएँ तोड़ी हैं तो दूसरे ने उनका अन्ध-अनुकरण भी किया है। कला सम्बन्धो दृष्टिभेद ने ही यह सब किया है, ऐसा कहा जा सकता है।

त्रासदी के तत्त्व

पाश्चात्त्य नाटकों में त्रासदी सर्वाधिक लोकप्रिय विधा है और आलोचना शास्त्र की दृष्टि से भी उस पर व्यापक विचार किया गया है। त्रासदी के निम्नलिखित मुख्य तत्त्व हैं–(१) **कथावस्तु :** इसके लिए अरस्तु ने दन्तकथाओं, काल्पनिक कथाओं एवं ऐतिहासिक कथाओं को आधार मानने पर बल दिया है। अरस्तु ने यद्यपि कहीं एकान्विति की बात नहीं उठाई है फिर भी उनके स्फुट विचारों को आधार बनाकर परवर्ती आलोचकों ने इस दृष्टि से कथावस्तु में देश, काल एवं घटना की एकता के गुण को प्रमुखता दी है[3]। संभाव्यता को भी कथावस्तु के सम्बन्ध में पाश्चात्त्य आचार्यों ने महत्वपूर्ण गुण माना है। जैसाकि कहा जा चुका है, कवि-कर्म को अरस्तु ने किसी इतिहासकार के कर्म से पृथक् माना है। अतः कथावस्तु के सन्दर्भ में सम्भाव्यता से दो तात्पर्य ग्रहण किए जा सकते हैं; एक तो असम्भव वस्तु का परित्याग, दूसरे जो बीत चुका है उसे कहने की अपेक्षा जो हो सकता है उसके उद्घाटन के प्रति कवि की चेतना। कथावस्तु यदि सहज ढंग से आगे नहीं बढ़ती है, उसमें कृत्रिमता आती है तो यह भी उचित नहीं है। कथावस्तु में यदि कौतूहल उत्पन्न करने की, क्षमता नहीं है तो यह कथावस्तु एवं उसके स्रष्टा की अक्षमता का परिचायक है। (२) **चरित्र-चित्रण :**

१. (क) भा० पा० का० पृ० २८३, ४१८
   (ख) जी० के० भाट : ट्रेजडी एण्ड संस्कृत ड्रामा, पृ० १२
२. भा० पा० का० पृ० २८३, ४१८
३. भा० पा० का० पृ० २६१

कथावस्तु के अतिरिक्त चरित्र-चित्रण को भी त्रासदी का मुख्य तत्त्व माना गया है जिसमें चरित्र-नायकों की भद्रता उनके कर्मों का औचित्य, सम्भाव्यता तथा सामान्य जन से अधिक श्रेष्ठ जीवन-चरितों की योजना पर बल दिया गया है। (३) **विचारतत्त्व** को त्रासदी के तत्त्वों में पृथक् से दिखाने का सीधा-सा अर्थ है त्रासदी की तर्कसंगति। इसमें भावतत्त्व की अपेक्षा तर्क एवं बुद्धि की प्रधानता होती है। वस्तुतः त्रासदी में यह तीन मुख्य तत्त्व होते हैं, इन प्रमुख तत्त्वों के अतिरिक्त (४) **पदावली**[१] : शब्दों द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति, तथा उसकी लयात्मकता; (५) **दृश्यविधान**, मञ्चशिल्प तथा (६) **गीततत्त्व** अर्थात् संगीत द्वारा त्रासदी के अनुरूप वातावरण की सृष्टि को भी; त्रासदी के तत्त्वों के रूप में स्वीकार किया गया है। इनमें आरम्भिक तीन तत्त्वों का सम्बन्ध त्रासदी के अन्तस् से है जिन्हें पदावली तथा गीत तत्त्वों के माध्यम से संपुष्ट करके दृश्यविधानों द्वारा प्रस्तुत किया जाता है। तात्पर्य यह कि अरस्तू, अपने अनुकरण सिद्धान्त के आधार पर; विषय, माध्यम एवं विधि के रूप में काव्य के जिन तीन भेदक तत्त्वों की स्थापना करते हैं, उस दृष्टि से त्रासदी का यही स्वरूप है।

त्रासदी के उपर्युक्त षड्तत्त्वों को संस्कृत नाट्यशास्त्र की दृष्टि से वस्तु, नेता, रस में सन्निहित माना जा सकता है। हमें भूलना नहीं चाहिए कि ये सभी तत्त्व सभी प्रकार के रूपकों की दृष्टि से उपयोगी हैं; चाहे वे त्रासमूलक हों अथवा हास्य-मूलक, दुःखान्त हों अथवा सुखान्त। उपर्युक्त षड्तत्त्वों में इस परमानन्द सहोदर रस को किसी भी रूप में स्वीकार न करना यह सिद्ध करता है कि मनःशान्ति अथवा आनन्द पाश्चात्त्य दृष्टि से नाटक अथवा त्रासदी का उद्देश्य नहीं है, साध्य नहीं है। वह तो पाश्चात्त्य दृष्टि से बाई-प्रोडक्ट है अथवा एक ऐसी अनुभूति है जो अनुकरण के माध्यम से अभिनीत रूपकों में गौण रूप से उत्पन्न होती देखी जाती है। किन्तु संस्कृत के आचार्यों ने वस्तु एवं नेता के अतिरिक्त नाटक के 'आनन्द' को रस के रूप में एक पृथक् तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। संस्कृत नाटकों के सन्दर्भ में रस की धारणा इतनी व्यापक है कि उसने एक पृथक् रसवादी सम्प्रदाय को ही जन्म दे दिया। त्रासदी और कामदी अथवा नाटक सामान्य के लिए पृथक्-पृथक् दृश्यविधान, कथोप-कथन

---

१. पदावली तथा लयात्मकता के सम्बन्ध में अरस्तू की मान्यता यह है :—

(i) (Diction) is the expression sentiments by words, the power and effect of which is the same, whether in verse or prose.'

(ii) By pleasurable language, I mean a language that has the embelishments of rhythm, melody and metre.'

—प्रो० भाटी के पाकामी पृ० १८१ से उद्धृत अरस्तू का मत । विस्तार के लिए देखें, अरस्तू का काव्यशास्त्र : भूमिका पृ० ११८ तथा अनुवाद पृ० १६

और शैली आदि को संस्कृत में अर्थोपक्षेपक, वृत्ति एवं सन्धियों और सन्ध्यङ्गों के रूप में नियोजित होता देखा जा सकता है। प्रख्यात, उत्पाद्य एवं मिश्र के रूप में जो कथा का वर्गीकरण संस्कृत साहित्य में है, वह भी कम वैज्ञानिक नहीं है।

पाश्चात्यनाटकों (त्रासदी) का नायक

चरित-चित्रण के रूप में जिस तत्त्व का ऊपर उल्लेख किया गया है उस सन्दर्भ में त्रासदी के नायक के लिए अरस्तू के उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ० विक्रमादित्य राय कहते हैं 'अरस्तू ने कथानक तथा नायक की सामान्यता पर बल दिया है जिससे दर्शक के लिए साधारणीकरण सम्भव हो सके[1]।' त्रासदी के परिप्रेक्ष्य में नायक का सामान्य होना तो महत्त्वपूर्ण है ही, संत्रास एवं करुणा को उत्पन्न करने की क्षमता की दृष्टि से नायक का दोषी होना किन्तु अपने दोषों की अपेक्षा अधिक कष्ट पाना भी विशेष ध्यान देने योग्य है। इसके अतिरिक्त अरस्तू यह भी मानते हैं कि 'उसमें किसी दुष्ट पात्र के विपत्ति से सम्पत्ति में उत्कर्ष का चित्रण नहीं करना चाहिए। क्योंकि इससे न तो नैतिक भावना का परितोष होता है न करुणा और त्रास की उद्‌बुद्धि होती है[2]।'

त्रासदी की दृष्टि से अरस्तू ने आदर्श नायक के लिए निम्नलिखित गुण अनिवार्य माने हैं--

क—उसका सहज मानवीय गुणों से युक्त होना जिससे कि सामाजिक, तादात्म्य स्थापित कर सके।

ख—सम्पन्नता, यश, कुलीनता भी उसमें इसलिए आवश्यक है जिससे कि वह अपने साथ हा समाज एवं देश को भी प्रभावित कर सके।

ग—उसमें सत् के साथ असत्, गुणों के साथ दोषों का भी अस्तित्व हो। उसमें दुष्टता और पाप तो नहीं होता किन्तु कोई न कोई भूल करने की दुर्बलता होनी आवश्यक है।

सिद्धान्त रूप में संस्कृत का नाट्यशास्त्रीय दृष्टिकोण भी जो कुलीनता, यश और सम्पन्नता की उपेक्षा करके विप्र, वणिक् (प्रकरण) धूर्त-विट (भाण), प्राकृत जन (उत्सृष्टिकाङ्क, गोष्ठी, सट्टक), अधम-जन (प्रहसन), दासगण (प्रस्थानक), हीनजन (प्रेङ्खण) एवं पाषण्डी लोगों को (संलापक में) विभिन्न रूपकों, उपरूपकों में नायकत्व प्रदान करता है, मौलिक और यथार्थ प्रतीत होता है। किन्तु लक्ष्य रूपकों के उपलब्ध न होने से तथा आलोचकों द्वारा उनको महत्त्व न देने से यह मौलिकता अप्रकाशित हो रह गयी है। तथापि उपलब्ध अवशेषों में इनकी सामान्य जीवन से निकटता तथा

---

१. डॉ० विक्रमादित्य राय, 'काव्य समीक्षा', पृ० ११८

२. अरस्तू का काव्यशास्त्र : अनुवाद पृ० ३२,३३ तथा भा०पा०का० पृ० २६६

उनकी व्यंग्य-क्षमता निःसंदेह महत्त्वपूर्ण है। मृच्छकटिक प्रकरण के अतिरिक्त वीथी, प्रहसन एवं भाणों के उपलब्ध अवशेष उस रचना प्रक्रिया की दिशा में संकेत करते हैं, जो निश्चय ही लोकानुरञ्जिनी रही होगी किन्तु गम्भीरता के अभाव में, रसवादी आग्रह के कारण, उन्हें अधिक महत्त्व नहीं दिया गया।

खलनायक :—त्रासदी का मुख्य चरित्र किसे माना जाए; उसे, जिसके पतन की अनिवार्यता त्रासदी का ऐकान्तिक गुण है अथवा उस पात्र को जो कि नायक के पतन का कारण है। इस दृष्टि से अरस्तू के नायक सम्बन्धी कथन महत्त्वपूर्ण हैं। वे मानते हैं कि त्रासदी के नायक की कुलीनता, शालीनता, उच्चता (सामान्य जन से श्रेष्ठता) उसके अनिवार्य गुण हैं; किन्तु नाटकीयता की दृष्टि से उसमें गुणों के साथ दोषों का होना भी अनिवार्य है[1]। इस दृष्टि से नायक और उसके विरोधी चरित्र के मध्य एक रेखा तो खींची जा सकती है किन्तु 'रेखा के इस पार नायक है और उस पार खलनायक' ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि समय के परिवर्तन और कला के विकास के साथ ऐसे 'काम्प्लेक्स केरेक्टर' अथवा दुरूह चरित्रों का प्रादुर्भाव होता रहता है जिन्हें किसी सीमा में बाँध पाना कठिन रहा है। यही कारण है कि जहाँ संस्कृत में चाणक्य और राक्षस को (मुद्राराक्षस में) दुर्योधन और कर्ण को (ऊरुभङ्ग तथा कर्णभार) नायक-प्रतिनायक की सीमा में बाँध पाना कठिन रहा है वहीं रिचर्ड तृतीय[2], मैकबेथ और ब्रूटस के सम्बन्ध में नायक-खलनायक का निर्णय भी कठिन रहा है।

अस्तु, जहाँ तक खलनायक का प्रश्न है, अरस्तू उसके सम्बन्ध में बिल्कुल मौन हैं, वैसे ही जैसे प्रतिनायक के सम्बन्ध में भरत मुनि मौन हैं। किन्तु उनके नायक सम्बन्धी उल्लेखों के आधार पर खलनायक का नायक विरोध और उसके द्वारा नायक की त्रुटियों का लाभ उठाने की वृत्ति प्रधान रूप से उभरती है। इस दृष्टि से खलनायक में प्रतिनायक-चरित्र के अनिवार्य गुण, लोभ, औद्धत्य, व्यसन, पाप भावना, हठवादिता और धीरता (जिसका अर्थ धैर्य की भावना से लेना उचित होगा) विद्यमान् रहते हैं। अपनी पाप भावना में वह जबकि शकार का अनुकर्त्ता हो सकता है तो धैर्य में वह राक्षस जैसे प्रतिनायक का अनुकारी हो सकता है।

त्रासदी की अनिवार्य आवश्यकता; नायक पतन की दृष्टि से नायक पतन के चार रूप हो सकते हैं : (क) खलनायक के हाथों से मुख्य नायक का मारा जाना (ख) खलनायक द्वारा मुख्यनायक का मरवाया जाना (ग) खलनायक द्वारा मुख्यनायक को आत्महत्या करने के लिए बाध्य कर देना (घ) अथवा खलनायक द्वारा नायक को आजीवन कष्ट भोगते रहने के लिए छोड़ देना। खलनायक के कर्मों की यह मीमांसा

१. देखें, अरस्तू का काव्यशास्त्र : पृ० ३२, ३३ एवं भूमिका भाग, पृ० १११–११६
२. अरस्तू का काव्य शास्त्र : भूमिका भाग, पृ० ११५

किसी सीमा तक अनुगम विधि द्वारा पुष्टि होती देखा जा सकती है। किन्तु इस रूप में अन्तिम वर्ग की परिणति में; नाटकीयता को, मनःशान्ति अथवा रस को, परमानन्द सहोदरत्व प्राप्त करने में किञ्चित् व्यवधान हो सकता है। क्योंकि सामाजिक तो मञ्च पर ही सब कुछ अन्तिम रूप में देख लेने की इच्छा रखकर ही प्रेक्षागृह में बैठता है। अत: उसके लिए 'यावज्जीवन' के परिणामों को इस पार या उस पार देख लेना आवश्यक हो जाता है। अतएव या तो दुःख भोगते हुए नायक के दुःखों का इस जीवन के साथ ही अन्त देखकर उसे मनःशान्ति मिलती है अथवा उन दुःखों की समाप्ति ही दर्शक को आनन्द दे सकती है। अतः 'आधे अधूरे' की अनुभूति नवीन हो सकती है— वास्तविक : अतियथार्थ हो सकती है किन्तु मनःशान्ति का कारण नहीं बन सकती। यही कारण है कि अरस्तू के नायक पतन का तात्पर्य नायक की मृत्यु है। पुनर्जन्म में विश्वास न रखने वाली संस्कृति में ऐसा होना आश्चर्यजनक नहीं है।

नायक चरित्र के ऐकान्तिक गुण; उसमें मानवीय त्रुटियों का होना और उनसे अधिक दु:ख पाने की अनिवार्यता के कारण होने वाले नायक पतन के परिप्रेक्ष्य में खलनायक चरित्र को अन्तिम परिणतियों के भी चार रूप हो सकते हैं :—(क) नायक पतन के पश्चात् खलनायक के पतन की अनिवार्यता; अर्थात् नायक को मारकर, मरवाकर अथवा मरने के लिए बाध्यकर के खलनायक का आत्मसमर्पण और प्रायश्चित्त न करके अपने भ्रष्ट लक्ष्य की पूर्ति करते हुए मारा जाना। (ख) नायक पतन के पश्चात् भी खलनायक का दण्डित न होना; ऐसा खलनायक मुख्यनायक के पतन किंवा मृत्यु के बाद भी न तो आत्मसमर्पण करता है और न तो किसी अन्य प्रकार से उस रूप में दण्डित हो पाता है जैसाकि सामान्य जीवन और वैधानिक मूल्यों के अनुसार अनिवार्य है। (ग) तीसरे प्रकार के खलनायकों का स्वरूप यह हो सकता है कि वे मुख्यनायक की किसी छोटी सी त्रुटि का लाभ उठाकर उसके पतन अथवा मृत्यु के कारण तो बन जाते हैं किन्तु किसी न किसी रूप में, कहीं न कहीं, कभी न कभी, अपनी इस त्रुटि का अनुभव करते हैं। यह अनुभूति उन्हें वास्तविक प्रायश्चित्त की सीमा तक भले ही न ले जाए किन्तु इसके माध्यम से उनको यह भावना सामाजिक की मनःशान्ति का कारण बनती है और अन्त में यह त्रुटि ही उनके स्वयं के पतन का भी कारण बनती है। ऐसे खलनायकों के पीछे मुख्य खलनायकत्व के शक्ति-सूत्र कहीं दूसरे के हाँथों में हो सकते हैं और वह स्वयं को पथभ्रष्ट हुआ मानकर भी सैद्धान्तिक बाना पहनकर अन्त तक, अपने पतन तक, विरोध का परित्याग नहीं कर पाता। (घ) चतुर्थ प्रकार का खलनायक ऐसा हो सकता है जो उपर्युक्त चतुर्थ प्रकार के नायक पतन (आजीवन दुख) का कारण बनकर उसके साथ ही स्वयं भी जीवित रह सकता है। ऐसा खलनायक उपर्युक्त नायक की भाँति ही मनःशान्ति और नाटकीयता की दृष्टि से अधिक उपयोगी नहीं हो सकता भले ही वह सामाजिक दृष्टि से यथार्थ, अतियथार्थ सिद्ध होता हुआ प्रतीत होता हो।

पाश्चात्य नाटक तथा रस

नायक सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचना में प्रेक्षक को, उसकी भावना को ध्यान में रखते हुए साधारणीकरण अथवा तादात्म्य की बात भी आयी है। इस सन्दर्भ में हमें सदा ध्यान रखना होगा कि रसवादी विचारधारा में, संस्कृत-साहित्यशास्त्र में रस को पराकोटि तक पहुंचाने में जो सार्थक श्रम किया गया है, वह पाश्चात्य नाटक अथवा त्रासदी की सीमा में कठिन है। त्रास और करुणा का जो रूप त्रासदी विधा में दृष्टि-गोचर होता है उसके निमित्त जो आयोजन होते हैं वे संस्कृत साहित्य में विद्रव, संक्षोभ, संफेट, की योजनाओं से अथवा पाप, छल-छद्म और कपट प्रभृति कर्मों से किसी सीमा तक साम्य रखते हैं। किन्तु त्रासदियों में नियोजित भाव अथवा अन्य उत्पन्न होने वाले भाव, मात्र भाव हैं और रस की सीमा का स्पर्श करने के पूर्व ही वे प्रायः चुके जाते हैं। क्योंकि विभावों, अनुभावों, और व्यभिचारभावों की उपादेयता पर, उनकी निश्चित योजना पर पाश्चात्य नाटककार का आयस नहीं रहता है। अतः इनके सन्दर्भ में त्रासदी 'मनोभावों को विक्षुब्ध करके छोड़ देती है' यह कहना ही अधिक समीचीन हैं। तादात्म्य और साधारणीकरण की, इस सन्दर्भ में यही संमति है कि प्रेक्षक मार्क एण्टोनी, मैकडफ, मैकबेथ, हैमलेट, ओथेलो अथवा रोमियो को असाधारण नहीं मानता वह समझता है कि उनसे (उन नायकों से) वही त्रुटियाँ हुई हैं जो स्वयं प्रेक्षक, पाठक अथवा समाज के किसी भी प्राणी से हो सकती हैं। वहाँ अधिक से अधिक 'वह मैकबेथ है', 'वह ओथेलो है', 'यह हैमलेट है', 'यह रोमियो है' की ही प्रतीति हो सकती है। 'राम राम नहीं है', 'मैं मैं नहीं हूं', की जो असाधारण किंवा अलौकिक प्रतीति संस्कृत रूपकों में अपेक्षित है और वहाँ जो परमानन्द सहोदर की अनुभूति है, वह पाश्चात्य रूपकों का उद्देश्य ही नहीं है। इसके अनेक कारण हैं जिनकी विस्तृत विवेचना समयसापेक्ष है। तथापि उसके मुख्य कारण के रूप में कला एवं साहित्य के प्रति दोनों (संस्कृत एवं पाश्चात्य) की 'एप्रोच' का अन्तर तथा संस्कृतियों के मूल में निहित अपने-अपने सांस्कृतिक मूल्य एवं साहित्यक आदर्श हैं; यह माना जा सकता है।

यही कारण है कि अरस्तु के विरेचन-सिद्धान्त में भावात्मकपक्ष को स्वीकारते हुए पाश्चात्य साहित्य-शास्त्री नाटकों को कल्पना लोक में विचरण करने का साधन मानने की लक्ष्मण रेखा का अतिक्रमण नहीं कर सके। आलोचक बोल्टन मानते हैं— 'Drama, at it's best, is an exercise of the imagination, not only for writer, producer and actor but also for the audience[१],' अर्थात् इस कारण वहाँ यथार्थ की कल्पना का सौन्दर्य तो है किन्तु आदर्श गौण ही रह गये हैं।

---

१. 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त' (डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त) के पृ० ३३० पर उद्धृत एम० बोल्टन का मत

नाटककार तथा अभिनेता और उसके प्रस्तोता के अतिरिक्त दर्शक किंवा सामाजिक के मन का यह भाव-काल्पनिक आनन्द अथवा अनुभूति साधारणीकरण नहीं है। यह संस्कृत रूपकों की रसानुभूति से बहुत दूर है इसमें कोई सन्देह नहीं है। क्योंकि अरस्तू की भाँति 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' तो संस्कृत परम्परा को भी स्वीकार्य है किन्तु उसका रसाश्रयी होना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात है[1]। इतना ही नहीं यहाँ वस्तु एवं नेता के अतिरिक्त रस भी वह मुख्य तत्त्व है जो रूपकों में एक अनिवार्य भेदक तत्त्व के रूप में स्वीकार किया गया है[2]।

रसवादी विचारधारा ने संस्कृत के साहित्यशास्त्र को इतनी पैनी दृष्टि दी है कि साहित्यशास्त्रियों ने अङ्गीरसों के साथ ही गौण रसों की योजना पर भी बल दिया है और उनके सम्बन्ध में व्यापक विचार किया है। नायक-नायिकागत रस की विवेचना के अतिरिक्त उन्होंने रसनिष्पत्ति की दृष्टि से प्रेक्षक को, सामाजिक को, रस के सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कड़ी माना है। इतना ही नहीं प्रकृत सन्दर्भ में यह तथ्य और भी महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने प्रतिनायक और प्रतिनायिका तथा अन्य सहायक भूमिकाओं के सन्दर्भ में भी रसों को रसाभास (अनौचित्यप्रवर्तिताः रसाः रसाभासाः) तथा भावों को भावाभास (अनौचित्यप्रवर्तिताः भावाः भावाभासाः) के रूप में स्वीकार किया है। भावोदय, भावशान्ति, भावसन्धि एवं भावशबला की योजना भी इस दृष्टि से उपादेय रही है। जब कि पाश्चात्य आलोचकों ने इस दृष्टि से साहित्य का कोई मूल्याङ्कन नहीं किया है।

संस्कृत-नाटककारों ने भी इनका उपयोग नायक-नायिका के मनोभावों के सन्दर्भ में ही नहीं किया है अपितु प्रतिनायक एवं अन्य भूमिकाओं के सन्दर्भ में भी किया है। रसाभास एवं भावाभास को तो स्पष्ट रूप से प्रतिनायक के सन्दर्भ में निरूपित किया गया है। वस्तुतः संस्कृत साहित्यशास्त्र में प्रतिनायक के पतन, उसके पराभव एवं विनाश से उत्पन्न करुणा, शोक, आदि की विवेचना को भी विशिष्ट रूप से उठाया गया है[3]। किन्तु पाश्चात्य नाटकों (त्रासदियों) में नायक के पतन से उत्पन्न भावों की अभिव्यक्ति में ही नाटककार की प्रतिभा सीमित होकर रह गयी है। दूसरी ओर खलनायक के पतन से उत्पन्न भावों का (अन्य नाटक विधाओं में) कोई मूल्याङ्कन नहीं हो पाया है। डॉ० चौधरी एवं गुप्त[4] कहते हैं कि बालि, रावण अथवा

---

१. अवस्थानुकृतिर्नाट्यं रूपं दृश्यतयोच्यते।
रूपकं तत्समारोपात् दशधैव रसाश्रयम्॥—द० रू० १.७

२. वस्तु नेता रसस्तेषां भेदकः ......॥ वही १.११

३. द्रष्टव्य : ध्वन्यालोक ३.२०, २५ एवं वृत्ति भाग

४. भा० पा० का०, पृ० २६८

कंस अथवा रिचर्ड तृतीय जैसे खलनायकों के पतन से उत्पन्न होने वाली भावना के सम्बन्ध में अरस्तू कुछ नहीं कहते। इतना ही नहीं संस्कृत नाट्यशास्त्रीय आचार्यों ने प्रतिनायकों का जो स्वरूप निर्धारित किया है, उसकी जो सीमाएँ निर्धारित की हैं वैसा कोई विधान पाश्चात्य काव्यशास्त्र में उपलब्ध नहीं होता[1]।

नाटक सामान्य के तत्त्व

त्रासदी के लिए अरस्तू द्वारा स्वीकृत छः तत्त्वों का परिचय ऊपर दिया जा चुका है किन्तु अन्य आचार्यों द्वारा नाटकों के लिए भी पृथक् छः तत्त्वों का निर्धारण किंचिद् कुतूहल उत्पन्न करता है। (क) कथावस्तु एवं (ख) चरित्रचित्रण को नाटक सामान्य तथा त्रासदी दोनों में ही स्वीकार किया गया है। किन्तु नाटक के लिए निर्धारित (ग) कथोपकथन (घ) देश-काल-वातावरण, (ङ) शैली एवं (च) (उद्देश्य) को त्रासदी में स्वीकार न करना जहाँ त्रासदी को नाटक सामान्य से पृथक करता है वहीं यह विभाजन अपूर्ण तथा किसी सीमा तक भ्रमपूर्ण प्रतीत होता है। देशकाल वातावरण को यदि त्रासदी की कथावस्तु के आन्विति; एकान्विति व्यापार से मिला लिया जाए और पदावली (DICTION) को यदि नाटकों के सन्दर्भ में शैली (STYLE) से अभिन्न मान लिया जाए (जैसा कि वास्तव में है नहीं क्योंकि अरस्तू ने ने पदावली की पृथक् परिभाषा सम्भवतः उसे शैली से भिन्न मानने के कारण ही दी है, फिर भी उसे नाटक के सन्दर्भ में शैली का पर्याय माना जा सकता है) तो भी कथोपकथन एवं उद्देश्य को त्रासदी के तत्त्वों में न ग्रहण करना तथा त्रासदी के विचार तत्त्व, दृश्य विधान एवं गीत-तत्त्व को नाटकों के तत्त्वों में सन्निहित न मानने से नाटक का लक्षण अव्याप्ति दोष से ग्रस्त हो जाता है। क्योंकि त्रासदी के उपर्युक्त तीनों तत्त्व ऐसे हैं जो निश्चित रूप से पाश्चात्य नाटकों में उपलब्ध होते हैं।

अतः नाटकों को त्रासदी के विचारतत्त्व, दृश्यविधान एवं गीततत्त्व से हीन मानना न तो उचित है और न ही युक्तिसंगत। इसके विपरीत कथोपकथन एवं उद्देश्य तत्त्व को केवल नाटक के सन्दर्भ में ही स्वीकारना और मनः शान्ति को त्रासदी का उद्देश्य मनाते हुए भी त्रासदी के तत्त्वों में 'उद्देश्य' को न गिनना त्रासदी के लक्षण को अपूर्ण बना देता है। इतना ही नहीं इस परिप्रेक्ष्य में त्रासदी एक सपाट (कथोपकथन हीन) तथा उद्देश्यहीन नाट्यविधा सिद्ध होती है। वस्तुतः त्रासदी में भी कथोपकथन का अपना महत्त्व है। चरित्र-चित्रण एवं विचारतत्त्व की दृष्टि से भी उसका महत्त्व स्वतः सिद्ध है। पदावली जैसे तत्त्व की भी उपयोगिता निःसन्दिग्ध है क्योंकि उसी के माध्यम से 'शब्दों' द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति एवं अलङ्कृत भाषा की योजना जैसे उद्देश्यों की पूर्ति हो सकती है। ऐसा नहीं है कि अरस्तू यह मानते हों कि ये

१. काव्य समीक्षा, पृ० २२९

तत्त्व त्रासदी के लिए आवश्यक नहीं है। वस्तुतः उन्होंने किसी विशेष कारण से ही इन्हें त्रासदी के तत्त्वों में ग्रहण नहीं किया है। कथोपकथन के बिना नाटक की किसी भी विधा की कल्पना की जा सकती अतएव भाण अथवा वीथी और Mono Drama अथवा Mime जैसी विधाओं में भी इनका महत्त्व स्वतः सिद्ध है।

इस प्रकार त्रासदी एवं नाटक सामान्य के इन तत्त्वों को एकत्र करके देखा जाय तो हम कह सकते हैं कि पाश्चात्त्य दृष्टि से भी **कथा-वस्तु, चरित्र-चित्रण** और **उद्देश्य** यह तीन तत्त्व ही महत्त्वपूर्ण हैं। **कथावस्तु** के अन्तर्गत ही कथोपकथन तथा उनकी भी लयात्मकता और सार्थकता को सन्निहित मानना चाहिए। पदावली और शैली जैसे तत्त्वों का उपयोग भी तो कथा-वस्तु के ही माध्यम से होता है। इसी प्रकार गीततत्त्व को भी कथावस्तु का ही अङ्ग मानना चाहिए। देश, काल की एकता भी (Unity of Place & Time) कथा-वस्तु के ही गुण होने से उसी में अन्तर्निहित हैं। हम पाते हैं कि संस्कृत के नाट्यतत्त्व 'वस्तु' में ये सभी तत्त्व सम्मिलित होते हैं, इस दृष्टि से, संस्कृत की नाट्यवृत्तियों को भी कथोपकथनों की विभिन्न विधाओं के रूप में ही देखना अधिक उपयुक्त होगा। दृश्य विधान का भी मूल, घटना अथवा कथावस्तु से सम्बद्ध है अतः उसे भी कथानक का ही अङ्ग मानना चाहिए। जहाँ तक **चरित्र-चित्रण** का प्रश्न है वह संस्कृत के 'नायक' इस तत्त्व का ही पाश्चात्त्य रूप है। क्योंकि नायक सम्बन्धी सारी विवेचना उसके चरित्रिक गुणों पर आधृत है और पाश्चात्त्य दृष्टि से विभिन्न चरित्रों के चित्रण को उनके कार्य—कलापों (Unity of Action) को इसी में सन्निहित करना अभीष्ट रहा है। जिसे कि कथावस्तु के समान पाश्चात्त्य दृष्टि से त्रासदी तथा नाटक सामान्य दोनों का ही साधारण तत्त्व स्वीकार किया गया है।

पाश्चात्त्य नाटक सामान्य का तीसरा महत्त्वपूर्ण गुण 'उद्देश्य' है। त्रासदी के सन्दर्भ में उसे विचारतत्त्व का पर्याय माना जाना चाहिए। संस्कृत से जो स्थान रस-तत्त्व का है पाश्चात्त्य दृष्टि से उद्देश्य-तत्त्व का भी वही स्थान माना जा सकता है। काव्यप्रकाशकार ने काव्य के प्रयोजनों में यश आदि जिन प्रयोजनों का उल्लेख किया है, वे (व्यवहार ज्ञान, शिव की प्राप्ति और वह भी कान्ता सम्मित द्वारा) यही सिद्ध करते हैं कि काव्य-नाट्य की कमनीयता रस की दृष्टि से ही अभीष्ट है। काव्य-नाट्य का शिवत्व जो कि रस की अनिवार्यता के होने पर भी कभी नष्ट नहीं होने पाता, वह भी संस्कृत काव्य-नाट्य-साहित्य का उद्देश्य ही है। रस को 'आभास' कोटि से बचाने का जो प्रयास है वह उसकी मर्यादा और उद्देश्यपरता का ही द्योतक है। राम की सीता विषयक रति उनके एक पत्नीत्व के उद्देश्य को भी सिद्ध करती है और सीता के सतीत्व की भी पर्याय है। रावण की ऐसी ही रति रत्याभास के रूप में वर्णित तो होती है किन्तु उद्देश्य की दृष्टि से त्याज्य है। इस रसाभास में भी रस है पर उसे

अनुकरणीय और वास्तविक परमानन्द का पर्याय नहीं माना जाता। यह व्यवस्था नितान्त उद्देश्य परक है। अतः 'रस' का अर्थ अत्यन्त व्यापक है जिसमें उद्देश्य, विचारतत्त्व, मनःशुद्धि (विरेचन), तर्क संगति सभी सन्निहित है। पाश्चात्य दृष्टि से अभिव्यञ्जना, काव्यगत सौन्दर्य तथा चमत्कार आदि काव्य-नाट्य के प्रयोजनों को इस 'उद्देश्य' के अन्तर्गत ही मानना चाहिए।

वस्तुतः त्रासदी के षड्तत्त्वों के लिए अरस्तू का कथन है कि इनमें से दो (गीत और पदावली) अनुकरण के माध्यम है तथा एक (रंगविधान) अनुकरण को विधि और तीन (कथावस्तु, चरित्र चित्रण और विचारतत्त्व) अनुकरण के विषय हैं[1]। यह इसी विषय को प्रस्तुत करने का एक दूसरा ढंग है जिसमें नाट्यसम्बन्धी उनके अनुकरणमूलक सिद्धान्त की प्रतिठापान प्रमुख है। भारतीय दृष्टि, नाटक के अभिनय पक्ष पर आश्रित तो है किन्तु व्यापक दृष्टि से देखें तो वहाँ वस्तु, नेता और रस यह केवल नाट्य धर्म ही नहीं हैं, अपितु काव्यों के लिए भी इनकी आवश्यकता उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। अतः अरस्तू की विवेचना अधिक तात्त्विक है। उनमें से गीततत्त्व और पदावली को अनुकरण का माध्यम मानने से यह संकेत ग्रहण करना अनुचित न होगा कि उनका आग्रह त्रासदी की व्यंग्यनिष्ठा के साथ ही गीतात्मकता और लयात्मकता से भी है क्योंकि पदावली भी इसी का सहायक तत्त्व है[2]। दूसरी ओर रंग-विधान, जिसे उन्होंने अनुकरण की विधि के रूप में व्याख्यायित किया है, उसमें संस्कृत नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से चारों प्रकार के अभिनयों का भी सन्निवेश किया जा सकता है तथा अनुकरण के विषय के रूप में स्वीकृत कथावस्तु, चरित्र चित्रण तथा विचारतत्व ही शेष वे तत्व है जिन्हें संस्कृत नाट्य शास्त्रीय दृष्टि से क्रमशः वस्तु, नेता और रस के रूप में माना जाता रहा है।

तात्पर्य यह कि अरस्तू की दृष्टि से यदि हम संस्कृत-नाट्य-शास्त्रीय विवेचना की तुलना करें तो मेरे विचार से अनुकरण के माध्यम के रूप में हमें नाट्यवृत्तियों को स्वीकारना होगा जिनके माध्यम से विभिन्न प्रकार के अनुकार्य-विषय, रसानुकूल अभिव्यक्ति पाते हैं। विभिन्न प्रकार के अभिनय (आङ्गिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक) अनुकरण की विधि के रूप में हैं तथा विभिन्न प्रकार की कथावस्तु, विभिन्न प्रकार के नायक और नानारस ही अनुकरण के विषय होंगे। यह अरस्तू के उपर्युक्त सिद्धान्तों की एक व्यावहारिक व्याख्या हो सकती है।

कथानक का विकास

प्रकृत सन्दर्भ में पाश्चात्त्य नाटकों की कथावस्तु की योजना अथवा उसके विकास की पाँच स्थितियों की विवेचना अनुचित न होगी जो संस्कृतरूपकों के नायक

---

१. अरस्तू का काव्यशास्त्र, अनुवाद भाग, पृ० २० (डॉ० नगेन्द्र)

२. अरस्तू का काव्यशास्त्री अनुवाद भाग, पृ० २२ (डॉ० नगेन्द्र)

की पाँच कार्यावस्थाओं से भी मिलती जुलती है तथा यदि त्रास एवं करुणा को उत्पन्न कर मनःशान्ति को त्रासदी का मुख्य लक्ष्य मान लिया जाए तो ये अवस्थाएँ संस्कृत में कथा से सम्बद्ध किन्तु मुख्य रस-पोषक अथवा रस की दृष्टि से उपादेय[१] पञ्च-सन्धियों से (जिनका आनुषङ्गिक कार्य कथा को जोड़ते चलना भी है) पर्याप्त समान हैं। अतः इनका तुलनात्मक अध्ययन भी निश्चय ही प्रकृत प्रसंग में नितान्त उपयोगी है[२]।

पञ्चावस्थाओं, पञ्चार्थप्रकृतियों और पञ्चसन्धियों की विवेचना तृतीय परिच्छेद में नाट्यसंरचना के प्रसंग में की जा चुकी है। उनके मध्य किस सीमा तक परस्पर सम्बन्ध है यह भी वहाँ स्पष्ट किया जा चुका है। वहाँ हम पाते हैं कि संस्कृत साहित्य में नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से अर्थप्रकृतियों का सम्बन्ध कथावस्तु से है, पञ्च-सन्धियों और मध्यङ्गों का सम्बन्ध सम्वाद, कथोपकथन एवं रस से है तथा पाँचों अवस्थाएँ नायक के कार्य से सम्बद्ध हैं। यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो कथा-वस्तु नायक के कार्यकलापों का ही आलेख होता है, विशेषकर ऐसे साहित्यों में जहाँ काव्यों और नाटकों का उद्देश्य, रसचवर्णा के साथ ही शिव से इतर का विनाश, है, 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की सृष्टि है, आदर्शों की स्थापना है।

अन्विति (यूनिटी)

आधुनिक नाट्यालोचकों की धारणा है कि नाट्यसन्दर्भ में अन्विति का गुण पाश्चात्य देन है, जिसका मूल अरस्तू के काव्य शास्त्र में है। इसके पूर्व कि भारतीय नाट्यसिद्धान्तों में इन तत्त्वों को खोजा जाय, यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अन्विति से तात्पर्य एकात्मकता से है। यह एकात्मकता कार्यगत एकता है। प्रकारान्तर से इसे कार्य व्यापार की एकता कहना चाहिए। अरस्तू स्वयं कहते हैं 'जैसा कि कुछ लोगों की धारणा है कथानक की एकान्विति का आधार यह नहीं है कि नायक एक हो। एक व्यक्ति के जीवन में नाना प्रकार की घटनाएँ घटती हैं जिन्हें एकान्वित नहीं किया जा सकता। इसी भाँति एक व्यक्ति के अनेक कार्यव्यापार होते हैं जिन्हें एक ही कार्य में अन्वित नहीं किया जा सकता[३]। अर्थात् किसी नाटक का कथानक किसी व्यक्ति के एक मुख्यःव्यापार से सम्बद्ध होना चाहिए अथवा किसी व्यक्ति के जीवन की किसी एक महत्त्वपूर्ण घटना से सम्बद्ध होना चाहिए। यहीं यह तथ्य भी चिंत्य

१. द्रष्टव्य, प्रबन्ध का तृतीय परिच्छेद

2. **Many of the qualities which we do actually value most highly in all western theatrical masterpieces are found in the Sanskrit works together with some which are at once almos, unique achievements and still valuable for our modern word.**

C. D. I. Page 7

३. अरस्तू का काव्यशास्त्र (हिन्दी अनुवाद) पृ० २४ डा० नगेन्द्र

है कि यह गुण नाटकों तक ही सीमित नहीं होता अपितु काव्यों में भी सङ्क्रमित होता है। अरस्तू स्वयं इसे (घटना अथवा कार्यव्यापार की अन्विति को) व्याख्यायित करते हुए जिन रचनाओं को उद्घृत करते हैं वे सभी काव्य हैं, उदाहरण के लिए हेराक्लेइद, थेसेइद तथा ओडिसी[१]।

तात्पर्य यह कि अन्विति-कार्यान्विति के रूप में, देश (प्लेस), काल (टाईम) तथा वातावरण (एटमास्फियर) की एकता अथवा स्थान, समय तथा कार्य की एकता (यूनिटी आफ प्लेस; टाइम एण्ड ऐक्शन) सम्बन्धी तत्त्व अरस्तू पर आरोपित तत्त्व हैं। जबकि अरस्तू ने कथानक के सन्दर्भ में घटना किंवा कार्य व्यापार की एकता को ही संकेतित किया है। इसे ही स्पष्ट करते हुए वे पुनः कहते हैं : ...'कथानक को, जो कार्य व्यापार की अनुकृति होती है—एक तथा सर्वाङ्गपूर्ण कार्य का अनुकरण करना चाहिए और उसमें अङ्गों का सङ्गठन ऐसा होना चाहिए कि यदि एक अङ्ग को भी अपनी जगह से इधर-उधर करें तो सर्वाङ्ग ही छिन्न-भिन्न और अस्त-व्यस्त हो जाए[२]' इस कथन से स्पष्ट है कि कार्य व्यापार को संगठित करने वाली कथा वस्तु को किसी त्रासदी का आधार बनाते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना चाहिए।

भारतीय नाट्याचार्यों ने भी इस गुण को ध्यान में रखा है। यही कारण है कि उन्होंने नाट्यरस तथा विषय वस्तु के अनुरूप नेतृगुणों का आकलन करते हुए ही रूपक के अनेक भेदोपभेद किए हैं तथा कथानक को संगठित करने के लिए ही अर्थ-प्रकृतियों का और कार्यव्यापार में एकात्मकता बनाए रखने के लिए पञ्च कार्यावस्थाओं का निर्धारण किया[३]।

जहाँ तक देश, काल तथा कार्य की एकता का अर्वाचीन मत है, उसकी वैज्ञानिकता निःसन्दिग्ध है किन्तु उसकी मौलिकता सन्देह से परे नहीं है। वह इस दृष्टि से कि वह कोई नयी खोज नहीं है क्योंकि नाट्यसन्दर्भ में इनका निर्वाह एक स्वाभाविक गुण है। तीन-चार घण्टे अथवा और न्यून समय में समाप्य एक नाटक में इनका निर्वाह किसी सीमा तक सदैव ही अनिवार्य रहा है। वस्तुतः एकान्विति जिसे सङ्कलनत्रय भी कहा गया है एकाङ्की नाट्यविधा की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। किन्तु सम्पूर्ण नाटकों में एक कमरे से दूसरे कमरे में दृश्य का परिवर्तन अथवा एक लघु किंवा आनुषङ्गिक घटना से दूसरी घटना के मध्य वर्ष अथवा वर्षों का अन्तराल न तो अस्वाभाविक होता है न ही अनुचित। इस दृष्टि से कालिदास के रूपकों को भी उद्घृत किया जा सकता है और शेक्सपियर के नाटकों को भी, जहाँ आनुषङ्गिक

१. अरस्तू का काव्य शास्त्र (हिन्दी अनुवाद) पृ० २४ डॉ० नगेन्द्र
२. अरस्तू का काव्य शास्त्र (हिन्दी अनुवाद) पृ० २५ डॉ० नगेन्द्र
३. द्रष्टव्य, प्रबन्ध : तृतीय परिच्छेद

घटनाएं भी हैं, स्थान और समयगत वैभिन्य भी है। लक्ष्य रूपकों (जिन्हें हम पिछले परिच्छेदों में देख चुके हैं तथा जिन्हें आगे देखेंगे) में भी यह वैभिन्य विद्यमान है किन्तु इनके कारण उनमें अनाटकीयता नहीं आने पायी है। वस्तुतः इन गुणों के सन्दर्भ में, अरस्तू के शब्दों में सम्भाव्यता का गुण बहुत महत्त्वपूर्ण है। घटना एक ही समय की हो, किन्तु उसमें अप्रासङ्गिकता हो, समय एक ही हो, परन्तु उसमें सम्भाव्यता विद्यामान न हो तो भी वह उचित नहीं है। अतः उपर्युक्त गुण स्वयं में पूर्ण नहीं है। संधियों, सन्ध्यङ्गों की उपयोगिता के प्रसंग में भी बताया जा चुका है कि कथानक का विस्तार अथवा संकोच महत्त्वपूर्ण नहीं है किन्तु उसमें चमत्कार का होना महत्त्वपूर्ण है[1] जिसके लिए कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और सन्धियों के मध्य एक सामञ्जस्य आवश्यक है।

इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि इसी कारण आज जिस प्रकार से उस संकलनत्रय अथवा त्रयान्विति की बात की जाती है वह न तो अरस्तू को स्वीकार्य थी और न ती भारतीय नाट्याचार्यों को, तथापि प्रसंगानुसार सभी ने उनके महत्त्व को स्वीकार किया था। वास्तविकता तो यह है कि किसी भी नाटककार को इन तथ्यों को ध्यान में रखना ही पड़ता है। यही कारण है कि यह नाटकों-रूपकों का सहज धर्म है कि उनमें यह अन्विति बनी रहे किन्तु उसके लिए कोई समय, स्थान अथवा अन्तराल निर्धारित नहीं किया जा सकता। यही तथ्य यदि इसी रूप में इस मत के समर्थकों को भी स्वीकार्य हो तो कोई आपत्ति नहीं हो सकती। इसी सन्दर्भ में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि घटनाओं के क्रम में, कार्यव्यापार में, यदि सामञ्जस्य है, सम्भाव्यता है तो दर्शक अथवा सामाजिक तन्मयता की स्थिति में समय के अन्तराल को स्वतः भूल जाता है तथा स्थान परिवर्तन पर उसका ध्यान भी नहीं जाता। अतः एकान्विति में महत्त्वपूर्ण है—कार्य की एकता और अरस्तू ने काव्यशास्त्र में उसी को एकान्विति के रूप में स्वीकार किया है।

पाश्चात्य नाट्य संदर्भ में तो इसकी व्यापक चर्चा होती ही रही है किन्तु ये गुण किसी न किसी रूप में भारतीय नाट्यधारा को भी प्रभावित किये थे, वह भी अति प्राचीन काल से; यह देखकर आश्चर्य हो सकता है। इस दृष्टि से यहाँ मात्र परिचयात्मक रूप में संस्कृत के कुछ रूपक भेदों के लक्षणों में इन तत्त्वों को खोजा जा रहा है। उदाहरण के रूप में सर्वप्रथम व्यायोग रूपक भेद को देखें जिसमें एक ही दिन की कथा (घटना) होनी चाहिए तथा जिसकी एक ही अङ्क में समाप्ति अनिवार्य है। भरतमुनि कहते हैं :—

अल्पस्त्री–जनयुक्तस्त्वेकाहकृतस्तथा चैव।
.....................एकाङ्क एवायम्॥ भरत २०.९४

1. द्रष्टव्य, प्रबन्ध : तृतीय परिच्छेद पृ० १३३ पर टिप्पणी सं० २

अर्थात् उसका एकाङ्की होना तो अनिवार्य है ही उसमें जिस घटना को ग्रथित करना है वह एक दिन की ही हो यह भी अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त उसके लिए निर्धारित अन्य गुणों में; अल्पस्त्री पात्रों की योजना तथा षड्दीप्तरसों में से ही एक ही रस का प्रयोग; उसके कार्य व्यापार की विविधता पर भी अंकुश लगाता है। एक दिन की घटना तक सीमित होने से उसमें स्थान परिवर्तन की भी सम्भावना लगभग समाप्त हो उठती है। दशरूपककार भी भरत की भाँति ही व्यायोग के लिए इन सीमाओं का निर्धारण करते हुए कहते हैं :—

अस्त्रीनिमित्तसंग्रामो जामदग्नजये यथा।
एकाहचरितैकाङ्को व्यायोगो बहुभिर्नरैः॥ द०रू० ३.६०,६२

व्यायोग रूपक भेद में जहाँ देश काल तथा कार्य की एकता के माध्यम से संकलनत्रय के निर्वाह की प्राचीन परम्परा के संकेत ग्रहण किये जा सकते हैं वहीं भाण तथा वीथी रूपक भेदों में हमें पात्रों की सीमा (संख्या) को घटाकर मात्र एक पात्र तक ही सीमित कर देने की प्राचीन परम्परा के भी प्रमाण मिलते हैं। पात्रों के इस सीमाङ्कन द्वारा निःसन्दिग्ध रूप से कार्यव्यापार, देश और काल का भी ऐक्य एक स्वाभाविक गुण माना गया था। किन्तु 'विविधाश्रयो हि भाणो', की स्थापना यह सिद्ध करती है कि यद्यपि भाण में कथा का काल एक दिन तक ही सीमित रहता है किन्तु अनुकार्य चरित के कार्य की विविधता को उसमें रूपायित करने में आपत्ति नहीं की जा सकती।

इसी प्रकार 'अङ्क' अथवा 'उत्सृष्टिकाङ्क' नामक रूपक भेद में भी ऐसे ही संकेत ग्रहण किए जा सकते हैं जिसका लक्षण करते हुए साहित्यदर्पणकार कहते हैं :—

उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्रकृताः नराः।
रसोऽत्र करुणः स्थायी बहुस्त्रीपरिदेवितम्॥
प्रख्यातमितिवृत्तं कविबुद्धया प्रपञ्चयेत्।

सा० द० ६.२५०—५२

अर्थात् यहाँ कवि-नाटककार अपनी प्रतिभा द्वारा किसी प्रख्यात इतिहास अथवा घटना को इस प्रकार प्रस्तुत कर सकता है जो एक अङ्क में ही समाप्त हो जाये, जिसमें करुण रस को ही प्रधानता मिले तथा जिसमें स्त्रियों के विलाप; दुःख का चित्रण हो। स्वाभाविक है इसमें भी ऐसी घटना का विस्तार एक दिन से बढ़ भी जाये तो कार्य की एकता, स्त्रियों के करुण विलाप की प्रधानता के कारण, खण्डित नहीं होने पाती।

प्रहसन रूपक भेद में भी हास्य रस की प्रधानता उसके कार्य का सीमाङ्कन करती है जिसमें एक अथवा दो दिन के व्यापारों को ही आयोजित करने से काल कार्य तथा देश (स्थान) की एकता की स्थापना के भी संकेत मिलते हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि प्राचीन आचार्यों ने, भारतीय आचार्यों ने भी और अरस्तू ने भी, संकलनत्रय के नामोल्लेख के साथ किसी विशिष्ट ऐक्य की बात नहीं की है किन्तु सहजता तथा स्वाभाविकता की दृष्टि से ये गुण नाटकों (रूपकों) में सदा ही मान्य रहे हैं। नाट्याचार्यों ने तो इन्हें आवश्यकतानुसार नाट्य रचना के सन्दर्भ में उठाया ही, सफल नाटककारों ने अपने रूपकों में उनका निर्वाह भी किया है। किन्तु इन्हें नियमतः स्वीकार कर लेना न तो उचित था और नहीं उपयोगी, क्योंकि सभी रूपकों में देश और काल की सीमाएँ वस्तु के अनुरूप बदलती रहती है। उनका विस्तार एक दिन और घण्टे से लेकर सम्पूर्ण जीवन तक विस्तृत हो सकता है जैसा किसी काव्य में होता है, उसी प्रकार उसका क्षेत्र एक स्थान तक सीमित हो ऐसा कोई अनिवार्य नियम नहीं हो सकता। कार्य की एकता जो कि स्वाभाविकता सहजता, घटना के पूर्वापर सम्बन्ध अथवा सम्भाव्यता की पर्याय है, वह मुख्य गुण है जिसका निर्वाह नियमतः आवश्यक है, था और रहेगा।

कथानक की पांच अवस्थाएं एवं सन्धियां

पाश्चात्त्य नाटकों में कथावस्तु की जो पाँच अवस्थाएं मानी गयी हैं, वे हैं—प्रारम्भिक अवस्था (इक्सपोजीशन), संघर्ष का विकास (राइजिंग ऐक्शन), चरमसीमा (क्लाइमेक्स, क्राइसिस), संघर्ष का ह्रास (डिनाउमेन्ट) तथा उपसंहार अथवा परिणति (कन्क्लूजन या केटास्ट्राफी)। पञ्च-सन्धियों के अभिधानों से इनका साम्य पर्याप्त मुखर है क्योंकि वहाँ मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण अथवा उपसंहृति में कथानक का ऐसा ही विकास देखा जाता है। वस्तुतः अर्थप्रकृतियों में, बीज और बिन्दु में भी इनकी आरम्भिक दोनों अवस्थाओं से किंचिद् साम्य प्रतीत होता है। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि पाश्चात्त्य नाटकों की भाँति[1] संस्कृत के रूपकों में भी (विशेषकर नाटक एवं प्रकरण रूप भेदों में) संक्षिप्तता को ऐकान्तिक गुण नहीं माना गया है, अतएव कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों एवं पञ्च सन्धियों में आरम्भ, बीज और मुख जैसे समान भावों वाले अभिधानों का प्रयोग हुआ है, यत्न, बिन्दु एवं प्रतिमुख के मध्य भी ऐसा साम्य संक्रमित होता है; प्राप्त्याशा, नियताप्ति एवं फलागम तथा गर्भ, विमर्श एवं उपसंहृति अथवा निर्वहण के मध्य भी यही तथ्य दृष्टिगत होते हैं। समान होते हुए भी उनमें सूक्ष्म भेद है। इस भेद को बनाए रखते हुए तथा इनमें से सन्धियों के नाना

१, 'किन्तु नाटक की प्रकृति के अनुसार उसकी जो विस्तार सीमा निर्धारित की जा सकती है वह यह है—जितना विस्तार अधिक होगा उतना ही वह नाटक अपने आकार के कारण सुन्दर होगा : लेकिन यह आवश्यक है कि उसका सर्वाङ्ग स्पष्ट रूप से परिव्यक्त रहे।'—अरस्तू का काव्यशास्त्र, अनुवाद, पृ० २४, डॉ० नगेन्द्र

अङ्गों की योजना करने के कारण भी संस्कृत के रूपकों का कलेवर बढ़ जाता है और इसी कारण संक्षिप्तता का गुण प्रायः ध्वस्त होता देखा जाता है। जबकि पाश्चात्य रूपकों में सैद्धान्तिक रूप में ही विस्तार की अपेक्षा की गयी है। वस्तुतः (शेक्सपियरन-ड्रामा में) वहाँ प्रायः इन अवस्थाओं को प्रत्येक अङ्क में ही सीमित करने के प्रति आग्रह रहा है ।

संस्कृत में भी संक्षिप्त रूपकों तथा लघुरूपक भेदों का अभाव नहीं है, अपितु नाटक एवं प्रकरण की अपेक्षा अन्य सभी रूपक एवं उपरूपकभेद अपने स्वरूप में संक्षिप्त हैं। किन्तु रसनिष्पत्ति की समयसाध्य प्रक्रिया ने और उसके प्रति आग्रह ने ऐसे रूपकों की उपेक्षा हुई है। पाश्चात्य नाटकों में 'Brevity is a first practical law of dramatic being' के रूप में जो सत्य की स्वीकृति है, जो 'संक्षिप्तता का गुण है, वह हमारी स्पृहा का विषय हो सकता है। वस्तुतः यह संक्षिप्तता 'बड़ी बात को थोड़े में कहने' का पर्याय है, न कि कथा के कलेवर के संक्षिप्त रूप का। नाट्यशास्त्रीय परिवेश में भी हम पाते हैं कि संस्कृत में रूपक प्रबन्धों की ऐसी संक्षिप्तता पर अधिक आग्रह नहीं है। दशरूपककार तो स्पष्टरूप से संधियों-संध्यङ्गों का एक प्रयोजन यह भी मानते हैं कि रूपकों के लिए उसके माध्यम के काव्य के इतिवृत्त का विस्तार किया जाता है[1]। इस मन्तव्य की दूसरी व्याख्या भी हो सकती है किन्तु नाट्यदर्पणकार तो स्पष्टरूप से वृत्तसंक्षेप पर व्यंग्य करते हुए कहते हैं कि 'वृत्तसंक्षेप' होते हुए भी यदि रूपकप्रबन्ध में 'चमत्कार' का गुण नहीं है तो वह किस योग्य[2] ? अतः कथा संक्षिप्त हो अथवा विस्तृत, पाश्चात्य नाटकों में भी इस गुण का सीधा-सम्बन्ध कथावस्तु की उपर्युक्त अवस्थाओं से है। इतना ही नहीं पाश्चात्य रूपकों के अङ्क विधान को भी इस वैशिष्ट्य ने प्रभावित किया है और पाँच अङ्कों में समाप्त होने वाले नाटकों की परम्परा के मूल में कथावस्तु की इन पाँच स्थितियों को ही क्रमशः एक-एक अङ्क में नियोजित किया जाता रहा है[3]। इसके विपरीत संस्कृत रूपकों में नाटकों और प्रकरणों के लिए दश

१. इष्टस्यार्थस्य रचना गोप्यगुप्तिः प्रकाशनम् ।
राग: प्रयोगस्याश्चर्यं वृत्तान्तस्यानुपक्षयः ॥
विवक्षितार्थनिबन्धनं गोप्यार्थगोपनं प्रकाश्यार्थप्रकाशनम् अभिनेयरागवृद्धिः चमत्कारित्वं च काव्यस्येतिवृत्तस्य विस्तरः इति ।—द० रू० १.५५ एवं वृत्तिभाग

२. 'रामस्य पत्नी रावणेन वनान्तादपहृता, रामेण च जटायुषः समुपलभ्य सुग्रीवं सहायं वानराधिराज्यप्रतिपादनादधिगम्य समुद्रसेतुबन्धमाधाय निहत्य च रावणं प्रत्यानीतेत्यत्र प्रारम्भाद्यवस्था निबन्धनीयैः पञ्चभिरपि सन्धिभिर्बीजाद्युपाययुक्तैः निबद्धे रूपके वृत्तसंक्षेपः स्यात् ; तथा च न चमत्कारः ।'
—ना० द० प्रथम विवेक

३. भा०पा०का० : पृ० २३५

अङ्कों तक की छूट है अतएव एक-एक अवस्था अथवा सन्धि को हम एक से अधिक अङ्कों में विस्तृत पाते हैं। किन्तु उसमें चमत्कार की अन्विति आवश्यक है।

इसके पूर्व कि संस्कृत की पञ्चसन्धियों अथवा नायक की पञ्चकार्यावस्थाओं की तुलनात्मक समीक्षा की जाये यह जान लेना नितान्त आवश्यक है कि दोनों ही संस्कृतियों की स्थापनाओं की विधा भिन्न है। जैसा कि परिच्छेद के आरम्भ में ही कहा जा चुका है दोनों का ही उद्देश्य सत्य की, मानवीय मूल्यों की, स्थापना है। किन्तु संस्कृत का साहित्यकार इसके लिए जो मार्ग अपनाता है; वह सीधा है, सरल है, जहाँ भ्रान्ति को स्थान नहीं मिलने पाता। इसके विपरीत पाश्चात्त्य विधा का मार्ग वक्र है। जहाँ भ्रम को स्थान मिलता है, दिग्भ्रान्ति होती है। अतः वहाँ नाटकों में भी असत्य को सत्य मानकर –यथार्थ के रूप में स्वीकार कर लिया गया है, जिसने त्रासदी जैसी विधा को जन्म दिया है। त्रासदी : त्रास कभी आनन्द को जन्म दे सकता है क्या ? किन्तु यह विरोध नहीं विरोधाभास है। मार्ग में बहा हुआ रक्त; चाहे वह किसी कापुरुष का ही हो और किसी वीर पुरुष द्वारा बहाया गया हो; उस वीर भाव को जन्म नहीं देता, जो उसी का मञ्चीय अनुकरण देता है। रक्तस्नात मनुष्य कितना ही वीर हो, उसे देखकर जन्म लेने वाली जुगुप्सा; जुगुप्सा ही रह जाती है। किन्तु वेणीसंहार में भीम के सन्दर्भ में वही भाव बीभत्सरस के रूप में, एक रस के रूप में विकसित होता है। पड़ोसी यदि किसी परिवार के कारण अपनी पत्नी को त्याग देता है तो हमें क्रोध ही आता है किन्तु उत्तररामचरित में राम द्वारा परित्यक्ता सीता को जब हम देखते हैं तो करुणा होती है, राम पर भी क्रोध नहीं आता है, ग्लानि होती है, क्यों ? यही तो नाटकीयता है, यही तो अनुकरण का आनन्द है। इस आनन्द को ही प्राप्त करना पाश्चात्त्य जगत् का भी उद्देश्य रहा है किन्तु वहाँ इसे नायक के उत्थान द्वारा नहीं पतन द्वारा, प्रतिनायक के पराभव द्वारा नहीं, विजय द्वारा, सिद्ध होता हुआ दिखाया गया है।

तात्पर्य यह कि दृष्टि भेद के कारण ही कथानक और उसके विकास की प्रक्रिया में भी अन्तर है। संस्कृत नाट्यसाहित्य में पञ्चसंधियाँ वे तत्त्व हैं जो कथा के विशृङ्खल तन्तुओं को जोड़ती हुई वही कार्य करती है जो पाश्चात्त्य नाटकों किंवा त्रासदी विधा में कथानक के विकास के क्रम देखा जाता है। संस्कृत की सन्धियाँ अथवा पञ्चकार्यावस्थाएँ जबकि अन्तर्मुखी हैं, कथानक के फल से जुड़ी हैं, तो पाश्चात्त्य कथावस्थाएं बहिर्मुखी हैं, मात्र कथा के विकास क्रम से जुड़ी हैं। उनके अभिधानों में, नामों में पर्याप्त साम्य है, अतः बाह्य दृष्टि से वे पर्याप्त समान है फिर भी उनमें अन्तर है। पञ्चसंधियों और पञ्चावस्थाओं के सन्दर्भ में; जैसाकि हम पाते हैं; उनके लक्षण कथानक के अनिवार्य कला-तत्त्व फलागम से सम्बद्ध हैं। उदाहरणके लिए मुख, प्रतिमुख, गर्भ विमर्श एवं निर्वहण संधियों के अभिधानों को देखें : 'मुख' तो 'आरम्भ' का पर्याय है। उसका लक्षण 'बीज समुत्पत्ति'–कथा बीज का अङ्कुरण भी इसी का संकेत करता है।

वह 'आरम्भ' से कुछ अधिक गम्भीर है और अधिक अन्तर्मुखी भी है। यहाँ 'बीज-समुत्पत्ति' कथा के फल से जुड़ा हुआ है जो कि प्रारम्भ से ही निश्चित है और नायक की विजय के रूप से स्थापित होने वाला तत्त्व है। भीम और चाणक्य की गर्जनाएँ इसके प्रमाण हैं। अभिनवगुप्त तो 'प्रारम्भभावित्वान्मुखमिव मुखम्' के रूप में उसे आरम्भ का समानार्थक मानते हैं। प्रतिमुख के शास्त्रीय लक्षण भले ही 'विडौजा टीका' से प्रतीत हों किन्तु नाट्यदर्पणकार का इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण, कथा अथवा संघर्ष के विकास का पर्याय बन जाता है। वे मानते हैं 'मुखसन्धौ कियल्लक्ष्यस्य गम्भीरत्वेन न्यस्तत्वादीषत् प्रकाशस्य बीजस्य प्रधानोपायत्वोद्घाटेन प्रबलप्रकाशनेन सम्यगनुगतः प्रयत्नावस्था-परिच्छन्नो सः प्रधानवृत्तांशः स मुखस्याभिमुख्येन वर्तत इति प्रतिमुखम्' (ना० द० प्रथमविवेक)। अर्थात् बीज रूप में न्यस्त कथा का विकास इस संधि में लक्षित किया जा सकता है। त्रासदी की दृष्टि से, संघर्ष की स्थिति की रूप-रेखा अपने विभिन्न आयामों में यहीं प्रकट होने लगती है। गर्भ वैसे भी 'मध्यवाचक' है और उधर क्राइसिस संघर्ष जन्य संघर्ष अथवा चरम स्थिति मध्य स्थल होता है। यह कथानक की वह स्थिति होती है जिसके दोनों छोर क्रमशः बाँयें और दाँयें ओर झुके होते हैं। 'गर्भस्तु दृष्टि-नष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः' में मात्र यह तथ्य संकेतित है कि नायक के फल की ओर अग्रसर कथानक कहीं उलझकर यहाँ सुलझने लगता है,। वस्तुतः यहाँ तदर्थ प्रयास ही 'गर्भ' स्थिति है, वह पूर्णरूपेण इसके अन्त तक ही किंचित्, सुलझ पाता है। त्रासदी के संदर्भ में क्राइसिस भी यही है। नाट्यदर्पणकार कहते हैं 'इह गर्भसन्धौ अप्राप्त्यंशः प्रधानसम्भावनात्मकः..........' अर्थात् फलप्राप्ति के अभावपक्ष की प्रधानता ही इसका मुख्य गुण है।

इसके पश्चात् विमर्श संधि में नायक के कार्य की नियताप्ति स्पष्टतर हो उठती है, जिससे कथा का प्रवाह ह्रासोन्मुख हो उठता है। संघर्ष समाप्त भले ही न हो किन्तु नायक की स्थिति की दृढ़ता का आभास इसका मुख्य गुण है। इसे 'अवमर्श' भी कहा गया है। नाट्यदर्पणकार अवमर्शसन्धि की स्थिति में, 'अवमर्शसन्धौ तु प्राप्त्यंशः प्रधानफल-निश्चयरूपः' के रूप में ह्रास की स्पष्ट घोषणा करते हैं। यद्यपि नाट्यशास्त्रियों ने अवमर्श से कथानक का नीचे की ओर बढ़ना अथवा पतन अर्थ कहीं नहीं लिया है फिर भी ऐसा अर्थ किया जा सकता है, जो डिनाउमेण्ट : ह्रास के अधिक निकट है। डिनाउमेण्ट को फाइनल सोल्यूशन के रूप में ग्रहण करते हुए यह और भी सार्थक हो उठता है। अस्तु, कथा की अन्तप्राय स्थिति दोनों में ही अन्तर्निहित है, इसमें संदेह का अवकाश नहीं है। 'अवमर्शः पर्यालोचनम्' के रूप में दशरूपककार का स्पष्टीकरण इस दृष्टि से उपयोगी नहीं लगता।

निर्वहणसन्धि और नायक के कार्यों में फलागम की स्थिति नाटक की अन्तिम स्थिति है जिसे सभी आचार्यों ने इसी रूप में; बिखरे कथानक को समेटने के रूप में,

स्वीकार किया है। कन्क्लूजन, कैटास्ट्राफी (सारांश, उपसंहार अथवा अन्तिम पतन) भी उसी स्थिति का पर्याय है।

'रोमियो जुलियट' के सन्दर्भ में इन कथावस्थाओं; कार्यावस्थाओं और सन्धियों की खोज के पूर्व यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि पाश्चात्य नाट्यसिद्धान्त के अनुसार त्रासदी में नायक का पतन एक अनिवार्य तत्त्व है। शब्दान्तर से इसे त्रासदी की कथा का मुख्य लक्ष्य माना जाना चाहिए। अतः वहाँ खलनायक का स्वरूप उतना ही महत्त्वपूर्ण हो उठता है जितना कि संस्कृत नाट्य विधाओं में नायक का। प्रतिनायक, नायक के चरित्र को उभारता है परन्तु नायक को किसी भी दृष्टि से अपने कर्मों द्वारा पराभूत नहीं कर पाता है, जबकि पाश्चात्य त्रासदियों में नायक के रक्त से ही खलनायक पलता है, वह अन्त में, मर भले ही जाये परन्तु नायक का पतन उसके चरित्र की ऐकान्तिक उपलब्धि है। अतः त्रासदी में, सन्धियों की खोज करते समय नायक के पतन को ही त्रासदी का फल मान कर कार्यावस्थाओं को खलनायक के कार्यों का आलेख मानना चाहिए। इनका अक्षरशः सत्यापन भले हो न हो पाये किन्तु इनकी स्थापना को, इनके निर्वाह को, वहाँ पर्याप्त सोमा तक खोजा जा सकता है; कम से कम सन्धियों की स्थिति, उनके कथावच्छेदक धर्म के कारण, पर्याप्त सीमा तक मुझे समान प्रतीत होती है।

अवस्थाएं, सन्धियां और रोमियो जुलियट

कथानक की आरम्भिक अवस्था (इक्सपोजोशन) वह अवस्था हुआ करती है जिसमें नायक की मुख्य समस्या के उद्घाटन के साथ ही प्रतिनायक के कार्यों पर भी प्रकाश डाला जाता है। 'आरम्भ' कार्यावस्था के सन्दर्भ में (परिच्छेद तीन) में यह दिखाया जा चुका है कि यह अवस्था और 'मुख–सन्धि' तथा 'बीज' अर्थ-प्रकृति में ही नायक प्रतिनायक के सम्बन्धों में उसके बाधक तत्त्वों का; भाव-द्वन्द्व, संघर्ष और विरोध का, बीज डाल दिया जाता है। मुद्राराक्षस हो अथवा ओथेलो, मृच्छकटिक हो अथवा रोमियो जुलियट, मैकबेथ हो अथवा वेणी-संहार सभी में हम इक्सपोजीशन के साथ खलनायक और प्रतिनायक के अस्तित्व को मुखरता को देख सकते हैं। रोमियो जुलियट को आधार बनाकर कथानक के विकास को इन पाँचों अवस्थाओं में हम देखेंगे कि इस नाटक का खलनायक कैसा है और कथा के विकास में उसकी क्या उपयोगिता है। कथावस्तु के सहज विकास को, संघर्ष को योजना को और नायक-नायिका के कार्यों को वह कितना प्रभावित करता है अथवा उसके कार्य, वियोग, और संयोग के बाधक तत्त्वों के रूप में कितने उपयोगी हैं।

रोमियो जुलियट में प्रस्तावना (प्रोलाग) से ही स्पष्ट है कि उसमें उन युगल प्रेमियों की कथा है जिनकी कारुणिक मृत्यु के मूल में दो प्रसिद्ध घरानों का वैर है। उसकी कथा नाटक के प्रथम अङ्क के प्रथम दृश्य से आरम्भ होती है, जहाँ कैप्यूलैट

घराने के कुछ सेवकों से मोण्टेग्यू परिवार के साथ, उनके उग्र विरोध-प्रदर्शन के साथ टाइबाल्ट के आते ही, बिना कारण उनके लड़ जाने के तेवर का पता चलता है। इस परिप्रेक्ष्य में, जुलियट और रोमियो के परिवार के इस वैर से उनके प्रेम में आने वाली समस्या का उद्घाटन होने में समय नहीं लगता। जहाँ टाइबाल्ट दो क्षणों में ही ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देता है कि यदि अन्य लोग न आजाएँ तो युद्ध टल नहीं सकता था। उसी दृश्य में मोन्टेग्यू के आग्रह पर बैन्वोलियो यह प्रयास करता है कि वह रोमियो की उदासी का कारण जान सके। उनके वार्तालाप से, रोमियो को प्रेम का रोग है; इसका आभास भी हो जाता है। रोमियो जुलियट में यह स्थल 'औत्सुक्यमात्रमारम्भः' के भी अनुरूप है और इसे ही 'मुखं बीजसमुत्पत्तिः' के रूप में मुख-सन्धि का भी स्थल माना जा सकता है। रोमियो जुलियट में इस अवस्था और सन्धि का स्थल पूरा प्रथम अङ्क है। जिसमें आगे चलकर रोमियो और जुलियट के मध्य प्रेम का आदान-प्रदान होता है और जुलियट भी इस तथ्य से परिचित हो जाती है कि उसका प्रेमी उसके पारिवारिक शत्रु परिवार का है।

संघर्ष का विकास (राईजिंग एक्शन अथवा इक्सपोजीशन) वह अवस्था है जिसमें संघर्ष की स्थिति स्पष्टतर हो उठती है। बोल्टन ने इसे प्रथम क्राइसिस का स्थल माना है। यही 'यत्न' की स्थिति है उसे 'प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः' के रूप में व्याख्यायित किया गया है। संस्कृत नाट्यदृष्टि से रोमियो जुलियट के प्रथम मिलन के प्रयत्न के साथ ही इसका आरम्भ माना जा सकता है जो दोनों के प्रणय के विकास की त्वरा और विवाह के बन्धनों के रूप में सुतरां स्पष्ट होता है। द्वितीय अङ्क में बोल्टन की प्रथम क्राइसिस के विरुद्ध रोमियो जुलियट के प्रेम का जो विकास दिखाया गया है उसे 'औत्सुक्यमारम्भः परमौत्सुक्यं तु प्रयत्नः[१]' के रूप में भी देखा जा सकता है। वैसे तो सन्धि की दृष्टि से यह अङ्क सपाट प्रतीत होता है, क्योंकि इनके पुनर्मिलन और धाय तथा फायर लॉरेन्स की सहायता से उनके विवाह तक कोई बाधा उत्पन्न नहीं होती है, अतः आशा-निराशा की स्थिति यहाँ नहीं है। किन्तु 'लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेद्' के अनुसार यदि लक्ष्यालक्ष्यता को बीज-सापेक्ष मान कर देखें तो रोमियो और जुलियट का विवाह जो नायक-नायिका की दृष्टि से सुखद है, कथा के विकास की दृष्टि से संघर्ष को गहरा कर देता है। इस संयोग से दोनों परिवारों में मेल होने की अपेक्षा बैर की खाँई बढ़ जाती है यही लक्ष्य का अलक्ष्य हो जाना भी है यही तो त्रासदी का परम उद्देश्य भी है कि उसे और-और बढ़ाया जाए जिसके माध्यम से त्रासद आनन्द को गम्भीर आयाम मिल सके।

चरमसीमा (क्राइसिस, क्लाइमेक्स) तीसरी अवस्था है जो त्रासदी की दृष्टि से

१. ना० द० प्रथम विवेक

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे क्लाइमेक्स कहा जाना उचित है। रोमियो जुलियट के प्रेम की चरम स्थिति, उनका विवाह हो जाना है किन्तु त्रासदी की दृष्टि से तृतीय अङ्क में बैन्वोलियो, मक्यूशियो और टाइबाल्ट का संघर्ष तथा रोमियो द्वारा बीच बचाव का प्रयास और तभी अवसर पाकर मक्यूशियों पर टाइबाल्ट का घातक प्रहार तथा उसकी मृत्यु की घटना, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। जिसे गर्भसन्धि का भी स्थल माना जा सकता है। क्योंकि कथानक का यह भाग किसी भी त्रासदी में आशाओं की अपेक्षा निराशाओं से; बाधक तत्त्वों से, भरा होता है। गर्भसन्धि में भी यही स्थिति होती है; 'गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः' का तात्पर्य यही है कि जो मिलता है वह फिर खो जाता है और उसके लिए पुनः प्रयास ही गर्भ स्थिति है।

रोमियो जानता है कि यह कलह उसके प्रेम में फल प्राप्ति में बाधक बनता जा रहा है; प्राप्त हुए—दृष्ट हुए फल का नाश होता जा रहा है। जिसकी पुनः खोज आवश्यक है। मक्यूशियो की मृत्यु के मूल में रोमियो जो कारण खोजता है, वह है—जुलियट के प्रेम में उसका स्त्रैण हो जाना, जिसमें निराशा का भाव है। यह उसके प्रेम को भी लांछित करता है। मक्यूशियो की इस हत्या को प्रथम क्राइसिस के रूप में भी देखा जा सकता है। रोमियो की उपस्थिति इस क्राइसिस को गहरा कर देती है, जैसाकि त्रासदी की इस अवस्था के सन्दर्भ में कहा गया है कि यहाँ एक क्राइसिस दूसरी घटना को जन्म देती है अर्थात् संघर्ष और आगे बढ़ता है। रोमियो स्वयं कहता है 'आज के दिन का अन्धकारमय भाग्य अनेक दिनों पर छाया डालेगा। आज वह दुःख आरम्भ हुआ है जिसका अन्त दूसरों को करना पड़ेगा[1]।' इसके पश्चात् ही वह टाइबाल्ट को मार डालता है। फलस्वरूप शासक राजकुमार उसे निर्वासन का दण्ड देता है। उधर जुलियट भी टाइबाल्ट की मृत्यु के मूल में रोमियो को पाकर खिन्न हो उठती है यहाँ तक कि एकबार अनेक गर्हित सम्बोधनों के साथ उसकी निन्दा ही नहीं करती अपितु उसके साथ अपने सम्बन्धों पर भी लांछन लगाती है। किन्तु धाय द्वारा रोमियो की निन्दा के साथ ही वह रोमियो के प्रति उदार हो उठती है। विशुद्ध प्रेम-सम्बन्धों के मध्य को यह क्राइसिस, यह अन्तर्द्वन्द्व, निश्चय ही सराहनीय है।

इस युद्ध के अतिरिक्त यहाँ एक अन्य संघर्ष की योजना भी शेक्सपियर ने की है, वह है पेरिस के रूप में जुलियट के लिए रोमियो के एक अन्य प्रतिस्पर्धी की योजना। राजपरिवार से सम्बद्ध इस चरित्र के माध्यम से कैप्यूलेट तथा जुलियट के मध्य जो विवाद है, और आगे चलकर जिसके फलस्वरूप फ्रायर लारेन्स की औषधि की परीक्षा होती है, यह जिस द्वन्द्व को जन्म देता है वह गम्भीर न होता हुआ भी 'कथानक के सहज विकास' के अनुरूप है जहाँ 'एक क्राइसिस दूसरी घटना को जन्म देती है।'

---

१. देखें : रोमियो जुलियट अङ्क ३, दृश्य १, पृ० ६० (अनुवाद—डॉ० रांगेयराघव) राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली द्वारा प्रकाशित।

इस अवस्था के अन्तर्गत नायक-नायिका के पुनर्मिलन के प्रयास में फ्रायर लॉरेन्स की योजना बचकानी भले ही हो किन्तु उसमें 'उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा' की स्थिति के दर्शन अवश्य होते हैं। कहना न होगा कि त्रासदी के अनुरूप इस स्थिति की उपयोगिता यही है कि यह जुलियट एवं रोमियो के प्रति किंचिद् संवेदना को जन्म देती है। फ्रायर लॉरेन्स से रोमियो और जुलियट की धाय का मिलना तथा रोमियो से जुलियट से मिलाने की योजना का बनाना यह सब त्रासदी की क्राइसिस की अपेक्षा गर्भ सन्धि के अधिक अनुकूल है, जैसाकि प्राप्त्याशा की समीक्षा के प्रसंग में (प्रबन्ध के तृतीय परिच्छेद में) कहा जा चुका है; यह द्वन्द्व अथवा द्विविधा की स्थिति होती है फिर भी मिलन की सम्भावना बनती है। यही 'प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः' की व्याख्या हो सकती है। रोमियो और जुलियट एक बार पुनः मिलते भी हैं किन्तु यही उनका अन्तिम मिलन है। अतः यह आशा अन्त तक आशा ही बनी रह जाती है और हम देखते हैं कि आगे चलकर पेरिस के चरित्र के माध्यम से उसमें पुनः अन्तर्द्वन्द्व एवं संघर्ष की सृष्टि की गयी है।

नियताप्ति और फलागम की स्थिति किसी भी त्रासदी में सम्भव नहीं हो सकती क्योंकि इनका आधार नायक के फल से है। अतः त्रासदी में संस्कृत की कार्यावस्थाएँ प्राप्त्याशा तक ही सीमित रह जाती प्रतीत होती हैं, किन्तु यदि नायक की असफलता को त्रासदी के फल के रूप में लिया जाए तो यहाँ भी उनकी व्याख्या सम्भव है, तब गर्भ के बाद अवमर्श अथवा विमर्श और निर्वहण अथवा उपसंहृति का निर्वाह भी त्रासदी में देखा जा सकता है और अवमर्श तथा उपसंहृति को क्रमशः डिनाउनमेण्ट (संघर्ष के ह्रास) तथा कन्क्लूजन या केटास्ट्राफी (उपसंहार या परिणति) का पर्याय माना जा सकता है। जैसाकि तीसरे परिच्छेद में दिखाया जा चुका है, 'सन्धियाँ एक ओर तो रस से सम्बद्ध हैं तो दूसरी ओर नाटककार की रचना प्रक्रिया से जुड़ी हैं' इसे ध्यान में रखते हुए त्रासदी अथवा अन्य पाश्चात्य नाटकों में सन्धियों का अन्वेषण और पाश्चात्य नाट्यावस्थाओं से उनकी समानता अधिक सुकर हो उठती है।

संघर्ष का ह्रास (डिनाउमेण्ट), जैसाकि अभिधान से ही स्पष्ट है, यह चतुर्थ अवस्था होती है जिसमें कथानक का अवरोह आरम्भ हो जाता है। इसे संघर्ष का ह्रास कहना त्रासदी की दृष्टि से तो उपयुक्त हो सकता है किन्तु अन्य नाटकों में जहाँ संघर्ष का स्वरूप अन्तर्द्वन्द्व के रूप में विकास पाता है वहाँ इसे अवमर्श अथवा विमर्श के अधिक निकट पाया जाता है। विमर्श अथवा अवमर्श की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने इसे 'संदेहात्मको विमर्शः' कहा है। दशरूपककार कहते हैं कि 'भीष्मादिमहारथिवधादवधारितैकान्तविजयावमर्शनादवमर्शनम्' अर्थात् जब वेणीसंहार में भीष्मादि महारथियों के वध के बाद विजय की आशा प्रबल हो जाती है तो वहाँ अवमर्श का स्थल मानना चाहिए। क्योंकि वे 'अवमर्शः पर्यालोचनम्' के समर्थक हैं।

यह व्याख्या संघर्ष के ह्रास के अनुरूप है, बोल्टन ने इसे 'यूनिटी आफ दि नॉट' के रूप में देखा है। वस्तुतः 'संघर्ष के ह्रास' एवं 'उपसंहार' के मध्य की स्थिति को 'यूनिटी आफ दि नॉट' मानना अधिक उपयुक्त होगा क्योंकि संघर्ष के ह्रास के स्पष्ट होने के बाद ही ऐसी स्थिति आ सकती है। जैसाकि हम देखेंगे निर्वहण सन्धि की जो व्याख्या नाट्यदर्पणकार ने की है उसके परिप्रेक्ष्य में भी नाट्यकथा का क्रम यही होना चाहिए।

रोमियो जुलियट में टाइबाल्ट की हत्या के दण्ड से रूप में रोमियो का निर्वासन हो जाता है। वह तृतीय अङ्क में जुलियट से मिलकर फ्रायर लारेन्स के आश्वासन पर मण्टुआ चला जाता है। उधर चतुर्थ अङ्क में जुलियट फ्रायर लारेन्स के समीप पहुँचती है जहाँ पेरिस पहले से ही उपस्थित है। वह, पेरिस के चले जाने पर, फ्रायर लॉरेन्स से अपनी पीड़ा का उद्घाटन करती है और फ्रायर लॉरेन्स उसे मूर्च्छा की ऐसी औषधि देता है जो रोमियो एवं जुलियट को मिलाने की योजना का अङ्ग है। इस प्रकार अब तक कार्यावस्था की दृष्टि से प्राप्त्याशा की ही स्थिति है किन्तु 'गर्भ' के बाद 'संशयनिर्णयान्तरालवर्तिनं हि तर्कं तार्किका प्राहुः' अभिनवगुप्त की इस व्याख्या के अनुरूप यहाँ सामाजिक को 'सम्भवतः फ्रायर लॉरेन्स की योजनानुसार रोमियो जुलियट का मिलन हो जाए' की अनुभूति होती रहती है, ऐसा माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त जुलियट को मृत समझ लेने पर पेरिस निराश होकर एक बार तो मार्ग से हट ही जाता है। अतः 'प्रणय कथा' की दृष्टि से यह अवमर्श सन्धि का सिद्ध स्थल है। पेरिस के हट जाने से ही यहाँ संघर्ष का ह्रास भी प्रारम्भ हो जाता है। संघर्ष के तनाव (टेन्शन) को कम करने की दृष्टि से ही शेक्सपियर ने अङ्क के अन्त में 'बाजे वालों' से पीटर के विवाद की योजना की है जो वातावरण की गम्भीरता को शिथिल अवश्य करता है किन्तु यह प्रकरण वैसा ही है जैसाकि संस्कृत नाटकों में कभी-कभी नाट्यसिद्धान्तों का पालन करते हुए भी निरर्थक संध्यंगों की योजना होती देखी जाती है। वेणीसंहार के द्वितीय अङ्क में ऐसा ही है।

उपसंहार (कन्क्लूजन या केटास्ट्राफी)–यह पाश्चात्त्य नाटकों के कथानक की पाँचवीं अवस्था होती है। संस्कृत में निर्वहण सन्धि अथवा उपसंहृति[१] को इसका पर्याय माना जा सकता है। संस्कृत में नाट्यशास्त्रियों ने निर्वहण सन्धि (उपसंहृति) का लक्षण करते हुए कहा है कि प्रथम अर्थप्रकृति (बीज) एवं प्रथम सन्धि (मुख) के रूप में बिखरे हुए सभी तत्त्वों को रूपकों के अन्त में जहाँ एकत्रित कर लिया जाता है वहाँ निर्वहण सन्धि का स्थल मानना चाहिए[२]। नाट्यदर्पणकार तो स्पष्ट रूप से कहते हैं––

---

१. मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः।—द० रू० १.२४

२. बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
ऐक्यार्थमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ॥— सा० द० ६.८०–८१

'फलेन मुखसाध्येन नायक-प्रतिनायक-नायिकामात्यादि-व्यापारैः सम्यगौचित्येन युज्यन्ते सम्बद्ध्यन्ते यस्मिन् प्रधानवृत्तांशे स फलागमावस्थया परिच्छिन्नो निर्वहण सन्धिः।'
—ना० द० प्रथम विवेक

अर्थात् जहाँ मुखसन्धि से लेकर फलागम की कार्यावस्था तक निक्षिप्त सम्पूर्ण कथांश को एकत्रित कर लिया जाता है, वहाँ निर्वहण सन्धि होती है। 'सम्यगौचित्येन' के रूप में जिस औचित्य का विधान है, पाश्चात्य नाटकों में भी उसका निर्वाह नितान्त आवश्यक है। डा० गुप्त[1] कहते हैं, 'इसमें पात्र के संघर्ष समाप्त हो जाते हैं और उसे उसका अभीप्सित प्राप्त हो जाता है। उसकी समस्या हल हो जाती है। इस विषय में नाटककार को ध्यान रखना चाहिए कि परिणति बाहर से थोपी प्रतीत न हो। अपितु वह कथावस्तु का स्वाभाविक परिणाम हो।' नायक को अभीष्ट की प्राप्ति त्रासदी में तो सम्भव नहीं है। अतः त्रासदी के सन्दर्भ में सारे संघर्ष की समाप्ति तथा नाट्यकथा का उपसंहार ही इस अवस्था का विषय हो सकता है। अर्थात् किसी त्रासदी का अन्तिम फल नायक पतन का चित्रण है जो यहाँ पूर्ण हो जाता है। जैसाकि हम देख चुके हैं 'कार्य' रूपी पाँचवीं कार्यावस्था को नाट्यरचना का पर्याय मानकर देखें तो 'त्रासदी' की पूर्णता; त्रासद आनन्द की पूर्णता ही, इस अवस्था का विषय होना चाहिए।

रोमियो और जुलियट को मिलाने के लिए फ्रायर लॉरेन्स जो योजना बनाता है वह दैवी बाधा (प्लेग की बीमारी) के रूप में सन्देशवाहक को मन्टुआ में प्रविष्ट होने से रोक देने के कारण असफल हो जाती है। उधर बाल्थेसर के यह बताने पर कि उसने जुलियट को दफनाने के लिए ले जाते हुए देखा है, रोमियो विष खाकर आत्म-हत्या की योजना बनाता है। एक दवा बेचने वाले से विष खरीद कर वह मन्टुआ पहुँचता है। वह जुलियट की समाधि स्थल पर पहुँचता है, वहीं पेरिस से उसकी लड़ाई होती है और रोमियो उसे मारकर स्वयं ही जुलियट की समाधि को खोदता है और जुलियट के दर्शन करके उसके समीप ही विष खाकर आत्महत्या कर लेता है। ४८ घण्टे की मूर्च्छा के बाद जब जुलियट को चेतना आती है तो वह समाधि से बाहर आती है, रोमियो को मृत देखकर छूरे से आत्महत्या कर लेती है। यहाँ कथानक की जटिलता, उसमें विद्यमान संघर्ष और द्वन्द्व तथा मुख्य उद्देश्य त्रास एवं करुणा को उत्पन्न करके मनःशान्ति की खोज को देखते हुए उपसंहार की स्थिति पर्याप्त शिथिल है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य में नायक की त्रुटि को इस सीमा तक स्वीकार कर पाना सम्भव नहीं है। अतः रोमियो द्वारा निकट ही स्थित फ्रायर लारेन्स से मिले बिना ही यह दुःसाहस कर बैठना तर्कसंगत नहीं है। तर्क की बात इसलिए उठाई गयी है कि

---

१. डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त : पाश्चात्य काव्यशास्त्र के सिद्धान्त, पृ० ३३५

पाश्चात्त्य आलोचकों ने माना है कि भारतीय अथवा संस्कृत के नाटकों में तर्क को स्थान नहीं मिला है जबकि पाश्चात्त्य नाटकों में तर्क की प्रधानता है[1]। ओथेलो, मैकबेथ अथवा अन्य नाटकों के सन्दर्भ में भी ऐसे ही प्रश्न उठाये जा सकते हैं। किन्तु प्रकृत सन्दर्भ में यह अभीष्ट नहीं है। अतः पाश्चात्त्य एवं संस्कृत रूपकों के मध्य विद्यमान इस अन्तर को दोनों की अपनी-अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं और जीवन दर्शन के सन्दर्भ में ही देखना उचित होगा।

रोमियो जुलियट का खलनायक : टाइबाल्ट

रोमियो जुलियट के खलनायक के सन्दर्भ में अथवा नायक-विरोध के रूप में, हम देखते हैं कि पारिवारिक वैर की भावना इस नाटक को; रोमियो और जुलियट के प्रेम को, एक त्रासदी में परिवर्तित कर देती है। इस पारिवारिक वैर को अभिव्यक्त करने के लिए, संघर्ष की योजना की दृष्टि से नाटककार ने टाइबाल्ट को चुना है। वह अथवा उसके कारण जन्म लेने वाली दुखद घटनाएं आरम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण कथानक पर छायी रहती हैं। यदि किञ्चिद् व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो सम्पूर्ण नाटक में जितनी भी हत्याएं हैं, जितना भी संत्रास है, जितनी भी वेदना है, सभी के मूल में टाइबाल्ट है। मर्क्यूशियो की हत्या तो वह स्वयं ही करता है। उसकी हत्या रोमियो करता है और फिर पेरिस पर भी इसकी छाया पड़ती है और रोमियो तथा जुलियट का अन्त वैसे तो रोमियो के निर्वासन से सीधे सम्बन्धित है, किन्तु उस निर्वासन के मूल में भी टाइबाल्ट की काली छाया स्पष्ट देखी जा सकती है। अतः इन सारी विपत्तियों का कारण टाइबाल्ट है और वही इसका खलनायक सिद्ध होता है। जो प्रवृत्ति से झगड़ालू है, मञ्च पर अधिक समय तक रहता भी नहीं है किन्तु थोड़े समय में ही इतने भयानक प्रभाव छोड़ जाता है कि उसमें सब कुछ भस्म हो जाता है। चारित्रिक दृष्टि से उसमें संस्कृत के प्रतिनायक के औद्धत्य, मात्सर्य, उद्दण्डता, दर्प, छद्म प्रभृति गुण किसी न किसी रूप में खोजे जा सकते हैं।

प्रकृत सन्दर्भ में यह स्पष्ट करना अनुचित न होगा कि पाश्चात्त्य नाटकों अथवा त्रासदी नाटकों के कथा के विकास के सोपान संस्कृत की पञ्चसन्धियों और पञ्चावस्थाओं से उस सीमा तक समान हैं जहाँ हम उनके मुख्यतत्त्व रस को पृथक् रखकर देखते हैं। तुलना के सन्दर्भ में, जैसा कि इस परिच्छेद के आरम्भ में

---

1. 'Indians are by no means greatly concerned with logic or with the individual's private problem of spiritual unity or harmony, in the manner of *Strindberg or* O' *Neill*; their desire is for a religiously conceived and universal goal of spiritual equilibrium.

HENRY W. WELLS. CDI page 8

जा चुका है, यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उनके बीच सांस्कृतिक मान्यताओं का जो अन्तर है, नाट्य के मूल में जिन तत्त्वों का अस्तित्व है और जिनके कारण यह भेद दिखाई देता है, उन्हें पृथक् रखना ही श्रेयस्कर है। अतः संस्कृत-नाटकों के मूलतत्त्व रस को पृथक् रखकर यदि देखा जाए तो यह सिद्ध करना कठिन न होगा कि दोनों की संरचना में, विषय की प्रस्तुति में, कथानक के चयन में, अभिनय और संवादों में यहाँ तक कि संघर्ष के आन्तरिक रूप अन्तर्द्वन्द्व में तथा किसी सीमा तक सन्त्रास और करुणा की अभिव्यक्ति में, पर्याप्त समानता है। यही कारण है नायक विरोध की दृष्टि से भी दोनों की प्रकृति समान है। इस सन्दर्भ में जो मुख्य अन्तर दिखाई देता है उसके मूल में वही आदर्श और यथार्थ अर्थात् जगत् और जीवन के सम्बन्ध में उनका अपना अपना दार्शनिक दृष्टि-भेद निहित है।

पदावली (डिक्शन) शैली (स्टाइल) तथा नाट्यवृत्तियां

पाश्चात्त्य नाटकों और त्रासदी की संरचना के लिए निर्धारित तत्त्वों; नायक के स्वरूप, नाट्यवर्जनाओं और नाट्यकथा के विकास के क्रम और संस्कृत की नाट्यसंरचना प्रक्रिया के अङ्गों; पञ्चसन्धियों और पञ्चावस्थाओं तथा अर्थ प्रकृतियों के सन्दर्भ में उनकी समान व्यवस्था का, परिचय दिया जा चुका है। इस सम्बन्ध में व्यापक चर्चा प्रासंगिक नहीं है अतः पदावली (डिक्शन) और शैली (स्टाइल) के सम्बन्ध में इतना ही कहना अभीष्ट है कि संस्कृत नाटकों में इनका भी व्यापक महत्त्व है। पाश्चात्त्य नाटकों में पदावली (डिक्शन) और शैली (स्टाइल) दोनों का ही सम्बन्ध भाषा, भाषागत सौन्दर्य और अभिव्यक्ति के सामर्थ्य की विधा से है। जैसाकि हम देख चुके हैं, अरस्तू ने त्रासदी के सम्बन्ध में डिक्शन को एक तत्व के रूप में स्वीकार किया है। दूसरी ओर स्टाइल का नाटक सामान्य के सन्दर्भ में ग्रहण किया गया है। इसके औचित्य, अनौचित्य पर विवेचना न करते हुए और उसकी सूक्ष्मता में न जाते हुए, वैषम्य और भेद के सम्बन्ध में यही कहना उचित है कि त्रासदी की भाषा को अधिक प्रभावोत्पादक बनाने के लिए ही वहाँ पदावली की अनिवार्यता पर बल दिया गया है, जबकि शैली को भी तदर्थ स्वीकार किया जा सकता है। वस्तुतः डिक्शन का सम्बन्ध उन पदों से ह सकता है जो अर्थगौरवयुक्त तथा अलङ्कृत होते हैं जबकि स्टाइल का सम्बन्ध तथ्य को प्रस्तुत करने के ढंग से है। वैसे दोनों का ही सीधा सम्बन्ध भाषा के सामर्थ्य से है।

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में रीतियों और वृत्तियों का जो स्थान है वही स्थान पाश्चात्त्य रूपकों में डिक्शन और स्टाइल का प्रतीत होता है। वस्तुतः इनका प्रयोजन भाषा की नाटकीयता, नाटकीय व्यंग्यों और तदर्थ मनोहारी पदावली की योजना के रूप में देखा जा सकता है। लक्षणा और व्यञ्जना जैसी शब्दशक्तियों के माध्यम से नाटककार कथोपकथनों में जो चमत्कार उत्पन्न करता है और उस चमत्कार के लिए जो विधा अपनायी जाती है उसे स्टाइल तथा उसके लिए प्रयुक्त शब्दावली को डिक्शन

कहा जा सकता है। संस्कृत में आचार्यों ने नाट्य-वृत्तियों का सम्बन्ध रूपकों के कथोपकथनों—सम्वादों में प्रयुक्त भाषा एवं अभिनय से जोड़ा है। भरतमुनि ने एक पूरे अध्याय में इन्हीं वृत्तियों की विवेचना की है और इस परम्परा को उत्तरकाल में भी निभाया गया है। इसका महत्त्व संस्कृत नाट्य साहित्य में इस सीमा तक है कि इन्हें 'नाट्यमातरः' कह दिया मान लिया है, नाट्यदर्पणकार कहते हैं :—

भारती सात्त्वती कैशिक्यारभटी च वृत्तयः।
रसभावाभिनयगाश्चतस्रो नाट्यमातरः ॥

—ना० द० तृतीय विवेक

वस्तुतः संस्कृत के आचार्यों ने स्पष्ट रूप से उपर्युक्त भारती सात्त्वती, कैशिकी तथा आरभटी इन चारों वृत्तियों में से भारती वृत्ति को वाग्व्यापार से जोड़ा है। किन्तु यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो इन चारों का ही सम्बन्ध बातचीत की चार प्रकार की विधाओं से है। भारती वृत्ति, जबकि सर्वत्र ही वाग्व्यापार की अधिष्ठात्री है तो कैशिकी वृत्ति में शृङ्गारपूर्ण चेष्टाओं के साथ वाग्व्यापार देखा जाता है। इसी प्रकार वीर रस अथवा वीरता की अभिव्यञ्जना के अवसर पर वीरतापूर्ण वाग्व्यापार एवं चेष्टाओं को सात्त्वतीवृत्त के रूप में तथा क्रोध मूलक भाव एवं भाषा अथवा वाग्व्यापार को आरभटी वृत्ति के रूप में स्वीकार करना चाहिए। वाग्व्यापार किंवा वृत्तियाँ ही वे मूलतत्त्व हैं जो कथापकथनों अथवा सम्वादों के रूप में विस्तार पाती हुई रूपकों को मात्र दृश्य ही नहीं रहने देती उन्हें श्रव्य और पाठ्य भी बना देती हैं। यही कारण है कि नाटकों, रूपकों को देखकर जितना आनन्द मिलता है रेडियो पर सुनकर और काव्यों की भाँति उन्हें पढ़कर भी उनमें उतना ही आनन्द मिलता है।

अर्थात् संस्कृत नाट्यसाहित्य में, वृत्तियों के रूप में, जिस 'व्यापार' को स्वीकार किया गया है उसमें भाषा भी है और व्यापार भी, उसमें डिक्शन और स्टाइल भी है और ऐक्शन भी अर्थात् उसमें वाचिक अभिनय का भी प्राधान्य रहता है। यहाँ यह संकेत करना अनुचित न होगा कि जी० के० भाट[1] महोदय ने भरत के 'नाट्य' को मात्र 'दृश्य' मान कर भूल की है क्योंकि यद्यपि भरत ही नहीं सभी आचार्य नाटक को दृश्य काव्य मानते हैं किन्तु नाट्यवस्तु को प्रेक्षक और सामाजिक तक किस रूप में संप्रेषित किया जाए इसकी उपेक्षा किसी ने नहीं की है और इसी कारण वहाँ वृत्तियों के रूप में वाग्व्यापार पर पर्याप्त बल दिया गया है। दृश्य तो नृत्य और नृत्त भी हैं[2] किन्तु उनमें वाग्व्यापार नहीं होता और वे मात्र आङ्गिक, सात्त्विक और आहार्य अभिनय तक ही सीमित होते हैं। इस दृष्टि से नृत्य और नृत्त भले ही मात्र दृश्य हों किन्तु रूपक में

१. ट्रेजडी एण्ड संस्कृत ड्रामा, पृ० १७
२. द० रू० १.९

दृश्य गुण के साथ ही श्रव्य गुण भी विद्यमान होना अनिवार्य है। पाश्चात्त्य विचारकों ने भी गीत-तत्त्व, दृश्यविधान और विचारतत्त्व को पृथक् पृथक् रखते हुए उन पर विशेष बल दिया है। ऐसा नहीं है कि संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने इन तत्त्वों को स्वीकार नहीं किया है अथवा उनकी उपयोगिता का मूल्याङ्कन नहीं किया है। भरत नाट्यशास्त्र का क्षेत्र इसमें भी बहुत व्यापक है किन्तु इन्हें पृथक् रूप से नाट्यसन्दर्भ में नहीं गिनाया गया है और उन्हें नाटककारों की प्रतिभा पर छोड़ दिया गया है, जो स्थान-स्थान पर ऐसे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष संकेत भी करते हैं। इसके अतिरिक्त नट, नटी एवं सूत्रधार की जो योजना संस्कृत के नाटकों में होती है और उनका जो स्वरूप नाट्यशास्त्र में दिया गया है उससे स्पष्ट है कि नाटक को प्रस्तुत करने के लिए इन उपकरणों; दृश्य-विधान, और संगीत के लिए वे ही उत्तरदायी होते थे।

पाश्चात्त्य तथा संस्कृत नाटकों की तुलना

इस प्रकार हम देखते हैं कि नाट्य संरचना की दृष्टि से भारतीय एवं पाश्चात्त्य नाटकों में पर्याप्त समानता है और जो भेद है वही उनकी अपनी मौलिकता है। उसे अभाव कहना अनुचित है। अतः इस विवेचना के पश्चात् अब पाश्चात्त्य नाटकों में नायक और खलनायक के स्वरूप तथा खलनायक और प्रतिनायक के अन्तर को देखना अनुपयुक्त न होगा। इस दृष्टि से शेक्सपियर के जुलियस सीजर, मैकबेथ, और ओथेलो इन तीन त्रासदी नाटकों के परिप्रेक्ष्य में उन तत्त्वों को खोजा जा रहा है जिनके आधार पर प्रतिनायक और खलनायक के मध्य के भेदक धर्म को समझा जा सके।

अनेक विद्वानों ने संस्कृत के नाटकों और पाश्चात्त्य नाटकों में अनेक समानताएँ देखी हैं। हैनरी वेल्स ने स्वप्नवासवदत्ता और ट्वेल्थनाइट में कल्पना की समानता[1] तथा प्रतिमानाटक और ओथेलो के आमुख को नाटकीयता में, किंवा पताकास्थानक तथा उसके माध्यम से भावी कथा पर प्रकाश डालने की प्रक्रिया में, समानता देखी है[2]। इसी प्रकार उन्होंने संस्कृत के कुछ अन्य नाटकों की तुलना एलिजाबेथ युगीन नाटकों से की है[3]। संस्कृत नाटकों के विष्कम्भकों को भी उन्होंने शेक्सपियर के नाटकों में देखा है[4]। डॉ० राय ने शकुन्तला के समान ही सिम्बेलिन की आइमोजिन तथा विन्टर्स टेल की हरमिआन जैसी नायिकाओं को, पति के संदेहों के कारण पीड़ा उठाते हुए पाया है। इसी प्रकार मृच्छकटिक की मदनिका को ट्वेल्थनाइट की मेरिया एवं सुखान्त

१. (क) दी क्लासिकल ड्रामा आफ इण्डिया, पृ० २४
   (ख) डॉ० विक्रमादित्य राय, काव्य समीक्षा, पृ० २४२
२. दी क्लासिकल ड्रामा आफ इण्डिया, पृ० २६
३. दी क्लासिकल ड्रामा आफ इण्डिया, पृ० १३, १४
४. काव्य समीक्षा, पृ० २४३

नाटकों की वैसी ही अन्य परिचारिकाओं के समान, शकार को पाश्चात्त्य नाटकों के विदूषक एवं खलनायक के संयुक्त रूप के समान पाया गया है तथा संवाहक जैसे पात्रों में भी पाश्चात्त्य नाटकों के अनेक पात्रों से समानता देखी गयी है[१]। तात्पर्य यह कि इस रूप में इन समानताओं को स्थूलरूप में ही देखा गया है फिर भी प्रतिनायक जैसी भूमिकाएं इस क्षेत्र में भी उपेक्षित ही रह गयी है। अतः प्रकृत स्थल पर इनका पुनः मूल्याङ्कन अनुचित न होगा।

पिछली पंक्तियों में हमने देखा है कि पाश्चात्त्य नाटकों और त्रासदी के तत्त्वों में कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, विचारतत्त्व, पदावली अथवा शैली, तथा दृश्यविधान आदि का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हमें भूलना नहीं चाहिये कि इनमें से उत्तरवर्ती तीनों तत्त्व कथावस्तु, चरित्रचित्रण तथा विचारतत्त्व की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि प्रारम्भिक तीनों तत्त्व तो अनुकरण के विषय हैं, पदावली तथा, गीता—तत्त्व माध्यम हैं और दृश्य विधान विधि है[२]। संस्कृत नाटकों की दृष्टि से इन तीनों तत्त्वों को यदि स्थूल रूप से वस्तु, नेता तथा रसतत्त्व का पाश्चात्त्य संस्करण मान लिया जाए अथवा उनको परस्पर पर्याय मान लिया जाए तो अनुचित न होगा। किन्तु इस समानता का क्षेत्र सीमित है, यह हमें नहीं भूलना चाहिए। इस समानता में किसी पर किसी के प्रभाव के चिह्न खोजना अथवा किसी एक पर दूसरे के अनुकरण का आरोप लगाना उचित न होगा। कथानक, चरित्र-चित्रण तथा विचार तत्त्व को वस्तु नेता एवं रस का पर्याय अथवा पाश्चात्त्य संस्करण मानने के पीछे उनमें निहित वह साम्य है जो नाटक के लिए तीन अनिवार्य तत्त्वों के रूप में सर्वत्र मिलता है।

वस्तु और कथावस्तु के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहने की आवश्यकता है कि पाश्चात्त्य नाटकों में भी कथावस्तु; ऐतिहासिक, लोककथाश्रित अथवा कविकल्पित हो सकती है। इसे ही संस्कृत में 'ख्यातोत्पाद्यमिश्र' के रूप में स्वीकार किया गया है। अरस्तू के वर्गीकरण में भी इसका स्वरूप लगभग यही है। जहाँ तक नेता एवं चरित्र-चित्रण का प्रश्न है हमें ध्यान रखना होगा कि नेता के सम्बन्ध में जो विस्तृत विवेचना संस्कृत नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थों में है, उसका आधार नाटकों में नायकों, उपनायकों, प्रतिनायकों, उनके सहायकों तथा नायिका एवं उनकी प्रतिद्वन्द्वी भूमिकाओं के स्वरूप को रूपक प्रबन्धों में चित्रित करने से ही है। वस्तुतः इस विषय पर जो विवेचना वहाँ है उसकी व्याख्या यही है कि रूपक प्रबन्धों में चरित्र-चित्रण के साथ उसका सीधा सम्बन्ध है। इसी प्रकार पाश्चात्त्य रूपकों में (विशेषकर त्रासदी में) विचार तत्त्व की योजना अथवा प्रधानता का विशेष महत्त्व है। पाश्चात्त्य रूपकों में त्रासदी को

१. द्रष्टव्य : क्लासिकल ड्रामा आफ इण्डिया, अध्याय १२ (विशेष १३७–१३८)
२. डॉ० नगेन्द्र, अरस्तू का काव्यशास्त्र, भूमिका भाग–पृ० ६६

विचारोत्तेजक नाटकों के रूप में स्वीकार किया जाता रहा है, अतः इस तत्त्व को संस्कृत के नाटकों के मुख्य तत्त्व रस का सम स्थानीय मानना अनुचित न होगा। किन्तु यह ध्यान रखना आवश्यक है कि रस का सम्बन्ध जबकि भावना, मन और हृदय से है तो विचार तत्त्व का सम्बन्ध बुद्धि से है। एक ओर भावनाएँ होती हैं तो दूसरी ओर तर्क होते हैं। एक में यदि भावना का प्राधान्य होता है तो दूसरे में तर्क का, बुद्धि-तत्त्व का प्राचुर्य होता है। एक ओर तन्मयता की, तल्लीनता की, सहृदयता की, अपेक्षा की जाती है तो दूसरी ओर विचारों की, वैचारिक उत्तेजना की, और बौद्धिकता की, अपेक्षा की जाती है। अत: संस्कृत के रूपकों की पाश्चात्त्य नाटकों से तुलना करते समय इस भेदक तत्त्व को, और उसकी पृष्ठभूमि को ध्यान में रखना चाहिए।

मुद्राराक्षस तथा जुलियस सीजर

विशाखदत्त और शेक्सपियर के मध्य कम से कम सात सौ वर्षों का अन्तराल[1] है। अतः इन दोनों महान् नाटककारों की कला पर इस अन्तराल का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। मुद्राराक्षस की तकनीक, अभिनय की दुरूहता, कथानक की श्लिष्टता–क्लिष्टता, समय-सापेक्षता, मुख्य चरितों की आत्मश्लाघा, आदि ऐसे गुण हैं जिन पर अपनी परम्परा और काल का प्रभाव है। दूसरी ओर जुलियस सीजर में पग-पग पर हत्या, आत्महत्या का प्रदर्शन, कथानक की सहजता, लयात्मकता, अभिनय की सरलता और संक्षिप्तता ऐसे गुण हैं जिन पर उसकी अपनी परम्परा का प्रभाव है। यह सब होते हुए भी उनमें ऐसी अनेक समानताएं हैं जिनके आधार पर प्रकृत सन्दर्भ में इन दोनों की संक्षिप्त विवेचना उपादेय है।

कथावस्तु

दोनों ही नाटकों की कथा का सम्बन्ध राजनीति से है, सत्ता से है, सत्ता की अस्थिरता और स्थिरता से है। एक का केन्द्र पाटलिपुत्र है तो दूसरे का केन्द्र इटली है। एक का सम्बन्ध बृहत्तर भारत से है तो दूसरे का सम्बन्ध रोमन साम्राज्य से। एक ओर महानन्द की हत्या हुई है तो दूसरी ओर सीजर की। मुद्राराक्षस और जुलियस सीजर इन दोनों नाटकों का अभिधान साम्य भी कम आश्चर्यजनक नहीं है। वैसे पाश्चात्त्य रूपकों में ओथेलो, मैकबेथ, किंग लियर, हैमलेट, रिचर्ड द्वितीय एवं तृतीय, हेनरी चतुर्थ में भी ऐसी व्यञ्जना है किन्तु मुद्राराक्षस यह रूपक संस्कृत में अपनी तरह का अकेला रूपक है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जुलियम सीजर का नामकरण उसके नायक के नाम पर है किन्तु मुद्राराक्षस का नामकरण उसके प्रतिनायक के नाम पर है। यह तथ्य उस समय और भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है जबकि हम पाते हैं कि

---

१. कीथ महोदय ने विशाखदत्त के समय की निम्नतम सीमा नवीं शताब्दी मानी है। द्रष्टव्य : संस्कृत नाटक, पृ० २१२

संस्कृत में प्रतिनायक का स्वरूप, उसके कर्म और तदनुरूप उसकी सामाजिक प्रतिष्ठा ऐसी नहीं होती कि उसे इतना सम्मान दिया जाए। पाश्चात्य परम्परा में त्रासदी के नायक के साथ महान् त्रुटि का जो गुण है उस दृष्टि से यहाँ राक्षस की मुद्रा का जो महत्त्व है उसे ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है।

जैसा कि कहा जा चुका है, मुद्राराक्षस का कथानक जटिल है। किन्तु जुलियस सीजर की कथावस्तु वैसी नहीं है। इसी कारण मुद्राराक्षस की अपेक्षा जुलियस सीजर का अभिनय भी सरल है। पात्रों की बहुलता दोनों ही रूपकों में है और यह उनकी कथावस्तु के अनुरूप ही है। कथा का क्षेत्र भी दोनों में पर्याप्त समान है। मुद्राराक्षस में भी मुख्य कथा राजधानी पाटलिपुत्र में ही घटित होती है, जुलियस सीजर में भी ऐसा ही है। राक्षस और ब्रूटस तथा कैशस लगभग समान स्थितियों के कारण ही निर्वासित जीवन व्यतीत करने को विवश होते हैं और दोनों ही नाटकों में उनका सैन्य संचयन भी वहीं दिखाया गया है। संस्कृत नाटकों में मुख्य घटना को छोटी-छोटी घटनाओं से जोड़ने की प्रवृत्ति मौलिक है तो पाश्चात्य रूपकों में देश काल के साथ ही घटना और कार्य की अन्विति : एकता उसकी मौलिकता है। मुद्राराक्षस में चन्दनदास को बन्दी बनाने की घटना जिस प्रकार प्रतिनायक राक्षस को उत्तेजित कर देती है उसी प्रकार जुलियस सीजर में सीजर द्वारा पब्लियस सिम्बर के लिए निर्वासन का आदेश ब्रूटस तथा कैशस और उनके अन्य सहयोगियों को उत्तेजित कर देता है।

प्रतिनायकों के मध्य कलह की योजना भी दोनों स्थलों पर समान रूप से मिलती है। यह और भी महत्त्वपूर्ण है कि यह कलह दोनों ही नाटकों में कथा के विकास की चतुर्थ अवस्था विमर्श सन्धि अथवा नियताप्ति की अवस्था और डिनाउमेण्ट की स्थिति में आयोजित किया गया है। इनके माध्यम से क्रमशः मलयकेतु तथा कैशस की चारित्रिक दुर्बलताओं और राक्षस तथा ब्रूटस की चारित्रिक महानताओं को उभारा गया है। पाश्चात्य नाटक तो भाग्यवादी होते ही हैं किन्तु मुद्राराक्षस का राक्षस भी अत्यन्त भाग्यवादी है। ऐसी ही अन्य अनेक छोटी और बड़ी समानताएं खोजी जा सकती हैं जो कि वस्तुतः दोनों ही साहित्यों में, नाटककार के समान स्थितियों में; समान विचारधारा और समान रचना प्रक्रिया की सत्ता की तो द्योतक हैं ही, नाटककार और साहित्यकार की सार्वभौमिकता और सार्वकालिकता की भी सूचक हैं।

चरित्र योजना

पात्रों की योजना की दृष्टि से महानन्द और सीजर, ऐण्टोनी और चाणक्य के अतिरिक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समानताएं राक्षस और ब्रूटस में देखी जाती हैं। कैशस की भूमिका नितान्त अनूठी है किन्तु दोनों ही नाटकों के उत्तरार्ध में क्रमशः मलयकेतु और कैशस के चरित्र की योजना में पर्याप्त समानता है। भागुरायण, सिद्धार्थक,

क्षपणक जीवसिद्धि, विराधगुप्त जैसी छोटी-छोटी किन्तु सार्थक भूमिकाओं की योजना मुद्राराक्षस की मौलिक विशेषताएं हैं। और इधर कास्का, सिम्बर, सिन्ना प्रभृति भूमिकाएँ भी भिन्न-भिन्न दृष्टि से उपादेय रही हैं।

राक्षस एवं ब्रूटस

पाश्चात्य नाटकों, विशेषकर त्रासदी नाटकों में खलनायक की भूमिका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हुआ करती है। किन्तु संस्कृत नाटकों में प्रायः प्रतिनायक का स्थान इतना महत्त्वपूर्ण कहीं भी नहीं रहा। मुद्राराक्षस इसका अपवाद है और वह भी इस सीमा तक कि कहीं कहीं वह अपने गुणों से चाणक्य को भी अतिक्रान्त कर जाता है। चाणक्य भी उसकी महानता से अभिभूत है और किसी सीमा तक उससे भयभीत रहता है[1]। अपने चारित्रिक गुणों के परिप्रेक्ष्य में ब्रूटस भी अपने मुख्य प्रतिद्वन्द्वी सीजर और एण्टोनी को अतिक्रान्त कर जाता है। ब्रूटस की इस महानता को उसके गुणों को, सीजर भी जानता है इसी कारण वह ब्रूटस को अत्यधिक प्रेम करता है। एण्टोनी भी इसे स्वीकार करता है[2]। इन दोनों ही चरित्रों के चित्रण के इस वैशिष्ट्य को विद्वानों, आलोचकों ने भी स्वीकार किया है[3]।

पाश्चात्य नाटकों में प्रायः नायक को खलनायक के हाँथों मरते हुए दिखाया जाता है किन्तु जुलियस सीजर में नायक सीजर, खलनायक ब्रूटस, उसका मुख्य सहायक कैशस और उनके अन्य सहायक सभी मरते हैं। किन्तु मुद्राराक्षस में इसका वैषम्य; नायक प्रतिनायक सभी का जीवित रहना, कम आश्चर्यजनक नहीं है।

---

१. साधु, अमात्य राक्षस ! मन्त्रबृहस्पते ! साधु। कुतः ?

ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरमयं लोकोऽर्थतः सेवते
तं गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाऽऽशयाः।
भर्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन निःसङ्गया
भक्त्या कार्यधुरां वहन्ति कृतिनस्ते दुर्लभास्त्वादृशाः॥—मुद्रा० १.१४

2. ANTONY—Through this the well-beloved Brutus stab'd;
....
For Brutus, as you know, was Caesar's angel :
Judgd. O,you gods, how dearly Caesar loved him !
—JC Act 3.2 FGT, P. 170

BRUTUS—As Caesar loved me, I weep for him, as he was fortunate, I rejoice at it; as he was valiant, I honour him; but as he was ambitious, 1 slew him.
—JC Act 3/2 FGT, P. 165

३. कीथ, सं० ना० पृ० २१७; उपाध्याय, सं० सा० इ०, पृ० ५३६; डॉ० सिंह, मुद्राराक्षस : समालोचना भाग, पृ० २६–२७ तथा डा० रांगेयराघव, जुसी भूमिका

राक्षस और ब्रूटस दोनों ही महावीर हैं, पराक्रमी योद्धा हैं। मुद्राराक्षस के नायक चाणक्य में बुद्धितत्त्व की, कुटिलता की, प्रधानता है किन्तु शौर्य, पराक्रम और शक्ति का अभाव है। जुलियस सीजर में हम देखते हैं; नायक सीजर की मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी एण्टोनी में, उसके वाक्-चातुर्य में, बुद्धि का प्राधान्य है और उसी के बल पर वह उसी मञ्च से जनता को, विद्रोह के लिए उत्तेजित करने में; ब्रूटस के ही विरुद्ध भड़काने में, सफलता प्राप्त करता है। एण्टोनी भी ब्रूटस से, उसकी लोकप्रियता से और उसकी शक्ति से, उसी प्रकार भयभीय है जिस प्रकार नायक चाणक्य, राक्षस से भयभीत दिखाई देता है।

मुद्राराक्षस में राक्षस का चरित्र साक्षी है कि वह स्वभाव से उदार है, सेवकों और अनुचरों के प्रति अति दयालु है और मित्रों के लिए वह सर्वस्व त्याग करने को तत्पर है। अपने परिवार, पत्नी और बच्चों के लिए उसमें अगाध प्रेम है। ब्रूटस में भी पोर्शिया के लिए उतना ही प्रेम है जितना राक्षस में। युद्ध-शिविर में लुशियस, वारो और क्लाडियस के साथ ब्रूटस का व्यवहार अपने कञ्चुकी, प्रियम्वदक, विराधगुप्त, सिद्धार्थक और करभक के साथ आमात्य राक्षस के व्यवहार का स्मरण करा देता है। पोर्शिया की मृत्यु का समाचार पाकर वह भी, चन्दनदास के बन्दी होने का समाचार जानकर; अपने परिवार तथा चन्दनदास पर आने वाली विपत्ति से विचलित राक्षस की भाँति, क्षण भर को विचलित हो उठता है। यहीं हमें यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वह भी राक्षस की भाँति देशभक्त, उदार, और उदात्त है। राक्षस की भाँति उसमें भी बुद्धितत्त्व की अपेक्षा, सहृदयता की प्रधानता है, वह भी भावुक है। इसी कारण कैश कैशस के भड़काने से, देशप्रेम और न्याय की दुहाई देने से, वह शीघ्र ही सीजर के विरुद्ध षड्यन्त्र में भागीदार बन जाता है। वह राक्षस की भाँति ही निष्ठावान्, सत्यसन्ध और दृढ़ प्रतिज्ञ है[1], चतुर्थ अङ्क के तृतीय दृश्य में उसकी ऐसी भावना की अभिव्यक्ति सुतरां दर्शनीय है। अतएव यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि 'ब्रूटस का खलनायकत्व ऐसी कुशलता से चित्रित है कि उसे देखकर घृणा नहीं होती किन्तु वेदना से हमारा हृदय व्याकुल हो उठता है[२]।'

1. BRUTUS :—There is no terror, Cassius, in your threats;
For I am armed so strong in honesty,
That they pass by me as the idle wind,
Which I respect not. —J C 4/3 : F G T, P 179

२. डॉ० रांगेयराघव, जुसी भूमिका। तुलना करे: 'उसमें (राक्षस में) बुद्धितत्त्व की न्यूनता होने पर भी हृदयतत्त्व की प्रचुरता है। इसलिए वह दर्शकों के हृदय को बरबस अपनी ओर खींचता है। उसके लिए हमें सम्मान है तथा प्रेम है।'

—डॉ० बलदेव उपाध्याय : संसाइ० पृ० ५३६ तथा देखें, डॉ०सत्यव्रत सिंह मुद्राराक्षस-समालोचना, पृ० २७

राक्षस और ब्रूटस दोनों ही ऐसे देशभक्त हैं जिन्हें देशद्रोही मान लिया जाता है, दोनों ही सादा जीवन उच्च विचार में विश्वास करते हैं। अनेक हत्याएँ करके भी यदि चाणक्य नायक है, आदर्श चरित्र है, अनुकरणीय है तो राक्षस भी उतना ही श्लाघ्य है और ब्रूटस भी उतना ही स्तुत्य है। राक्षस का आत्मसमर्पण; उसके त्याग को, मैत्री के लिए समर्पित उसके व्यक्ति को, और भी महान् बना देता है। इसी प्रकार ब्रूटस भी मृत्यु का वरण करते हुए अन्त में मृत सीजर का स्मरण करते हुए, उसके प्रति किए गए अपने पाप के लिए प्रायश्चित्त की भावना से भर उठता है। वह कहता है 'ओ सीजर ! अब शान्त हो जा। जितनी इच्छा से मैं अपने को मार रहा हूँ, तुझे मारने की मुझे उससे आधी भी इच्छा न थी[1]।' राक्षस के आत्महत्या के प्रयास और ब्रूटस की आत्महत्या में भी इस प्रकार एक समानता है। एक, आत्मसमर्पण की विवशता को झेलकर जितनी वेदना को जन्म देता है दूसरा, आत्महत्या करके भी प्रायश्चित्त के माध्यम से, उतनी ही वेदना को उत्पन्न करता देखा जाता है। ब्रूटस का उतना सही मूल्याङ्कन कोई और नहीं कर सकता जितना उसका प्रतिद्वन्द्वी एण्टोनी करता है जो मानता है कि ब्रूटस ही वह अकेला रोम निवासी था जो इन विद्रोहियों से केवल इसलिए जा मिला था क्योंकि वह मानता था कि इसी में राष्ट्र का हित है[2]।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि दो भिन्न संस्कृतियों में लिखे गए इन दोनों रूपकों की कथावस्तु और प्रतिनायकों में पर्याप्त समानता है और यह समानता इस सीमा तक है कि न तो राक्षस को प्रतिनायक मानने की इच्छा होती है और न ही ब्रूटस को खलनायक मानने की। यह सत्य भी है। यदि प्रतिनायक और खलनायक की कसौटी पर दोनों का मूल्याङ्कन किया जाए तो दोनों ही पाप की रेखा का स्पर्श नहीं करते हैं।

1: BRUTUS :—Farewell, good Strato [Runs on his sword] Caesar,
now be still,
I kill' d not thee with half so good a will. .
JC 5/5 FGT, P. 197

2. ANTONY—"This was the noblest Roman of them all :
All the conspirators, save only he,
Did that they did in envy of great Caesar;
He only, in a general honest thought
And common good to all, made one of them.
His life was gentle, and the elements
So mix'd in him that Nature might stand up
And say to all the world "This was a man !"
JC 5/5, FGT P. 198

चाणक्य और सीजर

यदि राजनीतिक हत्याएँ पाप की पर्याय हैं, महत्त्वाकांक्षा के लिए जनता को फुसलाना पाप है, यदि व्यक्तित स्वतन्त्रता और देश की रक्षा के लिए लड़ना और अन्याय के विरुद्ध संघर्ष करना अनुचित है तो दोनों ही नाटकों के महान् नायक अपने प्रतिद्वन्द्वियों की अपेक्षा अधिक पापमग्न हैं। इधर राक्षस एक चन्द्रगुप्त को हत्या करना चाहता है किन्तु कर नहीं पाता है। उधर चाणक्य उस कर्म में नियुक्त सभी गुप्तचरों को मरवा डालता है, यहाँ तक कि पर्वतक और वैरोचक को मरवाकर उनका प्रवाद राक्षस के शिर पर मढ़ देता है। भागुरायण की सहायता से वह मलयकेतु को राक्षस के पाँच अन्य शुभेच्छु राजाओं को भी मरवा डालने को विवश कर देता है। अकेले चाणक्य के सिर पर जितनी हत्याओं का आरोप है राक्षस और ब्रूटस दोनों ने मिल कर उतनी हत्याएँ जीवन भर में न की होंगी। इसके अतिरिक्त राक्षस पर लगाए गए सभी आरोप मिथ्या हैं। उसका दोष एक ही है कि वह महानन्द का भक्त और मुख्य रूप से चाणक्य का विरोधी है। इसी प्रकार सीजर महत्त्वाकांक्षी है, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का विरोधी है, उस पर मेरुलस और प्लेबियस के अधिकारों और भाषण की स्वतन्त्रता समाप्त करने का आरोप है, तथा पब्लियस सिम्बर को निर्वासित करने का अभियोग है। फिर भी ब्रूटस कहता है कि 'वैसे मुझे तो और कोई व्यक्तिगत कारण नहीं दिखाई देता कि मैं उससे (सीजर से) घृणा करूँ[1]।' इतना ही नहीं सीजर के साथ ही ऐण्टोनी की भी हत्या की योजना का विरोध करते हुए वह कहता है 'तब तो हमारा कार्य बहुत ही खूनी दिखाई पड़ेगा कैशस! हमें एक पवित्र कार्य के लिए बलि देनी है, न कि हमें वधिक बनना है कैशस! हम सभी सीजर की भावनाओं के विरुद्ध खड़े हुए हैं, हम लोगों की आत्मा में हत्या की भावना नहीं है। कितना अच्छा होता यदि हम सीजर की भावना पर विजय प्राप्त करते और हत्या करने की हमें आवश्यकता ही नहीं पड़ती[2]।' इस भावना के आधार पर वह सीजर को भी अपनी महानता से अतिक्रान्त कर जाता है।

ब्रूटस की इस भावना की तुलना में सीजर का व्यवहार और उसके सीनेट के सदस्यों और मित्रों के तिरस्कार को देखें : जब वह मैटेलेस की प्रार्थना पर उसके भाई पब्लियस सिम्बर के निर्वासन के आदेशों को वापस लेने से मना कर देता। है वह कहता है 'तुम्हारे भाई का निर्वासन नियमों के अनुकूल हुआ है। यदि तुम उसके लिए झुकते हो, चापलूसी पर उतरते हो तो मैं तुम्हें एक कुत्ते की भाँति पथ से हटा दूँगा[3]।' इस प्रकार हम देखते हैं कि चाणक्य और जुलियस सीजर तो राक्षस और ब्रूटस की

---

१. जुसी, अङ्क २, दृश्य १ पृ० ३२ २ जुसी, अङ्क २, दृश्य १ पृ० ३९

३. जुसी, अङ्क ३, दृश्य १ पृ० ५७

अपेक्षा अधिक क्रूर हैं फिर भी वे नायक हैं, क्योंकि परम्पराएँ ऐसा ही मानती हैं। पाश्चात्य त्रासदी की महान् विशेषता जो कि नायक के चरित्र में अनिवार्य है; वह है–महान् त्रुटि। सीजर में भी यह त्रुटि है और ब्रूटस में भी उसकी योजना हुई है। प्रतिनायक राक्षस में भी ऐसी न्यूनताएँ हैं, उसके कार्यों में भी अनेक त्रुटियों की योजना देखी जा सकती है। तात्पर्य यह कि मुद्राराक्षस और जुलियस सीजर में नायक विरोधी भूमिकाओं में पर्याप्त समानता है। दोनों की ही योजना ऐसे धरातल और पृष्ठ भूमि पर हुई है कि प्रतिनायक; प्रतिनायक नहीं लगता और खलनायक; खलनायक नहीं प्रतीत होता। इतना ही नहीं उनका चरित्र-चित्रण ऐसा है कि मुद्राराक्षस में किसी सीमा तक नायक प्रतिनायक का निर्णय ही कठिन हो उठता है और इधर अपने सम्पूर्ण आयाम में एक महान् त्रुटि को संजोये, ब्रूटस उस सीमा तक उठ जाता है कि कभी-कभी नायक सीजर का चरित्र भी धूमिल पड़ने लगता है।

मलयकेतु और कैशस में समानता यही है वे दोनों नायक विरोधी हैं। क्रमशः वे राक्षस एवं ब्रूटस के सहायक कहे जा सकते हैं। अन्यथा दोनों नाटककारों ने इन दोनों का चरित्र दो भिन्न दृष्टिकोणों से बनाया है। मलयकेतु राक्षस की राजनीति की महात्त्वाकांक्षा को साकार करने का माध्यम है, अतः उसका अपना चिन्तन अपनी मौलिकता और अस्तित्त्व नहीं के बराबर है। दूसरी ओर कैश-कैशस ऐसा चरित्र है जो अपनी दबी दबी राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा, ईर्ष्या और राजनीतिक विद्वेष की भावना की पूर्ति के लिए ब्रूटस को माध्यम बनाकर कास्का, मैटलस, सिन्ना प्रभृति को सीजर के विरुद्ध खड़ा कर देता है। सीजर का वास्तविक प्रतिद्वन्द्वी भी वही है और सीजर भी उससे डरता है। सीजर कहता भी है कि वह महान् दार्शनिक है अतः एक भयानक व्यक्ति है[१]। नाटक के दुःखान्त होने का एक मात्र कारण वही है। पाश्चात्य नाटकों के खलनायकों के गुणों से युक्त **कैशस** की तुलना किसी सीमा तक मृच्छकटिक के **शकार** से की जा सकती है किन्तु कैशस न तो शकार की भाँति अनर्गल प्रलाप करता है और न ही कामुक है। अतः सीमित रूप में ही वह अपनी पापवृत्ति और भ्रष्ट चरित्र (उत्कोच ग्रहण[२]) के कारण शकार से मिलता जुलता प्रतीत होता है। अतः उसमें प्रतिनायक के वे सभी गुण मिल जाते हैं जिन गुणों से संस्कृत नाटकों के प्रतिनायक को युक्त होना चाहिए।

चाणक्य एवं कैशस

तीक्ष्ण बुद्धि, अदम्य-साहस, महात्त्वाकांक्षा, कूटनीति, क्रूरता और राजनीतिक हत्याओं में विश्वास के कारण कैशस किसी सीमा तक चाणक्य की समानता करता है किन्तु एक नायक है दूसरा खलनायक। चाणक्य के समक्ष एक सुदृढ़ साम्राज्य की

१. जुसी अङ्क १, दृश्य २ २. जुसी अङ्क ४, दृश्य २

स्थापना का आदर्श है। लगभग ऐसा ही आदर्श कैशस के समक्ष भी है किन्तु दोनों के चरित्र की तुलना यदि गम्भीरता पूर्वक की जाए तो कैशस की कूटनीति की भित्ति बालू की ढेरी पर बनी हुई प्रतीत होती है जबकि चाणक्य महान् कूटनीतिज्ञ ही नहीं दूरदर्शी किंवा त्रिकालदर्शी चरित्र है। उसको दूरदर्शिता के फल के रूप में राक्षस जैसा आमात्य मिलता है और कैशस को अपनी अदूरदर्शिता के कारण ही आत्म-हत्या करनी पड़ती है। एक का चिन्तन सकारात्मक है दूसरे का नकारात्मक। इसी दोष के कारण **कैशस** की तुलना **राक्षस** से भी नहीं की जा सकती। कैशस की अपेक्षा ब्रूटस मन्दबुद्धि है किन्तु उसका उद्देश्य स्पष्ट है उसमें दुराव-छिपाव नहीं है। इसी कारण उसकी तुलना राक्षस से की जा सकती है।

चाणक्य और ऐण्टोनी

अपनी निष्ठा, भक्ति, शौर्य और पराक्रम तथा दूरदृष्टि के कारण ऐण्टोनी में नायकोचित सभी गुण मिल जाते हैं। ऑक्टेवियस की अपेक्षा वही सीजर का वास्तविक उत्तराधिकारी है (यद्यपि नाटक में तीन उत्तराधिकारी माने गये हैं)। राक्षस के प्रभाव को जनता से उखाड़ फेंकने के लिये चाणक्य को जितना श्रम करना पड़ता है यद्यपि उतना श्रम ऐण्टोनी को नहीं करना पड़ता तो भी अपनी वाग्विदग्धता से वह ब्रूटस और कैशस के प्रभाव को नष्ट करने में सफल होता है। जनता में ब्रूटस और कैशस का प्रभाव महानन्द और राक्षस के प्रभाव की भाँति उतना गहरा नहीं है क्योंकि महान् ऐण्टोनी उन्हें इतना समय ही नहीं देता। दूसरी ओर महानन्द का लोकप्रिय शासन और स्वयं राक्षस की उदारता, उसका पराक्रम पाटलिपुत्र की जनता में बहुत गहरा बैठ चुका था। अतएव चाणक्य के चरित्र की गम्भीरता और उसकी कूटनीति की जटिलता से ऐण्टोनी की तुलना नहीं की जा सकती तथापि दोनों ही अपने-अपने ढंग से अपने-अपने विरोधियों के प्रभाव को नष्ट करने का प्रयास करते हैं और उसमें सफल होते हैं। ऐण्टोनी को चाणक्य की भाँति यद्यपि कोई बड़ी व्यूहरचना नहीं करनी पड़ती फिर भी एक नाटक तो रचना ही पड़ता है। चाणक्य की विकत्थना की अपेक्षा अपनी बात को गम्भीरता पूर्वक प्रस्तुत करते हुए ऐण्टोनी में राक्षस के भी अनेक गुणों का आभास होता है। वह निश्चय ही सरल हृदय है और राक्षस की भाँति अपना प्रभाव भी छोड़ता है। सीजर की मृत्यु के पश्चात् शेष नाटक पर उसका प्रभाव उसे नायक बना देता है।

रस और विचार तत्त्व

राजनीति पर आधृत होने के कारण दोनों ही नाटकों में कूटनीति की प्रधानता है और इसी कारण इनमें विचार तत्त्व की प्रधानता समानरूपेण विद्यमान है। मुद्राराक्षस एक ऐसी कृति है जिसमें रस की चर्चा का अधिक औचित्य नहीं है। न तो नाटककार ने ऐसा प्रयास किया है और न ही ऐसा सिद्ध किया जा सकता है। यही

कारण है कि मुद्राराक्षस और जुलियस सीजर में समानता की सीमाएँ अनन्त हैं । दोनों में ही अभिनय का क्षेत्र नितान्त व्यापक है । मुद्राराक्षस की कथावस्तु जुलियस सीजर की अपेक्षा जटिल अवश्य है किन्तु अभिनय का क्षेत्र निःसीम है । दोनों ही नाटकों में पदों-पदांशों में अर्थ की गुरुता है । मुद्राराक्षस के नाटककार ने ऐसी पदावली और वाक्यों की योजना की है जो नाटककार के शब्द सामर्थ्य की परिचायिका है । जुलियस सीजर में भी यह गुण उस सीमा का स्पर्श करता है । दोनों ही नाटकों में अपने-अपने नाट्यशास्त्रीय नियमों का पालन करते हुए भी उसका अन्धानुकरण करने के लिए कोई आग्रह नहीं है ।

शेक्सपियर ने इक्सपोजीशन, राईजिंग-ऐक्शन, क्राइसिस, डिनाउमेन्ट तथा केटास्ट्राफी को यथा स्थान नियोजित किया है । उसके पाँचों अङ्कों में इन पाँचों अवस्थाओं के अनुरूप ही कथा का विकास हुआ है, फिर भी कहीं कृत्रिमता नहीं है । ठीक इसी प्रकार मुद्राराक्षस में भी पञ्चसन्धियों, अर्थ-प्रकृतियों और पञ्चकार्यावस्थाओं की योजना की गयी है । भाव तत्त्व की अपेक्षा विचार तत्त्व की प्रधानता के माध्यम से नाटककार विशाखदत्त ने राक्षस और चाणक्य दोनों ही महान् नायकों के अन्तर्द्वन्द्व को प्रमुखता प्रदान की है । जुलियस सीजर की भाँति सरल और संक्षिप्त न होते हुए भी मुद्राराक्षस में छोटे-छोटे पात्रों के माध्यम से भी मुख्य उद्देश्य में सहायता ली गयी है ।

अरस्तू ने माना है कि नाटक के नायक की महान् त्रुटि, त्रासदी के मूल में निहित होती है । नायक के सम्बन्ध में अरस्तू ने माना है कि वह प्रसिद्ध तो हो किन्तु वह पूर्ण निर्दोष न हो जिससे कि प्रेक्षक को उसकी त्रुटियों के आधार पर तादात्म्य स्थापित करना कठिन न हो । यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाये तो मुद्राराक्षस में भी नायक प्रतिनायक दोनों का ही चरित्र असामान्य नहीं होने पाया है । यद्यपि यह सत्य है कि नाट्य-वर्जनाओं के कारण युद्ध और संघर्ष को मुद्राराक्षस में मञ्च पर प्रस्तुत नहीं किया गया है; यह परम्परा की दृष्टि से उपयुक्त है और इसे दोष अथवा अभाव नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार जुलियस सीजर में एक ही दृश्य में एक के बाद एक व्यक्ति मञ्च पर मर-मर कर गिरता है, किन्तु यह पाश्चात्य सन्दर्भ में नाटक का गुण है, दोष नहीं । इस परम्परागत वैषम्य के होने पर भी दोनों में गति है । संक्षिप्त होने पर भी जुलियस सीजर में ऐक्शन है । कथानक के जटिल और विस्तृत होने पर भी मुद्राराक्षस में गति है । जुलियस सीजर की अपेक्षा मुद्राराक्षस कुछ गम्भीर है तथापि दोनों ही नाटकों की कथावस्तु, चरित्र-चित्रण और विचार-तत्त्व, द्वन्द्व और संघर्ष यथार्थ और मौलिक हैं ।

इस प्रसंग को समाप्त करने के पूर्व नाट्यशिल्प की उस अद्भुत समानता को न दिखाना अनुचित होगा जहाँ दोनों ही नाटककार अपने-अपने पात्रों के माध्यम से नाट्यसंरचना के तत्वों का उल्लेख करते देखे जाते हैं । मुद्राराक्षस में राक्षस कहता है कि

किसी नाटककार की भाँति ही राजनीतिज्ञ को भी कार्यावस्थाओं, अर्थप्रकृतियों और सन्धियों की योजना की भाँति कूटनीति के तन्तुओं को फैलाना और बटोरना पड़ता है[१]। उपर्युक्त कथन में नाटककार की जो आत्मप्रशंसा अथवा आत्मक्लेश की अभिव्यक्ति है वैसी ही प्रशंसा जुलियस सीजर के तीसरे अङ्क में कैशस और ब्रूटस के कथनों में है जहाँ वे सीजर की हत्या के दृश्य के अभिनय को अज्ञात देशों और भाषाओं में बार-बार अभिनीत होने के तथ्य का उद्‌घाटन करते हैं[२]। इतना ही नहीं एक अन्य स्थल पर कथानक के तीन अङ्गों (महान त्रुटि; स्थिति विपर्यय; तथा अभिज्ञान) में से महान् त्रुटि की नाटकीयता का भी उल्लेख करते हुए शेक्सपियर मेसाला के मुख से कहता है, 'वेदना की सन्तान, ओ महान् त्रुटि ! तू क्यों मनुष्यों को वही दिखाती है जो कि उनमें होता नहीं। ओ त्रुटि ! जन्म से अन्त तक तू कभी सुखी जीवन नहीं व्यतीत करने देती। तू तो जन्मदात्री माँ को ही नष्ट कर देती है[3]। मुद्राराक्षस के उपर्युक्त कथन में और जुलियस सीजर के इस कथन में जिन नाट्यतत्त्वों और उनके परिणामों का चित्र प्रस्तुत किया गया है वह अप्रत्याशित रूप से महत्त्वपूर्ण है।

जुलियस सीजर का नायक चाहे सीजर को माना जाए अथवा ऐण्टोनी को उनके प्रतिद्वन्द्वी की भूमिका के रूप में कैश कैशस का खलनायकत्व और ब्रूटस का

---

१. कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्‌भेदयंश्च।
कुर्वन् बुद्धया विमर्शं प्रसृतमपि, पुनः संहरन् कार्यजातं
कर्त्ता वा नाटकानामनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ॥ —मुद्रा० ४.३

2. CASSIUS—Stoop then, and wash. How many ages hence
Shall this lofty sence be acted over
In states unborn and accents yet unknown !

BRUTUS—How many times shall Caesar bleed in sport,
That now on Pompey's basis lies along
No wortheir than the dust !

CASIUS—
So oft as that shall be,
So often shall the knot of us be call'd.
The men that gave their country liberty.
JC 3/1, FGT, P 1?9.

3. MESSALA—O hateful error, melancholy's child.
Why dost thou show to the apt thoughts of men
The thing that are not ? O error, soon conceived,
Thou never comest unto a happy birth,
But kill'st the mother that engender'd thee !
—JC 5/2 FGT, P. 193

प्रतिनायकत्व सुस्पष्ट है । ब्रूटस का स्वरूप खलनायक की अपेक्षा संस्कृत के प्रतिनायक के अधिक समीप है । प्रतिमानाटक का बालि उद्धत, वीर और और क्रूर होते हुए भी जिस प्रकार खलनायकत्व नहीं ग्रहण कर पाता या संस्कृत के नाटकों में शकार को छोड़कर अन्य प्रतिनायकों को जिस प्रकार अपने चारित्रिक गुणों के परिप्रेक्ष्य में प्रतिनायक ही माना जाता है, भले ही वे कितने भी क्रूर क्यों न हों और उनपर हत्याओं के कितने ही आरोप क्यों न हों, माल्यवान् और राक्षस को ही देखें, वे दोनों भी अपने मुख्य प्रतिद्वन्द्वी नायकों के गुणों के प्रशंसक हैं, उनके समक्ष प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वे आत्मसमर्पण करके अपने को खलनायक होने से बचा ही लेते हैं । ब्रूटस भी ऐसा ही है, वह कितना ही क्रूर क्यों न हो, उसकी मानवीयता, पीड़ा, और सहृदयता महान् है । सबसे बड़ी बात यह है कि सीजर की महानता को वह बार-बार स्वीकारता है और अन्त में उसकी महानता के समक्ष, आत्मसमर्पण की भावना से भी वह भर-भर उठता है ।

मैकबेथ का कथानक

कथानक की दृष्टि से शेक्सपियर के जुलियस सीजर की अपेक्षा मैकबेथ अधिक जटिल है । इस जटिलता का स्पष्ट प्रभाव उसके चरित्रों पर भी पड़ा है । जैसाकि पाश्चात्य आलोचकों ने ही नहीं सभी ने माना है उसका नायक मैकबेथ है और अपनी महान् त्रुटियों के कारण ही वह महान् होते हुए भी पराभूत होता है । उसके गुणों में केवल उसका **पराक्रमी** होना ही ऐसा एक गुण है जो नाटककार उभार सका है वैसे उसके चरित्र में अन्तर्द्वन्द्व के स्थलों पर कहीं-कहीं उसकी मानवीयता : **सज्जनता अथवा सहृदयता** के भी दर्शन होते हैं[१] । किन्तु यह क्षणिक भावों की भाँति ही प्रतीत होते हैं;

1. (a) *MACBETH*—

He (Duncan) is here in double trust :
First, as I am his kinsman and his subject,
Strong both against the deed; then, as his host,
Who should against his murderer shut the door,
Not bear the knife myself. Mac. 1/7, FGT. P. 365

(b) *MACBETH*—

We will proceed no futher in this business :
He hath honor'd me of late; and I hope bought
Golden openions from all sorts of people,
Which would be worn now in their newest gloss,
Not cast aside so soon. Mac. 1/7, FGT, P. 366

(c) *MACBETH*—

Wake Duncan with thy knocking !
I would thou could'st ! Mac. 2/2, FGT, P. 372

क्योंकि लेडी मैकबेथ उसे उस सीमा तक प्रभावित और **उत्तेजित** कर सकी है; पाप को ओर इतना आगे तक धकेल देती है कि वह चाहते हुए भी वहाँ से लौट नहीं सकता। और फिर हम देखते हैं कि डाइनों के कारण ; कुछ महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति होने पर, और आगे पूर्ण होने की आशा से, वह स्वयं भी उस सीमा से लौटना नहीं चाहता। उसके ऐसे चरित्र का ही सम्पूर्ण नाटक में प्रभुत्व है। अत: पाश्चात्त्य दृष्टि से वह इस त्रासदी का एक **पूर्णनायक** है। भले ही वही खल हो, दुष्ट हो।

उसे नायक मान लेने पर उसकी विरोधी भूमिकाएं स्वाभाविक रूप से नायक-विरोधी अर्थात् **प्रतिनायक** हो जाती हैं। यदि संस्कृत नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से देखा जाए तो यह सारी नायक विरोधी भूमिकाएँ बैंको, मैकडफ, मेलकाम आदि नायक विरोधी हैं किन्तु प्रतिनायक का एक भी गुण उनमें नहीं देखा जाता। मैकडफ को; किसी सीमा तक मेलकाम को भी, मैकबेथ से लड़ने और उसे सत्ताच्युत करने के लिए उत्तेजित करने के कारण तथा साक्षात् मैकबेथ को युद्ध में मार गिराने के कारण प्रतिद्वन्द्वी भले मान लिया जाए किन्तु उन्हें खलनायक नहीं माना जा सकता।

मैकबेथ का खलनायकत्व

यहाँ यह स्पष्ट करना अनुचित न होगा कि मैकबेथ अपने पूर्ण आयाम में स्वयं एक खलनायक है, अर्थात् एक ऐसा नायक जो खल है, दुष्ट है। ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार खलनायक (विलेन) वह है, 'हूज़ ईविल मोटिव्स एण्ड ऐक्शन्स आर इम्पॉरटेन्ट एलीमेन्ट ऑफ ए प्लाट' अर्थात् उद्देश्यों की अपावनता, कर्मों की दुष्टता और किसी नाटक के कथानक में उसकी प्रधानता खलनायक की कसौटी है। अत: पाश्चात्त्य दृष्टि से किसी नाटक का मुख्य नायक भी खलनायक हो सकता है। अतएव मैकबेथ को भी खलनायक मान लेने में कोई अनौचित्य नहीं है।

ऐसे **अमानवीय, क्रूर और अत्याचारी** नायक के पतन को ही, यदि किसी नाटक का उद्देश्य मान लिया जाता है तो स्वाभाविक रूप से ऐसे खलनायक की विरोधी भूमिकाएं संस्कृत-नाट्य दृष्टि से नायकत्व ग्रहण कर लेती हैं। जैसाकि हम 'प्रतिनायकों के शास्त्रीय स्वरूप[1]' में देखते हैं, संस्कृत के नाट्यशास्त्रियों ने 'नायक' शब्द को नाटक में प्रयुक्त नायक, प्रतिनायक प्रभृति सभी मुख्य-भूमिकाओं के सन्दर्भ में ग्रहण किया है। खलनायक को नायक मानने की यह पाश्चात्त्य दृष्टि भारतीय भावना को आघात पहुँचाते हुए भी अप्रत्याशित नहीं है। किन्तु हमें यह ध्यान में रखना चाहिए कि मैकबेथ का यह नायकत्व खलनायक तक ही सीमित है। उसे कहीं भी उस स्तर पर नहीं पहुँचाया जा सका है जहाँ 'ऊरुभङ्ग' का नायक दुर्योधन अथवा 'कर्णभार' का नायक कर्ण दिखाई देता है। यह पाश्चात्त्य नाट्यविधा अथवा चिन्तन प्रणाली का दोष नहीं

१. द्रष्टव्य : प्रबन्ध का दूसरा परिच्छेद

मौलिक वैशिष्ट्य है जो ब्रूटस को तो खलनायक मानती ही है, मैकबेथ को भी एक नायक किन्तु खल मानती है।

'मैकबेथ' की कथावस्तु और उसके चरित्रों की जटिलता तथा वैषम्य के कारण इस विषय पर पर्याप्त विवेचना हो सकती है और इनका तुलनात्मक अध्ययन आधुनिक नाट्यकर्मियों के लिए भी अत्यन्त उपादेय सिद्ध हो सकता है किन्तु प्रकृत प्रसंग में उसका अधिक विस्तार अभीष्ट नहीं है। इस सन्दर्भ में इतना कहना ही पर्याप्त है कि अपने सम्पूर्ण आयाम में वह एक ऐसी भूमिका है जो 'प्रेक्षकों की हीन ग्रन्थि (काम्प्लेक्स) को खोलने में' भले ही समर्थ न हो किन्तु उसके मन को विक्षुब्ध अवस्था में नहीं छोड़ती। मैकबेथ का पतन निश्चय ही मनःशान्ति की सिद्धि करता है। अतः यह नाटक, त्रासदी होते हुए भी मन को सुख देता है ऐसा कहा जा सकता है।

खलनायिका : लेडी मैकबेथ

मैकबेथ के पतन और उस पतन के मूल में निहित लेडी मैकबेथ की महत्त्वाकांक्षा भी मैकबेथ की महान् त्रुटि मानी जा सकती है। लेडी मैकबेथ को इसी कारण खलनायिका के रूप में भी देखा जा सकता है जो मैकबेथ जैसे पराक्रमी, धीरवीर पुरुष को, उसकी धर्म–भीरुता और सरलता को, धिक्कार धिक्कार कर क्रूरता में बदल देती है और उसे काँपते हुए हाँथों से डंकन की हत्या के लिए बाध्य कर देती है। इस प्रकार उसे पतनोन्मुख बनाकर वह बैंको की हत्या के लिए उसे प्रत्यक्षतः तो प्रेरित नहीं करती किन्तु उसकी महत्वाकांक्षा बैंको के अतिरिक मैकडफ को भी खोजती अवश्य है। इसके बाद लेडी मैकबेथ यदि ऐसा न करती तो भी वह मैकबेथ की क्रूरता, घृणा, अमानवीयता और यहाँ तक कि उसकी निरंकुशता का मुख्य प्रेरणास्रोत तो है ही। हम बाद में देखते भी हैं कि वह अपने कर्मों के कारण ही अर्धविक्षिप्त हो जाती है। सारा सम्मान, ऐश्वर्य और सुख नष्ट हो जाता है यहाँ तक कि इन्हीं कारणों से उसकी और मैकबेथ दोनों की ही मानसिक और बौद्धिक शान्ति नष्ट हो जाती है। उसकी मृत्यु, उसकी ग्लानि, वेदना और पीड़ा से अभिभूत रही हो अथवा नहीं, किन्तु सामाजिक की सद्भावना न लेडी मैकबेथ को मिल पाती है और न ही मैकबेथ को। नाटककार उनके लिए ऐसा कुछ बटोरना नहीं चाहता।

मैकडफ का नायकत्व

इस मनःशान्ति की प्राप्ति में बैंको की अपेक्षा मैकडफ की भूमिका अधिक सहायक है। बैंको की भूमिका के माध्यम से नाटककार ने मैकबेथ की क्रूरता और महत्त्वाकांक्षा को ही उभारा है। मैकडफ की पत्नी और पुत्र की हत्या भी इसी दृष्टि से उपादेय रही है, किन्तु मैकडफ का चरित्र निश्चय ही संक्षिप्त किन्तु संस्कृत नाट्य-दृष्टि से, भारतीय दृष्टि से, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसाकि कहा जा चुका है उसमें

किसी नाकक के सभी गुण विद्यमान हैं। नाटक के आरम्भ में हम देखते हैं कि वह एक **मूक दर्शक** की भाँति आता है और चला जाता है[१]। बैंको और रौस की भाँति उसके मुख से मैकबेथ के सम्बन्ध में प्रशंसा का एक भी शब्द कभी सुनने में नहीं आता है। अतः नाटककार आरम्भ से ही सचेत है कि वह जिन भूमिकाओं को मनः-शान्ति के उपाय के रूप में प्रयोग में लाने जा रहा है वे दोहरी भूमिकाएँ न सिद्ध हों। यह भी संकेत ग्रहण किया जा सकता है कि वह खलनायक को आरम्भ से ही पहचानता है। यहाँ तक कि लैनोक्स[२] और बैंको की भाँति उसे सारी स्थिति समझने में विलम्ब भी नहीं लगता। डंकन की मृत्यु की सर्वप्रथम घोषणा करने का सुयोग भी उसे ही सुलभ कराया गया है और मैकबेथ के यह बताने पर कि (लैनोक्स जिन द्वारपालों की बात कर रहा है) उन्हें उसने मार दिया है मैकडफ की तीक्ष्ण बुद्धि पूछ बैठती है : ह्वेयर-फार डिड यू सो ? क्यों, तुमने क्यों किया ऐसा ? इस कथन में मैकबेथ पर अप्रत्यक्ष-रूप से डंकन की हत्या का भी सन्देह है।

मैकडफ ही उस गोष्ठी का भी संयोजक है जो डंकन की मृत्यु पर वहीं मैकबेथ के प्रासाद के किसी कक्ष में यह विचार करने के लिए आयोजित होती है कि हत्या का कारण क्या है और हत्यारा कौन है ? मैकडफ ही वह अकेला **भद्रपुरुष** है जो जानता है कि डंकन के पुत्र मैलकाम और डलनोबेन देश से क्यों भागे हैं। वही ऐसा नायक है जो जानता है कि मैकबेथ कितना ही पराक्रमी क्यों न हो किन्तु अपनी महत्त्वाकांक्षा के लिए वह डंकन की हत्या के बाद कुछ भी कर सकता है। बैंको, जो कि डाइनों के संदेशों से पूर्णतः परिचित है, सब कुछ जानते हुए भी मैकबेथ के राज्याभिषेक के रात्रि-भोज में सम्मिलित होने जाता है अतएव मारा भी जाता है। किन्तु मैकडफ बहुत **दूरदर्शी** है और इसी कारण न तो वह राजतिलक में सम्मिलित होता है और न ही उस रात्रिभोज में। इसी कारण मैकबेथ भी उस पर सन्देह करता है और अपने सन्देह की पुष्टि होते ही उसकी पत्नी और पुत्र को मरवा डालता है।

मैकडफ ही वह महान् **चिन्तक और वीर योद्धा** है जो अपनी मातृभूमि को किसी अत्याचारी शासक से बचाने के लिए सब कुछ त्यागने को तत्पर है। वही मैलकाम को उस सीमा तक उत्तेजित करता है कि उसे विश्वास हो जाता है कि मैकडफ उसे छल नहीं रहा है। अन्यथा मैलकाम को आरम्भ में यही सन्देह रहता है कि मैकडफ भी मैकबेथ से ही मिला हुआ है। मैकडफ को साथ लेकर ही मैलकाम की युद्ध-यात्रा आरम्भ होती है और अन्त में हम देखते हैं कि मैकडफ ही वह वीर योद्धा है, वह वीर पुरुष है जो डाइनों के वचनों के अनुसार किसी की कोख से उत्पन्न नहीं हुआ। इस विषय पर विवाद का औचित्य नहीं है, क्योंकि संस्कृत के अनेक प्रतिनायकों के साथ भी

---

१. मैक—अङ्क १, दृश्य ६

२. मैक—अङ्क २, दृश्य ३

ऐसी नाटकीय योजनाएँ हैं। नाटक के अन्त में हम देखते हैं कि मैकडफ स्वयं ही मैकबेथ के आमने सामने इस रहस्य का उद्घाटन कर देता है। इसके पश्चात् मैकबेथ का मनोबल क्षीण होने लगता है और युद्ध करते-करते मैकडफ के हाँथों ही वह मारा जाता है। इस प्रकार खलनायक को पराभूत करने वाला, मार गिराने वाला नायक मैकडफ ही नायक माने जाने के सर्वथा योग्य है।

इस नाटक में मैकबेथ की पराजय और मृत्यु से सम्बन्धित डाइनों के कथन; बरनम के वन का चलने लग जाना और स्त्री की कोंख से उत्पन्न व्यक्तियो से मैकबेथ की मृत्यु का न होना, वैसा ही काव्य-व्यंग्य, नाट्यव्यंग्य (ड्रामेटिक आयरनी) है जैसाकि हम संस्कृत के पौराणिक कथानकों में पाते हैं, जहाँ रावण की नाभि और दुर्योधन की जाँघों पर आक्रमण, हिरण्यकश्यपु की मनुष्य एवं पशुओं से अमरता अथवा बालि की शक्तिहरण की क्षमता और जरासंध की जाँघों के चीरे जाने में तथा देवकी की आठवीं सन्तान से ही कंस की मृत्यु में देखा जाता है। इन नाटकीय चमत्कारों की योजना संस्कृत नाटकों में भी प्राय: प्रतिनायक के ही सन्दर्भ में हैं जैसे कि यहाँ यह खलनायक मैकबेथ के साथ नियोजित है।

मैकडफ की तुलना संस्कृत के किसी भी नायक से की जा सकती है किन्तु मैकबेथ के समान कोई भी नायक संस्कृत में ही नहीं सम्भवतः किसी भी साहित्य में कठिनाई से ही मिलेगा। अत: प्रतिनायक की दृष्टि से हम देख सकते हैं कि ब्रूटस की तुलना में कैशस और कैशस की तुलना में मैकबेथ उस सीमा का स्पर्श करते हैं जहाँ संस्कृत प्रतिनायक कभी पहुँच नहीं सकता। इसका मुख्य कारण है उनकी अपनी-अपनी नाट्य दृष्टि, अपनी-अपनी परम्पराएँ और अपनी-अपनी दार्शनिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि।

इस प्रकार हम स्पष्ट रूपेण देखते हैं कि ऊपर की पंक्तियों में 'मैकबेथ' में नायक प्रतिनायक का निर्णाण जितनी सरलता से कर लिया गया है वह उतना ही कठिन है। **त्रासदी** की दृष्टि से, महान् त्रुटियों की दृष्टि से मैकबेथ को नायक माना जा सकता है और इस दृष्टि से उसमें जो गुण-अवगुण हैं उनका उल्लेख भी ऊपर किया जा चुका है। उन्हें ध्यान में रखते हुए उसे किसी भी रूप में ऐसा नायक नहीं माना जा सकता जिसका किसी भी रूप में अनुकरण किया जा सके अतः किसी त्रासदी का नायक; खलनायक नहीं अपितु खलनायक की विरोधी भूमिका ही; अनुकरण की दृष्टि से, आदर्शों की दृष्टि से; महान् होती है। त्रासदी, चूँकि मानव मन को विक्षुब्ध करके छोड़ देने में ही पर्यवसित होती है, अतः उसके नायक को ही, अपितु खलनायक को संस्कृत नाटकों की प्रतिनायक की भूमिका से तुलना हेतु प्रस्तुत किया जा सकता है। ब्रूटस के ऐसे ही रूप को हम पहले देख चुके हैं। वहाँ सीजर महान् के विरोध में

कैशस भी खलनायक है किन्तु यहाँ मैकबेथ मुख्य भी है और खल है। अतः यहाँ मैकडफ की भूमिका मैकबेथ विरोधी होती हुई भी प्रतिनायक की दृष्टि से उपादेय नहीं है।

मैकबेथ नाटक में कुछ ऐसे नाटकीय प्रयोग हैं जिनकी तुलना में संस्कृत नाटकों के अनेक प्रयोगों की दृष्टि से दर्शनीय है। संस्कृत नाटकों में अद्‌भुत रस की अनिवार्य सी योजना के परिणाम स्वरूप विद्याधर (अविमारक), ऐन्द्रजालिक (रत्नावली) तथा कृष्ण प्रभृति की माया (दूतवाक्य, बालचरित) के अनेक प्रयोग होते रहे हैं। किन्तु मैकबेथ में बैंको के भूत तथा डाइनों की योजना, बैंकों के प्रेत के साथ आठ-आठ पुत्र-पौत्रों का नाटकीय प्रदर्शन और उसके पतन के सम्बन्ध में डाइनों की भविष्यवाणी[1] तथा बालचरित[2] में चाण्डाल युवतियों की और मधूकऋषि के शाप की नाटकीय योजना, उसके साथ कंस की राजश्री का विवाद और कंस के स्वप्न की योजना में पर्याप्त समानता है। बरनम के वन के चल पड़ने और मैकबेथ के अन्त के लिए नारी के कोख से न जन्मे हुए पुरुष के सम्बन्ध में नाटकीय उक्ति के माध्यम से जो चमत्कार उत्पन्न किया गया है वैसे अनेकानेक प्रयोग संस्कृत नाटकों में देखे जा सकते हैं।

ओथेलो

कथावस्तु की दृष्टि से ओथेलो का कथानक उपर्युक्त दोनों ही त्रासदी नाटकों से नितान्त भिन्न है। जुलियस सीजर, मैकबेथ और ओथेलो तीनों ही दुःखान्त नाटक हैं, त्रासदी हैं, फिर भी उनमें पर्याप्त अन्तर है। कथावस्तु, चरित्रचित्रण और विचार तत्त्व अथवा अन्तिम उद्देश्य की दृष्टि से उनके दुःख की कोटि में; उसकी सीमा और स्तर में, उसके पर्यवसान और उसकी अनुभूति में भी, अन्तर है। प्रथम तो नितान्त राजनीतिक नाटक है, दूसरे (मैकबेथ) की कथावस्तु सत्ता से सम्बन्धित है किन्तु वह एक पूर्ण राजनीतिक नाटक नहीं है तथापि पर्याप्त सीमा तक राज्य के उत्तराधिकार से सम्बन्धित है। इन दोनों के विपरीत ओथेलो में प्रेम और घृणा के बीच एक ऐसा संघर्ष है जो इन दोनों से पर्याप्त हटकर है। ब्रूटस को हम देख चुके हैं कि वह स्वभाव से दुष्ट नहीं है। कैशस भी स्वभावतः दुष्ट नहीं है राजनीतिक विरोध और राजनीतिक विद्वेष ही किसी सीमा तक उसके चरित्र के मूल में है। किन्तु ओथेलो में, इआगो के चरित्र निर्माण के लिए जिस कथावस्तु की योजना है, उसके लिए प्रकार से डेसडेमोना और ओथेलो को माध्यम बनाया गया है; उससे दो विरोधी तत्त्वों का ध्रुवीकारण हुआ है। एक ओर प्रेम है—निश्छल और निष्कपट; दूसरी ओर घृणा है—छल है, कपट है, सीमातीत घृणा है।

चरित-चित्रण की दृष्टि से इसी कारण नायक ओथेलो महान् त्रुटियों का

१. मैक० अङ्क ४ दृश्य १

२. बाल० अङ्क २

वाहक अवश्य है किन्तु उसे खलनायक नहीं माना जा सकता। अतः 'ओथेलो' जुलियस सीजर की भाँति एक ऐसी त्रासदी रचना है जिसका नायक, खल नहीं है इसके विपरीत उसका खलनायक, नायक नहीं है। ओथेलो में जुलियस सीजर की भाँति बहुत पात्रों की भी योजना नहीं है, यहाँ मुख्य रूप से ओथेलो, इआगो, डैसडेमोना, इमीलिया, कैसियो और रोडरिगो की भूमिकाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। जिनके माध्यम से नाटककार ने निश्चिरूप से कथानक को उस सीमा तक उठाया है कि उच्च स्तर के अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि की जा सकी है। नाटककार ने भावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए उसके माध्यम से बाह्य द्वन्द्व और संघर्ष को उभारा है और इस प्रकार उसने मन को विक्षुब्ध करने में निश्चय ही सफलता प्राप्त की है। मनःशान्ति को वह सीमित परिधि में ही स्पर्श कर सका है।

नायक : ओथेलो

अपने सम्पूर्ण चरित्र में नायक ओथेलो एक निश्छल प्रेमी, साहसी योद्धा, अद्वितीय शक्ति वाला प्रौढ नायक है। वह सचमुच सहृदय, सरल, निष्कपट और देशभक्त तथा अनुशासनप्रिय व्यक्ति है। यही उसके दुगुर्ण हैं और यही उसकी दुर्बलता भी है। वह कैसियो को उसकी अनुशासनहीनता के कारण ही पदच्युत कर देता है जिसके पीछे उसका अत्यधिक विश्वास ही मुख्य कारण है। इसी कारण वह इआगो की बातों पर शीघ्र विश्वास कर लेता है। इआगो उसके प्रत्येक सद्गुण का लाभ उठाकर उसे छलता है और छलता ही चला जाता है। उस समय तक छलता है जब तक वह उसे अपनी प्रिय पत्नी की हत्या करने को बाध्य नहीं कर देता। इसके बाद इआगो की पत्नी इमीलिया द्वारा उसके नेत्रों पर से परदा उठाते ही ओथेलो जागता है, पर तब तक वह बहुत दूर जा चुका है, जहाँ आत्महत्या के अतिरिक्त कुछ शेष नहीं रह जाता। इस रूप में 'ओथेलो' के नायक मूर-ओथेलो का चरित्र त्रुटियों और महान् त्रुटियों से भरा हुआ है जिनकी कोई सीमा नहीं है। वह सामाजिक की हीन ग्रन्थियों को खोल पाता हो अथवा नहीं पर महती करुणा को, सघनतम वेदना और विक्षोभ को जन्म देकर यथार्थ में विलीन हो जाता है। उसकी प्रत्येक त्रुटि तर्कसंगत है क्योंकि उन परिस्थितियों में भावनाओं का यह आवेश, तर्कशक्ति की यह पराजय, क्रोध की ऐसी विजय, ऐसी घृणा और ऐसा प्रतिशोध तथा इतने वीर सम्मानित और साहसी व्यक्ति की ऐसी क्रूरता नितान्त स्वाभाविक है। यह सब उसे एक बार भी यह समझने का अवसर नहीं देते कि कैसियों के प्रति डैसडेमोना की सद्भावना मात्र मानवीय है।

इआगो का खलनायकत्व एवं शकार

खलनायक के रूप में इआगो का चरित्र अत्यन्त उत्कृष्ट है। उसने ओथेलो की सरलता और सहृदयता का लाभ उठाकर उसकी भावनाओं का शोषण किया है।

उसमें वह महान् गुण है जिसके माध्यम से वह ओथेलो, रोडरिगो को कैसियो और डैसडेमोना को जिधर चाहता है उधर ले जाता है। यहाँ तक कि डैसडेमोना की हत्या के निमित्तभूत प्रेम-चिह्न 'रूमाल' को प्राप्त करने के लिए इमीलिया को भी पथभ्रष्ट कर देता है। उसके चरित्र में चिन्तन : भ्रष्टचिन्तन की प्रवृत्ति अत्यन्त तीक्ष्ण है। उसका षड्यन्त्र नितान्त गुप्त है और इस सीमा तक गुप्त हैं कि उन्हें वह किसी पर भी प्रकट नहीं करता। यहाँ तक कि रोडरिगो को केवल इतना ही ज्ञात हो पाता है कि इआगो, मूर और डैसडेमोना के बीच जिस घृणा के बीज बो रहा है वह मात्र रोडरिगो के निमित्त है।

रोडरिगो और कैसियो के मध्य उसने जो संघर्ष के बीज बोये हैं उसके द्वारा वह दोनों को ही समाप्त कर देना चाहता है। कैसियो से उसका वैर इस कारण है कि ओथेलो ने उसकी उपेक्षा कर कैसियो को अपना लेफ्टिनेन्ट बना लिया है। जिसे राडरिगो से भिड़ाकर वह मरवा डालने का प्रयास करता है और बच जाने पर उसे एक वेश्या-गामी कहकर अपमानित करने का प्रयास करता है। रोडरिगो से उसका कोई वैर नहीं है अपितु उसने उसे दो कारणों से अपनी घृणित योजना का भागीदार बनाया है। एक तो इसलिए कि वह उसके मुख्य उद्देश्य डैसडेमोना के पातिव्रत को भ्रष्ट कर सके और इस प्रकार ओथेलो के पतन के मार्ग को प्रशस्त कर सके तथा दूसरे, वह उसके धन का शोषण कर सके। इसी कारण वह अपने उद्देश्य के लिए उसको नियुक्ति करते हुए उसे अधिकाधिक धन एकत्रित करके ले चलने के लिए प्रेरित करता है। अन्त में रोडरिगो को जब कुछ नहीं मिलता दिखाई देता है तो वह इआगो से अलग होकर वापस घर आना चाहता है। इसी समय इआगो को भय हो जाता है कि कहीं वह उसका भेद न खोल दे, अतः वह कैसियो को उससे भिड़ा देता है और अन्त में कैसियो के प्रहार से आहत रोडरिगो को स्वयं मार डालता है।

ओथेलो के सन्दर्भ में इआगो के दो रूप हैं। एक ओर उसके मन में प्रतिशोध की भावना है क्योंकि उसे सन्देह है कि ओथेलो उसकी पत्नी इमीलिया को भ्रष्ट कर चुका है इसके बाद भी मूर ने उसकी उपेक्षा करके कैसियो को अपना लेफ्टिनेन्ट बना लिया है। दूसरी ओर वह उसकी लोकप्रियता और शक्ति से भयभीत है। अतः एक ओर तो वह कैसियो और रोडरिगो के बीच झगड़ा कराकर ओथेलो से कैसियो को पदच्युत कराकर, स्वयं कैसियो और ओथेलो दोनों का अधिक विश्वासपात्र बन जाता है। दूसरी ओर कैसियो को डैसडेमोना से मिलने के लिए तथा पुनः पदप्राप्ति के लिए सिफारिश का ऐसा मार्ग दिखाता है जिससे कि वह मूर के मन में डैसडेमोना और कैसियो के मध्य अनैतिक सम्बन्धों का सन्देह उत्पन्न कर सके। इस प्रकार वह बुद्धिचातुर्य के साथ मूर के मन में इस सीमा तक सन्देह उत्पन्न कर देता है कि वह अनन्य सुन्दरी और पति-व्रता पत्नी को भी कुलटा समझने लगता है और इस रूप में वह ओथेलो को

सदैव मानसिक तनाव में जीने को बाध्य कर देता है। वह इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता। अनैतिक सम्बन्धों के प्रमाण के रूप में मूर के रुमाल को वह कैसियो के पास पहुँचाकर एक ऐसा प्रमाण भी जुटा लेता है कि वह मूर का और अधिक विश्वासपात्र बन बैठता है। अपने सारे सूत्रों को एकत्रित कर वह मूर के हृदय में ऐसी अग्नि लगा देता है जिसमें दो पवित्र प्रेमी भस्म हो जाते हैं। सर्वप्रथम ओथेलो अत्यधिक तनाव और प्रतिहिंसा तथा प्रतिशोध की भावना से अभिभूत हो इआगो को कैसियो की हत्या का अधिकार दे देता है और तदनन्तर वह स्वयं डैसडेमोना की हत्या कर देता है।

इसी समय इआगो की पत्नी इमीलिया मूर की इस घृणित हत्या का कारण जानकर, मूर को, अपने पति की बातों पर विश्वास कर लेने के कारण, निन्दित करती है और बताती है कि वह कितना पतित है। वह बताती है कि डैसडेमोना एक पवित्र नारी थी और उसकी अनैतिकता का प्रमाण वह रूमाल, इआगो को स्वयं इमीलिया ने दिया था क्योंकि इआगो उसे ऐसा करने के लिए कई बार कह चुका था। इस प्रकार अपनी निर्दोष पत्नी की हत्या करके भी मूर शान्ति नहीं पाता, शीघ्र ही उसे ग्लानि और पश्चात्ताप की अग्नि में पुनः जलना पड़ता है और वह आत्महत्या करने को बाध्य हो जाता है।

इआगो के चरित्र में प्रतिशोध है, क्षोभ है और उससे सम्भूत घृणा और क्रूरता है। क्रूरता की; उसकी प्रत्यक्ष क्रूरता की, वह चरम सीमा है जहाँ मूर द्वारा यह कहने पर कि वह डैसडेमोना को विष देकर मार डालेगा, इआगो उसे एक नया मार्ग दिखाता है : 'यदि उसे मारना ही है तो उसी शय्या पर उसका गला घोंट दो जिस पर उसने विश्वासघात किया है[1]।' इस हत्या के लिए वस्तुतः मूर नहीं इआगो ही उत्तरदायी है। सम्पूर्ण नाटक में रोडरिगो, और इमीलिया की हत्या तो वह स्वयं अपने हाँथों से करता है और मूर की आत्महत्या ऐसी विवशता है, जिसका सम्पूर्ण दायित्व इआगो पर ही है।

इस रूप में उसकी क्रूरता मूर की क्रूरता से, उसका दुःसाहस मूर के साहस से, उसका षड्यन्त्र मूर की सरलता से, उसकी घृणा मूर और डैसडेमोना के परस्पर प्रेम से तथा उसकी दूर दृष्टि, मूर की; कैसियो, डेसडेमोना और रोडरिगो की, अल्पदृष्टि से कई सौ गुना बड़ी है, तीक्ष्ण और गहरी है। इसी कारण वह सभी को पराजित करके, अपने प्रतिशोध, ईर्ष्या और घृणा की पूर्ति करके भी प्रायश्चित्त नहीं करता, एक शब्द भी वह ग्लानि, पीड़ा अथवा वेदना के प्रकट नहीं करता। वह उतना ही दुःखी होता है; उतना ही हँसता है और उतना ही क्रुद्ध होता है, जितना प्रदर्शन के लिए, मात्र प्रदर्शन के लिए, लोगों को छलने के लिए, आवश्यक है। उसमें करुणा,

१. ओथेलो—अङ्क ४, दृश्य १, पृ० १०१ (अनु० डॉ० रांगेयराघव)

दया, ममता, सरलता और सज्जनता, दीनता और प्रेम कुछ भी नहीं है। उसे रोडरिगो का धन चाहिए, कैसियो का सम्मान चाहिए और मूर की शान्ति चाहिए। अपने षड्यन्त्रों द्वारा वह सब कुछ पा लेता है। वह जिससे जो कुछ एक बार ले लेता है, पा जाता है फिर उन्हें वापस नहीं देता। न तो रोडरिगो को अपने रत्न मिलते हैं, न कैसियो को वह सम्मान और न ही मूर को वह शान्ति। वह एक ऐसा खलनायक है जिसकी तुलना पाश्चात्य साहित्य में भी स्वयं इआगो से ही की जा सकती है। इमोलिया ही उसका सही मूल्याङ्कन कर सकी है जो अनजाने ही इआगो से कहती है, 'मुझे फाँसी लग जाए, यदि यह काम किसी नारकीय, नीच, कमीने और भयानक रूप से कुटिल, नराधम, धोखेबाज व्यक्ति का न हो, जो किसी पद पर नियुक्ति के लिए ऐसी योजनाबद्ध बदनामी कर रहा है। यदि ऐसा न हो तो मुझे फाँसी दे दी जाए[1]।

संस्कृत नाटकों के प्रतिनायक के लिए निर्धारित गुणों के अनुरूप संस्कृत साहित्य के पास भले ही कोई प्रतिनायक न हो किन्तु पाश्चात्य नाटकों में इआगो एक ऐसा ही चरित्र है, जिसमें लोभ है, धैर्य है, उद्दण्डता है, पाप है, व्यसन है और कूट-कूट कर रिपुभाव भरा है, प्रतिशोध है, घृणा है और क्रूरता है। अतः वह किसी सीमा तक शकार के बहुत निकट है जिसका सही मूल्याङ्कन नाटक के अन्त में प्रायः सभी पात्र करते हैं। ओथेलो तो कह पड़ता है 'क्या आकाश में अब ऐसा कोई वज्र नहीं है जो इस जघन्य पर टूट सके ? ओ महान् नीच ! नराधम[2] !!' नायिका डैसडेमोना का सम्बन्धी और वेनिस का सम्भ्रान्त नागरिक लोडोविको तो उसे ही सम्बोधित करते हुए कहता है 'अरे बर्बर कुत्ते ! तू बुभुक्षा, उन्नद्ध सिन्धु और विक्षोभ से भी अधिक क्रूर है[3]।'

मृच्छकटिक में हम देखते हैं शकार भी लगभग ऐसी ही घृणा और प्रतिशोध की भावना के वशीभूत होकर अपने ही हाथों से वसन्तसेना की हत्या करने का प्रयास करता है, अपनी समझ से तो हत्या कर देता है। जितनी चतुराई से इआगो, कैसियो और रोडरिगो को मूर्ख बनाता है, शकार भी लगभग उतनी ही चतुराई से स्थावरक और विट को मूर्ख बनाता है। जिस बुद्धि कौशल से इआगो मूर को मूर्ख बनाता है उसे छलता है, भाग्य उसका साथ देता है, उतने ही चातुर्य से शकार भी चारुदत्त को आबद्ध करता है। न्यायाधिकरण के समक्ष उस पर अभियोग लगाता है और वसन्तसेना की माँ की साक्षी और विदूषक के हाथों से गिरे आभूषण, भाग्यवश उसके अभियोग को

१. ओथेलो, अङ्क ४, दृश्य २, पृ० १११
२. ओथेलो, अङ्क ५, दृश्य २ पृ० १३६
३. ओथेलो, अङ्क ५, दृश्य २, पृ० १४१

पुष्ट कर देते हैं। और जिस प्रकार यह सब करके इआगो, मूर को मानसिक पीड़ा, बौद्धिक चिन्ता और जड़ता, शोक और ग्लानि की स्थिति में लाकर पटक देता है उसी प्रकार शकार भी चारुदत्त को अन्त में आत्मवेदना, शारीरिक पीड़ा और ग्लानि की उस सीमा तक ले जाता है जहाँ चारुदत्त इस सब की अपेक्षा मृत्यु को श्रेष्ठ समझने लगता है।

वस्तुतः इआगो और शकार के चरित्र में अनेक गुण अप्रत्याशित रूप से समान है। यहाँ तक कि अन्त में षड्यन्त्र के उद्घाटित हो जाने पर दोनों ही भागते हैं किन्तु बन्दी बना लिए जाते हैं। इन सकारात्मक समानताओं के अतिरिक्त दोनों में कुछ नकारात्मक समानताएँ भी हैं। दोनों ही उद्धत नहीं है, दोनों में ही दर्प नहीं है और दोनों ही विश्वसनीय नहीं है। इतनी सारी समानताएँ होने पर भी उनमें वैषम्य है, शकार को अन्त में अपने कर्म पर ग्लानि है किन्तु इआगो में ऐसा कहीं भी देखने को नहीं मिलता। शकार आत्मसमर्पण कर देता है किन्तु इआगो मौन ही रहता है। इआगो शकार के समान मूर्ख भी नहीं है और उतना प्रलापी, विलासी और कामुक भी नहीं है। इधर शकार में इआगो के समान तर्क बुद्धि, गाम्भीर्य और वाक्चातुर्य भी नहीं है। इस प्रकार उनमें जो समानताएँ हैं वे अत्याशित हैं किन्तु जो असमानताएँ हैं वे उनकी अपनी मौलिक विशेषताएँ है। फिर भी प्रतिनायक-सामान्य की दृष्टि से इआगो में जो चमत्कार है, जो गति है, जो प्रखरता है वह संस्कृत के रूपकों के प्रतिनायकों में नहीं है। इसका कारण उनकी अपनी भावभूमि है, सांस्कृतिक और साहित्यिक मर्यादा है।

उपसंहार : प्रतिनायक और खलनायक का निन्द्य-रूप

इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे रोमियो जुलियट का टाइबाल्ट हो अथवा जुलियस सीजर के कैश कैशस और ब्रूटस; मैकबेथ में स्वयं मैकबेथ हो अथवा लेडी-मैकबेथ, अथवा ओथेलो का इआगो, इन सभी में संस्कृत नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से ऐसे अनेक तत्त्व मिल जाते हैं जो किसी भी साहित्य को, किसी भी युग को, किसी भी रुचि के प्रेक्षक को, सामाजिक की भावनाओं को उद्बोधित करते हैं। उसकी कोटि में अन्तर हो सकता है। कथानक के अन्त को लेकर भावनाओं में भी अन्तर हो सकता है किन्तु किसी प्रतिनायक के प्रति, खलनायक के प्रति, उस भावना को जन्म नहीं मिलता जो किसी आदर्श नायक को लेकर उत्पन्न होती है। वास्तव में खलनायक अथवा प्रतिनायक जहाँ भी हैं पाप के; त्रुटियों के, अवगुणों अथवा अभावों के किंवा अनुकरणीय अथवा मानवीय गुणों से युक्त नायक के विरोध की भावना के, प्रतिनिधि हैं। उन सभी में मानवीय दोष हैं, त्रुटियाँ हैं, मानवीय मूल्यों के प्रति उदासीनता और उपेक्षा है, भूल है, आदर्शों अथवा अपेक्षित गुणों का नितान्त अभाव है। अतएव

उनके अपराध क्षम्य भले ही मान लिए जाएँ वे अनुकरणीय नहीं हैं। वे महान् होते हुए भी पूर्ण नहीं हैं। अतएव संस्कृत के काव्यशास्त्रियों ने साहित्य, काव्य और नाट्य के उद्देश्य को 'रामादिवत् वर्तितव्यं न रावणादिवत्' के रूप में स्वीकार किया है।

इस प्रकार रावण हो अथवा मैकबेथ, माल्यवान् हो अथवा कैशस, शकार हो अथवा इआगो, दुर्योधन हो अथवा रिचर्ड तृतीय, बालि हो अथवा ब्रूटस, शकुनि हो अथवा टाइबाल्ट, आर्मेडो और होलोफर्नी हो[1] अथवा अघोरघण्ट अथवा चार्वाक-राक्षस[2], शाइलाक हो अथवा हार्नब्लोअर[3]' कास्का और सिन्ना हों अथवा दुःशासन और कर्ण, लेडी मैकबेथ हो अथवा शूर्पणखा और कपालकुण्डला, मालवोलियो[4] हो अथवा जामदग्नि, बूढ़ा नन्दन हो अथवा सर एण्ड्र[5] ये सभी नाटककारों की आलोचना के पात्र हैं। प्रेक्षक और दर्शक उनमें महान् से महान् दोष ढूढ़ निकालते हैं, उनकी खिल्ली उड़ाते हैं। अतः यह कहना नितान्त असंगत है कि कहीं उनकी आलोचना की गयी है तो कहीं उन्हें छोड़ दिया है जैसाकि हैनरी वेल्स महोदय मानते हैं[6]। सत्य तो यह है कि इनकी सर्वत्र आलोचना हुई है। इस आलोचना की विधा में और कोटि में अन्तर हो सकता है किन्तु उसकी उपेक्षा कहीं और कभी नहीं हुई है, क्योंकि संस्कृत नाटकों में प्रतिनायक का पतन, पराभव, आत्मसमर्पण और प्रायश्चित ही सबसे बड़ा नाटकीय न्याय है; ड्रामेटिक जस्टिस है, कन्डमनेशन और इक्जीक्यूशन है।

संस्कृत नाटकों में राक्षस जैसे आदर्श पुरुष को प्रतिनायक और चाणक्य जैसे क्रूर और साहसी नीतिज्ञ को नायक के रूप में देखा जा सकता है। इतना ही नहीं लोक-प्रसिद्ध और पौराणिक प्रतिनायक और किसी सीमा तक महाभारत के धरातल पर खलनायक के रूप में प्रतिष्ठा अर्जित करने वाले दुर्योधन और कर्ण को (ऊरुभङ्ग तथा कर्णभार में) नायक के रूप में भी रङ्गमञ्च पर उतरते हुए देखा जा सकता है।

---

१. लव्स लेबर्स लास्ट—शेक्सपियर
२. क्रमशः, मालतीमाधव और वेणीसंहार
३. स्किन गेम—गाल्सवर्दी
४. ट्वेल्थनाइट
५. क्रमशः, मालतीमाधव एवं ट्वेल्थनाइट
6. The villain in the Western understanding of the word is simply not to be found. True, *Ravana* abducts a heroine but this *Lord of Darkness* has much more nobility than an *Iago* or a *Richard Third*, and is by no means condemned and executed as *Shakespeare* condemns and executes *Macbeth*.
HENRY W. WELLS, CDI Page 16, 1

मैकबैथ के नायकत्व को भी किसी सीमा तक इस रूप में देखा जा सकता है। उसके अतिरिक्त भी ऐसे नायक पाश्चात्य रूपकों में अन्यत्र दिख जाएँगे, अत: कवि की प्रतिभा इस कार्य में किसी बन्धन को कब स्वीकार करती है और कब खण्डित कर देती है कह सकना कठिन है। तथापि संस्कृत के प्रतिनायक और पाश्चात्य खलनायक के मध्य मुख्य अन्तर यही है कि एक के साथ आदर्श है, प्रायश्चित और नायक के समक्ष आत्मसमर्पण की प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष भावना है, दूसरे में क्रूरता की, हत्या की प्रधानता है और संस्कृत प्रतिनायक के गुण उसमें गौण हैं, वैकल्पिक हैं। इस भेद को ध्यान में रखते हुए भी एक निश्चित मापदण्ड निर्धारित कर पाना सरिता के जल पर रेखाङ्कन के समान निरर्थक हो सकता है।

अत: यह कहना ही पर्याप्त होगा कि किसी चरित्र के दोष को दिखाना भी उतनी ही बड़ी कला है जितनी बड़ी कला किसी की महानता का चित्रण है। नायक हो अथवा नायिका, प्रतिनायक हो अथवा खलनायक अथवा ऐसी ही अन्य भूमिकाएँ; आकार-प्रकार में छोटी हों अथवा बड़ी, क्षणिक हों अथवा दूरगामी उन पर अपनी संस्कृति, सभ्यता, साहित्यिक परम्परा और दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव होना स्वाभाविक है, इससे उनको सार्वकालिकता और सार्वजनीनता का यश मिलता है। इन मूल्यों की स्थापना ही किसी कवि अथवा नाटककार का उद्देश्य होता है। यही किसी साहित्य की सफलता और अमरता का सोपान बनता है। नायक और प्रतिनायक की योजना का; उनके परस्पर विरोध और संघर्ष के चित्रण का मूल उद्देश्य यही है कि इस माध्यम से नायक और उसके उन सद्गुणों और सांस्कृतिक आदर्शों की स्थापना की जाती है जिनके लिए नायक का चरित्र समर्पित रहा करता है। पाश्चात्य नाटकों (त्रासदियों) में नायक की महान् त्रुटि को दिखाकर उसको त्यागने का ही संदेश सम्प्रेषित किया जाता है; ऐसा मैं सोचता हूँ।

* * *

ग्रन्थ-संकेत-सूची

एवं

संदर्भ-ग्रंथ

ग्रन्थ-संकेत-सूची

अथर्व०	अथर्ववेद संहिता
अभिनव०	अभिनवभारती
अभिषेक०	अभिषेकनाटक
*अवि०	अविमारक (रूपक)
उत्तर०	उत्तररामचरित (रूपक)
*ऊरु०	ऊरुभङ्ग (रूपक)
ऋ०	ऋग्वेद संहिता
ऋ०ऐति०	ऋग्वेद पर ऐतिहासिक दृष्टि
ऋक्०क०	ऋग्वेद कथा
ऐतिरेय०	ऐतिरेय ब्राह्मण
०ओथेलो०	ओथेलो (नाटक)
*कर्ण०	कर्णभार (रूपक)
काठक०	काठक संहिता
का०प्र०	काव्यप्रकाश
काव्यानु०	काव्यानुशासन
कास०	काव्य समीक्षा
*चारु०	चारुदत्त (रूपक)
०जुसि०	जुलियस सीजर (नाटक)
जैमिनी०	जैमिनीय ब्राह्मण
ताण्ड्य०	ताण्ड्य ब्राह्मण
तै०ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तैत्ति०सं०	तैत्तिरीय संहिता
द०रू०	दशरूपक
*दूतघ०	दूतघटोत्कच (रूपक)
*दूतवा०	दूतवाक्य (रूपक)
ध्वन्या०	ध्वन्यालोक
नञ्ज०	नञ्जराजयशोभूषण
नाटकलक्षण०	नाटकलक्षणरत्नकोश
ना०च०	नाटकचन्द्रिका

ना०द०	नाट्यदर्पण
नागा०	नागानन्द (रूपक)
*पञ्च०	पञ्चरात्र (रूपक)
पाकामी०	पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र मीमांसा
पाकासि०	पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र सिद्धान्त
*प्रतिमा०	प्रतिमानाटक (रूपक)
*प्रतिज्ञा०	प्रतिज्ञायौगन्धरायण (रूपक)
प्रबोध०	प्रबोधचन्द्रोदय (रूपक)
प्र०रु०	प्रतापरुद्रयशोभूषण
*बाल०	बालचरित (रूपक)
बृहद्०	बृहद्देवता
भरत	(मूलमात्र) भरतनाट्यशास्त्र
भरत (ओ)	भरतनाट्यशास्त्र-अभिनवसहित
भरत (नि)	भरतनाट्यशास्त्र (निर्णयसागर प्रेस से दशरूपक के साथ प्रकाशित चार अध्याय)
भापाका०	भारतीय तथा पाश्चात्त्य काव्यशास्त्र का संक्षिप्त विवेचन
भाव०	भावप्रकाशन
*मध्यम०	मध्यमव्यायोग (रूपक)
महावीर०	महावीरचरित (रूपक)
मुद्रा०	मुद्राराक्षस (रूपक)
०मैक०	मैकबेथ (नाटक)
मृच्छ०	मृच्छकटिक (रूपक)
रघु०	रघुवंश
०रोमियो०	रोमियो जुलियट (नाटक)
रंगमंच	रंगमंच : नाटक, अभिनय और मंचशिल्प के तीन सहस्र वर्ष

रसार्णव० रसार्णवसुधाकर
वि०म० विदेशों के महाकाव्य
वै०को० वैदिक कोश
वै०ध०द० वैदिक धर्म और दर्शन
वै०स० वैदिक सम्पत्ति
वै०सा०सं० वैदिक साहित्य एवं संस्कृति
वै०दे० वैदिक देवशास्त्र
वेणी० वेणीसंहार (रूपक)
शत०ब्रा० शतपथ ब्राह्मण
शाकु० अभिज्ञानशाकुन्तल (रूपक)
शृङ्गार० शृङ्गारप्रकाश
सत्यार्थ० सत्यार्थप्रकाश
सा०द० साहित्यदर्पण
सं०सा०बृ०इ० संस्कृत साहित्य का बृहद् इतिहास
सं०सा०इ० संस्कृत साहित्य का इतिहास
सं०ना० संस्कृत नाटक
स्वतन्त्र० स्वतन्त्रकलाशास्त्र
हितो० हितोपदेश
BSP Bhoja's Sringara-praksha
CDI The Classical Drama of India.
0FGL Four Great Tragedies
ISM Introduction to the study of Mriccha-katika.
0JC Julius Caesar
0Mac. Macbeth
0RJ Romeo and Juliet

सन्दर्भ-ग्रन्थ

संहिता, ब्राह्मण, स्मृति एवं पुराणेतिहास

अथर्ववेद संहिता : भाषा भाष्य सहित
ऋग्वेद संहिता : मूल
ऋग्वेद संहिता : वेंकटमाधव-भाष्य
ऋग्वेद संहिता : सायण भाष्य
ऐतरेय संहिता
काठक संहिता
तैत्तिरीय संहिता
जैमिनीय ब्राह्मण
ताण्ड्य ब्राह्मण
बृहद्देवता
शतपथ ब्राह्मण
मनुस्मृति
याज्ञवल्क्यस्मृति
कामन्दकीयनीतिशास्त्र
भर्तृहरिनीतिशतक
विदुरनीति
अग्निपुराण
देवीभागवत
महाभारत
वाल्मीकि रामायण
विष्णुपुराण
श्रीमद्भगवद्गीता
श्रीमद्भागवत

सम्बन्धित आलोचना साहित्य

ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका : स्वामिदयानन्द-सरस्वती
ऋग्वेदभाष्य-भूमिका : आचार्य सायण

ऋग्वेद कथा : रघुनाथ सिंह

ऋग्वेद पर एक ऐतिहासिक दृष्टि : विश्वेश्वर नाथ रेऊ

वैदिक इण्डेक्स : मैकडानल तथा कीथ अनु० रामकुमार राय

वैदिक देवशास्त्र : मैकडानल कृत वैदिक माइथॉलोजी का डॉ० सूर्यकान्त कृत हिन्दी अनुवाद

वैदिक धर्म एवं दर्शन : कीथ के रिलीजन ऐण्ड फिलासफी आफ वेदाज एन्ड उपनिषद्स का डॉ० सूर्यकान्त कृत हिन्दी अनुवाद

वैदिक पुराकथा-शास्त्र : मैकडानल कृत वैदिक माइथॉलोजी का डॉ०रामकुमारराय कृत हिन्दी अनुवाद

वैदिक सम्पत्ति : पं०रघुनन्दन शर्मा

वैदिक साहित्य एवं संस्कृति : डॉ० बलदेव उपाध्याय

सत्यार्थप्रकाश : स्वामिदयानन्दसरस्वती

सायण तथा दयानन्द के वेद-भाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन : सुश्री डॉ०विमला

पुराण विमर्श : डॉ० बलदेव उपाध्याय

भगवद्गीता-रहस्य : बालगंगाधर तिलक अनु० माधव राव सप्रे

कोश तथा व्याकरण

अमरकोश : अमरसिंह

भरतकोश : रामकृष्णकवि

महाभारतकोश : डॉ० रामकुमार राय

महाभाष्य : पतञ्जलि

वैदिककोश : डॉ० सूर्यकान्त

शब्दकल्पद्रुम : राजा राधाकान्तदेव

संस्कृत शब्दार्थ-कौस्तुभ : तारिणीश झा

संस्कृतहिन्दीकोश: वामनशिव आप्टे

साहित्य शास्त्रीय ग्रन्थ

अभिनयदर्पण : आचार्य नन्दिकेश्वर

अभिनवभारती : अभिनवगुप्त (ओ० आर० आई० बड़ौदा,

अरस्तू का काव्य-शास्त्र (हिन्दी अनुवाद) : डॉ० नगेन्द्र, भारतीभवन इलाहाबाद

काव्यप्रकाश : आचार्य मम्मट, (विश्वेश्वर कृत हिन्दी व्याख्या सहित, ज्ञान-मण्डल लि०वाराणसी

काव्यप्रकाश-दर्पण : काव्यप्रकाश पर आचार्य विश्वनाथ की टीका: सम्पादक— डॉ० गोपराजू रामा मञ्जु प्रकाशन— इलाहाबाद

काव्यादर्श (रत्नश्री टीका सहित) : आचार्यदण्डी, मिथिला विद्यापीठ, १९५७।

काव्यानुशासन : हेमचन्द्र, महाबीर जैन विद्यालय, बाम्बे

दशरूपक (नाट्य. शास्त्र के १८,१६, २० तथा २४ वें अध्याय के साथ) : धनञ्जय-धनिक, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई १९४१

दशरूपक : श्रीनिवासशास्त्रिकृत हिन्दी व्याख्या सहित साहित्य भंडार मेरठ १९७६

ध्वन्यालोक : आचार्य आनन्दवर्धन (अभिनवगुप्तपाद कृत लोचन सहित)

ध्वन्यालोक : आनन्दवर्धन (आचार्य विश्वेश्वर की हिन्दी व्याख्या सहित) ज्ञान-मंडल लिमिटेड, वाराणसी १९६२

नञ्जराजयशोभूषण : नरसिंहकवि, (ओ० आर० आई० बड़ौदा)

नाटकचन्द्रिका : रूपगोस्वामी, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, वाराणसी १९६४

नाटकलक्षणरत्न-कोश : आचार्य सागरनन्दी आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन १९३७

नाटकलक्षणरत्न-कोश : सं० बाबूलाल शुक्ल हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी

नाट्यदर्पण : रामचन्द्र-गुणचन्द्र

नाट्यशास्त्र (१-१८ अध्याय अभिनव भारती सहित) : मधुसूदन शास्त्री द्वारा सम्पादित बी० एच० यू० १९७५

नाट्यशास्त्र : मनमोहनघोष द्वारा सम्पादित, मनीषा ग्रन्थमाला, कलकत्ता

नाट्यशास्त्र (अभिनव० सहित) : भरतमुनि, ओरिएण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, १९५६

प्रतापरुद्रयशो-भूषण (प्रतापरुद्रीय) : संस्कृत एजूकेशन सोसाइटी मद्रास : १९७०

भावप्रकाशन : आचार्यशारदातनय ओ० आर० आई० बड़ौदा

भावप्रकाशन : डॉ० मदनमोहन अग्रवाल द्वारा सम्पादित एवं हिन्दी अनुवाद सहित, चौक बाजार, सादाबाद मथुरा १९७८

रसकौस्तुभ : आचार्य वेणीदत्त (डॉ० ब्रह्ममित्र द्वारा सम्पादित तथा हिन्दी व्याख्यान सहित)

रसचन्द्रिका : विश्वेश्वरपंडित

रसार्णवसुधाकर : आचार्य शिङ्गभूपाल (टी० गणपतिशास्त्र द्वारा सम्पादित) गवर्नमेण्ट प्रेस त्रिवेन्द्रम्

शृङ्गारप्रकाश : भोजराज, सम्पादक- जी० आर० जोशियार कोरोनेशन प्रेस मैसूर १९६९

साहित्यदर्पण : आचार्य विश्वनाथ (हरिदास भट्टाचार्य की टीका सहित)

साहित्यदर्पण : डॉ० सत्यव्रतसिंह की सविमर्श शशिकला हिन्दी व्याख्या सहित चौखम्बा विद्याभवन १९७०

हिन्दी अभिनव-भारती (ना०शा० के १, २, ६) : आचार्य विश्वेश्वर की हिन्दी व्याख्या सहित हिन्दी विभाग दिल्ली

हिन्दी नाट्य-दर्पण : सं० डॉ० नगेन्द्र हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय,

आलोचना साहित्य

अभिनव नाट्य-शास्त्र : सीताराम चतुर्वेदी

अरस्तू का काव्य-शास्त्र (भूमिका) : डॉ० नगेन्द्र, भारती भवन इलाहाबाद

काव्यसमीक्षा : डॉ० विक्रमादित्य राय भारतीय विद्याप्रकाशन वाराणसी

ध्वनि सिद्धान्त-विरोधी सम्प्रदाय-उनकी मान्यताएँ : डॉ० सुरेशचन्द्र पाण्डेय, वसुमती प्रकाशन, दारागंज, इलाहाबाद

नाटक साहित्य का अध्ययन : मूल ब्रेण्डर मैथ्यूज अनु० इन्दुजा अवस्थी

नाटकप्रेक्ष्य और पाठ्य : डॉ० दशरथ ओझा

नाट्य कला : डॉ० रघुवंश

नाट्यकला मीमांसा : सेठ गोविन्ददास

पाश्चात्य काव्य मीमांसा : प्रो० देशराज भाटी, रीगल बुकडिपो, दिल्ली, १९६५

पाश्चात्य-काव्यशास्त्र के सिद्धान्त : डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, १९७०

पाश्चात्य काव्य-समीक्षा : ब्रजभूषण शर्मा

पाश्चात्य-साहित्यालोचन के सिद्धान्त : लीलाधरगुप्त, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त : डॉ० गणपति चन्द्र गुप्त, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

भारतीय एवं पाश्चात्य रंगमंच : सीताराम चतुर्वेदी हिन्दी समिति, लखनऊ

भारतीय तथा पाश्चात्य काव्य-शास्त्र का संक्षिप्त विवेचन : डॉ० सत्यदेव चौधरी तथा डॉ० शान्तिस्वरूप गुप्त, अशोक प्रकाशन, दिल्ली

भारतीय नाट्य-साहित्य (सेठ गोविन्ददास अभिनन्दन ग्रन्थ) : सम्पादक डॉ० नगेन्द्र

भारतीय नाट्य परम्परा और अभिनयदर्पण : वाचस्पति गैरोला लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद

रंगमंच और नाटक की भूमिका : लक्ष्मी नारायण लाल

रंगमंच (दी थियेटर) (नाटक अभिनय और मंचशिल्प के तीन सहस्र वर्ष) : मूल० शेल्डान चेनी, अनु० श्रीकृष्णदास, हिन्दी समिति, लखनऊ, १९६५

संस्कृत नाटक : मूल-कीथ, अनु० डॉ० उदयभानु सिंह, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी १९६५

स्वतन्त्रकलाशास्त्र : डॉ० कान्तिचन्द्रपाण्डेय

हमारी नाट्य परम्परा : श्री कृष्ण दास

हिन्दी नाट्य विमर्श : डॉ० गुलाब राय

काव्य-कथा साहित्य

किरातार्जुनीय : महाकवि भारवि निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

मेघदूत : महाकवि कालिदास

महाकवि नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ

रघुवंश : कालिदास, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, १९६१

शिशुपालवध : माघ, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, १९६८

पञ्चतन्त्र : विष्णुशर्मा

विदेशों के महाकाव्य : गोपीकृष्ण, साहित्यभवन लिमिटेड, प्रयाग, १९४६

हर्षचरित : महाकवि बाण

हितोपदेश : नारायण पंडित

नाट्य साहित्य

अभिज्ञानशाकुन्तल : महाकवि कालिदास, भार्गव पुस्तकालय, गऊघाट, वाराणसी, १९५६

अनर्घराघव : मुरारि कवि

*अभिषेकनाटक : महाकवि भास

*अविमारक : महाकवि भास

उत्तररामचरित : महाकवि भवभूति निर्णयसागर प्रेस बम्बई १९३९

उन्मत्तराघव : भास्कर कवि

*ऊरूभङ्ग : महाकवि भास

०ओथेलो : शेक्सपियर

*कर्णभार : महाकवि भास

कर्पूरमञ्जरी : राजशेखर

कंसवध : शेषकृष्ण

*चारुदत्त : महाकवि भास

चैतन्यचन्द्रोदय : कवि कर्णपूर

जीवानन्द : देव कवि

०जुलियस सीजर : शेक्सपियर

०जैसा तुम चाहो : शेक्सपियर

*दूतघटोत्कच : महाकवि भास

*दूतवाक्य : महाकवि भास

दूताङ्गद : सुभटकवि

धोखाधड़ी (स्किनगेम) : मूल गाल्सवर्दी, अनु०, ललिता प्रसाद शुक्ल, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद, १९३९

नञ्जराजयशोभूषण : नृसिंह कवि

नागानन्द : हर्षदेव, रामस्वामी शास्त्री एण्ड सन्स, श्रीराम प्रेस, मद्रास

नातन : नाटककार लेसिंग के जर्मन नाटक अनुवाद : अनु० मिर्जा अब्दुलफजल हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद १९३२
०निष्फल प्रेम : शेक्सपियर
*पञ्चरात्र : महाकवि भास
प्रचण्डपाण्डव : राजशेखर
प्रतापरुद्रकल्याण : विद्यानाथ
*प्रतिमानाटक : महाकवि भास
*प्रतिज्ञायौगन्धरायण : महाकवि भास
प्रबोधचन्द्रोदय : कृष्णमिश्र, निर्णयसागर प्रेस, १९३५
प्रसन्नराघव : जयदेव
प्रियदर्शिका : हर्षदेव, वाणी विलास प्रेस, १९२७
०बारहवीं रात : शेक्सपियर
*बालचरित : महाकवि भास
बालरामायण : राजशेखर
०भूल भुलैय्या : शेक्सपियर
*मध्यमव्यायोग : महाकवि भास
महावीरचरित : भवभूति, चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी
मालतीमाधव : भवभूति चौ०सं०सी०
मालविकाग्निमित्र : महाकविकालिदास, रामनारायणलाल बेनीमाधव, इलाहाबाद,
मुद्राराक्षस : विशाखदत्त, चौखम्बा संस्कृत सीरिज, १९५४ डॉ० सत्यव्रत सिंह की शशिकला टीका सहित
मृगाङ्कलेखा : विश्वनाथदेव, विद्याविलास प्रेस वाराणसी १९०९,
मृच्छकटिक : शूद्रक, निर्णयसागरप्रेस बम्बई, १९५०
०मैकबेथ : शेक्सपियर
मोहराजपराजय : (जैनकवि) यशपाल
रत्नावली : हर्षदेव; खेमराज श्रीकृष्ण दास, श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई
०रोमियोजुलियट : शेक्सपियर
विक्रमोर्वशीय : महाकवि कालिदास
विद्यापरिणयन : आनन्दराय मखि
वीणावासवदत्ता : सं० के० वी० शर्मा, डॉ० वी० राघवन् के इन्ट्रोडक्शन सहित, कुप्पूस्वामी रिसर्च इन्स्टीट्यूट, मद्रास
वेणीसंहार : भट्टनारायण, चौखम्बा; संस्कृत सीरिज, १९५९
०वेनिस का सौदागर : शेक्सपियर
संकल्पसूर्योदय : वेदान्तदेशिक, चौखम्बा, संस्कृत सीरिज, वारा०
सौगन्धिकाहरण : विश्वनाथ, चौखम्बा विद्याभवन, १९६३
*स्वप्नवासवदत्ता : महाकवि भास
हड़ताल(स्ट्राइक) : मूल—गालसवर्दी, अनु० प्रेमचन्द, हिन्दुस्तानी अकादमी, इलाहाबाद
०हैमलेट : शेक्सपियर,

आलोचना साहित्य

कालिदास का भारतवर्ष : भगवतशरण उपाध्याय

कालिदास
ग्रन्थावली : सीताराम चतुर्वेदी
प्रबोधचन्द्रोदय और
उसकी हिन्दी
परम्परा : श्रीमती सरोज अग्रवाल
भवभूति ग्रन्थावली : रामप्रताप त्रिपाठी
महाकवि भवभूति : डॉ० गंगासागर राय
महाकवि भास : डॉ०बलदेव उपाध्याय
महाकवि शूद्रक : चन्द्रबली पाण्डेय
महाकवि शूद्रक : रमाशंकर त्रिपाठी
साहित्य तथा संस्कृति का इतिहास
भारतीय संस्कृति
की रूपरेखा : डॉ० गुलाब राय
भारतीय संस्कृति में
आर्येतरांश : डॉ० शिवशेखर मिश्र
संस्कृत साहित्य
का इतिहास : डॉ० बलदेव उपाध्याय
संस्कृत साहित्य का
बृहत् इतिहास : वाचस्पति गैरोला

*'भासनाटक चक्र' : सी०आर० देवधर द्वारा सम्पादित तथा ओरियण्टल बुक एजेन्सी पूना द्वारा १९६२ में प्रकाशित

०मूल लेखक : विलियम शेक्सपियर अनु० डॉ० रांगेयराघव, राज्यपाल एण्ड सन्स कश्मीरीगेट, दिल्ली, एतदर्थ सभी अँग्रेजी उद्धरणों के लिए देखें —

Four Great tragedies : With Introdnctionby MarkVan Doren, JAICO PUBLISHING Housk Bombey & Calcutta 1948

A History of Sanskrit Literature : Krishnamachariar
Bhasa and Authorship of the Trivendram Plays : Hiranand Shastri
Bhasa Studies : G. K.Bhat
Bhoja's Shringaraprakasha : Dr. V. Raghavan
Comperative Aesthetics : Dr. K. C. Pandey
Four Great Comedies : WILLIAM SHAKESPEARE
Four Great Historical Plays : With Introduction by Mare
Four Great Tragedies Van Doren, Jaico Publishing House, Bombay and Culctta.
History of Sankrit Literature : A. B. Keith
History of Sanskrit Literature : S. K. Dey & Dasgupta
History of Sanskrit Poetics : P. V. Kane
Introduction to the Study of Mricchakatika : Dr. G. V. Devasthali
Natya, Nritta and Nritya; Their Meaning and Relation : K. M. Verma
Number of Rasas : Dr. V. Raghavan
Pratimanatakam : T. Ganapati Shastri
Preface of Mricchakatika : G. K. Bhat
Psychological Studies of Rasa : Dr. V. Raghavan
Sanskrit Comic Character : J. T. Parikh, The Popular Book Stores, Surat.
Sanskrit Drama its Origine and Decay : Indushakhar

Sanskrit Poetics : S. K. De
Some old Lost Rama Plays (Lect) : Dr. V. Raghavan
The Classical Drama of India : Henry W. Wells, Asia Publishing House, Bombay 1862.
The Mricchakatika of Shudraka : M. R. Kale
The Types of Sanskrit Drama : D. R. Mankad
The Religion and Philosoply of the Vedas & Upanishads : A. B. Keith
The Vidushaka : G. K. Bhat
Tragedy and Sanskrit Drama : G. K. Bhat
Vedic Gods As Figures of Biology: V. G. Rele, DB Taraporewala Sons & Co. 1931.
Vedic Index : Mackdonell & Keith
Vedic Mytholagy : Mackdonell

CATALOGUES & JOURNALS

Catalogus Catalogorum (Part I & II) : Theodor Aufrecht, Franz Steiner Verlag Gmbh Wiesbarden 1962-
New Catalogus Catalogorum (Part) Vol I to VII : Dr. V. Raghavan, University of Madrass.

—Descriptive Catalogue (A general index to the articles of Research Journal and the publication of the Ganganath Jha, Kendriya Sanskrit Vidyapeeth, Allahabad.

—Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona-4
—Annals of Oriental Research. The University of Madras.
—Bharatiya Vidya. Bharatiya Vidya Bhawan, Chaupati, Bombay-7
—Indian Historical Quarterly. 9, Panchanan Ghose Lane, Calcutta
—Journal of the Asiatic Society, Vol 32-40
—Journal of the Ganga Nath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeeth. Allahabad.
—Poona Orientalist : Oriental Book Agency Poona
—Ritam : Akhil Bhartiya Sanskrit Parishad, Lucknow.
—The Journal of the Bihar & Orrisa Research Society, Patna.

RESEARCH ARTICLES

Production of Kalidasa's Plays in Ancient India : V. Raghavan, Published in Sanskrit Ranga Annual I, Madras.

Kalidasa's Sanskrit Drama and Indian Theatre : V. Raghavan, Sanskrit Ranga Annual V, Madras,

Kalidasa as a Dramatist : V. Raghvan, Sanskrit Ranga Annual II, Madras.

Heroes in Sanskrit Plays : S. N. Gajendragadakar,

Kalidasa's Plays and Mriccha-Katikam : Jounal of the Asiatic Society, Vol. 39-40, 64-65

Sanskrit Drama : Prof. G. T. Despande, Published in, 'Indian Drama', The publication division Min. of I & B, Govt. of India 1956